मुद्रक—
श्रीमोला यंत्रालय
न०१७७ लहुरी बनारस कैन्ट

वक्तव्य

नीति-शास्त्र दर्शन का एक प्रमुख अंग है। हरएक सभ्य देश में इसका अध्ययन होता रहा है। मनुष्य चाहे जैसी अवस्था में रहे, चाहे जिस देश मे रहे, उसे कर्तव्याकर्तव्य का विचार आता ही है। यह विचार मनुष्य की चिन्तन की योग्यता का स्वाभाविक परिणाम है। मनुष्य के विचार का विकास भी कर्तव्याकर्तव्य के ऊपर विचार करने से सबसे अधिक होता है। अतएव नीति-शास्त्र का अध्ययन हमारे विचार के विकास का साधन भी है।

इस पुस्तक का उद्देश्य पाश्चात्य नीति-शास्त्र की विचार शैली पर प्रकाश डालना है। भारतवर्ष मे नीति-शास्त्र के विषयों पर पर्याप्त विचार किया गया है। इसे पुराने समय में आचार-दर्शन कहते थे। पर हमारा नीति शास्त्र-सबन्धी विचार हमारी सस्कृति का अभिन्न अंग है, अतएव यहाँ का यह विचार अपने ढग का है। इसी प्रकार पाश्चात्य नीति-शास्त्र की विचार-परिपाटी में कुछ निरालापन है। इसे जानने के लिये हमे पाश्चात्य विद्वानों के मतों को उन्हीं के ढग से जानना होगा। लेखक ने इन पाश्चात्य विद्वानों के मतों को भारतीय जनता के समक्ष इस प्रकार रखने की चेष्टा की है कि वे सरलता से बुद्धिगम्य हो जावें। अतएव सिद्धान्तों को समझाने के लिये उपयुक्त उदाहरण दिये गये हैं और कहीं कहीं पर पाश्चात्य सिद्धान्तों की तुलना भारतीय विचारों से कर दी गई है।

इस पुस्तक का उद्देश्य पश्चात्य विद्वानों के विचारों का सग्रह करना मात्र नहीं हैं। लेखक का पुस्तक लिखने का उद्देश्य अपने आप स्वतंत्र चिन्तन करके कुछ कर्तव्य-सम्बन्धी मौलिक निष्कर्षों पर आना है। हम अपने आप यदि किसी विषय को भली प्रकार ठीक से समझना चाहते हैं तो इसका सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम उसे किसी कक्षा को पढाने लगें अथवा उस विषय पर कोई पुस्तक लिखें। लेखक ने अपने कर्तव्य-सम्बन्धी विचारों को

सुलझाने और स्पष्ट बनाने के लिये उक्त दोनों प्रकार के साधनों । किया है। उसने काशी विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को दस वर्ष नीति शास्त्र का विषय पढ़ाया। पर नीति-शास्त्र के अधिक प्रश्न वैसे मन मे आते रहे वैसे कि वे उसके विद्यार्थीकाल में आते थे। इन हल करने की चेष्टा लेखक ने अब इस पुस्तक के रूप में की है।

लेखक मानव कर्तव्य के विषय में जिस निष्कर्ष पर पहुँचा है पुस्तक में कई स्थलों पर प्रकट हो जाता है। मनुष्य को अपने कर्तव्य के करने में दो प्रकार के अतिक्रमों को छोड़कर बीच का मार्ग चाहिये—ये अतिक्रम विषयलोलुपता के और घोर तप के हैं। इन ... के अतिक्रमों से दुःखों की सृष्टि होती और मनुष्य को स्थायी शां मिलती। दोनों प्रकार के अतिक्रम मनुष्य की बहिर्मुखी प्रवृत्ति के ... जब मनुष्य अन्तर्मुखी होता है तो वह आध्यात्मिक शान्ति जिस प्रकार से हो वही काम करता है। नैतिक जीवन का अन्तिम ध्येय मनुष्य को आ शान्ति प्रदान करना है और यह तभी प्राप्त हो सकती है जब मनुष्य बहिर्मुखता को बिलकुल त्याग कर अपने जीवन का ध्येय आन्तरिक प्राप्त करना बना लेता है।

उक्त विचार को लेकर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसी ... नीति शास्त्र-सम्बन्धी अन्य मत-मतान्तरों की आलोचना की गई है। सुखवाद की आलोचना उसी प्रकार की है जिस प्रकार आदर्शवादी ... के विधान करते हैं, पर यदि आदर्शवाद हमें तप के अतिक्रम की ओर ले तो वह भी आध्यात्मिक शान्ति प्रदान नहीं करता। अतएव लेखक का वहीं तक समर्थन करता है जहाँ तक आदर्शवाद हमें सुखवाद के ... निकालता है। यदि आदर्शवाद व्यवहारिक बनता है तो वह समत्ववाद का रूप ले लेता है।

अभीतक हिन्दी भाषा में नीति शास्त्र पर हमारे विश्वविद्यालयों की बी की परीक्षा के विद्यार्थियों के अध्ययन योग्य ग्रन्थ का अभाव था। इस की पूर्ति के लिये यह ग्रन्थ लिखा गया है। अतएव इस ग्रन्थ में उन ...

मत-मतान्तरों का उल्लेख किया गया है जिन्हें डिगरी परीक्षा के विद्यार्थियों को जानना आवश्यक है।

इस पुस्तक को लिखते समय मैकेन्जी की "मेनुअल आफ एथिक्स", म्योरहेड की "दी एलीमेन्ट्स आफ एथिक्स", ग्रीन की "प्रोलेगेमोना टू एथिक्स", व्हीलराइट की "ए क्रिटिकल इन्ट्रोडक्शन टू एथिक्स" से विशेष प्रकार से सहायता ली गई है। हम इन महानुभावों के आभारी हैं। इस पुस्तक को अंग्रेजी में लिखने का विचार मेरे गुरु डा० शिशिरकुमार मित्रा, भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन विभाग, काशी विश्वविद्यालय से मिला। मैंने अंग्रेजी में कुछ सामग्री भी जोडी थी पर इस कार्य में मुझे विशेष उत्साह नहीं आया। श्री बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन से मुझे हिन्दी में ही दार्शनिक ग्रन्थ लिखने का प्रोत्साहन मिला, अतएव मैंने मातृभाषा में अपने विचारों को अपने देश के समक्ष रखने की चेष्टा की है। मैं इन सभी महानुभावों का अपने अपने सुझाव के लिये आभारी हूँ।

मुझे आशा है कि जिस प्रकार मेरे मनोविज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों को देश के दर्शन प्रेमी विद्वानों ने अपनाया है, उसी प्रकार वे इस ग्रन्थ को भी अपनावेंगे।

टीचर्सट्रेनिंग कालेज
काशी विश्वविद्यालय
माघ शुक्ल वसंत पंचमी सं० २००५
३ फरवरी १९४९

लालजीराम शुक्ल

द्वितीय संस्करण की भूमिका

जब से इस पुस्तक का प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ, तब से हमारे देश में अनेक राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन हुए और इसके कारण जन-साधारण के नैतिक विचारों में भी पर्याप्त उथल-पुथल हुई है। एक ओर मार्क्सवादी सिद्धान्त नैतिकता के नए मूल्यों को हमारे सामने रखता है और दूसरी ओर गाँधीवाद ने भी भारतीय जनता के नैतिक विचारों मे पर्याप्त चिंतन की सामग्री उपस्थित कर दी है। इनके अतिरिक्त हमारे देश में पश्चिमी मनोविज्ञान का भी प्रवेश हो रहा है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि हमारे देश के विद्वान् नैतिक मूल्यों के प्रति उदासीन हो गए। मनोविज्ञान का सामान्य परिणाम नैतिकता में श्रद्धा की कमी होना होता है।

इन सब परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए इस सस्करण में हम आवश्यक परिवर्त्तन किए हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों की न तो अवहेलना की जा सकती है और न नैतिकता के प्रति हम उदासीन ही हो सकते। इस संस्करण में हमने यह बताने की चेष्टा की है कि मनोविज्ञान केवल नैतिकता के ढोंग की व्यर्थता को ही सिद्ध करता है। सच्ची नैतिकता मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से उतन ही आवश्यक है, जितनी वह समाज-कल्याण अथवा तत्त्वदर्शन की दृष्टि से।

—लेखक

विषय-सूची

पहला प्रकरण

दूसरा प्रकरण

तीसरा प्रकरण

चौथा प्रकरण

पाँचवाँ प्रकरण

छठाँ प्रकरण

सातवाँ प्रकरण

आठवाँ प्रकरण

नवाँ प्रकरण

चौदहवाँ प्रकरण

पन्द्रहवाँ प्रकरण

सोलहवाँ प्रकरण

सत्रहवाँ प्रकरण

इक्कीसवाँ प्रकरण

इक्कीसवाँ प्रकरण (क)

बाइसवाँ प्रकरण

तेइसवाँ प्रकरण

———

नीति-शास्त्र

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

नीति-शास्त्र[1] का विषय

नीति-शास्त्र क्या है?—नीति-शास्त्र वह शास्त्र है जिसमे मनुष्य के कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार किया जाता है। नीति-शास्त्र नैतिकता[2] के माप-दण्ड का निर्धारण करता है। हम अपना कर्तव्य, आचरण के कुछ विशेष नियमों को मानकर निश्चित करते हैं। यह शास्त्र इन नियमों की मौलिकता की परख करता है। समाज में अनेक प्रकार के आचार-व्यवहार के नियम प्रचलित हैं। ये नियम समाज की परम्परागत रूढ़ियों[3] के द्वारा एक पीढ़ी से अन्य पीढ़ी तक जाते हैं। जब मनुष्य किसी समाज में जन्म लेता है, तो वह इन आचरण के नियमों को अनायास मानने लगता है। मनुष्य समाज के नैतिक नियमों पर विचार करने के पूर्व ही अपने आचरण[4] में नैतिकता ले आता है। नैतिक आचरण करने की शक्ति मनुष्य-समाज मे पहले आती है। पीछे उसमे नैतिक नियमों पर दार्शनिक विचार करने की शक्ति आती है। नीति-शास्त्र यह निर्णय करता है कि समाज मे प्रचलित नैतिक नियम कहाँ तक मनुष्य के जीवन के सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त करने मे सहायक हो सकते हैं। पर, किसी नियम का औचित्य अथवा अनौचित्य तब तक निश्चित नहीं किया जा सकता, जब तक मनुष्य को उस कसौटी[5] का भी ज्ञान न हो, जिसके अनुसार नियम की मौलिकता की परख की जाती है। यह शास्त्र उस माप-दण्ड की खोज करता है, जिसके द्वारा आचरण के नियमों की ही परख की जाती है। साधारणतः हम समाज मे किसी विशेष प्रकार के प्रचलित

1 Ethics 2. Morality 3. Hereditary traditions. 4 Conduct. 5. Standard.

नियम को मानना अपना धर्म मान लेते हैं, और उसके विरुद्ध आचरण करना अधर्म समझते हैं। किन्तु जब हमें किसी नियम की नैतिकता में ही सन्देह हो जाय, तो अपना कर्तव्य निर्धारित करना बड़ा कठिन हो जाता है। जब दो नैतिक नियमों में आपस में संघर्ष होता है, तो इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मान लीजिए, हम समाज-सुधार के किसी काम में लगे हैं। हम अछूतोद्धार चाहते हैं, और हमारे सयाने लोग इस प्रथा को मिटाना नहीं चाहते। वे अपना धर्म समझते हैं कि अछूतों को मन्दिरों में प्रवेश न करने दिया जाय। अब हम उनका विरोध किये बिना आगे नहीं बढ़ सकते। समाज में प्रचलित साधारण नैतिकता का नियम कहता है कि हमें बड़ों की आज्ञा माननी चाहिए। उनका हमें सदा आदर करना चाहिए। फिर यदि हम समाज के इस प्राचीन नैतिक नियम को मानते हैं, तो आगे कैसे बढ़ सकते हैं। जब तक हम यह निश्चित नहीं कर लेते कि कर्तव्य और अकर्तव्य की वास्तविक कसौटी क्या है, तब तक यह निश्चित होना असम्भव है कि हम बड़ों की बात मानें अथवा अछूतोद्धार करें। भारत के पिछले राष्ट्रीय आन्दोलन में कितने ही बालकों ने अपने माता पिता की इच्छा के प्रतिकूल उसमें भाग लिया था। उनका यह काम उचित था या अनुचित? माता पिता की आज्ञा मानना बालकों का कर्तव्य है, और अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए काम करना भी उनका कर्तव्य है। इन दो प्रकार के कर्तव्यों में जब संघर्ष होता है, तो कर्तव्याकर्तव्य की अन्तिम कसौटी की खोज की आवश्यकता होती है। जब तक इस कसौटी का निरूपण नहीं हो जाता, तब तक कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय होना असम्भव है। समाज के साधारण लोगों में धर्म-संकट[1] की स्थिति बहुत कम आती है। यह स्थिति समाज के विशेष व्यक्ति के मन में ही आती है। समाज के साधारण लोगों को नैतिकता के अन्तिम मापदण्ड के विषय में विचार करने की फुरसत ही नहीं रहती। वे मान लेते हैं कि समाज में प्रचलित जो नैतिक नियम हैं वे ठीक हैं, और उनके अनुसार आचरण करना ही उनका धर्म है। समाज के विशेष व्यक्ति ही यह सोचते हैं कि वास्तविक धर्माधर्म क्या है।

---

1 Moral situation.

कर्तव्याकर्तव्य के विचार मनुष्य के मन में आने के लिए दो प्रकार की बातों की आवश्यकता है। पहली, मनुष्य में विचार करने की शक्ति[1] की वृद्धि और दूसरी, विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों का संघर्ष[2]। ये दोनों प्रकार की बातें एक दूसरे पर निर्भर करती है। जब मनुष्य म विचार करनेकी शक्ति होती है, तभी वह विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों के गुण-दोषों को समझता है। जबतक विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों का एक दूसरे से मेल और संघर्ष नहीं होता, तबतक नैतिकता के माप-दण्ड की खोज की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्येक संस्कृति में कुछ बातें भली होती है और कुछ बुरी। प्रत्येक संस्कृति का मानने वाला साधारण व्यक्ति अपनी संस्कृति की सभी बातो को उत्तम और दूसरी संस्कृतियों की सभी बातों को निकृष्ट मानता है। जब एक देश दूसरे पर विजय प्राप्त कर लेता है, तो स्थिति ठीक उलट जाती है। फिर, साधारणतः राजनीतिक दासता के साथ-साथ विजित देश मे सांस्कृतिक दासता भी आ जाती है। विजयी लोग अपनी संस्कृति का प्रचार विजित जाति म तो करते ही है, स्वयं विजित जाति भी अपने-आप विजयी लोगोंकी संस्कृति को श्रेष्ठ मानने लगती है। ऐसी स्थिति में समाज के विचारवान् व्यक्ति समझ-बूझ से काम लेते है। जिन लोगों को जीवन के सर्वोच्चादर्श का ज्ञान है, वे न तो अपने देश की ही रूढिवादिता में पड़ते हैं, और न दूसरे देश का अन्धानुकरण करते है। वे अपनी संस्कृति की उन्हीं बातों का त्याग करते हैं, जो वास्तव मे त्याज्य हैं, अर्थात् जो नैतिकता के विचारों के प्रतिकूल है, और वे दूसरे देश की उन्हीं बातों को ग्रहण करते हैं, जो भली है। संस्कृतियों का संघर्ष इस भाँति भले और बुरे के विचार को बढाता है और समाज के श्रेष्ठ लोगों को नैतिकता का माप-दण्ड खोजने के लिये बाध्य करता है। भारतवर्ष मे वर्तमान काल मे कई संस्कृतियों का संघर्ष हो रहा है। एक ओर धार्मिक संस्कृतियाँ है, और दूसरी ओर वैज्ञानिक समाजवादी। फिर धार्मिक संस्कृतियों में भी आपस में संघर्ष चल रहा है। अतएव वर्तमान समय में भारतवर्ष में नैतिक विचारों के प्रति बड़ी उथल-पुथल मची हुई है। किसी भी परिस्थिति में यह स्पष्ट नहीं होता कि मनुष्य को क्या करना चाहिये।

---

1 Power of reflection. 2 Conflict of cultures

वर्तमान समय में नैतिकता के माप-दण्ड के खोजने की जैसी आवश्यकता है वैसी कभी न थी। हमारे पुराने नीतिशास्त्र (धर्म-शास्त्र) जाति-पाँति की व्यवस्था को सनातन व्यवस्था मानते हैं। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन वे अधर्म मानते हैं। पर आधुनिक काल की वैज्ञानिक विचार धारा जाति-पाँति के विचार के ठीक प्रतिकूल है उनके कथनानुसार जाति-पाँति को मानना मनुष्य मनुष्य में ऊँच-नीच का भेद करना है। इस प्रकार का विचार अनैतिक विचार है। अतएव इस भेद को मिटा देना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। फिर, जिन बातों को हिन्दू धर्म-शास्त्रियों ने धर्म कहा है, ठीक उनके विरुद्ध विचार मुस्लिम-संस्कृति में पाये जाते हैं। मुस्लिम और हिन्दू नैतिक विचारों में भेद अवश्य है। हमें यह देखना पड़ता है कि दोनों संस्कृतियों में कौनसा विचार वास्तव में नैतिक है और कौन सा अनैतिक। इसके लिए नैतिकता का उचित माप-दण्ड निर्धारित करना होता है। इसी माप-दण्ड को निर्धारित करना नीति-शास्त्र का ध्येय है।

नीति शास्त्र विज्ञान[1] है—नीति शास्त्र के विद्वानों ने इसे एक विशेष प्रकार का विज्ञान माना है। अब प्रश्न आता है कि नीति-शास्त्र को विज्ञान किस अर्थ में कह सकते हैं? विज्ञान का आधार अनुभव[2] है। विज्ञान में मनुष्य निरीक्षण[3] और प्रयोगों[4] के आधार पर विशेष प्रकार के नियम निश्चित करता है। सभी भौतिक विज्ञानों की विधि एक सी ही होती है। इन भौतिक विज्ञानों की विधि के निम्नांकित पाँच अंग हैं—वस्तुओं का इकट्ठा करना[5] उनका वर्गीकरण[6] करना कल्पना की सृष्टि[7] प्रयोगों-द्वारा कल्पना की सत्यता स्थापित करना[9] और नियम का स्थिर[8] करना। विज्ञान में साधारणतः उचितानुचित का ध्यान नहीं रहता और न उपयोगिता और अनुपयोगिता का ही रहता है। यदि हम इस दृष्टि से देखें तो नीति शास्त्र को विज्ञान नहीं मानेंगे। यह शास्त्र उचितानुचित के विषय में विचार करता है। वह किस प्रकार का आचरण मनुष्य करता है उसके विषय में उतना अध्ययन नहीं करता,

---

1 Science. 2. Experience. 3. Observation 4 Experiment 5. Collection of data 6. Classification. 7 Framing a hypothesis. 8. Discovery of law 9. Verification.

वरन् उसे किस तरह का आचरण करना चाहिये, इस बात का अध्ययन करता है। इस भाँति नीति-शास्त्र एक विशेष प्रकार का विज्ञान है। इसे नियामक (विधि निषेधात्मक) विज्ञान[1] कह सकते हैं।

विज्ञान शब्द का बृहदर्थ किसी विशेष प्रकार के अनुभव को सम्पूर्ण रूप से अध्ययन करना है, अर्थात् इसमें सिद्धान्त[2] और दृष्टान्त[3] दोनों का समुचित सम्बन्ध दर्शाया जाता है। विज्ञान के अन्तर्गत उन्हीं विद्याओं का समावेश नहीं होता जिनका आधार निरीक्षण और प्रयोग है, वरन् उन विद्याओं का भी समावेश होता है, जिनका ध्येय किसी अन्तिम विचार पर पहुँचना होता है, और जिनका आधार अनुभव न होकर विश्लेषणात्मक विचार[4] होता है। यदि इस अर्थ में हम विज्ञान शब्द को लें, तो नीति-शास्त्र एक विज्ञान है। नीति-शास्त्र भौतिक विज्ञान[5] के समान विज्ञान नहीं है, किन्तु यह न्याय-शास्त्र[6] और सौन्दर्य-शास्त्र[7] के समान विज्ञान है।

कितने ही लोगों का कथन है कि नीति-शास्त्र को विज्ञान इसलिये नही मानना चाहिये, क्योंकि नीति-शास्त्र का विस्तार जीवन के विशेष पहलू का अध्ययन नहीं, वरन् सम्पूर्ण अनुभव का अध्ययन है। विज्ञान अनुभव के किसी विशेष पहलू का अध्ययन करता है, सम्पूर्ण जीवन की समस्याओं का अध्ययन करने वाला शास्त्र दर्शन-शास्त्र[8] कहलाता है। अतएव नीतिशास्त्र को विज्ञान न कह कर दर्शन ही कहना चाहिए। यह युक्ति नीति-शास्त्र के बहुत से पंडितों को मान्य है।

भारतवर्ष में "शास्त्र" शब्द विज्ञान, और दर्शन दोनों के लिये आता है। शास्त्र का सामान्य अर्थ नियामक विद्या[9] है। नीति-शास्त्र इस दृष्टि से नैतिकता का नियामक है। इसमें साधारणतः हम नैतिकता के कुछ नियमों की चर्चा की आशा करते हैं। पुराने समय के नीति-शास्त्र में इस प्रकार की चर्चा रहती भी थी। पर वर्तमान समय मे नीति-शास्त्र में नैतिकता के नियमों की

---

1 Normative Science 2 Principle 3 Example 4 Analytic thought 5 Natural science. 6 Logic 7. Æsthetics. 8 Philosophy. 9 Normative Science

चर्चा उतनी नहीं रहती, जितनी कि नियमों के औचित्य पर विचार होता है। नीति शास्त्र में जीवन के अन्तिम आदर्श पर विचार किया जाता है और इस आदर्श को ध्यान में रखकर आचरण के नियम बनाये जाते हैं। नीति शास्त्र का ध्येय विभिन्न प्रकार के जीवन के आदर्शों पर विचार करना है। जीवन के अन्तिम आदर्शों को निश्चित करने का काम दर्शन का है। दर्शन मनुष्य को सत्य के दर्शन मात्र कराता है। वह विधि निषेधात्मक प्रश्नों में नहीं जाता। वर्तमान नीति शास्त्र भी यही काम करता है।

नीति शास्त्र की उपयोगिता—नीति शास्त्र की उपयोगिता के विषय में अनेक प्रश्न उठते हैं। कितने ही लोगों का कथन है, कि नीति शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के आचरण का सुधार नहीं होता अतएव उसका अध्ययन करना व्यर्थ है। नीति शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के आचरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नीति की बातें जानकर भी मनुष्य अनैतिक आचरण करते हैं और जिन्हें नीति शास्त्र का ज्ञान नहीं वे भी नैतिक आचरण करते हैं। आचरण करने के लिए नैतिकता पर विचार करना उतना आवश्यक नहीं है, जितना नैतिक आचरण के अभ्यास की आवश्यकता है। मनुष्य जो काम करता है, उसमें उसी काम की शक्ति आती है। विचार करने के अभ्यास से मनुष्य में विचार करने की शक्ति बढ़ती है, और आचरण करने के अभ्यास से आचरण करने की शक्ति बढ़ती है। अतएव विचार करने में कुशल व्यक्ति नैतिक आचरण में कुशल होगा यह आवश्यक नहीं। बहुत से दर्शन के विद्वानों का आचरण साधारण मनुष्यों के आचरण से निम्नकोटि का होता है। उनमें स्वार्थ भाव और काम तथा क्रोध के आवेग कभी कभी साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होते हैं।

इस आपत्ति के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि शास्त्र का काम मार्ग बताना है, मार्ग पर चलना शास्त्र नहीं सिखाता। उचित और अनुचित का ज्ञान होने से ही मनुष्य उचित अथवा अनुचित काम नहीं करने लगता। उचित आचरण करने के लिए विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों की आवश्यकता होती है। मनुष्य स्वभावतः अपनी प्राकृतिक इच्छाओं की तृप्ति में लगा रहता है, उन पर नियंत्रण प्राप्त करना अभ्यास के द्वारा आता है। मनुष्य की जन्मजात

प्रवृत्तियाँ[1] उसे पाशविक जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरित करती है। वह अपने अभ्यास के द्वारा ही अपने-आप मे परिवर्तन करता है, अर्थात् नई प्रवृत्तियों को बनाता है। समाज उसे इन प्रवृत्तियों को बनाने मे सहायता देता है। बालकों की शिक्षा का ध्येय यही है, कि उनकी जन्मजात प्रवृत्तियों मे परिवर्तन करके नई प्रवृत्तियों का निर्माण करे।

जिस प्रकार दूसरे लोग हमे शिक्षा देते रहते हैं, उसी प्रकार हम स्वय भी अपने को शिक्षा देते रहते हैं। कान्ट महाशय ने मनुष्य को स्वनिर्मित प्राणी[2] कहा है। वास्तव में मनुष्य मनुष्यत्व को तब प्राप्त करता है, जब वह अपने प्राकृतिक स्वभाव पर विजय प्राप्त करके अपना नव-निर्माण करता है। इस नव-निर्माण के लिये मनुष्य को न केवल दूसरे भले कहे जाने वाले लोगों के समान आचरण करना पडता है, वरन् "भला" और "बुरा" किस को कहा जाय, इसे भी जानना पटता है। सुकरात महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि ज्ञान ही सद्गुण[3] है। यदि किसी मनुष्य को भलाई का ठीक-ठीक ज्ञान है, तो भलाई की ओर उसका प्रवृत्त होना स्वाभाविक है। ज्ञान मे क्रियाशीलता रहती है। जो मनुष्य सदा भले-बुरे विचारों के विवेचना में अपना समय व्यतीत करता है, और जीवन के आदर्शों के बारे में चिन्तन करता रहता है, उसका साधारण अज्ञानी मनुष्यों की अपेक्षा सदाचारी बनना अधिक स्वाभाविक है।

उपर्युक्त कथन में मनोवैज्ञानिक सत्य भी है। मनुष्य उसी बात के विषय में अपनी जानकारी बढाने की चेष्टा करता है, जिसके विषय में उसकी रुचि[4] होती है। जब मनुष्य की किसी बात में रुचि नहीं होती, तो वह उसके विषय में जानकारी बढ़ाने की परवाह भी नहीं करता। फिर जानकारी बढने से रुचि भी उत्पन्न होती है। जिस ओर मनुष्य की रुचि होती है, उसी ओर उसका आचरण भी होता है। इस प्रकार किसी तरह का ज्ञान न केवल रुचि का द्योतक है, वरन् वह रुचि को पैदा करने वाला भी है, और वह विशेष प्रकार के आचरण का प्रेरक होता है। अमेरिका के नीति-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् हील राइट महाशय के

---

1. Inborn tendencies
2 Self created animal
3 Knowledge is virtue
4 Interest.

निम्नलिखित कथन में मौलिक सत्य है, कि उचित और अनुचित के विषय में विचार करना केवल बुद्धि के लिए गेम[1] मात्र नहीं है। यदि हम किसी प्रकार के आचरण को अच्छा अथवा बुरा (उचित अथवा अनुचित) कहते हैं और यदि हम समझ बूझ कर इन शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारे आचरण पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। नीति शास्त्र केवल बुद्धि का खेल मात्र नहीं है। नैतिक सिद्धान्त नैतिक आचरण की आवश्यकता रखता है और नीति शास्त्र के अर्थ को हम तभी समझते हैं जब हम उसका सार ग्रहण करके आचरण के कुछ ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं जो हमें जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक हों।

नीति शास्त्र की उपयोगिता की तुलना हम शिक्षा मनोविज्ञान[2] की उपयोगिता से कर सकते हैं। शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान मात्र किसी शिक्षक को कुशल शिक्षक नहीं बना देता शिक्षण में कुशलता अभ्यास से आती है। पर शिक्षा मनोविज्ञान के ज्ञान से शिक्षा के कार्य में सुधार अवश्य होता है। कई एक शिक्षक शिक्षा मनोविज्ञान की पोथियाँ नहीं पढ़े रहते हैं पर वे शिक्षा का कार्य कुशलता से करते हैं। उनके कार्यों को देख कर कभी-कभी यह सोच लिया जाता है कि शिक्षा मनोविज्ञान के अध्ययन की शिक्षा में आवश्यकता नहीं है।

---

1 Pastime for understanding

Right and wrong then are not hollow sounds nor is discussion about them an idle game. If we mean what we say in designating an action right or wrong if we are doing more than mouthing a convenient formula, our judgment will in some manner affect our subsequent conduct. Ethics is not a pastime for the understanding alone. Ethical theory calls for moral practice and the full meaning of ethics becomes intelligible only as we translate theories into moral principles that can be made effective forces in the struggle towards ideal ends — Whealwright. A Critical Introduction to Ethics. P 22.

2. Educational Psychology

पर, हम यहाँ भूल जाते हैं कि कुशल शिक्षकों को शिक्षा के कुछ व्यावहारिक नियम जो शिक्षा-मनोविज्ञान के ऊपर आश्रित हैं ज्ञात हैं और वे इन नियमों को अपने कार्य में प्रयोग करते हैं। पर कभी-कभी पूर्ण शिक्षा-प्रणाली के परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे अवसर पर शिक्षा-मनोविज्ञान के पर्याप्त ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार साधारण नैतिक आचरण के लिये नीति-शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता नहीं होती, पर जब किसी मनुष्य को दो विरोधी धर्मों के बीच निर्णय करना पड़ता है अथवा जब उसके मन में अपने आचरण की नैतिकता के विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाता है तो नीति शास्त्र की आवश्यकता पड जाती है। ऐसे अवसरों की चर्चा पहले की जा चुकी है।

कुछ लोग नीति-शास्त्र का ज्ञान रख कर भी नैतिक आचरण नहीं करते। इसका कारण नीति-शास्त्र का दोष नहीं, वरन् उनके मन में वास्तव में नीति-शास्त्र के प्रति श्रद्धा की कमी मात्र है। जिस प्रकार डाक्टरी का ज्ञान रख के भी मनुष्य अकुशल डाक्टर हो सकता है, और कानून का ज्ञान रख के भी वकील बुद्धू हो सकता है, इसी प्रकार नैतिक बातों का ज्ञान रखकर भी मनुष्य अपने आचरण में नैतिकता का अभाव दर्शा सकता है। पोथी-पंडित किसी प्रकार के ज्ञान में वास्तविक रुचि नहीं रखता। वह केवल दिखावा मात्र चाहता है। दूसरों के विचारों का ज्ञान कर लेने से मनुष्य में उन विचारों के अनुसार आचरण करने की क्षमता नहीं आ जाती है। जब तक दूसरों के विचार को हम स्वयं अपना विचार नहीं बना लेते वे हमारे आचरण को प्रभावित नहीं करते। ऐसे विचार निकम्मे विचार बने रहते हैं। अधिक पुस्तकों के पढने से मनुष्य को उनमें दिये हुए विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों पर चिन्तन करने का पर्याप्त समय नहीं मिलता। ऐसी अवस्था मे मनुष्य अपनी बुद्धि को लद्दू टट्टू के समान भार ढोने भर का साधन मात्र बनाता है। पुस्तकों के विचारों पर मनन करने से मनुष्य एक निश्चित मत पर आता है। जब कोई व्यक्ति किसी निश्चित मत पर आ जाता है तो यह स्वाभाविक है कि वह उस मत का प्रकाशन अपने आचरण में करे।

यदि नीति-शास्त्र की व्यावहारिक उपयोगिता न होती तो संसार के प्रमुख सभ्य देशों में इसकी चर्चा भी न होती। जब कभी देश के अग्रगण्य नेताओं में कर्तव्याकर्तव्य के विषय में सन्देह उत्पन्न हुआ है तब नये नैतिक विचारों का

निर्माण हुआ है। गीता का निर्माण ऐसी ही परिस्थिति में हुआ जिसने पुराने रूढ़िवादी विचार का खण्डन करके नये विचार का प्रवर्तन किया।

क्या नीति शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान[1] है ?—नीति शास्त्र की मानव जीवन में उपयोगिता को जानकर स्वभावतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह व्यावहारिक विज्ञान है। पर इस शास्त्र के प्रमुख विद्वान् इसे व्यावहारिक विज्ञान नहीं मानते। नीतिशास्त्र प्रधानतः सैद्धान्तिक विज्ञान[2] है। इसके अध्ययन का पहला लक्ष्य सिद्धान्तों का पता चलाना है न कि उनपर व्यवहार करना सिखाना। आचरण के सिद्धान्तों को व्यवहार में रखना शिक्षा शास्त्र[3] सिखाता है। नीति शास्त्र चिकित्सा शास्त्र अथवा इन्जीनियरिंग के समान व्यावहारिक विज्ञान नहीं है। चिकित्सा शास्त्र का मुख्य ध्येय किसी सिद्धान्त का निरूपण नहीं वरन् मनुष्य को चिकित्सा के कार्य में योग्य बनाना है; इसी प्रकार इन्जीनियरिंग सीखने का हेतु मकान पुल आदि बनाने की योग्यता प्राप्त करना है। पर नीति शास्त्र के अध्ययन का हेतु नीति के सिद्धान्तों का निरूपण करना मात्र है। उनको व्यवहार में लाने के लिये एक दूसरे ही विज्ञान की आवश्यकता होती है इसे शिक्षा विज्ञान अथवा शिक्षा शास्त्र कहा जाता है।

नीति शास्त्र की तुलना हम तर्क-शास्त्र[5] अथवा सौन्दर्य-शास्त्र[6] से कर सकते हैं। तर्क शास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को तर्क और विचार में प्रवीणता प्रदान करना नहीं वरन् तर्क के सिद्धान्तों का निरूपण करना है। जब मनुष्य तर्क करता है तो न केवल तर्क के सिद्धान्तों का उसे ज्ञान होने की आवश्यकता होती है वरन् वह जिस विषय में तर्क करता है उसके ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। एक वकील कानूनी तर्क में कुशलता दिखाता है और एक व्यापारी व्यापार के क्षेत्र में। अपने क्षेत्र में ही सभी लोग ठीक से तर्क कर लेते हैं। यह तर्क करना उन्हें अभ्यास से आता है। तर्क शास्त्र का ज्ञाता उतनी कुशलता से कानूनी तर्क की भूलों को नहीं पकड़ सकता जितनी कुशलता से वकील पकड़ सकता है। इसी प्रकार कोई कवि अथवा कलाकार अपने कार्य में प्रवीणता के

1 Practical Science. 2. Speculative science. 3. Science of Education. 4. Science of Medicine. 5 Logic. 6 Æsthetics.

लिये सौन्दर्य-शास्त्र का अध्ययन नहीं करता वह अपने सामान्य अनुभव से ही सुन्दर और असुन्दर का विचार कर लेता है और बिना सौन्दर्य-शास्त्र के ज्ञान के अपने कामों में सुन्दरता दिखाता है। पर तर्क-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र का अध्ययन फिर भी उपयोगी माना जाता है। तर्क-शास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र का ज्ञान मनुष्य को निश्चयात्मक बुद्धि प्रदान करता है। जब कभी किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाता है तब हमें शास्त्र की आवश्यकता पडती है। शास्त्र किसी भी बात के ठीक अथवा गलत होने के लिये युक्तियाँ उपस्थित करता है। वह बताता है कि अमुक विचार युक्तिसगत है और अमुक नहीं है।

जिस प्रकार तर्क-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान नहीं है, इसी प्रकार नीति-शास्त्र भी व्यावहारिक विज्ञान नही है। इन तीनों विज्ञानों का हेतु अपने-अपने क्षेत्र में सिद्धान्तों का निरूपण है। पर सिद्धान्तों का निरूपण परोक्ष रूप से मनुष्य के विचारों को तथा व्यवहार को प्रभावित करता है। अतएव नीति-शास्त्र का अध्ययन भी मनुष्य के व्यवहार को परोक्ष रूप से प्रभावित करता है। वास्तव में कोई भी सैद्धान्तिक विद्या अध्ययन करने वाले के मन पर बिना विशेप प्रकार का प्रभाव डाले नहीं रहती और इसका प्रभाव मनुष्य के आचरण में अवश्य होता है।

नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान[1] है—आधुनिक दार्शनिक दो प्रकार के विज्ञान मानते हैं—यथार्थ विज्ञान[2] और नियामक विज्ञान। यथार्थ विज्ञान वस्तुस्थिति का अध्ययन करता है। यथार्थ विज्ञान किसी पदार्थ के भले और बुरे पर विचार नहीं करता। भले बुरे पर विचार करने वाले विज्ञान नियामक विज्ञान कहलाते हैं। ये विज्ञान किसी भी वस्तु का विचार लक्ष्य को ध्यान मे रखकर करते हैं। नीति-शस्त्र मनुष्य के आचरण के लक्ष्य के विषय मे विचार करता है और यह निश्चित करने की चेष्टा करता है कि मनुष्य के जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है।

नीति शास्त्र की विशेपता मनोविज्ञान से तुलना करने से स्पष्ट हो जाती है।

1 Normative Science 2 Positive Science.

मनोविज्ञान मनुष्य के विचारों, भावों और आचरणों का अध्ययन करता है, वे चाहे बुरे हों अथवा भले। पागल अथवा दुराचारी मनुष्य के विचार और आचरण एक मनोवैज्ञानिक के लिये उतने ही महत्व के हैं जितने महत्व के विचार और आचरण सामान्य और सदाचारी मनुष्य के हैं। पर नीति-शास्त्र में हमें सदाचार की कसौटी अथवा मानदण्ड निश्चित करना है, अतएव हमारा मुख्य प्रयोजन भले मनुष्यों के आचरण से ही रहता है।

क्या नीति शास्त्र कला[1] है?—नीति-शास्त्र के पण्डितों में प्रायः यह विवाद होता रहता है कि नीति-शास्त्र विज्ञान है अथवा कला। वर्तमान काल के प्रमुख पण्डित इसे कला नहीं मानते। वे इसे या तो विज्ञान मानते हैं या दर्शन। कला और विज्ञान में एक मौलिक भेद है। कला मनुष्य को काम करना सिखाती है और विज्ञान मनुष्य को चिन्तन करने की योग्यता प्रदान करता है। विज्ञान और दर्शन दोनों ही सत्य की खोज करते हैं। विज्ञान अधिकतर बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखता है और दर्शन अन्तर्जगत् से। ज्ञात सत्य को व्यवहार में लाना यह कला का काम है। कला सिद्धान्तों का निरूपण नहीं करती, वह या तो सिद्धान्तों को काम में लाती है अथवा नये सिद्धान्तों के लिए प्रदत्त[2] उपस्थित करती है। कला क्रिया-प्रधान है और विज्ञान विचार-प्रधान। कला में सफलता बाहरी फल से मापी जाती है विज्ञान में सफलता सोचने की प्रक्रिया से मापी जाती है। मनुष्य कला का जो कुछ चिन्तन करता है उसे वह अपनी क्रिया में प्रकाशित करता है और क्रिया में प्रकाशन करने के हेतु ही वह चिन्तन करता है। दर्शन और विज्ञान के विषय में यह बात सत्य नहीं है। इनमें जो चिन्तन होता है उसका ध्येय किसी सत्य का अन्वेषण होता है। दार्शनिक चिन्तन में अपने विचारों को सुसंगठित बनाना ही ध्येय रहता है।

नीति शास्त्र का ध्येय कर्त्तव्याकर्त्तव्य के मापदण्ड की खोज करना है। वह यह जानने की चेष्टा नहीं करता कि इस मापदण्ड को प्रमाण मानकर संसार के लोग अपना आचरण बनाते हैं अथवा नहीं। उचित आचरण क्या है, इस बात को निश्चित करना नीति शास्त्र का ध्येय है। मनुष्य से उचित आचरण कैसे

1 Art, 2 Data

कराया जाय और उसके चरित्र के सुधार के लिए उपाय निकालना तथा बालकों का चरित्र-निर्माण करना—यह काम नीति-शास्त्र का नहीं है वरन् शिक्षा का है। शिक्षा को हम किसी अंश तक कला कह सकते हैं। नीति शास्त्र को कला नहीं कह सकते।

नीति-शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के आचरण में सुधार होना सम्भव है। परन्तु यह सुधार तब तक नहीं होता जब तक इस शास्त्र के बताये हुये पथ पर मनुष्य अग्रसर नहीं होता और आत्म-सुधार के लिए प्रयत्न नहीं करता। आचरण में सुधार अभ्यास का फल है। शिक्षा इस अभ्यास को कराती है। यदि नीति-शास्त्र का मुख्य ध्येय मनुष्य का आचरण सुधारना होता तो उसे कला समझना उचित होता। किन्तु उसका ध्येय अपने आचरण के सर्वोच्चादर्श को स्थिर करना है। अतएव उसे विज्ञान अथवा दर्शन की कोटि ही में माना जा सकता है। नीति-शास्त्र के ध्येय की तुलना तर्क-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के ध्येय से की जा सकती है। न तर्कशास्त्र और न सौन्दर्य शास्त्र को ही कला माना गया है। इसी प्रकार नीति-शास्त्र को भी कला नहीं माना जा सकता।

नीति-शास्त्र की विधि

वैज्ञानिक और दार्शनिक विधि—भिन्न-भिन्न प्रकार के शास्त्रों के अध्ययन की विधियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। नीति शास्त्र एक विज्ञान है। अतएव हम साधारणतः आशा करते हैं कि इसके अध्ययन की विधि साधारण पदार्थ-विज्ञान के अध्ययन की विधि होगी। पदार्थ-विज्ञान के अध्ययन की विधि के पाँच अंग हैं—प्रदत्तों का इकट्ठा करना, उनका वर्गीकरण करना[1], कल्पना की सृष्टि[2], कल्पना की सत्यता की नये प्रदत्तों के द्वारा परख करना[3] और एक निश्चित नियम[4] का स्थापन। संक्षेप में यह विधि प्रदत्तों के आधार पर नियमों को स्थिर करने की विधि है। इस विधि को अन्वेषण विधि[5] कहते हैं। इस विधि के अनुसार जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया जाता है उनका आधार हमारे सामान्य अनुभव में आनेवाले प्रदत्त होते हैं। यदि कोई प्रदत्त ऐसा आ जाय जिससे कि प्राचीन नियम का विरोध होता है तो हमें उस

---

1. Classification 2. Framing the hypothesis 3. Verification. 4 Law. 5 Inductive Method

नियम को ही बदल देना पड़ता है। इस प्रकार नये-नये नियमों का आविष्कार होता रहता है। मनोविज्ञान के अध्ययन का आधार यही विधि है। इस विधि से भिन्न दार्शनिक विधि है। इस विधि को विवेचनात्मक विधि[1] कहा जाता है। इस विधि में पुराने प्रश्नों को इकट्ठा करने और नये प्रदत्तों को सामने की इतनी चेष्टा नहीं की जाती, जितनी कि अपने सामने दिये हुए प्रदत्तों का अर्थ समझने की चेष्टा की जाती है। दार्शनिक सिद्धान्त का अधिक लाभ नये प्रदत्तों के प्राप्त करने से नहीं होता वरन् दिये हुए प्रदत्तों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से होता है। सामान्य विज्ञान का आधार उदाहरण है, परन्तु नीति शास्त्र का, जो कि दर्शन की ही शाखा है, आधार गम्भीर विचार है। जो चार उदाहरण भी नैतिकता के सिद्धान्त के ऊपर विचार करने के लिए पर्याप्त होते हैं। ये सिद्धान्त मनुष्य के लौकिक अनुभव की वृद्धि के ऊपर निर्भर नहीं करते किन्तु उसकी अपने आपके भीतर डूबने की शक्ति के ऊपर निर्भर करते हैं। विज्ञान के सिद्धान्त बाह्य संसार से सम्बन्ध रखते हैं। अतएव जो व्यक्ति बाह्य संसार को जितना ही अधिक जानता है उसके किसी विज्ञान के सिद्धान्त उतने ही प्रौढ़ होंगे। किन्तु दर्शन के विषय में यह नियम लागू नहीं होता। दर्शन में जो व्यक्ति जितना ही अधिक विवेचनात्मक चिन्तन करने की क्षमता रखता है वह उतना ही मौलिक सत्य को प्राप्त करेगा।

पदार्थ-विज्ञान का सत्य बाहरी विषयों से सम्बन्ध रखता है और दार्शनिक सत्य अपने-आप से ही सम्बन्ध रखते हैं। अतएव सांसारिक घटनाओं का अधिक ज्ञान न रखनेवाला व्यक्ति भी इस सत्य को प्राप्त कर लेता है। नीति-शास्त्र के अधिक विद्वानों ने दार्शनिक विधि का ही प्रयोग किया है। जिन लोगों ने इसका सफल प्रयोग किया है, उनमें प्रमुख नाम प्लेटो, कान्ट और ग्रीन महाशय के हैं। इन तीनों विद्वानों ने संसार को बड़ा ही मूल्यवान् नैतिक विचार दिया है। ये सभी आदर्शवादी[2] दार्शनिक थे। इन लोगों की विचार-परम्परा को जिन नीति-शास्त्र के विद्वानों ने अपनाया है उन्होंने लौकिक अनुभव पर विशेष जोर नहीं दिया है। वे मनुष्य के स्वभाव का विश्लेषण करके उसके आदर्शों को निश्चित

1 Critical Method. 2. Idealist.

करने की चेष्टा किये हैं। इनकी विधि को कभी-कभी मनोवैज्ञानिक विधि[1] भी कहा जाता है। परन्तु वास्तव मे इनकी विधि मनोवैज्ञानिक नहीं है। मनुष्य के स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दार्शनिक विश्लेषण से बहुत ही भिन्न वस्तु है। मनुष्य के स्वभाव के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर नीति-शास्त्र के सिद्धान्त को स्थिर करने वाले कुछ विद्वान् अवश्य हुये हैं। इन्हें हम सुखवादी[2] अथवा अन्त. अनुभूतिवादी नीति-शास्त्री कहते हैं। सुखवाद,[3] अन्तः अनुभूतिवाद[4] और आदर्शवाद[5] इन सभी की नैतिकता के अध्ययन की विधि एकसी ही है। इस विधि को दाशनिक विधि अथवा मनोवैज्ञानिक विधि भी कहा जाता है। परन्तु हमे यहाँ मनोवैज्ञानिक विधि का एक विशेष अर्थ मानना पड़ेगा। मनोवैज्ञानिक विधि का सामान्य अर्थ दार्शनिक विधि नहीं वरन् वैज्ञानिक विधि है, अर्थात् मनोविज्ञान प्रदत्तों के आधार पर ही सिद्धान्तों का निरूपण करता है। हम दार्शनिक विधि को विश्लेषणात्मक[6] अथवा आलोचनात्मक[7] विधि कह सकते हैं।

नीति-शास्त्र के अध्ययन में शुद्ध वैज्ञानिक विधि का प्रयोग प्रकृतिवादी[8] नीति शास्त्र के विद्वानों ने और विशेषकर हरबर्ट स्पेंसर महाशय ने किया है। उन्होंने अपनी 'डेटा आफ एथिक्स' (नीति शास्त्र के प्रदत्त) नामक पुस्तक मे इस विधि को भली प्रकार से प्रदर्शित किया है। उन्होंने भिन्न-भिन्न काल मे प्रचलित समाज के नैतिक नियमों की खोज करने की चेष्टा की है और इन प्रदत्तों के आधार पर नैतिकता के मापदण्ड को स्थिर करने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि समाज की प्रारम्भिक अवस्था में नैतिक नियमों का अभाव पाया जाता है। समाज में नैतिकता का विकास धीरे धीरे, मनुष्य का प्रकृति के साथ संघर्ष करने के साथ-साथ हुआ है। जैसे जैसे मनुष्य को इस संघर्ष में सफलता मिलती गई वैसे वैसे उसके जीवन के नैतिक नियमों में परिवर्तन होता गया। हम नैतिकता का आदर्श तब तक स्थिर नहीं कर सकते जब तक हम मनुष्य का प्रकृति

---

1 Psychological Method. 2 Hedonist 3. Hedonism. 4. Intuitionism 5 Idealism 6 Analytic. 7. Critical. 8 Naturalistic

के साथ संघर्ष और उसकी विजय के कारणों को नहीं जानते। इसके लिए मानव समाज के इतिहास को जानना आवश्यक है। किसी नैतिक सिद्धान्त की उपयोगिता की कसौटी मनुष्य को अपने जीवन में सफलता देना है। किस नैतिक नियम के अनुसार चलने से मनुष्य को उसके जीवन में कहाँ तक सफलता मिली इसे जानने के लिए समाज के विकास का अध्ययन करना आवश्यक है। नीति शास्त्र की इस अध्ययन-विधि को हम आरम्भवादी विधि[1] कह सकते हैं।

उक्त आरम्भवादी अथवा शुद्ध वैज्ञानिक विधि की त्रुटि को आधुनिक काल के कई प्रमुख नीति-शास्त्रज्ञों ने बताया है, इस विधि के अनुसरण से हम ऐसे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते जिसके आधार पर नियामक विज्ञान खड़ा किया जा सके। नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान है। मनुष्य के कर्तव्य का निर्णय ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर करना एक बड़ी भूल है। इसलिए उसके स्वभाव का मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक विश्लेषण करना आवश्यक है। मनुष्य क्या है और उसके जीवन में सर्वोत्तम तत्त्व क्या है इसको जानकर ही उसके आचरण के लक्ष्य का निरूपण किया जा सकता है। अरस्तू महाशय ने मनुष्य को विवेकशील प्राणी' कहा है। मनुष्य की इस परिभाषा के आधार पर ही उन्होंने उसके जीवन के लक्ष्य तथा कर्तव्य का निरूपण किया है। मनुष्य की दूसरे प्राणियों से विशेषता उसके विवेक अथवा विचार है। अतएव मनुष्य का स्वभाव ह यह बताता है कि उसका कर्तव्य ऐसे काम के करने में है जिससे उसके विचार की शक्ति का अधिकाधिक विकास हो और वह सदा ज्ञान विज्ञान में निमग्न रह सके। भारतवर्ष के धर्म शास्त्र अर्थात् नीति शास्त्र के पण्डितों ने भी मनुष्य के कर्तव्याकर्तव्य का माप-दण्ड[2] स्थिर करने के लिए मानव स्वभाव के दार्शनिक विश्लेषण की रीति को अपनाया है। उनके निष्कर्ष उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के निष्कर्ष प्राचीन यूनानियों के थे।

कितने ही नीति-शास्त्रज्ञों ने नीति शास्त्र की विधियों का वर्गीकरण उन विधियों की विचारधाराओं को ध्यान में रखकर विभिन्न प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर ही किया है। परन्तु यह एक भ्रमात्मक काम है। विधि और सिद्धान्त

1 Genetic. 2 Normative.

मे मौलिक भेद है। सिद्धान्त किसी विधि के अनुसार विचार करने का परिणाम होता है। सिजविग महाशय ने अपनी पुस्तक 'मेथड्स आफ एथिक्स' (नीति शास्त्र की विधियाँ) मे यह भूल की है। उन्होंने विभिन्न प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों का वर्गीकरण किया है, परन्तु उसे नैतिक सिद्धान्त की विभिन्न रीतियो का नाम दे दिया है। मार्टिनो ने अपनी 'टाइप्स आफ एथिकल थ्योरी' नामक पुस्तक मे बताया है, कि भिन्न-भिन्न सिद्धान्त को स्थिर करने वाले भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपनी अपनी विधि को काम मे लाये हैं। इस तरह जितने नैतिक सिद्धान्त हैं, उतनी ही उनकी विधियाँ हैं। किन्तु हम विधियो का इस प्रकार से वर्गीकरण करना उचित नहीं समझते हैं। हमने जो वर्गीकरण किया है, वह बहुत कुछ अमेरिका के वर्तमान काल के प्रसिद्ध विद्वान् होलराइट महाशय के अनुसार है।

प्रश्न

१ नीतिशास्त्र का विषय क्या है? इस शास्त्र में किन विषयों पर विचार किया जाता है?

२ नीतिशास्त्र के पढ़े बिना ही यदि मनुष्य नैतिक आचरण की सामर्थ्य रखता हो, तो नीतिशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता क्या है? क्या नीतिशास्त्र के पढ़ने से मनुष्य का आचरण अधिक नैतिक हो जाता है?

३. नीतिशास्त्र में "शास्त्र" शब्द का क्या अर्थ है? क्या नीतिशास्त्र को विज्ञान कहा जा सकता है?

४. "नीतिशास्त्र का अध्ययन केवल बौद्धिक मनोरञ्जन की वस्तु ही है"—इस कथन की विवेचना कीजिये और नीतिशास्त्र के अध्ययन से जीवन में मौलिकता दर्शाइये।

५. किसी भी नैतिक संकट (धर्म संकट) की स्थिति का विश्लेषण करके नैतिक विचार की आवश्यकता को दर्शाइये।

६ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विज्ञानों में भेद क्या है? नीतिशास्त्र को क्या व्यावहारिक विज्ञान कहा जा सकता है?

७ नीतिशास्त्र नियामक विज्ञान है—इस कथन का क्या अर्थ है? इस विज्ञान की तुलना मनोविज्ञान और प्राणीशास्त्र से कीजिये।

८. नीति शास्त्र को कला क्यों नहीं कहा जा सकता? कला और विज्ञान के भेद को पूरी तरह स्पष्ट कीजिये।

९. वैज्ञानिक और दार्शनिक विधि के भेद को दर्शाइये। नीतिशास्त्र को विज्ञान क्यों कहा गया है?

१ मानव-समाज में नैतिक विचार की वृद्धि किस परिस्थिति में होती है? उदाहरण देकर समझाइये।

———

दूसरा प्रकरण

नीति-शास्त्र और अन्य विद्यायें

दूसरी विद्याओं से सम्बन्ध जानने की आवश्यकता—नीति-शास्त्र के अध्ययन के लिए अनेक दूसरी विद्याओं का ज्ञान होना आवश्यक है। कुछ विद्याएँ नीति-शास्त्र का आधार हैं, और कुछ नीति-शास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित हैं, अथवा उन सिद्धान्तों को व्यवहृत करती हैं। जिन विद्याओं का सम्बन्ध नीति से बड़ा ही घनिष्ठ है, वे निम्नलिखित हैं— तत्त्व-विज्ञान[1], मनोविज्ञान[2], तर्कशास्त्र[3], सौन्दर्य शास्त्र[4] और प्राणिशास्त्र[5]। इनके अतिरिक्त नीति-शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध राजनीति-शास्त्र,[6] समाजशास्त्र और अर्थ शास्त्र[8] से भी है। नीति-शास्त्र और धर्म[9] का भी बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु वर्तमान काल में धर्म के स्वरूप को निश्चित करना बड़ा कठिन हो गया है। अत. वैज्ञानिक ढग से धर्म और नीति शास्त्र की चर्चा करना भी बड़ा कठिन है। तत्त्व-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि नीति-शास्त्र के आधार-स्तम्भों को स्थिर करने में सहायक होते हैं, और राजनीति-शास्त्र और समाज-शास्त्र आदि उसकी उपयोगिता दर्शाते हैं।

नीति-शास्त्र और मनोविज्ञान—नीति-शास्त्र का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। कर्तव्याकर्तव्य का विचार एक विशेष प्रकार की मानसिक परिस्थिति में उत्पन्न होता है। कर्तव्य का विचार उत्पन्न होने के लिए मानसिक विकास की आवश्यकता होती है। पशुओं और छोटे बच्चों में कर्तव्य का ज्ञान होना सम्भव नहीं। जब तक मनुष्य में आगे पीछे सोचने की शक्ति नहीं

---

1. Metaphysics, 2. Psychology, 3. Logic, 4. Æsthetics, 5. Biology, 6 Politics, 7 Sociology, 8 Economics, 9 Religion.

रहती, तब तक उसे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। मनोविज्ञान यह बताता है कि मनुष्य के मानसिक विकास की किस अवस्था में उस नैतिकता[1] का ज्ञान होना सम्भव है। फिर भिन्न-भिन्न प्रकार के माप-दण्ड भिन्न भिन्न मानसिक विकास की अवस्था के परिचायक हैं। नैतिकता के किस माप-दण्ड को ऊँचा माना जाय और किसको नीचा, इसके लिए मनुष्य के मानसिक विकास को जानना भी आवश्यक होगा।

अपने कर्तव्य का निश्चय करने के पूर्व मनुष्य के मन में मानसिक उथल-पुथल होती है। इस उथल पुथल का क्या स्वरूप है इसे मनोविज्ञान से जाना जाता है। नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के बाह्य आचरण से उतना नहीं है जितना कि उसकी मानसिक परिस्थिति से है। किसी प्रकार के आचरण की नैतिकता मनुष्य के मन में होने वाले संकल्प-विकल्पों के ऊपर निर्भर करती है। उसकी प्रकाशित क्रियाओं का महत्व उसके संकल्प-विकल्प पर ही निर्भर करता है। नीति-शास्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि मनुष्य के काम की नैतिकता को जानने के लिए उसके तत्सम्बन्धी क्रियाओं के वास्तविक हेतु[2] अथवा मन्तव्य[3] को हमें जानना चाहिए। अब मनुष्य की क्रियाओं के वास्तविक प्रेरक क्या हैं तथा मनुष्य इन प्रेरकों का ज्ञान कहाँ तक प्राप्त कर सकता है यह बताना मनोविज्ञान का काम है। कभी कभी स्वयं किसी काम के करने वाले को अपने ही कामों के वास्तविक हेतुओं का ज्ञान नहीं रहता। वह जिस हेतु को हेतु समझता है वह झूठा ठहरता है। इस प्रकार जब मनुष्य अपने कार्य के हेतुओं को बहुत ऊँचा समझता रहता है, तभी उसका वास्तविक हेतु स्वार्थमय अथवा निकृष्ट भी बना रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान हमें यह बता रहा है, कि मनुष्य कहाँ तक अपने कार्य की नैतिकता के विषय में अपने-आप को धोखा देता है। वह झूठे हेतु को अपने कार्य का वास्तविक हेतु समझ बैठता है। अस्तु किसी कार्य की नैतिकता जानने के लिए न केवल उस कार्य के प्रकाशित हेतु को हमें जानना चाहिए, वरन् उसके गुप्त प्रेरकों का अध्ययन भी करना चाहिए। इन गुप्त प्रेरकों का निश्चय मनोविज्ञान की सहायता से होता है।

---

1 Morality　2. Motive　3. Intention

नीति शास्त्र में मनुष्य की भूख[1], चाह[2], इच्छा[3], स्वतन्त्र इच्छा शक्ति[4], उद्वेग[5] और चरित्र[6] आदि विषयों की चर्चा की जाती है। ये सभी तत्त्व मनुष्य की क्रियाओं के प्रेरक होते हैं। नैतिक आचरण[7] वह आचरण है, जिसमे मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति अधिक-से-अधिक कार्य करती है, और दूसरे तत्त्वों से कम-से कम प्रभावित होती है। पर स्वतन्त्र इच्छाशक्ति क्या है और कहाँ तक यह मनुष्य के कार्य की प्रेरक बनती है, इसका निश्चय करना तथा दूसरे तत्त्वों के स्वरूप, उनकी शक्ति तथा आपस के सम्बन्ध को बताना मनोविज्ञान का कार्य है। नीति-शास्त्र के प्रमुख पडितों का कथन है, कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के प्रभाव में नैतिक आचरण सभव नहीं। जहाँ स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं, वहाँ कर्तव्य नहीं। परन्तु आधुनिक काल के कुछ मनोवैज्ञानिक स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अस्तित्व मे ही विश्वास नहीं करते। उनका कथन है कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति अभ्यासजन्य एक धारणा मात्र है। यदि इन मनोवैज्ञानिकों का यह कथन सत्य मान लिया जाय, तो नीति-शास्त्र का मुख्य आधार-स्तम्भ[8] ही नष्ट हो जाय। अतएव हमें मनोविज्ञान के गम्भीर-अध्ययन से यह निश्चित करना पडता है, कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति कोई तात्त्विक वस्तु है, अथवा नहीं। यदि यह निश्चय करने मे हम असमर्थ रहे, तो नीति शास्त्र का विचार ही व्यर्थ हो जायगा।

मनुष्य का आचरण उसके आदर्श और उसके विशेष प्रकार की मानसिक परिस्थिति के सम्बन्ध का परिणाम है। नीति-शास्त्र के बहुत से पण्डितों का कथन है कि जब तक मनुष्य के स्वभाव के विषय में भली प्रकार से ज्ञान नहीं प्राप्त कर लिया जाता, तब तक उसके नैतिक आदर्श का निश्चय करना भी सम्भव नहीं है। यदि कोई मनुष्य अपना नैतिक आदर्श ऐसा बना ले जिसके अनुसार चलना किसी मनुष्य के लिए सम्भव ही न हो, तो वह आदर्श झूठा आदर्श होगा। मनुष्य के जीवन का अन्तिम आदर्श दर्शन-शास्त्र निश्चित करना है, परन्तु उसके जीवन का व्यावहारिक आदर्श मनुष्य की मानसिक परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही निश्चित किया जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनोविज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता नीति-शास्त्र के विद्वानों को कहाँ तक है।

---

1 Appetite, 2. Want, 3 Desire, 4 Freewill, 5 Emotion, 6 Character, 7 Conduct, 8 Basis.

पर हमें नीति-शास्त्र को मनोविज्ञान की एक शाखा मात्र न मान लेनी चाहिए। नीति-शास्त्र एक नियामक शास्त्र[1] है और मनोविज्ञान वस्तुविज्ञान[2] है। नीति शास्त्र के अध्ययन का ध्येय विधि-निषेध की बातों को निश्चित करना है। इसके प्रतिकूल मनोविज्ञान सभी प्रकार के आचरण और विचारों का अध्ययन करता है। एक मनोवैज्ञानिक के लिए बुरे आदमी के आचरण का अध्ययन उतना ही उपयोगी है जितना एक भले आदमी के आचरण का अध्ययन। वह जितनी रुचि सामान्य लोगों के मन के अध्ययन में दिखाता है, उतनी ही रुचि वह पागलों के मन के अध्ययन में दिखाता है। नीति शास्त्र का ध्येय सभी प्रकार के आचरणों का अध्ययन करना है और यह अध्ययन भी इस लिए किया जाता है जिससे नैतिकता की कसौटी निश्चित की जा सके।

कितने ही नीति शास्त्रज्ञ मनोविज्ञान को ही नीति शास्त्र का एक मात्र आधार बना लेते हैं। सुखवादियों[3] ने ऐसा ही किया है। उनके मतानुसार मनुष्य के सभी कार्यों का प्रेरक सुख की इच्छा रहती है। अतएव सुख ही जीवन की सर्वोत्तम वस्तु है और मनुष्य का कल्याण इसी बात में है कि वह अधिक सुख प्राप्त करने के हेतु आचरण करे। जिस काम से सुख की वृद्धि और दुःख की कमी होती है, वही धर्म मला है। पर मनोविज्ञान के ऊपर नीति शास्त्र को इस प्रकार आधारित करना एक बड़ी भूल है। इससे हम नीति-शास्त्र को मनोविज्ञान की एक शाखा मात्र बना देते हैं, और उसके विधि-निषेधात्मक लक्षण को लुप्त कर देते हैं। केवल वस्तु-स्थिति के आधार पर आदर्श का निश्चय नहीं किया जा सकता। जहाँ पर आदर्श का विचार होता है, वहाँ मनुष्य को वस्तु स्थिति के स्तर से ऊँचा उठना पड़ता है। अतएव केवल मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य के नैतिक आचरण का माप दण्ड निश्चित करना अनुचित है। कर्तव्य-शास्त्र में प्रधान बात यह नहीं है कि मनुष्य क्या करना चाहता है, वरन् प्रधान बात यह है कि उसे क्या करना चाहिए। मनुष्य में सुख की चाह अवश्य है; परन्तु उसमें इस चाह को नियन्त्रित करने की योग्यता भी है। वह अपने विवेक के द्वारा सुख की चाह को नियन्त्रित कर सकता है। मनुष्य का आदर्श उसके विवेक के द्वारा

1 Normative Science 2 Positive Science 3 Hedonists

निश्चित होता है। मनोविज्ञान अधिकतर उसके सुख की चाह पर जोर डालता है, आदर्श की चर्चा करना दर्शन का विषय माना जाता है। अतएव मनोविज्ञान के आधार पर कर्तव्य का निश्चय नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि नीति शास्त्र मे मनोविज्ञान की बडी उपयोगिता है, परन्तु मनोविज्ञान ही नीति-शास्त्र का आधार नहीं बन सकता।

नीति-शास्त्र और प्राणि-शास्त्र[1]—नीति-शास्त्र के कुछ विद्वानो ने नैतिकता का माप दण्ड प्राणियों के आचरण और उनकी उन्नति के नियमों पर आधारित किया है। उनका कथन है कि प्राणि-शास्त्र का भली प्रकार अध्ययन किये बिना नैतिकता के सिद्धान्तों को निश्चित करना सम्भव नहीं। मनुष्य के जीवन में इतनी कृत्रिमता आ गई है, कि उसके वर्तमान आचरण को देखकर अथवा उसके नैतिकता के वर्तमान विचारों को जानकर नैतिकता का माप-दण्ड स्थिर करना सम्भव नहीं। इसके लिए हमें मनुष्य से भिन्न प्राणि-जीवन का अध्ययन करना चाहिए। जो दूसरे प्राणियों के जीवन के नियम है, उन्हीं के अनुसार मनुष्य को आचरण करना चाहिए।

उक्त सिद्धान्त को मानकर इग्लैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक हरबर्ट स्पेंसर महाशय ने नैतिक आचरण के कुछ सिद्धान्तों को निश्चित किया है। उनके अनुसार नैतिक आचरण वह आचरण है, जो वातावरण के अनुकूल हो। बाह्य वातावरण से सघर्ष उत्पन्न होने पर, और प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त न होने पर प्राणी का विनाश हो जाता है। अतएव ऐसा आचरण अनैतिक आचरण है। इस प्रकार की विचारधारा में नीति शास्त्र का वास्तविक स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। दूसरे प्राणियों के आचरण को देखकर मनुष्य को अपने आचरण का आदर्श निश्चित करना बडी भूल है। इससे नैतिकता की आदर्शवादिता ही नष्ट हो जाती है। दूसरे प्राणियों में न विवेक होता है, और न धर्माधर्म का विचार। उनमे अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को रोकने की शक्ति नहीं रहती, अर्थात् उनमे स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं होती। मनुष्य विवेकशील प्राणी है, और उसमें स्वतन्त्र इच्छाशक्ति है। वह अपनी जीवन-धारा जिस ओर चाहे मोड सकता है। पशु के लिए ऐसा

1 Biology

करना संभव नहीं। अतएव मानव जीवन का आदर्श पशु-जीवन के ज्ञान से प्राप्त नहीं किया जा सकता। पशु के लिए जिस आचरण को हम भला आचरण समझते हैं वही आचरण मनुष्य के लिए बुरा हो सकता है। पशु के लिए प्राकृतिक आचरण भला आचरण है। यह बात मनुष्य के आचरण के विषय म सत्य नहीं है।

प्राणी-शास्त्र वास्तविकतावादी विज्ञान[1] है, और नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान[2] है। प्राणी-शास्त्र जैसी वस्तु-स्थिति है उसे अध्ययन करता है, अर्थात् वह प्राणियों के सामान्य आचरण को जानने की चेष्टा करता है, परन्तु नीति शास्त्र आचरण कैसा होना चाहिए, इसे जानने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से भी दोनों विद्याओं में बड़ा अन्तर है।

नीति-शास्त्र और तर्क शास्त्र—नीति-शास्त्र और तर्क शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य में तार्किक शक्ति का विकास होने के पूर्व उसमे किसी भी प्रकार के दार्शनिक विचार की क्षमता नहीं आती। वह जीवन का आदर्श क्या है और नैतिक जीवन का उद्देश्य क्या होना चाहिए, इसका निश्चय नहीं कर सकता। किसी प्रकार के आचरण का औचित्य बताते समय मनुष्य कभी-कभी विशेष प्रकार की तार्किक भूलें करता है। वह अपने आचरण की नैतिकता सिद्ध करने के लिए बहानेबाजी भी करता है। अपने विचारों की ऐसी भूलों को समझने के लिए तर्क-शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता है।

नीति शास्त्र और तर्क-शास्त्र दोनों ही नियामक[3] विज्ञान हैं। अतएव एक का स्वरूप समझने के लिए दूसरे का स्वरूप समझना आवश्यक होता है। कुछ नीति शास्त्र के विद्वानों ने तर्क-शास्त्र को ही नीति-शास्त्र का आधार मान लिया है। उनके कथनानुसार जिस प्रकार दो पारस्परिक विरोधी विचार सही नहीं हो सकते उसी प्रकार पारस्परिक विरोधी आचरण सही नहीं होता। सही आचरण वह है जिसमें स्वगत विरोध का अभाव पाया जाता है। नीति शास्त्र की परिभाषा करते समय कुछ विद्वानों ने इसे आचरण का न्याय कहा है।*

---

1 Positive Science, 2 Normative Science

3 Normative. * Ethics in the logic of conduct.

परन्तु, हमे नीति-शास्त्र को इस प्रकार तर्क-शास्त्र के ऊपर पूर्णतः निर्भर न मान लेना चाहिए। दोनों विद्याओं में समता अवश्य है, और एक के समझने से दूसरे के समझने में सहायता मिलती है। किन्तु दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। तर्क-शास्त्र का क्षेत्र विचार का क्षेत्र है, और नीति शास्त्र का क्षेत्र आचरण का क्षेत्र है। तर्क-शास्त्र सही विचार के माप दण्ड को निश्चित करता है, और नीति-शास्त्र सही आचरण के माप-दण्ड को निश्चित करता है। विचारों मे स्वगत विरोध होना अक्षम्य है। स्वगत विरोध होने पर मनुष्य किसी सत्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता, किन्तु आचरण मे स्वगत विरोध उतना बुरा नहीं जितना कि अपने आदर्श के प्रतिकूल आचरण करना बुरा है। कभी-कभी ऊपर से पारस्परिक विरोधी दिखाई देने वाला आचरण भी नैतिक आचरण होता है। मनुष्य सभी परिस्थितियों मे एक सा आचरण नहीं कर सकता, और सभी परिस्थितियों मे एक सा आचरण करना नैतिकता की दृष्टि से उचित भी नहीं है। परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य के आचरण मे भेद होता रहता है। आवश्यकता केवल इस बात की है, कि मनुष्य अपने लक्ष्य को न भूले।

फिर, विचार की भूल को हम उतना बुरा नहीं मानते, जितना कि आचरण की भूल को बुरा मानते हैं। विचार में भूल करने वाले व्यक्ति को हम कभी-कभी भोला-भाला अथवा कभी उसे मूर्ख कहते है। परन्तु आचरण मे भूलें करने वाले व्यक्ति को हम अपराधी, दुराचारी अथवा पापी कहते है। विचार की भूल क्षम्य होती है, पर आचरण की भूल अक्षम्य होती है। विचार की भूलों की वैसी निन्दा नहीं की जा सकती, जैसी आचरण की भूलों की की जाती है। विचार की अत्यधिक भूल करने वाला व्यक्ति पागल समझा जाता है। पागल को दण्ड देने का विचार कोई नहीं लाता। आचरण की भूल करने वाले व्यक्ति को अपराधी माना जाता है, और उसके लिए उसे दण्ड देना उसके और समाज के कल्याण के लिए आवश्यक होता है।

विचार के दोष और आचरण के दोष के दो भिन्न-भिन्न स्तर हैं। विचार में दोष विचार की अपरिपक्वता से होता है, और आचरण का दोष हृदय की अपवित्रता के कारण होता है। जब किसी मनुष्य के कार्य का हेतु बुरा होता है, तभी हम उसके आचरण को बुरा कहते हैं। जो व्यक्ति केवल विचार की भूल के

कारण कोई अनुचित कार्य करता है उसे हम बुरा व्यक्ति नहीं मानते। बुरा व्यक्ति वह है, जिसका चरित्र ही बुरा है जिसके मन में सब स्वार्थी विचार आते रहते हैं, और जिसकी बुद्धि परोपकार की ओर नहीं जाती। ऐसा व्यक्ति कुशल चिन्तक हो सकता है परन्तु उसके विचार की कुशलता उसके आचरण को नैतिक दृष्टि से ऊँचा नहीं बनाती।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि नीति शास्त्र का क्षेत्र तर्क शास्त्र के क्षेत्र से भिन्न है। दोनों प्रकार की विचारों में समता होते हुये भी वे एक दूसरे से भिन्न हैं और नीति-शास्त्र को तर्क शास्त्र की एक शाखा मात्र नहीं माना जा सकता।

नीति शास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र[1]—जिस प्रकार नीति-शास्त्र और तर्क शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसी प्रकार नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों का लक्ष्य किसी विशेष प्रकार के माप-दण्ड का अन्वेषण करना है। सौन्दर्य शास्त्र सौन्दर्य के माप-दण्ड का अन्वेषण करता है, और नीति शास्त्र आचरण के माप-दण्ड अर्थात् नैतिकता के माप दण्ड का। नीति-शास्त्र के कुछ विद्वानों ने नैतिक आचरण को सुन्दर आचरण कहा है। उनके कथनानुसार सौन्दर्य के माप दण्ड का ज्ञान होने पर नैतिकता के माप दण्ड का भी ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार कला में सौन्दर्य के नियमों को भङ्ग करने से उसकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है उसी प्रकार आचरण में सुन्दरता के नियमों की अवहेलना करने से आचरण बुरा हो जाता है। इन पण्डितों के अनुसार असुन्दर और बीभत्स आचरण ही अनैतिक आचरण है। अतएव जिस व्यक्ति को सुन्दरता का ज्ञान नहीं और जिसे सुन्दरता की परख करने की उचित शिक्षा नहीं मिली है वह कभी भी नैतिक-आचरण करने की योग्यता नहीं रखता। जिसके रहन सहन में चाल-ढाल में असुन्दरता है, उसके आचरण में सुन्दरता होना कठिन है।

पश्चिम में प्राचीन काल के यूनानी सुन्दरता के परम उपासक थे। वे सुन्दर सुन्दर मूर्तियों, संगीतों और नाटकों का निर्माण करते थे। उनके रहन-सहन में और बोलने के ढंग में सुन्दरता थी। वे अपने शरीर को भी अनेक प्रकार से

---

1 Æsthetics.

सुन्दर बनाने की चेष्टा करते थे। वे सुन्दरता की वृद्धि के सभी कार्यों को बड़े मनोयोग के साथ इसलिए भी करते थे, क्योकि वे समझते थे कि सुन्दरता की वृद्धि करना मानव-जीवन की पूर्णता की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक सुन्दर वस्तुओं का निर्माण करता है, वह उतना ही अधिक अपने आचरण को ऊँचा बनाता है। इन सुन्दरता के उपासकों मे पीछे यह भी विचार आ गया था, कि जिस व्यक्ति का रूप रग और आकार सुन्दर है, उसकी आत्मा भी अवश्य सुन्दर होगी, और जो व्यक्ति कुरूप है, उसकी वैसी ही आत्मा भी अवश्य होगी।

सुन्दरता और नैतिकता[1] में घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु सुन्दरता को ही नैतिकता नहीं कहा जा सकता। अपने जीवन में सुन्दरता न रखने वाले व्यक्ति को दण्ड देने की बात कोई नहीं सोचता, किन्तु आचरण मे अनैतिकता प्रदर्शित करने वाले को दण्ड दिया जाता है। सुन्दरता का ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति समाज में वैसा निन्दनीय नहीं माना जाता, जैसा कि नैतिकता का ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति माना जाता है। फिर कितने ही प्रकार का नैतिक आचरण ऐसा होता है, जो देखने में असुन्दर होता है। भगी का काम सुन्दरता की दृष्टि से नीचा भले ही दिखाई दे, पर नैतिकता की दृष्टि से उसी कोटि का हो सकता है, जिस कोटि का एक कवि का अथवा कलाकार का कार्य होता है। रोगियों की सेवा करते समय मनुष्य को अनेक प्रकार की गन्दगी में रहना पडता है। सुन्दरता का उपासक कलाकार प्राय ऐसी गन्दगी में रहना पसन्द न करेगा। परन्तु नैतिकता की दृष्टि से रोगियों की सेवा करना, उनके घावों को धोना और मलहम पट्टी करना, उनका पाखाना फेंकना बड़े ऊँचे काम हैं। फिर यह कहना भी भूल है, कि शरीर से सुन्दर व्यक्ति का आचरण भी सुन्दर होता है और अपने शरीर को आकर्षक बनाना नैतिकता की दृष्टि से ऊँचा काम है। इस भूल मे पड़कर महात्मा सुकरात को यूनान के सुन्दरता के उपासक जहर देने में इसलिए नहीं हिचके, कि उसका बदन सुन्दर नहीं था और वह एक फकीर के समान फटे पुराने कपड़े पहन कर अपना जीवन व्यतीत करता था। शरीर का सौन्दर्य और

---

1 Morality

आचरण का सौन्दर्य दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं, और जिस माप-दण्ड से कला की सुन्दरता मापी जाती है उससे आचरण की सुन्दरता नहीं मापी जा सकती।

सुन्दरता के माप-दण्ड और नैतिकता के माप-दण्ड में एक और मौलिक भेद है। सुन्दरता का माप-दण्ड निर्मित पदार्थ की कीमत करता है और नैतिकता का माप-दण्ड उस क्रिया की कीमत करता है, जिसके द्वारा किसी पदार्थ का निर्माण होता है। हम किसी कलाकार को सुन्दर कलाकार कह सकते हैं यदि उसने पहले कभी सुन्दर कला का निर्माण किया हो। वर्तमान समय में वह कला निर्माण कर रहा है अथवा नहीं यह बात उसके सुन्दर कलाकार होने में बाधक नहीं होती। परन्तु हम किसी व्यक्ति को भला व्यक्ति तब तक नहीं कहते जब तक वह हर समय भला आचरण नहीं करता। अरस्तू महाशय का कथन है कि, 'भलाई करने के लिए कोई भी दिन छुट्टी का दिन नहीं।'* मनुष्य जब तक जीता है, उसे भला काम करते ही रहना चाहिये जब वह निष्क्रिय हो जाता है, तो वह भला नहीं रहता।

सुन्दरता का माप-दण्ड एक बाहरी वस्तु से सम्बन्ध रखता है, और नैतिकता का माप-दण्ड आन्तरिक भावों से। अच्छे भाव रखने वाले व्यक्ति की कला को हम सुन्दर कला नहीं कहते। सुन्दर कला उस कला को कहा जाता है, जो ऊपर से सुन्दर दिखाई पड़ती है। हम कला की सुन्दरता की कीमत आँकते समय कलाकार के हेतुओं पर विचार नहीं करते परन्तु नैतिकता में आचरण की श्रेष्ठता जानने के लिए मनुष्य के कार्य के हेतुओं को जानना अति आवश्यक है। मनुष्य का कोई काम सुन्दर हो अथवा असुन्दर समाजोपयोगी हो अथवा निकम्मा उसकी नैतिकता उसके हेतु के ऊपर निर्भर है, अर्थात् नैतिकता में मनुष्य के हृदय को जानने की चेष्टा की जाती है और उसकी आन्तरिक भावनाओं के ऊपर ही भले और बुरे का विचार किया जाता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य-शास्त्र और नीति-शास्त्र में बहुत कुछ समानता होते हुए भी दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं, और वे भिन्न भिन्न प्रकार के पदार्थों की कीमत आँकते हैं। सौन्दर्य शास्त्र का विशेष मतलब निर्मित वस्तु से

---

* There is no holiday for virtue.

रहता है, और नीति-शास्त्र का विशेष सम्बन्ध क्रिया तथा उसके हेतु से रहता है। इन दोनों शास्त्रों में मुख्य भेद यही है।

नीति-शास्त्र और-तत्त्वविज्ञान[1]—तत्त्वविज्ञान शब्द कभी-कभी दर्शन[2] के सभी विभागों के लिए आता है, और कभी-कभी यह शब्द उस विद्या के लिए काम में आता है, जिसमे ससार के आन्तिम तत्त्वों की चर्चा की जाती है। इसे अँग्रेजी मे "मेटाफिजिक्स" कहते हैं। पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार दर्शन अर्थात् फिलासफी के निम्न लिखित पॉच अग माने गये हैं—तर्क-शास्त्र[3], सौन्दर्य शास्त्र,[4] नीति-शास्त्र,[5] मनोविज्ञान[6] और तत्त्व-विज्ञान। इन पॉचों अंगो का सम्पूर्ण ज्ञान दार्शनिक ज्ञान कहलाता है। तत्त्व-विज्ञान दूसरे चार प्रकार की विद्याओं के ऊपर का ज्ञान है। प्रत्येक शास्त्र कुछ बातें मानकर चलता है। ये बातें उस शास्त्र की पूर्व-मान्यताएँ[7] कहलाती है। वह उन पूर्व मान्यताओं की तात्त्विक वास्तविकताओं को सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करता। मनोविज्ञान मन की उपस्थिति को मानकर चलता है। पर मन का तात्त्विक रूप क्या है, इसे जानने के लिए हमें तत्त्व-विज्ञान का अध्ययन करना पड़ता है। इसी प्रकार न्याय शास्त्र, सौन्दर्य्य शास्त्र और नीति-शास्त्र की कुछ पूर्व-मान्यताएँ हैं। इन पूर्व-मान्यताओं का अध्ययन तत्त्व-विज्ञान मे होता है। नीति-शास्त्र की निम्नलिखित पूर्व-मान्यतायें हैं—

(१) नि श्रेय अथवा सर्वोत्तम[8] पदार्थ की उपस्थिति,
(२) मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति[9],
(३) सृष्टि का भलाई की ओर जाना[10],
(४) आत्मा का अमरत्व[11], और
(५) ईश्वर का अस्तित्व और उसकी पूर्णता[12]।

इन पाँचों बातों पर प्रकाश तत्त्व-विज्ञान डालता है। नीति-शास्त्र के कुछ

---

1 Metaphysics, 2 Philosophy, 3 Logic, 4 Æsthetics, 5 Ethics, 6 Psychology, 7 Postulates, 8 Summum bonum, 9 Freedom of will, 10. Movement towards progress, 11 The immortality of soul, 12. Perfection of God

विद्वान पिछली दो बातों में विश्वास करना, नीति-शास्त्र के माप दण्ड के निरूपण के लिए आवश्यक नहीं समझते। जड़वादी[1] नीति शास्त्र के विद्वान् न आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं और न ईश्वर में। वे नीति-शास्त्र का प्रधान आधार मानव-समाज की आवश्यकता में ही ढूँढते हैं।

पिछली दो पूर्वमान्यताओं को छोड़ कर यदि हम शेष तीन पूर्व-मान्यताओं पर विचार करें तो देखेंगे कि नीति शास्त्र के लिए उन्हें मानना अत्यन्त आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य निराशावादी[2] है और सांसारिक घटनाओं के अन्तिम प्रयोजन को शुभ नहीं मानता, तो उसके लिए नैतिक आचरण करना अत्यन्त कठिन होता है। मनुष्य तभी नैतिक आचरण करता है, जब वह समझता है कि अन्तिम शुभ पदार्थ[3] कोई है। यह अन्तिम शुभ पदार्थ क्या है, इसके ऊपर तत्त्व विज्ञान प्रकाश डालता है।

नीति शास्त्र की दूसरी पूर्वमान्यता स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति है। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अभाव में नैतिक आचरण सम्भव नहीं है। यह स्वतन्त्र इच्छा शक्ति क्या है, इसके ऊपर तत्त्व विज्ञान प्रकाश डालता है। हम देखते हैं कि मनुष्य एक ओर परिस्थितियों का दास है, और दूसरी ओर वह परिस्थितियों के ऊपर विजय-प्राप्ति की चेष्टा भी करता रहता है। परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने वाला तत्त्व ही नैतिकता का आधार है। पर यह तत्त्व क्या है इसका ज्ञान नीति-शास्त्र को नहीं है इसके लिए तत्त्व-विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता होती है।

जिस प्रकार मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा शक्ति में विश्वास नैतिक आचरण के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार सांसारिक घटनाओं के नियन्त्रण करने वाले नियम की भलाई में विश्वास भी नैतिक आचरण के लिए आवश्यक है। यदि संसार की घटनाएँ किसी न्यायपुक्त नियम के द्वारा घटित नहीं होती हैं तो किसी व्यक्ति में नैतिक आचरण के लिये उत्साह ही न रहेगा। मनुष्य अपने आचरण को इस लिये ही न्यायपुक्त बनाने की चेष्टा करता है क्योंकि वह जानता है कि सारी सृष्टि एक नैतिक नियम के द्वारा संचालित हो रही है। भले कार्य का

---

1 Materialist, 2 Pessimist. 3. Highest Good summum bonum.

फल भला होता है, और बुरे का बुरा। भले तथा बुरे काम और उनके फल की उपस्थिति मे समय का अन्तर कितना ही पड़े, परन्तु ऐसा होना असम्भव है कि भले काम का परिणाम बुरा हो, और बुरे काम का परिणाम भला। जन-साधारण की किंवदन्ती 'रोपै पेड बबूल का आम कहाँ से होय' में तात्विक सत्य है। यह सत्य ही मनुष्य को नैतिक आचरण करने के लिए प्रोत्साहित करता है। जो लोग ससार की घटनाओं में किसी भले नियम को कार्यान्वित होते हुये नहीं देखते, उनका हृदय से सदाचारी होना बडा कठिन है। ऐसे लोग प्राय. क्रूर-कर्मा अथवा विक्षिप्त होते हैं। उन्हें नैतिक आचरण की उपयोगिता समझना असम्भव है। ऐसे लोगों को नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र आदि विद्याओं के अध्ययन की आवश्यकता ही क्या है? इन लोगों के जीवन का सिद्धात 'खाओ, पीओ और मौज उडाओ' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। वे साधुओं और पागलों के जीवन में कुछ भी भेद नहीं रखते।

इमेनुअल कान्ट महाशय के कथनानुसार नैतिक जीवन का आधार आत्मा के अमरत्व और परमात्मा की पूर्णता में विश्वास भी है। जो मनुष्य आत्मा के अमरत्व मे विश्वास नहीं करता, उसके लिए यह मानना कठिन होता है कि सभी भले कार्यों का परिणाम भला होता है। हम समान्यत देखते हैं कि बहुत से सदाचारी लोग जीवन भर कष्ट सहते रहते हैं। वे अपने भले कामों का पुरस्कार इस जीवन काल में नहीं पाते। इसके प्रतिकूल बहुत से दुराचारी, कपटी, धूर्त लोग ससार में खूब फलते-फूलते दिखाई देते हैं। यदि कोई मनुष्य आत्मा के अमरत्व अथवा पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता, तो उसे अपना आचरण भला बनाने के लिए कोई आन्तरिक प्रेरणा होना कठिन है। वह अपने आचरण को उतनी ही दूर तक भला बनाने की चेष्टा करेगा, जहाँ तक वह इस भले आचरण से कुछ लौकिक लाभ उठा सकता है। ऐसा व्यक्ति किसी ऐसे बुरे काम के करने से भी अपने-आप को न रोकेगा, जिसे वह संसार की आँखों से छिपा सकता है। आत्मा के अमरत्व मे विश्वास करने वाला व्यक्ति स्वर्ग-नरक की अथवा पुनर्जन्म की कल्पना करता है। उसकी ये कल्पनायें एक ओर उसे भले कामों मे प्रोत्साहित करती है, और दूसरी ओर बुरे कामों से उसे रोकती है। जिस व्यक्ति को यह पूर्ण विश्वास रहता है कि भले या बुरे काम का

फल इस जीवन में नहीं मिलता उसका फल किसी-न-किसी प्रकार इस जीवन के बाद मिलता है, उसकी अनैतिक आचरण करने की सम्भावना कम रहती है। वह कर्मफल के प्रति उदासीन होकर भी शुभ कर्म को करता ही जायगा। उसकी बुद्धि में प्रत्येक शुभ कर्म का करना किसी साखवाली बैंक में रुपया जमा करने के समान होता है। मनुष्य बैंक के हिसाब से उतना ही रुपया ले सकता है, जितना उसने जमा किया है। यदि कोई बैंक उसके चेक के भुगतान में देर करती है, तो वह उसके जमा किये हुये रुपये का ब्याज उतना ही अधिक देती है। इसी प्रकार यदि किसी भले काम का फल हमें तुरन्त नहीं मिलता और फल के मिलने में अधिक देर लगती है तो हमारा मूलधन तो कम होता ही नहीं उसका ब्याज दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है। आत्मा के अमरत्व और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास उक्त मनोवृत्ति को उत्पन्न करते हैं। पर ईश्वर और आत्मा क्या वस्तु हैं, इनका ज्ञान नीति-शास्त्र नहीं कराता; इसके लिए तत्त्वविज्ञान की आवश्यकता है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जड़वादी दार्शनिक अथवा नीति-शास्त्र के विद्वान् आत्मा के अमरत्व तथा ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। इनके लिए नैतिक आचरण करने में जो कठिनाई होगी वह कठिनाई इन तत्त्वों को मानने वाले व्यक्तियों में होने की कम सम्भावना है। कुछ धार्मिक लोग जो आत्मा के अमरत्व और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, दुराचारी भी होते हैं। इसका कारण यह है कि वे सच्चे हृदय से धार्मिक नहीं हैं। वे प्रायः समाज के भय से अथवा रूढ़िवादिता के कारण धार्मिक बने रहते हैं। वे स्वार्थवादी होते हैं और धर्म को भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाते हैं। ऐसे लोगों में से जिनकी तीव्र बुद्धि होती है, वे संशयवादी होते हैं। सच्चे धार्मिक व्यक्ति का नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करना यदि असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।

बौद्ध दार्शनिक आत्मा और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते फिर पर भी वे उच्च कोटि के नैतिक आदर्श मनुष्य के सामने रखते हैं। परन्तु हमें इनके विषय में यह न भूल जाना चाहिए कि वे पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं और वे यह भी मानते हैं कि भले काम का फल भला होना और बुरे काम का फल बुरा

होना अनिवार्य है। बौद्ध दर्शन जडवादी नहीं वरन् आध्यात्मवादी है। जीव का सासारिक दृष्टि से पुनर्जन्म होना और तात्विक रूप मे उसके अस्तित्व को स्वीकार न करना सम्भव है। बौद्ध दर्शन मे जिस आत्मा के अस्तित्व के विषय में सन्देह किया गया, वह सस्कार सम्पन्न जीव ही है।

नीति-शास्त्र और धर्म[1]—नीति शास्त्र और धर्म का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि भारतवर्ष मे नीति-शास्त्र को धर्मशास्त्र ही कहा गया है। ऊपर हमने तत्त्व-विज्ञान और नीति-शास्त्र के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है, उससे इन दोनों का भी घनिष्ठ सम्बन्ध प्रत्यक्ष है। शोपनहावर महाशय का कथन है कि धर्म ही सामान्य जनता का तत्त्व-विज्ञान है*। अतएव तत्त्व-विज्ञान का सम्बन्ध नीति-शास्त्र से बताते हुए यह बहुत दूर तक बताया जा चुका है कि नैतिक आचरण के लिए धर्म की कहाँ तक आवश्यकता है।

सामान्य जनता को कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान विभिन्न मतों के धर्म-गुरु ही कराते हैं। यदि हम ससार के प्रमुख धर्मों को देखें, तो उनमे पर्याप्त नैतिक शिक्षा पावेंगे। सामान्य मनुष्य धर्म मे बताई बातों से प्रभावित होता है। धर्म पुनर्जन्म अथवा आत्मा के अमरत्व में विश्वास पैदा कराता है। इसमे स्वर्ग-नरक की कल्पना भी रहती है। अतएव मनुष्य को सदाचारी बनने के लिए वह अनेक प्रकार से प्रेरित करता है।

भारतवर्ष में नीति-शास्त्र और धर्म-शास्त्र में प्राय एकता पाई जाती है। परन्तु दूसरे देशों मे धर्म शास्त्र को "थेओलाजी" के नाम से पुकारा जाता है। थेओ-लाजी में ईश्वर, आत्मा आदि बातों की चर्चा रहती है। इसमे सृष्टि की उत्पत्ति और उसके नियमों पर भी विचार रहता है। इस प्रकार का विचार पुराने समय में नैतिकता का आधार माना जाता था। कुछ लोगों का मत है कि ईश्वर की भलाई और न्याय-प्रियता में विश्वास एक ओर धर्म का आधार है, और दूसरी ओर नैतिकता का। इस तरह धर्म नैतिकता का आधार होता है, और नैतिकता भी

---

1 Religion

* Religion is the metaphysics of the masses — Selected Essays.

धर्म से सदा सम्बन्ध रखती है। अक्वाईं और लॉक महाशय इस विचार के प्रवर्तक थे, कि धर्म ही नैतिकता का मूल स्रोत है। ईश्वर में विश्वास करने के कारण ही मनुष्य नैतिक आचरण करता है। संसार की धर्म पुस्तकों में बतलाई हुई ईश्वरीय आज्ञा का पालन करना ही नैतिकता है।

उक्त विचार से भिन्न मार्टिनो और कान्ट महाशय के विचार हैं। इन विद्वानों के विचारानुसार नैतिकता ही धर्म का आधार है। महात्मा गाँधी का भी यही विचार था। उनका कथन था कि जब मनुष्य नैतिकता को छोड़ देता है, तो वह धर्म से भी विमुख हो जाता है*। मार्टिनो महाशय का कथन है, कि मनुष्य की अन्तरात्मा की आवाज[1] उसे उचितानुचित का ज्ञान कराती है और साथ ही साथ उसे उचित काम करने के लिए प्रेरणा देती है तथा अनुचित काम करने से रोकती है। मनुष्य अपनी अन्तरात्मा से नैतिक आचरण के लिए जो प्रेरणा पाता है वही इस बात को सिद्ध करता है कि संसार का एक महाप्रभु है, और हमारा उसके प्रति उत्तरदायित्व है। उस महाप्रभु के बारे में हम फिर कल्पना करते हैं, कि वह अवश्य सर्वशक्तिमान सर्वदर्शी, और पूर्णतया न्याय प्रिय होगा वह न केवल हमारे प्रकाशित कार्यों को जानता है, वरन् हमारे मन के भीतर छुपे वाले हेतुओं और मन्तव्यों को भी जानता है। उसकी शक्ति असीम है और वह स्वभावतः ही धार्मिक पुरुषों को प्रसन्न करता है, तथा बुरों को दण्ड देता है। ऐसे न्याय प्रिय ईश्वर में विश्वास करना ही धर्म है। इससे यह स्पष्ट है कि धर्म का आधार मनुष्य की नैतिक भावनाएँ हैं।

कान्ट महाशय का कथन है कि हम अपनी नैतिक अनुभूति[2] के द्वारा यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि भलाई के साथ सुख और बुराई के साथ दुःख का अनिवार्य सम्बन्ध है। किन्तु हम अपने लौकिक अनुभव में इस बात को नहीं पाते। हम संसार में देखते हैं कि साधु लोग दुःख पाते हैं; और दुष्ट लोग मौज उड़ाते हैं। अब इस अन्तः अनुभूति और लौकिक अनुभव की विषमता को मिटाने के लिए हमें एक ऐसे परमात्मा को मानना पड़ता है, जो सर्वदर्शी सब

---

* When a man ceases to be moral he ceases to be religious.

1 Conscience. 2. Moral Intuition.

शक्तिमान और न्याय-प्रिय है। वह अन्त मे साधुओं को सुखी बनाता है और दुष्टों को दण्ड देता है। इस प्रकार हमारी अन्तः अनुभूति ही ईश्वर के अस्तित्व और उसकी पूर्णता का आधार है। इस दृष्टि से नैतिकता धर्म का आधार है।

संसार में कई प्रकार के धर्म प्रचलित हैं। कुछ धर्मों में वाह्य क्रिया—यज्ञ, होम, तप, पूजा-पाठ आदि की प्रधानता रहती है, और कुछ में आचरण और मानसिक शुद्धि पर जोर दिया जाता है। जिस धर्म मे जितना ही वाहरी वातों को महत्व दिया जाता है, और आचरण और विचार की शुद्धि अर्थात् नैतिक वातों को कम महत्व दिया जाता है, वह उतना ही निम्नकोटि का है। कितने ही धर्म ऐसे हैं, जिनमें नैतिकता के प्रतिकूल वातों को क्षम्य मान लिया जाता है, अथवा उन्हें प्रोत्साहित किया जाता है। इस प्रकार के धर्म वास्तव में धर्म नहीं हैं। वे मनुष्य को अविकसित मानसिक अवस्था के परिचायक हैं। जब धर्म के मानने वाले लोगों का आचरण नैतिकता की दृष्टि से निम्नकोटि का हो जाता है, तो संसार के विचारवान् लोग धर्म की निन्दा करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में विद्वान् पुरुष, ईश्वर को जनता को धोखा देने वाली कोरी कल्पना मात्र मानने लगते हैं। मानव समाज धर्म के बिना चल सकता है, परन्तु नैतिकता के विना नहीं चल सकता। आधुनिक काल में संसार के वहुत से वैज्ञानिक मनोवृत्ति के समाज-सुधारक धर्म को पुरोहितों का कोरा ढोंग ढकोसला मानने लगे हैं। उनका विचार है कि धर्म धनियों के द्वारा गरीब जनता का शोषण कराता है, और समाज के ठग लोगों को शरण देता है। धर्म की आड में अनेक प्रकार के अनैतिक कार्य होते हैं। अतएव धर्म के न रहने पर ही मनुष्य में सच्ची नैतिकता आ सकती है, और ऐसी अवस्था में ही समाज का सच्चा कल्याण हो सकता है। वर्तमान समय में धर्म के प्रति विद्रोह का भाव, वास्तव में धर्म के विकृत रूप के प्रति विद्रोह का भाव है। यदि हम धर्म के सच्चे रूप पर विचार करें, तो हम उसे मानव-समाज का महान कल्याणकर्त्ता पावेंगे। धर्म न केवल नैतिकता का आधार है, वरन् मनुष्य को स्थायी शान्ति देने का एक मात्र साधन है। इसे हमारे पुराने ऋषियों ने मानव-जीवन का सार भाग माना है। इसके बिना मानव-जीवन पशु-जीवन के समान है।

नीति शास्त्र और राज-नीति[1] का सम्बन्ध—नीति शास्त्र और राजनीति का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीति किसी देश की सरकार को चलाने के सिद्धान्त और राष्ट्र के विभिन्न अंगों के आपस के सम्बन्ध और उनके उत्तरदायित्व को बताती है। यह नीति शास्त्र के समान नियामक[2] अर्थात् विधिनिषेधात्मक विज्ञान है। राजनीति ऐसे नियमों को बताती है, जिनसे समाज की संस्थाएँ सुसंगठित रह सकें और समाज के व्यक्ति उसकी भलाई के लिए काम करें। इसके लिए सरकार की स्थापना की जाती है। किसी राष्ट्र की सरकार समाज की भलाई के लिए अनेक नियम बनाती है, और इन नियमों के तोड़ने वालों के लिए दण्ड-विधान बनाती है। राजनीति का उद्देश्य समाज की भलाई करना है और नीति शास्त्र का उद्देश्य यह निश्चित करना है कि प्रत्येक व्यक्ति की भलाई किस बात में है अर्थात् उसके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य क्या है। व्यक्ति के सुख और पूर्णता पर समाज का सुख और उसकी पूर्णता निर्भर है। इसी तरह समाज के सुख और उन्नति पर व्यक्ति के सुख और उन्नति निर्भर हैं अतएव राजनीति और नीति-शास्त्र में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीति के नियमों का आधार समाज के नैतिक नियम रहते हैं, और नैतिकता के विकास के लिए समाज का सुसंगठित होना अत्यावश्यक है। मनुष्य समाज की सेवा करके अपने नैतिक जीवन को पूर्ण बनाता है परन्तु मनुष्य में समाज की सेवा के भाव उत्पन्न करने और उसे समाज की सेवा का अवसर सुलभ करने के लिए सुगठित राज्य की आवश्यकता होती है।

संसार के कुछ विद्वानों ने नीति शास्त्र को राजनीति की एक शाखा माना है, और कुछ ने राजनीति को नीति-शास्त्र की शाखा माना है। ग्रीन महाशय का कथन है कि मनुष्य में नैतिक विचार तभी उत्पन्न हो सकते हैं जब समाज में अच्छा संगठन हो और राज्य भली प्रकार से चल रहा हो। ऐसी स्थिति में मनुष्य काम का बटवारा करता है और अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का निश्चय करता है। मनुष्य स्वभावतः ही स्वार्थी प्राणी है; और यदि उसे किसी सत्ता का

1 Politics. 2. Positive.

भय न हो, तो वह अपने सुख के लिए दूसरों को कष्ट देने में कुछ भी न हिचकेगा। राजनैतिक नियम ही पहले-पहल मनुष्य को दूसरे के अधिकार छीनने से रोकते हैं, और उसे आत्म संयम की शिक्षा देते हैं। यही शिक्षा आगे चलकर मनुष्य में नैतिक भावनायें उत्पन्न कर देती है। बाहर के दण्ड का भय पीछे अभ्यासवश अन्तरात्मा-द्वारा दिये जाने वाले भय में परिणत हो जाता है।

प्लेटो, अरस्तू, हीगल, ग्रीन आदि महाशय के विचार हाब्ज़ महाशय के उक्त विचारों के प्रतिकूल हैं। इनके कथनानुसार राजनीति नीति-शास्त्र की शाखा मात्र है। मनुष्य के नैतिक आचरण का आधार केवल बाहरी सत्ता का भय नहीं है। मनुष्य में नैतिक आचरण करने की स्वतः ही प्रवृत्ति रहती है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपकी पूर्णता चाहता है। जैसे-जैसे उसका विचार विकसित होता है, तैसे-तैसे वह जानने लगता है कि यह पूर्णता व्यक्तिगत वस्तु नहीं अपितु सामाजिक वस्तु है। जब तक मनुष्य दूसरों को प्रसन्न और पूर्ण बनाने की चेष्टा नहीं करता, तब तक वह स्वय भी प्रसन्न और पूर्ण नहीं होता। अतएव समाज-सेवा के भाव से ही समाज में स्थायी सगठन रह सकता है। जब तक मनुष्य में सामाजिक भावों की वृद्धि रहती है, अर्थात् जब तक वह स्वार्थ-त्याग के द्वारा आत्म-साक्षात्कार करने की चेष्टा करता है, तब तक ही समाज सुसगठित रहता है। जब मनुष्य सामाजिक सगठन में केवल दूसरों से लाभ उठाने के लिए आता है, और जब वह भय के कारण ही दूसरों का क्षति करने से अपने-आप को रोकता है, तब समाज का सगठन शिथिल हो जाता है। समाज में ऐसी अवस्था में ठग, धूर्त्त और चालबाज लोग ही अधिकारी बन जाते हैं। ऐसी अवस्था में समाज से नैतिकता उठ जाती है, और थोड़े ही काल में ऐसा समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

प्लेटो महाशय ने अपनी 'रिपब्लिक' नामक पुस्तक मे उक्त सिद्धान्त का खडन किया है, जिसका प्रवर्तन हाब्ज महाशय ने किया है। हाब्ज़ महाशय प्लेटो के दो हजार वर्ष बाद हुए, परन्तु उनके सिद्धान्त के समान सिद्धान्त उस समय भी प्रचलित था। अतएव इसे पूर्व पक्ष बनाकर इसका भली प्रकार से खण्डन और आत्मा की भलाई के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्लेटो महाशय ने अपनी पुस्तक मे किया है। यदि हम नैतिकता को राजनैतिक व्यवस्था पर आधारित मान लें, तो हमें उसे एक बाहर से लादी हुई वस्तु मानना पड़ेगा। किन्तु

इस प्रकार की धारणा नैतिकता के मूल भाव के ही प्रतिकूल है। जो व्यक्ति भय-वश नैतिक आचरण करता है, वह वास्तव में भला व्यक्ति नहीं है क्योंकि वह भय के हट जाने पर बुराई में ही लग जायगा। नैतिकता का सच्चा आधार मनुष्य की अन्तरात्मा की भलाई ही है। जो व्यक्ति नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करता है, वह राज्य के प्रति अपराध करे अथवा नहीं, समाज को हानि पहुँचाये अथवा न पहुँचाये परन्तु वह अपने-आप को हानि अवश्य पहुँचाता है, और वह अपने ही प्रति अपराध करता है।

कभी-कभी मनुष्य के राजनैतिक कर्तव्यों और नैतिक कर्तव्यों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उस समय उसका कर्तव्य है कि वह जिसे नैतिक दृष्टि से उचित समझे उसे करे न कि जिसे राज्याधिकारी भला मानते हैं उसे करे। राज्याधिकारी ऐसे व्यक्ति को दण्ड अवश्य देंगे, परन्तु जो कर्तव्य-परायण व्यक्ति है वह ऐसे दण्ड को प्रसन्नता से सहता है। वास्तव में ऐसे ही व्यक्ति समाज का सुधार करते हैं, और राजनैतिक क्रान्तियाँ उत्पन्न करते हैं। समाज में अथवा राज्य में जब कभी क्रान्तियाँ होती हैं, तो उनका आधार नैतिक ही रहता है। नैतिकता के प्रतिकूल बनी हुई किसी सामाजिक रूढ़ि को अथवा राजनैतिक संस्था को तोड़ना प्रत्येक विवेकशील, कर्तव्य-परायण व्यक्ति का कर्तव्य होता है।

नैतिकता व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखती है। उसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता प्रदान करना है राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई की वृद्धि करना है। ग्रीन महाशय का कथन है कि मनुष्य को आत्म कल्याण का विचार पहले रखना चाहिए, पीछे उसे समाज की बातों की परवाह करनी चाहिए। जो व्यक्ति आत्म-कल्याण की चेष्टा करता है वह समाज का सच्चा कल्याण अपने आप ही कर देता है। वही समाज भला समाज है, जिसमें व्यक्ति को अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए अधिक-से अधिक स्वतन्त्रता दी जाती है। जहाँ व्यक्तिगत आचरण की स्वतन्त्रता में राज्य अत्यधिक हस्तक्षेप करने लगता है वहाँ मनुष्यों का नैतिक विकास न होकर उनका पतन ही होता है। अतएव सर्वोत्तम राज्य वह है, जो इस सिद्धान्त को ध्यान में रखता है कि मनुष्य के आचरण के लिए कम-से-कम बंधन हो और अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता हो अर्थात् जो

राज्य मनुष्य की नैतिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अपना नियम बनाता है, वही सर्वोत्तम राज्य है।

हमने ऊपर राजनीति और नीति-शास्त्र का सम्बन्ध बताया है, परन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि दोनों के दृष्टिकोण में मौलिक भेद है। नैतिकता के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु राजनीति का आधार समाज के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्पण है। नीति शास्त्र का ध्येय मनुष्य को वैयक्तिक कल्याण प्राप्त करने में सहायता देना है, और राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई को प्राप्त करना है। राजनीतिज्ञ की दृष्टि बहिर्मुखी[1] होती है, और नीति शास्त्रज्ञ की दृष्टि अन्तर्मुख।[2] राजनीति में मनुष्य के बाहरी कामों और उनके फलों पर विचार किया जाता है, पर नीति-शास्त्र में मनुष्य के कार्यों के प्रेरक हेतुओं और सकल्पों पर विचार किया जाता है। राजनैतिक नियमों का आधार पुरस्कार का प्रलोभन और दण्ड का भय होता है, किन्तु नैतिक नियमों का आधार स्वतन्त्र इच्छा और आत्मप्रेरणा होती है। राजनीति में परिस्थितियों के अनुसार अपने आचरण को बनाना और किसी प्रकार अपने कामों में सफलता प्राप्त करना स्तुत्य माना जाता है, किन्तु नीति-शास्त्र ने अवसरवादिता को निन्द्य माना है। उसका ध्येय आन्तरिक पूर्णता की प्राप्ति है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजनीति की अपेक्षा नीति-शास्त्र का स्थान कहीं ऊँचा है। किसी भी राजनैतिक सत्ता का आधार जब तक नैतिक नहीं होता, तब तक वह सत्ता भली नहीं समझी जाती। आधुनिक प्रगतिशील राष्ट्र अपनी राजनीति में मनुष्य के नैतिक विकास के लिए अधिक-से-अधिक सुविधायें देते हैं, अर्थात् वे चेष्टा करते हैं, कि राज्य व्यक्ति को अपने आत्म विकास के लिए अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता दे। आधुनिक जनतन्त्रवादी आन्दोलन का यही लक्ष्य है।

नीति-शास्त्र और समाज शास्त्र[3]—समाज-शास्त्र मानव समाज के विकास का अध्ययन करता है। समाज-शास्त्र यह बताने की चेष्टा करता है कि

---

1 Extraverted 2. Introverted. 3. Sociology

मानव समाज अपनी बबर अवस्था से वर्तमान सभ्य अवस्था में कैसे आया! आज हम सभ्य समाज में जो भी परम्पराएँ[1], रीति-रिवाज[2] और संस्थाएँ[3] देखते हैं, उनका विकास बबर अवस्था से हुआ है। समाज-शास्त्र इस विकास की क्रिया और उसके नियमों को दर्शाने की चेष्टा करता है। यह शास्त्र व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को भी स्पष्ट करता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, और वह सुसंगठित समाज में एक दूसरे की सहानुभूति और सहायता से रहता है। यदि मनुष्य समाज से अलग रहे तो उसका जीना ही असम्भव हो जाय।

समाज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के रीति-रिवाज, रहने के ढंग और संस्थाएँ, प्रचलित रहे हैं। ये रीति-रिवाज ढंग और संस्थाएँ नीति-शास्त्र के लिए विचार की सामग्री उपस्थित करते हैं। जब हम भिन्न भिन्न समय और भिन्न भिन्न देशों के रीति रिवाज और संस्थाओं से परिचित होते हैं तो हमें यह जानने की चेष्टा करनी पड़ती है कि उनमें से कौन श्रेष्ठ है, और कौन निकृष्ट। जब हम इस तरह सामाजिक संस्थाओं अथवा परम्पराओं के ऊपर विचार करते रहते हैं तो हमारे सामने नीति-शास्त्र की आवश्यकता आती है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष की छूआछूत की प्रथा और अमेरिका की निग्रो जाति का श्वेत जाति द्वारा सामाजिक बहिष्कार की प्रथा को लीजिए। यह एक सामाजिक वस्तु है। हम इस प्रकार की व्यवस्था कहीं देखते हैं, और कहीं नहीं देखते। हमें ऐसी प्रथाओं अथवा संस्थाओं को देखकर यह सोचना पड़ता है कि वे उचित हैं अथवा अनुचित। समाज-शास्त्र यह बताने की चेष्टा करता है कि ये प्रथायें समाज में कहाँ से आई और किन भावों के ऊपर स्थिर हैं। इन बातों को जानकर हम नैतिकता की दृष्टि से उनका मूल्य भली प्रकार से आँक सकते हैं।

नीति-शास्त्र व्यक्ति के आचरण के आदर्शों को निश्चित करता है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहता है और उसका आचरण समाज के दूसरे व्यक्तियों के सम्बन्ध में होता है। वह अपने आचरण से समाज का कल्याण करता है

1 Traditions. 2. Customs. 3. Institutions.

अथवा अकल्याण, उसे प्रगतिशील बनाता है या उसकी प्रगति में बाधा डालता है, समाज की प्रगति कैसे होती है, आदि बातों का ज्ञान होना समाज की प्रगति चाहनेवाले व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतएव किसी व्यक्ति के आचरण का लक्ष्य निर्धारित करने के लिए, अथवा उसके आचरण का मूल्य आँकने के लिए समाज के संगठन का ज्ञान अत्यावश्यक है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि नीति-शास्त्र बहुत कुछ समाज-शास्त्र के ऊपर निर्भर है। किन्तु इससे हमे यह न समझना चाहिए, कि नीति शास्त्र समाज शास्त्र की केवल एक शाखा मात्र है। इस प्रकार की भूल समाज-शास्त्र के सर्वमान्य पण्डित हरबर्ट स्पेंसर ने की थी, और इसी प्रकार की भूल लेस्ली स्टीफन महाशय ने की है। उनके कथनानुसार नैतिकता का विकास समाज के सगठन के ऊपर निर्भर है। जो रीति-रिवाज या सस्थाएँ जाति के अनुभव में उपयोगी पाई गई हैं, वे ही रीति-रिवाज और सस्थाएँ इन विद्वानों के कथनानुसार ठीक हैं, और उन्हीं के आधार पर मनुष्य के कर्तव्य को निश्चित करना चाहिए। इन विद्वानों का कथन है, कि नैतिकता की कसौटी समाज में उसकी सफलता है।

आदर्शवादी नीति-शास्त्रज्ञों के मतानुमार उक्त विचार ठीक नहीं हैं। नीति-शास्त्र विधिनिषेधात्मक अर्थात् नियामक[1] विज्ञान है, और समाज-शास्त्र यथार्थवादी[2] विज्ञान है। एक आदर्श को निश्चित करता है, और दूसरा समाज में विभिन्न आदर्शों की वृद्धि के नियम को समझाता है। नीति-शास्त्र का लक्ष्य समाज में नैतिकता के विकास की क्रिया को समझाना नहीं है, वरन् नैतिकता के अर्थ को स्पष्ट करना है। मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है, और उसे किस ध्येय से समाज मे आचरण करना चाहिए, इस बात को नीति शास्त्र बताने की चेष्टा करता है। समाज-शास्त्र यह दर्शाने की चेष्टा करता है, कि वर्तमान में भले समझे जानेवाले रीति-रिवाज और सस्थाएँ कैसे बनीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि नीति-शास्त्र समाज शास्त्र का अग मात्र नहीं है।

सम्भव है कि कोई रीति-रिवाज, जिसे हम आज बुरा समझते है, आज से

1 Normative. 2 Positive.

दो हजार वर्ष पहले भला समझा जाता हो अथवा कोई रीति जो प्राचीन में बुरी है, वर्तमान समय में सभी सभ्य देशों में प्रचलित हो। इन बातों के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि अमुक रीति-रिवाज ठीक है। कितने ही नीति-शास्त्र के विद्वान् नैतिकता के माप-दण्ड को परिस्थितियों पर निर्भर मानते हैं। उनके विचारानुसार जिस प्रकार अन्तिम सत्य को जानना असम्भव है उसी प्रकार नैतिकता के अन्तिम माप-दण्ड का निश्चय करना भी असम्भव है। अतएव नैतिकता देश और काल पर निर्भर करनेवाली वस्तु है। जो बात एक देश और काल में अच्छी मानी जाती है, वही दूसरे देश और काल में बुरी मानी जाती है। इस सिद्धान्त के प्रमाण में वे विभिन्न समय के तथा विभिन्न देशों के रीति-रिवाजों को बतलाते हैं। परन्तु यह एक भ्रमात्मक सिद्धान्त है। नैतिकता को समाज की स्थिति की एक छाया मात्र मानना नैतिकता की मौलिकता को नष्ट कर देना है। नैतिकता का माप-दण्ड एक स्वतन्त्र माप-दण्ड है। समाज के रीति-रिवाज इस माप-दण्ड के ऊपर प्रकाश अवश्य डालते हैं, पर वे उसको स्थिर नहीं करते। नैतिकता का सच्चा माप-दण्ड मानव स्वभाव के विश्लेषण से ही निश्चित किया जा सकता है। मनुष्य के आचरण का क्या लक्ष्य होना चाहिए, यह बात मनुष्य स्वभाव में सर्वोत्तम-वस्तु क्या है—इसको जानकर ही कहा जा सकता है, न कि पुराने अथवा वर्तमान समय के रीति रिवाजों को देखकर। नैतिक माप दण्ड किसी प्रकार के रीति रिवाजों की कीमत आँकता है। इससे यह स्पष्ट है कि वह समाज के विकास का परिणाम मात्र नहीं है।

समाज शास्त्र साधारणतः सामाजिक रीति रिवाजों[1], परम्पराओं और संस्थाओं[2] के विकास का उसी प्रकार अध्ययन करता है, जिस तरह दूसरे विज्ञान निर्जीव पदार्थों का अध्ययन करते हैं। वह मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति को ध्यान में नहीं रखता। किन्तु नीति शास्त्र का आधार मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति है। एक शास्त्र परिस्थितियों और घटनाओं को महत्व देता है और दूसरा मनुष्य के हेतुओं और संकल्पों को। इससे यह स्पष्ट है कि दोनों का अपने अपने

1 Customs. 2. Institutions.

यन के विषय के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण तथा क्षेत्र हैं, और नीति-शास्त्र का समावेश समाज-शास्त्र मे नहीं किया जा सकता।

नीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र[1]—नीति-शास्त्र का जो सम्बन्ध समाज-शास्त्र से है, उससे भिन्न सम्बन्ध अर्थ-शास्त्र से है। अर्थ-शास्त्र मनुष्य को सुखी बनाने वाली वस्तुओं के उत्पादन में सहायता करता है, और नीति-शास्त्र का ध्येय मनुष्य को अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने मे सहायता देना है। अर्थ-शास्त्र विषय-सुख को बढ़ाने की चेष्टा करता है, और नीति-शास्त्र आन्तरिक सुख को। वर्तमान काल में अर्थ-शास्त्र का ही महत्व ससार में अधिक हो गया है, अतएव नीति-शास्त्र की अवहेलना होती है। अर्थ-शास्त्र अर्थोत्पादन की विधि बताता है। जिन लोगों का मन धनोत्पादन में लगा हुआ है, वे किसी भी क्रिया की मौलिकता को इस दृष्टि से मापते हैं, कि वह कहाँ तक मनुष्य को धनी बनाती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक पैसा कमा सकता है, वह उतना ही महान् मान लिया जाता है। परन्तु यह दृष्टि-कोण दोष-पूर्ण है। अर्थोपार्जन को अपना लक्ष्य बनाना, मानवता के स्तर से गिर जाना है। धन का कमाना उतनी ही दूर तक अच्छा है, जितनी दूर तक वह मनुष्य के आध्यात्मिक विकास मे सहायक होता है। जब मनुष्य बिल्कुल निर्धन रहता है, तो उसे दूसरों की गुलामी करनी ही पड़ती है, जिससे उसमें नैतिक स्वतन्त्रता नहीं आती। ऐसा व्यक्ति जीवन के लक्ष्य पर विचार भी नहीं कर सकता। किन्तु जिस व्यक्ति का मन धन ही में फँसा हुआ है, वह भी नैतिक बातों के विषय में अधिक चिंता नहीं करता।

वर्तमान समय के बहुत से अर्थ-शास्त्री धनोत्पादन के सुझाओं को बताते समय प्राय. यह भूल जाते हैं, कि वे सुझाव नैतिक है, अथवा नहीं। यदि अर्थ-शास्त्र के पडित समाज मे नैतिकता की वृद्धि को ध्यान में रखते, तो वे पूँजीवाद को ऐसा प्रोत्साहन न देते, जैसा उन्होंने दिया है। अब समाजवादी अर्थ शास्त्री धनोत्पादन के नये नये ढग इस दृष्टि से बताते हैं, जिससे धन का अधिक बॅटवारा हो सके। धीरे-धीरे नीति शास्त्र का प्रभाव अर्थ-शास्त्र के ऊपर पडता जा रहा है और अर्थ-शास्त्र का प्रत्येक पडित धनोत्पादन की विधियों को बताते समय उनकी नैतिकता पर भी विचार करता है।

1 Economics.

नीति शास्त्र और शिक्षा[1]—जिस प्रकार अर्थ शास्त्र का नीति-शास्त्र पर निर्भर रहना आवश्यक है उसी प्रकार शिक्षा का भी नीति शास्त्र पर निर्भर रहना आवश्यक है। वास्तव में शिक्षा के सिद्धान्त और उसके लक्ष्य को नीति-शास्त्र की सहायता के बिना निर्धारित करना सम्भव नहीं। शिक्षा का लक्ष्य वही है, जो मानव जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य के ऊपर नीति-शास्त्र प्रकाश डालता है। शिक्षा में उस लक्ष्य की प्राप्त करने की विधि बताई जाती है। नीति शास्त्र सैद्धान्तिक[2] विद्या है, और शिक्षा व्यावहारिक विद्या है। नीति-शास्त्र सुन्दर आचरण की व्याख्या है। शिक्षा मनुष्य के द्वारा सुन्दर आचरण करवाने की विधि बताती है। नैतिक जीवन का ध्येय मनुष्य के सामने उच्च-से उच्च ध्येय को उपस्थित करना है। इस ध्येय की प्राप्ति का मार्ग बताना शिक्षा का कार्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नीति-शास्त्र का ज्ञान प्रत्येक शिक्षक के लिए अत्यावश्यक है। इस ज्ञान के बिना वह शिक्षक और शिष्य के वास्तविक सम्बन्ध अनुशासन विधियों के औचित्य तथा किसी प्रकार के ज्ञान की उपयोगिता को भली प्रकार से नहीं जान सकता। शिक्षा का ध्येय बालक के व्यक्तित्व को सुयोग्य बनाना है। परन्तु सुयोग्य व्यक्तित्व क्या है, इसका ज्ञान नीति शास्त्र के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं।

प्रश्न

१ नीतिशास्त्र का मनोविज्ञान से क्या सम्बन्ध है? नीतिशास्त्र की समस्याओं को हल करने में मनोविज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता बताइये।

२. नीतिशास्त्र को प्राणीशास्त्र से क्या सहायता मिलती है? क्या संसार के अन्य प्राणियों के आचरण को देखकर हम अपने जीवन के नैतिक सिद्धान्त बना सकते हैं?

३ नीतिशास्त्र को आचरण का तर्क कहा गया है—इस प्रकार का कथन कहाँ तक युक्तिसंगत है। नीति शास्त्र और तर्क शास्त्र का ठीक ठीक सम्बन्ध बताइये।

---

1 Education. 2 Speculative.

४ विचार के दोष ही आचरण के दोष होते हैं—इस सिद्धान्त की आलोचना करके उचित सिद्धान्त का निरूपण कीजिये।

५ सुन्दर आचरण, नैतिक आचरण है—इस कथन की सत्यता स्पष्ट कीजिये।

६. सुन्दरता को नैतिक आचरण का मापदण्ड मानने मे क्या दोष है? सौन्दर्य-शास्त्र और नीति शास्त्र के दृष्टिकोण के भेद को स्पष्ट कीजिये।

७ नीति-शास्त्र का तत्व-विज्ञान से क्या सम्बन्ध है? नीतिशास्त्र की समस्याओं को हल करने के लिये तत्व-विज्ञान की कहाँ तक आवश्यकता है?

८ धर्म मनुष्य को अनैतिकता की ओर ले जा रहा है—इस कथन में कहाँ तक सत्यता है। धर्म का मानव जीवन के विकास में क्या स्थान है?

९. धर्म और नीति-शास्त्र का सम्बन्ध क्या है? "जब कोई व्यक्ति नैतिकता छोड़ देता है, तो वह अधार्मिक हो जाता है"—इस कथन की सफलता को स्पष्ट कीजिये।

१० "यदि हम धर्म के सच्चे रूप पर विचार करें, तो हम उसे मानव-समाज का महान कल्याणकर्त्ता पावेंगे।"—इस कथन की विवेचना कीजिये। धर्म का सच्चारूप कौन-सा है?

११ नीति-शास्त्र राजनीति की एक शाखा है। यह विचार कहाँ तक युक्तिसगत है? नीतिशास्त्र और राजनीति के आपस के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिये।

१२. नीति-शास्त्र और समाज-शास्त्र का सम्बन्ध क्या है? समाजशास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के नैतिक आदर्शों पर कहाँ तक प्रकाश पड़ता है।

१३ समाज की नैतिकता शिक्षा पर कहाँ तक निर्भर है। नीति-शास्त्र शिक्षा के कार्य मे कहाँ तक उपयोगी है?

तीसरा प्रकरण

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और व्याख्या[1]

मनोवैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता

हमने पिछले प्रकरण में नीति-शास्त्र और मनोविज्ञान के सम्बन्ध को बताने की चेष्टा की थी। वहाँ हमने यह कहा था कि मनुष्य के मन का पर्याप्त ज्ञान हुए बिना हम नैतिक विषयों पर भली प्रकार से चिन्तन नहीं कर सकते। मनोविज्ञान मनुष्य के मन का सम्पूर्ण अध्ययन करता है। इस अध्ययन में चित्तवृत्ति के विभिन्न प्रकार के पहलुओं पर प्रकाश डाला जाता है। चेतना के तीन विभिन्न पहलू माने गये है—ज्ञानात्मक[3] रागात्मक[4] और क्रियात्मक[5]। मनोविज्ञान में इन तीनों पहलुओं पर विचार होता है। किन्तु नीति-शास्त्र का प्रयोजन चेतना के क्रियात्मक पहलू से ही रहता है। नीति-शास्त्र में चेतना के ज्ञानात्मक और रागात्मक पहलुओं को वहीं तक जानने की चेष्टा की जाती है, जहाँ तक इनका ज्ञान मनुष्य की क्रियाओं के समझने के लिए अर्थात् चेतना के क्रियात्मक पहलू को समझने के लिए अनिवार्य होता है। नीति-शास्त्र का विषय मनुष्य का आचरण[6] है। मनुष्य के आचरण और दूसरे प्राणियों के आचरण में महान् अन्तर है। दूसरे प्राणियों के आचरण में विचार और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का वैसा कार्य नहीं रहता जैसा मनुष्य के आचरणों में रहता है। नीति-शास्त्र का प्रयोजन ऐसे ही आचरण से होता है, जिसमें मनुष्य के विचार और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य है। इच्छाशक्ति से किये गये कार्य में ही नैतिक जिम्मेदारी

---

1 Psychological analysis and definitions. 2. Consciousness. 3. Cognitive. 4. Affective. 5. Conative. 6. Conduct.

रहती है। अतएव इनके स्वरूप को जानना, किसी कार्य की नैतिकता अथवा अनैतिकता को समझने के लिए, अत्यन्त आवश्यक है।

नीति शास्त्र मे दो प्रकार के प्रश्नों पर विचार किया जाता है—(१) नैतिक विचार का विषय[1] क्या है, और (२) मनुष्य के आचरण की नैतिकता किस माप-दण्ड[2] से मापी जानी चाहिए ? इन दोनों प्रकार के प्रश्नों के ठीक ठीक उत्तर पाने के लिए मनोविज्ञान के समुचित ज्ञान की आवश्यकता होती है। मनुष्य के कार्य भिन्न-भिन्न स्तर पर होते है। हमारी कुछ क्रियाएँ सहज क्रियाएँ[3] होती हैं, कुछ मूल प्रवृत्तियों[4] द्वारा सचालित होती है और कुछ आदतजन्य[5] क्रियाएँ होती है। इनके अतिरिक्त इच्छित क्रियायें[6] हैं, अर्थात् वे क्रियाएँ हैं जिनमें विवेक और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य होता है। नीति शास्त्र यह बताने की चेष्टा करता है कि किसी मनुष्य के आचरण के ऊपर नैतिक निर्णय करते समय हमें किन-किन मनोवैज्ञानिक बातों पर ध्यान रखना चाहिए, और किस प्रकार की क्रिया के ऊपर नैतिक निर्णय किया जा सकता है। किसी व्यक्ति के आचरण के ऊपर उचित नैतिक निर्णय करने के लिए उसकी भूख[7] इच्छा[8] और सकल्पों[9] को जानना अत्यावश्यक है। सभी प्रकार के कार्यों का नैतिक निर्णय[10] नहीं दिया जा सकता। उन्हीं कार्यो का नैतिक निर्णय किया जाता है, जो हेतु-पूर्ण[11] अथवा सकल्प-पूर्ण[12] हों। अत्र इच्छा[13], हेतु[14] सकल्प, स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति, विचार[15] आदि बातें मनोवैज्ञानिक हैं। इनके स्वरूप को जानने के लिए हमें नीति-शास्त्र के दृष्टिकोण से मनोवैज्ञानिक ज्ञान को दुहराना आवश्यक है।

जिस प्रकार मनुष्य के आचरण पर विचार करने के लिए मनोवैज्ञानिक तथ्यों का ज्ञान करना आवश्यक है, उसी तरह नैतिकता के माप-दण्ड को निश्चित करने के लिए भी मनोवैज्ञानिक तथ्यों को जानना आवश्यक है। कुछ नीति-शास्त्र इन माप-दण्डों को मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर ही आधारित कर देते हैं, यह

---

1 Object of moral judgment 2 Standard of morality 3 Reflexes 4 Instincts 5 Habit. 6 Voluntary action 7 Appetites 8 Desires 9 Intentions 10 Moral judgment 11 Motived actions 12. Intended actions 13 Desire 14. Motive 15. Reason.

उनकी भूल है। किन्तु इन तथ्यों की सर्वथा सभी प्रकार अवहेलना भी नहीं की जा सकती। नीति-शास्त्र के आदर्शवादी विद्वान् मानव-स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं परन्तु वे इसके परे भी जाते हैं।

मनुष्य की क्रियाओं का विश्लेषण[1]

दो प्रकार की क्रियाएँ—मनुष्य की क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—इच्छित[2] और अनिच्छित[3]। अनिच्छित क्रियाओं का सञ्चालन जन्मजात सहज प्रवृत्तियों और आदतों[4] के द्वारा होता है और इच्छित क्रियाओं का संचालन मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा होता है। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से बार बार किये गये कार्य पीछे आदत का रूप धारण कर लेते हैं। आदत मनुष्य का अर्जित[6] स्वभाव है। अतएव आदतों के द्वारा किये गये कार्यों पर नैतिक विचार उसी प्रकार किया जाता है, जिस प्रकार इच्छाशक्ति के द्वारा किये गये कार्यों के ऊपर विचार किया जाता है। जन्मजात[7] प्रवृत्तियों द्वारा संचालित कार्यों पर नैतिक विचार नहीं किया जाता। अब हमें यह देखना है कि इच्छित क्रिया[8] अथवा आचरण कैसी मानसिक परिस्थिति में उत्पन्न होता है, और उसका स्वरूप क्या है।

भूख[9] और इच्छा[10]—मन की अविकसित अवस्था के प्रथम मानसिक वेग भूख कहलाते हैं। भूख मनुष्य और पशुओं में समान रूप से होती है। जैसे पशु अनेक प्रकार की भूखों का अनुभव करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी अनेक प्रकार की भूखों का अनुभव करता है। इन भूखों के कारण मनुष्य भोजन की खोज करता है नई नई वस्तुओं को देखना चाहता है, और काम वासना को सन्तुष्ट करने वाले पदार्थ की ओर आकर्षित होता है। भूख प्राकृतिक प्रेरणा का नाम है इसमें विचार का कार्य नहीं रहता। जब मनुष्य किसी भूख का अनुभव करता है, तो वह चिन्तन करने लगता है कि किस चीज से वह भूख सन्तुष्ट हो सकती है, तो भूख इच्छा का रूप धारण कर लेती है। भूख एक

---

1 Analysis of human actions. 2. Voluntary 3. Non voluntary
4 Innate tendencies. 5 Habits. 6. Acquired. 7 Inborn.
8. Voluntary actions 9. Appetite. 10. Desires.

प्रकार की अन्ध प्रवृत्ति है, जब भूख के साथ ज्ञान का सम्बन्ध जुड़ जाता है और यह ज्ञान किसी निश्चित वस्तु को चेतना के समक्ष ले आता है, तो यह प्रवृत्ति नया रूप धारण कर लेती है। अब यह केवल क्रियात्मक न रहकर ज्ञानात्मक भी हो जाती है। मानसिक प्रवृत्ति के इस स्वरूप को इच्छा कहते हैं। भोजन की आन्तरिक मॉग भूख कहलाती है। परन्तु मन में रोटी, भात-दाल, फल, मांस इत्यादि पदार्थों के प्राप्त होने की प्रेरणा का होना इच्छा कहलाती है।

भूख में पदार्थ के भले बुरे होने, उसके उचितानुचित रूप से प्राप्त किये जाने का विचार नहीं रहता। जब मनुष्य में यह विचार आता है, अर्थात् जब मनुष्य एक भूख का दूसरी भूखों से समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करता है और देश काल आदि बातों से भूख की तृप्ति का सम्बन्ध जोड़ता है, तो यह भूख इच्छा बन जाती है। विचार के द्वारा भूख ही इच्छा मे परिवर्तित हो जाती है। विवेक शून्य मानसिक प्रवृत्ति अथवा प्रेरणा को भूख कहते हैं। विवेकयुक्त मानसिक वेग इच्छा कहलाता है। जब मनुष्य को भूख लगती है, तो वह साधारणत किसी खाद्य पदार्थ का विचार करता है। यह उसकी भूख मात्र है। दूसरे की थाली का भोजन देखकर हमारे अन्दर भोजन की भूख उत्पन्न हो जाती है, परन्तु हम परोसी हुई थाली को ही देखकर उसपर टूट नहीं पड़ते हैं। जिस थाली को खाने का हमें अधिकार नहीं है, उसके खाने के लिए हमारे मन में भूख भले ही हो, इच्छा नहीं होती। जो लोग एकादशी का व्रत रखते हैं, वे एकादशी के दिन भूखे रहने पर भी भोजन करने की इच्छा नहीं करते। उन्हें अच्छा-से-अच्छा भोजन प्रलोभित नहीं करता। भोजन के विषय मे छूआ-छूत पर विचार रखने वाले कट्टर हिन्दू अज्ञात व्यक्ति का छुआ हुआ अच्छा-से-अच्छा भोजन नहीं करते। अनादर से दिये हुये भोजन के करने की इच्छा हमारे अन्दर नहीं होती, चाहे हमारे पेट मे भोजन के लिए कितनी ही भूख क्यों न हो। इस तरह हम देखते हैं कि इच्छा मे मनुष्य देश, काल, परिस्थिति तथा उचितानुचित आदि बातों का ध्यान रखता है। पशुओ मे भूख होती है। उनमें इच्छाएँ नही होती है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसके मन मे न केवल भूख आती है, वरन् इच्छाएँ भी आती है। इच्छाओं के बनने मे विचार का कार्य होता है। अतएव नैतिक विचार इच्छाओं पर ही होता है।

इच्छाओं में द्वन्द्व[1]—मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की इच्छायें आती रहती हैं। वह सभी प्रकार की इच्छाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। उसे अनेक इच्छाओं में से कुछ को चुनना पड़ता है। वह इन्हीं को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है। जब कभी हमारे मन में एक इच्छा आती है तो उसी समय हमें अपने मन में दूसरी इच्छाओं का भी ज्ञान होता है, अर्थात् दूसरी इच्छायें भी उठ आती हैं। इस प्रकार एक इच्छा का दूसरी इच्छा से द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। जो इच्छा प्रबल होती है, वह दूसरी इच्छाओं को इस संघर्ष में हराकर चेतना के मैदान में अकेली रह जाती है। इस इच्छा के अनुसार फिर हम आचरण करने लगते हैं। जब तक इच्छाओं में द्वन्द्व होता रहता है, तब तक मनुष्य की मानसिक स्थिति डाँवाडोल बनी रहती है। वह न एक काम कर सकता है और न दूसरा।

द्वन्द्व करनेवाली इच्छाओं की सहायता दूसरी अनेक इच्छायें करती हैं। यदि दो इच्छाओं का आपस में द्वन्द्व हो रहा है तो हमें यह समझना चाहिए कि यह दोनों इच्छाओं का ही संघर्ष नहीं है वरन् दो इच्छाओं के मण्डलों[2] का अर्थात् दो प्रकार के व्यक्तियों[3] का संघर्ष है। जिस प्रकार आपस में लड़नेवाले दो राष्ट्रों की सहायता उनके मित्र राष्ट्र करते हैं, उसी प्रकार द्वन्द्व करनेवाली इच्छाओं की सहायता दूसरी आनुषंगिक इच्छायें भी करती हैं और जिस प्रकार एक पक्ष की विजय होने पर उस पक्ष के सभी राष्ट्र सफल हो जाते हैं उसी प्रकार इच्छाओं के संघर्ष में जो इच्छा विजयी होती है वह न केवल अपने-आप बली बनती है वरन् अपने समान दूसरी इच्छाओं को भी बली बना देती है।

उक्त सिद्धान्त को निम्न-लिखित उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, एक अध्यापक किसी विशेष संस्था में अध्यापन का कार्य कर रहा है। यह संस्था समाज की निःस्वार्थ भाव से सेवा करती है। उसे इस संस्था में सौ रुपया मासिक वेतन मिलता है। उसे सूचना मिलती है कि वह दूसरी जगह तीन सौ मासिक प्राप्त कर सकता है। परन्तु वहाँ उसे कोई सामाजिक कार्य

1 Conflict of desires. 2. Universe of desires. 3 Personalities.

न करना पड़ेगा, वरन् एक धनी मिल मालिक के यहाँ मुनीम बनकर रहना पड़ेगा। इस व्यक्ति मे मुनीमी की भी योग्यता उसी प्रकार है, जिस प्रकार अध्यापन की। उसके मन मे संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। ऊपरी दृष्टि से उसके सामने सौ रुपया पाने और तीन-सौ रुपया पाने का ही सवाल है, परन्तु यदि इस संघर्ष के संपूर्ण रहस्य को हम देखें, तो पता चलेगा कि प्रत्येक इच्छा के पीछे सैकड़ों दूसरे मन्सूबे लगे हुए हैं। इतना ही नहीं, इन इच्छाओं के संघर्ष में जीवन के दो विभिन्न प्रकार के आदर्शों[1] का संघर्ष है। एक आदर्श है समाज-सेवा, ज्ञान की वृद्धि और सादगी के जीवन का, और दूसरा आदर्श है धन-संचय, सम्मान-प्राप्ति और ऐश्वर्य का। भिन्न-भिन्न प्रकार के दो व्यक्ति एक-सी-ही परिस्थिति में अर्थात् एक-ही सी इच्छाओं के संघर्ष मे दो भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व की जैसी बनावट होती है, उसी प्रकार एक इच्छा अथवा दूसरी इच्छा विजयी होती है।

दो इच्छाओं के संघर्ष के समय अन्य इच्छाएँ मनुष्य की चेतना के समक्ष आती है। मनुष्य अपनी कल्पना में यह देखने की चेष्टा करता है, कि यदि वह एक प्रकार का निर्णय करे, तो वह अपने-आपको कैसा बनावेगा। जो कुछ निर्णय होता है, वह केवल दो प्रतिद्वन्द्वी इच्छाओं के बल पर ही नहीं होता; वरन् प्रत्येक इच्छा की आनुसंगिक इच्छाओं के बल पर होता है। वास्तव में मनुष्य का निर्णय उसके सम्पूर्ण चरित्र का प्रतीक होता है। अपने चरित्र के अनुसार ही मनुष्य दो इच्छाओं के संघर्ष के समय निर्णय करता है। कितने ही लोगों को धन की पिपासा होती है, कितने ही मनुष्यों को मान की और कितनों को ज्ञान की पिपासा होती है। धन की अधिक पिपासावाला व्यक्ति उस इच्छा को तृप्त करने की चेष्टा करेगा, जिससे उसे धनोत्पादन की सुविधाएँ मिलें। उसे मान की अथवा ज्ञान की उतनी परवाह न होगी। जो व्यक्ति मान की अधिक कीमत करता है, वह धन-प्राप्ति की इच्छा को वैसा प्रमुख स्थान न देगा, जैसा कि मान-प्राप्ति की इच्छा को। इसी प्रकार ज्ञानेच्छु, धन और मान को अपने जीवन मे प्रमुख स्थान नहीं देता, और इसके

1. Ideals

कारण इनसे सम्बन्धित इच्छायें भी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के समय विजयी नहीं होतीं। लेखक के दो छात्रों ने हाल ही में पैसे के लोभ में आकर अध्यापन का काम छोड़ दिया और धनी मिल मालिकों के नौकर बन गये। इस नौकरी में न उन्हें उतना मान मिलता है जितना उन्हें अध्यापक की अवस्था में मिलता था और न उन्हें ज्ञान प्राप्त करने की वैसी सुविधायें ही हैं परन्तु वे धन कमाने की सुविधा प्राप्त करने से अपने आपको सुखी मानते हैं। अन्य व्यक्ति ऐसी स्थिति में आन्तरिक दुःख का अनुभव करते हैं, और वे अपने मान के ऊपर थोड़ी-सी ठेस लगने पर ही बेचैन हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति पहले से ही उन परिस्थितियों में अपने को नहीं डालते जिनमें उनके मान की क्षति हो। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने चरित्र के अनुसार ही दो इच्छाओं के अन्तर्द्वन्द्व के समय एक के अथवा दूसरे के अनुसार निर्णय करता है।

मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था बड़ी ही कष्टदायक होती है। इससे मनुष्य की मानसिक शक्ति का बड़ा ही ह्रास होता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सर्वथा अभाव विवेकशून्यता का प्रतीक है। पशुओं में और बालकों में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति नहीं उत्पन्न होती क्योंकि उनमें सोचने की शक्ति ही नहीं रहती। उनके मन में जो कुछ आता है उसी के अनुसार वे काम करने लगते हैं। वे अपने आप पर किसी प्रकार की रोक नहीं लगाते। मनुष्य में अपनी इच्छाओं को रोकने की शक्ति होती है। यह शक्ति विचार वृद्धि के साथ-साथ आती है। जिस व्यक्ति में अपनी क्रियाओं के सम्भाव्य परिणामों की कल्पना करने की शक्ति नहीं है उसमें आत्म नियन्त्रण की भी शक्ति नहीं होती। ऐसा व्यक्ति मन में आने वाले प्रथम विचार के अनुसार ही कार्य करने लगता है। ऐसा व्यक्ति यदि प्रौढ़ भी हो तो उसे बाल-बुद्धि ही कहा जायगा। उसके आचरण का नैतिकता की दृष्टि से कोई महत्व नहीं। अतएव दो इच्छाओं का आपस में समय समय पर संघर्ष होना मानसिक विकास की स्थिति को दर्शाता है। किन्तु इस संघर्ष का मन में देर तक चलते रहना भी एक प्रकार की मानसिक अस्वस्थता है। कितने ही लोगों में अपने कर्तव्य के विषय में निश्चय करने की शक्ति नहीं होती। यदि कोई इच्छा उनके मन में पैदा हुई तो उसके विरुद्ध तुरन्त दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है और फिर कई दिनों तक उनके मन में इन इच्छाओं का

संघर्ष बना रहता है। इस प्रकार के संघर्ष से जो मानसिक शक्ति का ह्रास होता है वह मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए बड़ा हानिकर होता है। सदा संशय की अवस्था मे रहने वाला व्यक्ति सभी काम को आधे मन से करता है और उसे प्रत्येक कार्य मे आधी सफलता मिलती है। अतएव इस प्रकार की मानसिक स्थिति चरित्र के ह्रास का परिचायक है।

जब मनुष्य के आदर्श सुनिश्चित हो जाते है और वह एक विशेष प्रकार के जीवन से अभ्यस्त हो जाता है तो मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति देर तक नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति के समक्ष जब अपने कर्तव्य सम्बन्धी कोई समस्या आ जाती है तो वह उसको सुलझाने मे देर नहीं लगाता। ऐसे व्यक्ति के मन में देर-तक दो इच्छाओं का संघर्ष भी नहीं चलता। हमारे जीवन के नैतिक सिद्धान्त इन मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने मे सहायक होते है और इस प्रकार वे हमारी मानसिक शक्ति का अपव्यय नहीं होने देते। नैतिकता इस दृष्टि से मनुष्य के जीवन की सफलता की कुंजी है।

इच्छित क्रिया*

इच्छित क्रिया का स्वरूप—इच्छित क्रिया ही नैतिक विचार का विषय होती है। अतएव इसका स्वरूप समझना नैतिकता के स्वरूप जानने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जब हम इच्छित क्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण[1] करते है तो उसे निम्नलिखित अवस्थाओं का पाते है—

(१) दो भिन्न भिन्न इच्छाओं का चेतना के समक्ष आना[2]
(२) इन इच्छाओं में संघर्ष का उत्पन्न होना[3]
(३) विभिन्न इच्छाओं के परिणामों पर विचार करना[4]
(४) एक इच्छा का चुनाव अथवा निर्णय पर पहुँचना[5]
(५) अपने निश्चय को वाह्य क्रिया का रूप देना[6]।

---

* Voluntary actions 1 Psychological analysis 2. Presentation of desires 3 Conflict of desires 4 Deliberation 5 Decision. 6 Action

मान लीजिए, एक विद्यार्थी बी. ए. की परीक्षा पास करके विचार करता है कि उसे आगे क्या करना चाहिए। वह अब सरकारी नौकरी कर सकता है किसी रोजगार में लग सकता है किसी समाज-सुधार के आन्दोलन में शामिल हो सकता है अथवा अपनी पढ़ाई को ही जारी रख सकता है। उसके मन में ये सब बातें आती हैं। वह आगे बढ़ना चाहता है, परन्तु वह नहीं जानता कि वह किस ओर आगे बढ़े। इस समय उसके मन में अनेक प्रकार की इच्छायें उत्पन्न होती हैं और उसका मन इन इच्छाओं के संघर्ष का अखाड़ा बन जाता है। उसकी बहुत सी निर्बल इच्छाएँ तो प्रारम्भ में ही संघर्ष के अखाड़े से अलग हो जाती हैं। परन्तु कुछ इच्छायें देर तक लड़ती हो रहती हैं। इस संघर्ष की अवस्था में मनुष्य कोई बाहरी क्रिया नहीं करता वह अपने मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प लाता है। वह प्रत्येक प्रकार के निश्चय के भावी परिणामों का अपनी कल्पना में चित्रण करता है। फिर जो चित्र उसे सुहावना लगता है उसके अनुसार वह अपना निश्चय करता है। उपर्युक्त दृष्टान्त में किसी व्यक्ति को अपने-आप रोजगारी बन जाने का चित्र अच्छा लगता है किसी को सरकारी नौकर बनने का अथवा समाज सेवक बनने का चित्र अच्छा लगता है, और किसी को आजन्म विद्याध्ययन करने का ही चित्र अच्छा लगता है। मनुष्य अपने-अपने स्वभाव अथवा चरित्र के अनुसार इस प्रकार के विचार के बाद निर्णय करता है। जैसी मनुष्य की स्थायी प्रवृत्तियाँ होती हैं उन्हीं के अनुसार उसके निर्णय भी होते हैं। ये स्थायी प्रवृत्तियाँ कुछ जन्मजात[1] होती हैं और कुछ अर्जित[2]। स्थायी अर्जित प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य का चरित्र कहलाती हैं।

जब मनुष्य किसी निर्णय पर पहुँचता है तो अपने निर्णय के अनुसार वह कार्य में लग जाता है। आचरण की नैतिकता की दृष्टि से मनुष्य का किसी कार्य में लग जाना उतने महत्त्व की बात नहीं जितने महत्त्व की बात उसके मन में होने वाली मानसिक क्रियाएँ हैं। नैतिक विचार[3] में इन मानसिक क्रियाओं की ही कीमत आँकी जाती है। ये मानसिक क्रियाएं इच्छित क्रियाओं का आन्तरिक रूप हैं और मनुष्य का आचरण उसकी इच्छित क्रियाओं का बाह्य रूप है।

---

1 Inborn 2 Acquired. 3. Ethical judgment

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति[1]—इच्छित क्रिया के होने के पूर्व अपनी विभिन्न इच्छाओं पर विचार और एक इच्छा का चुनाव आवश्यक है। उपर्युक्त इच्छित क्रिया के विश्लेषण मे इसे चौथी अवस्था मानी है। इस चुनाव में मनुष्य की स्वतत्र इच्छाशक्ति काम करती है। यह स्वतत्र इच्छाशक्ति क्या है, इस पर मनोविज्ञान के पडितों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ मनोविज्ञान के पडित तो इस स्वतत्र इच्छाशक्ति का अस्तित्व ही नहीं मानते। इसी प्रकार कुछ नीति शास्त्रज्ञ भी इस स्वतत्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति को मानना नीति-शास्त्र के लिए अनावश्यक समझते हैं। जडवादी[2] नीति-शास्त्रज्ञ, विशेषकर प्रकृतिवादी[3], स्वतत्र इच्छाशक्ति के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और चेतनवादी[4] सभी नीति-शास्त्र के विद्वान् इसके अस्तित्व को नैतिक विचार के लिए आवश्यक समझते हैं। नीति-शास्त्र के प्रश्नों को हल करने के लिए इन दो प्रकार के मतों को भली भाँति जानना आवश्यक है।

इच्छित क्रिया की विशेषता-इच्छित क्रिया मनुष्य की सामान्य क्रियाओं से भिन्न क्रिया है। सामान्यत प्रत्येक प्राणी सुख की इच्छा से प्रेरित होकर और दु:ख के निवारण के लिए कार्य करता है। वह उसी काम को करने का निश्चय करता है जिसमें उसको अधिक से अधिक तत्कालिक लाभ हो। इच्छित क्रियाओं में अर्थात् इच्छा-शक्ति के द्वारा निश्चित क्रियाओ मे दूसरी ही बात पाई जाती है। मनुष्य जितना ही अधिक अपनी इच्छा-शक्ति से काम लेना चाहता है वह उतना ही सरल और सुखदाई मार्ग को छोडकर कठिन और कष्ट देने वाले मार्ग को ही स्वीकार करता है। जिस मनुष्य की इच्छा शक्ति जितनी ही दृढ होती है, वह उतना ही आदर्शवादी होता है और वह प्रलोभनों के प्रतिकूल उतना ही अधिक लडता है। कर्तव्य पथ पर चलने मे इच्छा-शक्ति का सबसे अधिक कार्य होता है। ऐसे व्यक्ति को पद-पद पर उचितानुचित का विचार करना पडता है और प्राय सरल मार्ग को छोड कठिन मार्ग ग्रहण करना पडता है। इस प्रकार के निश्चय से इच्छा शक्ति और भी अधिक दृढ होती है और मनुष्य का चरित्र बनता है। अतएव जैसा कि ह्वीलराइट और विलियम जेम्स महाशयों ने बताया है, यदि

---

1. Freewill 2 Materialistic 3 Naturalistic 4. Spiritualists

नैतिक आचरण की कोई सुगम कसौटी हो सकती है तो वह प्रलोभनों के प्रतिकूल जाने की अथवा कठिन मार्ग पर जाने की ही कसौटी है। इच्छा शक्ति से किया गया कार्य यह है जिसमें मनुष्य अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों के प्रतिकूल जाता है और यही नैतिक आचरण भी है।

मान लीजिए, हमें भूख लगी है। हम अपनी भूख को शांत करने के लिए बाजार से मिठाई लाते हैं, परन्तु ज्योंही हम खाने बैठते हैं त्योंही एक अतिथि आ जाता है। अतिथि-सत्कार हमारा पहला धर्म है। यदि हम उस मिठाई को अपने-आप न खाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने अतिथि को खिला देते हैं तो हमें अपने प्राकृतिक स्वभाव के प्रतिकूल आचरण करना पड़ता है। यहाँ हमारे आदर्श और हमारी प्राकृतिक प्रवृत्तियों में द्वन्द्व होता है और यदि हमारा चरित्र सुदृढ़ है तो आदर्श की विजय होती है। हमें जितनी ही अधिक भूख लगी होती है उतनी ही अधिक प्राकृतिक प्रवृत्ति का दबाने के लिए इच्छा शक्ति के बल की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार प्रत्येक विवेकयुक्त काम को करने के लिए इच्छाशक्ति के बल की आवश्यकता पड़ती है। कोई-कोई लोग अपने आदर्श के लिए धन-दौलत और राज-पाट को भी छोड़ देते हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक प्रलोभनों के प्रतिकूल चलने की शक्ति रखता है उसमें नैतिक आचरण करने की उतनी ही अधिक योग्यता रहती है। जब मनुष्य के मन में इच्छित क्रिया के होने के पूर्व अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है तो पहले पहल प्रलोभन का बल ही अधिक दिखाई देता है। पर जब इच्छाशक्ति उसके प्रतिकूल काम करने लगती है तब प्रलोभन का बल घट जाता है। जितना ही बड़ा प्रलोभन होता है उसके विरुद्ध लड़ने की उतनी ही अधिक आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक बल की आवश्यकता से ही उसकी पूर्ति का मार्ग निकल आता है। इस प्रकार इच्छित क्रियाओं के द्वारा मनुष्य के आध्यात्मिक बल की वृद्धि होती है। नैतिक आचरण भी इसी प्रकार का आचरण है। नैतिक आचरण वह आचरण है जिसमें मनुष्य को अधिक से अधिक प्रलोभनों के प्रतिकूल चलना पड़े और अधिक से अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़े। जो व्यक्ति जितना ही अधिक कठिनाइयों का सामना

करने की योग्यता रखता है वह नैतिक आचरण की भी उतनी ही अधिक योग्यता रखता है।*

नियतिवाद[1] और स्वतन्त्रतावाद[2]

नियतिवाद का सिद्धान्त—जब दो इच्छाओं का संघर्ष होता है तो एक इच्छा का दूसरी इच्छा पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। विजय प्राप्त करने वाली इच्छा दूसरी इच्छा को दबा देती है। अब प्रश्न यह है कि विजय कौन सी इच्छा प्राप्त करती है। इस प्रश्न का साधारण उत्तर यह है कि जो इच्छा प्रबल होती है वही विजयी होती है। अतएव इस संघर्ष के परिणाम के विषय मे सामान्य सिद्धान्त यह है कि संघर्ष मे सदा प्रबल इच्छा विजयी होती है। कोई इच्छा प्रबल क्यों है, इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जाता है कि प्रत्येक इच्छा में प्राकृतिक बल होता है, इस प्राकृतिक बल के कारण ही कोई इच्छा प्रबल होती है और कोई निर्बल। प्रबल इच्छा का सभी इच्छाओं के संघर्ष में विजयी होना यही निर्णय का स्वरूप है। इच्छाओं के अतिरिक्त कोई तत्व इच्छाओं को बली अथवा निर्बल बनाने वाला नहीं है। हम इच्छाओं के संघर्ष में किसी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति अथवा किसी आध्यात्मिक तत्व का कार्य नहीं देखते।

---

*इस प्रसंग में विलियम जेम्स महाशय के "प्रिन्सिपिल्स आफ साइकोलाजी" नामक पुस्तक मे कहे हुए निम्न लिखित विचार उल्लेखनीय है.—

'The ideal impulse appears a still small voice which must be artificially re-inforced to prevail Effort is what reinforces it, making things seem as if, while the force of propensity were essentially a fixed quantity, the ideal force might be of various amount If the sensuous propensity is small, the effort is small The latter is made great by the presence of a great antagonist to overcome And if a brief definition of ideal or moral action were required, none could be given which would better fit the appearance than this it is action in the line of greatest resistance,"—**Principles of Psychology,** Vol II, page 548-549.

1 Determinism 2 Doctrine of Free will (Libertarianism).

उक्त मत बहुत से मनोवैज्ञानिकों और दार्शनिकों का है। इस मत को नियतिवाद कहते हैं। नियतिवाद के अनुसार मनुष्य के मानसिक संघर्ष के परिणाम उसी प्रकार से निश्चित हैं जिस प्रकार से मकान के छत से फेंके गये पत्थर का नीचे गिरना निश्चित है। मनुष्य जो कुछ भी निर्णय करता है वह पहले से ही उसके जन्मजात स्वभाव मानसिक संस्कार और परिस्थितियों के द्वारा निश्चित रहता है। इनका अध्ययन करके यह पहले से ही बताया जा सकता है कि वह अमुक परिस्थिति में क्या करेगा।

स्वतन्त्रतावाद का सिद्धान्त—उक्त सिद्धान्त के प्रतिकूल स्वतन्त्रतावाद का सिद्धान्त है। स्वतन्त्रतावाद के सिद्धान्तानुसार दो इच्छाओं के संघर्ष का परिणाम इच्छाओं की स्वतन्त्र शक्ति के ऊपर निर्भर नहीं करता वरन् मनुष्य की स्वतंत्र इच्छाशक्ति के ऊपर निर्भर करता है। मनुष्य की यह इच्छाशक्ति ही एक इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए चुनती है और दूसरी का दमन करती है। यह शक्ति मन में आने वाली विभिन्न इच्छाओं से पृथक वस्तु है। इच्छाएँ आती जाती हैं किन्तु इच्छाशक्ति स्थायी रहती है। जिस इच्छा को यह शक्ति अपना लेती है वही बलवान् हो जाती है, और जिसे यह त्याग देती है वह निर्बल हो जाती है। यह जिस इच्छा को चाहती है अपना अपना पक्ष देती है और जिसे नहीं चाहती उसका दमन कर देती है। इस इच्छाशक्ति की उपस्थिति का प्रमाण हमें उस समय मिलता है जब हम किसी प्रबल इच्छा का जोर से दमन कर देते हैं। जिस व्यक्ति की इच्छाशक्ति बलवान होती है वह काम और क्रोध आदि अनेक प्रकार के मानसिक वेगों का दमन कर देती है और अपने भावों को सदा अपने विवेक के नियन्त्रण में रखती है। यह इच्छाशक्ति अन्धी नहीं है वरन विवेक युक्त है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक विवेकी होता है उसकी यह इच्छाशक्ति उतनी ही प्रबल होती है।

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नैतिकता में महत्त्व—नियतिवाद और स्वतंत्रतावाद दोनों ही ऐसे सिद्धान्त हैं जिनके विषय मे अंतिम बात तत्त्व विज्ञान ही कह सकता है किंतु नीतिशास्त्र में इतना ही कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अस्तित्व में विश्वास करना नैतिक विचार के लिए अनिवार्य है।

यह नीति शास्त्र की पूर्वमान्यता[1] कही जा सकती है। मार्टिनो महाशय का यह कथन सर्वथा युक्ति-सगत है कि या तो स्वतन्त्र इच्छाशक्ति कोई वास्तविक वस्तु है अथवा नैतिकता कोरी कल्पना है*। जब हम स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते तो किसी प्रकार के आचरण के लिए किसी व्यक्ति को जिम्मेदार कैसे बना सकते हैं। धर्माधर्म का विचार उसी स्थिति में हो सकता है जब कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति को मान लिया जाय। जहाँ कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं वहाँ कर्तव्यता कैसी। कान्ट महाशय का कथन है कि योग्यता के बिना कर्तव्यता सम्भव नहीं†। कर्तव्य की योग्यता के मानने पर हमें स्वतन्त्र इच्छाशक्ति को मानना पड़ता है। यदि मनुष्य परिस्थितियों का दास ही है तो हम उसे किसी प्रकार के अनैतिक आचरण के लिए कैसे दोषी ठहरा सकते हैं? जिस व्यक्ति में परिस्थितियों के प्रतिकूल चलने की शक्ति है उसी के ऊपर नैतिकता का उत्तरदायित्व रहता है। परिस्थितियों के प्रतिकूल चलने की शक्ति पशुओं में नहीं होती। यह शक्ति मनुष्यों में ही होती है। इसी कारण पशुओं के कार्यों पर नैतिक विचार नहीं किया जाता, मनुष्यों के कार्यों पर ही नैतिक विचार किया जाता है। छोटे बालकों में भी परिस्थितियों के प्रतिकूल चलने की शक्ति नहीं होती, अतएव हम उन्हें भी किसी अनुचित काम के करने के लिए उतना उत्तरदायी नहीं समझते जितना एक प्रौढ़ व्यक्ति को समझते हैं। जिस व्यक्ति में विचार करने की जितनी ही अधिक शक्ति होती है वह अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से उतना ही अधिक कार्य लेता है, और ऐसे व्यक्ति के कार्य नैतिकता की दृष्टि से उतने ही महत्व के होते हैं, क्योंकि इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता के साथ-साथ मनुष्य का नैतिक उत्तरदायित्व भी बढ़ता है।

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति के कारण ही हम पहले से यह नहीं कह सकते कि कौन-सा व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में किस प्रकार का आचरण करेगा। हम उसके आचरण का अनुमान मात्र लगा सकते हैं। परन्तु इस प्रकार के अनुमान सब समय ठीक नहीं होते। हम स्वयं अपने ही विषय में पहले से

---

1. Postulate * Either freedom of will is a fact or morality is a delusion. † There cannot be an oughtst without a canst

नहीं जानते कि भविष्य में आने वाली विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के समय हम कैसा आचरण करेंगे। साधारणतः हम वैसा ही आचरण करते हैं जिस प्रकार के आचरण का हमें अभ्यास होता है, अर्थात् जिस प्रकार का हमारा चरित्र होता है। परन्तु अभ्यास के द्वारा स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नियंत्रित होना यह नहीं दर्शाता कि हम किसी बाहरी बन्धन से बँधे हुये हैं। अभ्यास का निर्माण आत्म नियन्त्रण ही है। हम अपने अभ्यास को ही कभी-कभी बदल देते हैं। ऐसी अवस्था में हमारे चरित्र में विप्लवकारी परिवर्तन हो जाता है।

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति[1] और चरित्र[2]

स्वतन्त्रता का अर्थ—ऊपर हमने कहा है कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का अस्तित्व नैतिक आचरण के लिए अनिवार्य है। यह स्वतन्त्र इच्छाशक्ति क्या है और इसका मनुष्य के चरित्र से क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न के भिन्न भिन्न उत्तर दिये गये हैं। एक मत के अनुसार स्वतन्त्र इच्छाशक्ति एक ऐसी वस्तु है जिसके विषय में हम यह नहीं कह सकते कि वह अमुक परिस्थिति में क्या करेगी। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने की शक्ति प्रदान करती है। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति में किसी प्रकार की निश्चितता को स्थान नहीं। एक दूसरे मत के अनुसार स्वतन्त्र इच्छाशक्ति बाह्य परिस्थितियों से नियन्त्रित नहीं होती किन्तु वह अपने-आप से अवश्य नियन्त्रित रहती है। स्वतन्त्रता का अर्थ है आत्म-नियन्त्रण। मनुष्य अपने-आप के नियन्त्रण में वहीं तक रहता है जहाँ तक वह अपने ही बनाए सिद्धान्तों के ऊपर आचरण करता है। अपने बनाए नियमों के प्रतिकूल आचरण करना स्वतन्त्रता नहीं है वरन स्वच्छन्दता[3] है। जो मनुष्य इस प्रकार के आत्म-नियन्त्रण[4] में अभ्यस्त हो जाता है वह एक विशेष प्रकार के स्वभाव का बन जाता है। आत्म नियन्त्रण के अभ्यास के द्वारा जो स्वभाव बनता है उसे चरित्र कहते हैं। इस प्रकार चरित्र मनुष्य के पूर्व अभ्यास का परिणाम है। यह पूर्व अभ्यास किसी विशेष प्रकार की परिस्थिति में विशेष प्रकार के निर्णय पर आने के लिए मनुष्य

---

1 Will.　2. Character　3 Licence.　4 Self-control.

को प्रेरित करता है, अर्थात् मनुष्य अपने पूर्व अभ्यास के द्वारा अथवा अपने चरित्र द्वारा ही नियन्त्रित होने लगता है। चरित्र एक स्थायी वस्तु है। अतएव जब मनुष्य का चरित्र बन जाता है तो हम उसके निर्णयों के विषय में इतने अनिश्चित नहीं रहते जितने कि चरित्र न बने हुये व्यक्ति के निर्णय के विषय में अनिश्चित रहते हैं। इस तरह चरित्र की नियतिता[1] स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का बाधक नहीं है, वरन् उसकी पूर्णता का परिचायक है।

चरित्र की नियतिता—मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति उसे सब प्रकार की नियतिता से मुक्त नहीं कर देती। यदि ऐसा हो तो हम किसी भी व्यक्ति के आचरण के विषय में कुछ भी अंदाज न लगा सकेंगे। हमारा साधारण व्यावहारिक जीवन इसी प्रकार के अंदाज के ऊपर निर्भर करता है। हम चरित्रहीन व्यक्ति के विषय मे भले ही यह न कह सके कि वह विशेष प्रकार की परिस्थितियों मे कैसा आचरण करेगा, परन्तु साधारण चरित्रवान् व्यक्तियों के आचरण के विषय मे हमारे अनुमान प्राय: ठीक निकलते हैं। हम जानते हैं कि एक व्यक्ति को किसी काम के लिए डॉटने डपटने मे उस काम को वह सावधानी के साथ करेगा और दूसरा व्यक्ति डॉटने-डपटने पर काम का करना छोड ही देगा। जिन बातों को सुनकर एक व्यक्ति के मन मे मानसिक ग्लानि अथवा भय उत्पन्न होता है उन्हीं बातों को सुनकर दूसरे के मन मे क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम मनुष्य के चरित्र को जान कर उसके आचरण के विषय मे अन्दाज लगाते हैं कि किसी परिस्थिति मे कोई व्यक्ति क्या करेगा। इस प्रकार का अनुमान लगाना इसलिए ही सम्भव है कि मनुष्य के जीवन मे किसी न किसी प्रकार की नियतिता काम करती है, अर्थात् मनुष्य अपने आचरण मे इस प्रकार स्वतन्त्र नहीं है जिस प्रकार की स्वतन्त्रता स्वच्छन्द व्यक्ति चाहता है।

मनुष्य का जैसा चरित्र होता है उसकी इच्छाशक्ति भी उसी प्रकार कार्य करती है। चरित्र इच्छाशक्ति के पूर्व-अभ्यास का परिणाम है। परन्तु यह उस इच्छाशक्ति का बन्धन भी है। पहले किया गया आचरण मनुष्य के वर्तमान

---

1 Determinism of Character

आचरण का कारण बन जाता है। किसी प्रकार के आचरण के संस्कार मनुष्य के मन में रहते हैं। यही संस्कार मनुष्य के चरित्र के आधार होते हैं। एक बार जब मनुष्य किसी धर्म-संकट[1] में पड़ता है और वह जैसे मार्ग को चुनता है वैसे ही मार्ग के चुनने की उसमें प्रवृत्ति हो जाती है। जो मनुष्य धर्म-संकट के समय सरल और प्रिय मार्ग को छोड़ कर अप्रिय और कठिन मार्ग को ग्रहण करता है वह दूसरी बार भी प्रायः वैसा ही करता है। यदि कठिन मार्ग श्रेष्ठ है तो उसे ऐसे मार्ग पर चलना ही अच्छा लगता है। बार-बार अभ्यास करने पर कठिन मार्ग ही सरल हो जाता है और उस पर चलने से मनुष्य को कष्ट का अनुभव न होकर प्रसन्नता का अनुभव होता है। जो मनुष्य बार-बार कठिनाइयों का सामना करता है उसे कठिनाइयों का सामना करने का अभ्यास हो जाता है। इस अभ्यास के परिणाम स्वरूप वह कठिनाइयों को देखकर डरता नहीं। कठिनाइयों को देखकर उनसे भागना यह मनुष्य का जन्मजात स्वभाव है और कठिनाइयों को देखकर उनसे लड़ने के लिए तैयार हो जाना यह उसका अर्जित स्वभाव है यही चरित्र है। चरित्र मनुष्य की एक संचित शक्ति है। यह इच्छाशक्ति का ही दूसरा नाम है। जिस मनुष्य का चरित्र जितना ही सुगठित होता है उसकी इच्छाशक्ति भी उतनी ही सुदृढ़ होती है। चरित्रवान् व्यक्ति की इच्छाशक्ति संकटों के सामने आने पर डाँवाडोल नहीं होती वरन् वह दृढ़ता से उनका सामना करती है।

इच्छाशक्ति से चरित्र का निर्माण होता है और फिर चरित्र किसी प्रकार के आचरण में इच्छाशक्ति को प्रभावित करता है। स्वतन्त्र आचरण का वास्तविक अर्थ यही है। इसी कारण से हम यह कह सकते हैं कि कोई चरित्रवान् व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में कैसा आचरण करेगा। स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता से भिन्न वस्तु है। स्वतन्त्र मनुष्य का चरित्र दृढ़ होता है और स्वच्छन्द मनुष्य का चरित्र निर्बल होता है। स्वच्छन्द व्यक्ति के आचरण में किसी प्रकार के सिद्धान्त काम नहीं करते। वह मनमौजी होता है और क्षणिक इच्छाओं के आवेगों में आकर काम करने लगता है। इसके प्रतिकूल चरित्रवान् व्यक्ति के जीवन के सिद्धान्त

---

1 Moral situation.

सुनिश्चित होते हैं। वह सदा इन सिद्धान्तों को अपने आचरण में चरितार्थ करता है। वह सदा अपने विवेक से काम लेता है और विवेक के प्रतिकूल मानसिक वेग का सदा दमन करता रहता है। इसी प्रकार की स्वतन्त्रता नैतिकता के लिए आवश्यक है। बिना आत्म-नियन्त्रण की शक्ति के, अर्थात् बिना चरित्र की नियतिता के नैतिक आचरण सम्भव नहीं और बिना इस नियतिता के नीति-शास्त्र अर्थहीन हो जाता है।

पशु, बालक और पागलों के आचरण पर किसी प्रकार का नैतिक विचार नहीं किया जाता। नैतिक विचार की पूर्वमान्यता[1], मनुष्य में अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की शक्ति है। चरित्र का निर्माण विवेक के द्वारा होता है। एक बार जब चरित्र बन जाता है तो मनुष्य का आचरण चरित्र के अनुसार होने लगता है। जब मनुष्य के जीवन से उच्छृङ्खलता का लोप हो जाता है और उसका आचरण सुव्यवस्थित हो जाता है तभी हम उसके आचरण पर नैतिक दृष्टि से विचार कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैतिक विचार के लिए स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति की आवश्यकता है, पर यह स्वतन्त्र इच्छाशक्ति चरित्र की नियतिता[2] को मानती है। एक ओर स्वतन्त्र इच्छाशक्ति चरित्र का निर्माण करती है और दूसरी ओर वह उसके नियन्त्रण में रहती है। चरित्र की नियतिता स्वीकार करने से इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता का अपवाद नहीं होता। कहा जाता है कि दुराचारी मनुष्य एक दृष्टि से भला काम कर ही नहीं सकता और दूसरी दृष्टि से वह भला कार्य कर भी सकता है*। दुराचारी मनुष्य का चरित्र ही उसके भले काम के करने में बाधक होता है, अर्थात् उसका पूर्वाभ्यास ही उसके मार्ग का रोडा बन जाता है। पर इस चरित्र का निर्माण स्वय उसने ही किया है। यह उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा निर्माण हुआ है। अतएव यह स्वतन्त्र इच्छाशक्ति उसके चरित्र में परिवर्तन भी कर सकती है। यह परिवर्तन एकाएक नहीं होता किन्तु अभ्यास के द्वारा अवश्य हो जाता है। इस प्रकार दुराचारी मनुष्य को भले काम से रोकने वाली उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई तत्व नहीं है। मनुष्य अपनी

1 Postulate, 2 Determinism of character

* A bad man in a sense can and in a sense cannot do good actions—Mackenzie—**A manual of Ethics.**

इच्छा से भला या बुरा आचरण करता है। मनुष्य का चारित्र उसके भले बुरे काम करने में सहायक अथवा बाधक बनता है। परन्तु इस प्रकार की सहायता प्राप्त करना अथवा न प्राप्त करना अपने आप की ही सहायता प्राप्त करना अथवा उसे खोना है। आदर्शवादी नीतिविचारकों के अनुसार मनुष्य का चारित्र ही उसका स्वरूप है। यह उसकी स्वतंत्र इच्छाशक्ति से भिन्न वस्तु नहीं। अतएव चारित्र की निर्बलता अपने आप की ही निर्बलता है।

इच्छा[1] हेतु[2], और संकल्प[3]

हेतु का अर्थ—नीति-शास्त्र में मनुष्य की इच्छा, हेतु और संकल्प की चर्चा रहती है। इनमें से नैतिक विचार किसके ऊपर किया जाता है इसे निश्चित करने के लिए इनके स्वरूप के ज्ञान का होना आवश्यक है। हमने पिछले पृष्ठों में इच्छा के स्वरूप के विषय में बहुत कुछ चर्चा की है। इच्छाओं में जब संघर्ष होता है और इस संघर्ष के परिणाम स्वरूप जब एक इच्छा विजयी होकर चेतना के समक्ष कार्यान्वित होने के लिए रह जाती है तो हम उसे इच्छित कार्य का हेतु कहते हैं; अर्थात् हेतु वह इच्छा है जो किसी कार्य का प्रेरक हो। आधुनिक प्रमुख नीति-शास्त्रज्ञों के अनुसार हेतु उस लक्ष्य का नाम है जिसे अपने कार्य के द्वारा प्राप्त करने का मनुष्य विचार करता है। लक्ष्य के विचार का नाम हेतु है*। आदर्शवादी नीति शास्त्रज्ञों ने हेतु की यही व्याख्या की है। इनके कथनानुसार हेतु में मनुष्य न केवल किसी चाह की अनुभूति करता है, वरन् उसे यह भी ज्ञान रहता है कि उसकी वह चाह किस प्रकार से पूरी हो सकती है। हेतु में प्राप्त किये जाने वाले पदार्थ के भले और बुरे होने का ज्ञान भी रहता है। हेतु इस प्रकार विवेकयुक्त मानसिक अवस्था है। आदर्शवादी नीति-शास्त्रज्ञ कार्य के उस प्रेरक को हेतु नहीं मानेंगे जिसका स्वयं कार्यकर्ता को ज्ञान न हो, अथवा जिसका ज्ञान हो परन्तु स्पष्टतः प्राप्त किये जानेवाले लक्ष्य का विचार न हो। इस प्रकार मनुष्य की इच्छाएँ ही उसके कार्यों का हेतु बन सकती है। हेतु वह इच्छा है जिसके साथ मनुष्य का स्वत्व का तादात्म्य करता है और जिसके लिए मनुष्य श्रम न करने के लिए तैयार रहता है।

---

1 Desire 2. Motive 3. Intention

* The idea of the end is the motive.

हेतु के विषय में इस विचार से भिन्न विचार अन्तः अनुभूतिवादी[1] नीतिशास्त्रज्ञों का है। ईसाई धर्म से प्रभावित दार्शनिकों ने मनुष्यों के कार्य के हेतु उसके भावों अर्थात् रागात्मक मनोवृत्तियों[2] को माना है। मार्टिनो महाशय के कथनानुसार अनेक प्रकार की रागात्मक वृत्तियाँ (भाव) ही मनुष्य के कार्यों की प्रेरिका अथवा हेतु होती हैं। कोई मनुष्य काम से, कोई क्रोध से, कोई भय से, कोई प्रेम, दया, श्रद्धा इत्यादि मनोभावों से प्रेरित होकर किसी विशेष प्रकार के काम में लगता है। इनमें से कुछ मनो- भाव बुरे होते है, और कुछ भले। कार्य का हेतु वह पदार्थ नहीं माना गया है, जिसे प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य करता है, वरन् कार्य के हेतु उक्त भाव ही माने गये है। ये ही मनुष्य के मन में किसी विशेष प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न करते हैं। कार्य के मूल प्रेरक ये ही हैं।

संकल्प—सकल्प[3] अथवा मन्तव्य, इच्छा और हेतु से भिन्न वस्तु है। हेतु[4] कार्य का प्रेरक[5] होता है, और सकल्प उस कार्य के लिए साधन[6] उपस्थित करता है। मान लीजिए कि कोई मनुष्य पैसा कमाना चाहता है। पैसा कई प्रकार से कमाया जा सकता है। कोई वाणिज्य-व्यवसाय करके पैसा कमाता है, कोई नौकरी करके, कोई पुस्तक लिखकर और कोई लाटरी के द्वारा। पैसा कमाने का निश्चय करना, यह आगे होने वाली क्रिया का हेतु कहलाता है, कि तु किस प्रकार से पैसा कमाया जाय, यह उसके सकल्प की बात है। सकल्प मे मनुष्य के इच्छित पदार्थ के प्राप्त करने के साधन का समावेश होता है। मनुष्य क्या करना चाहता है? इस प्रश्न का उत्तर उसके सकल्प को जानकर आता है। वह उस काम को क्यों करना चाहता है? इस प्रश्न का उत्तर उसके हेतु को जानने से आता है। इस प्रकार कार्य का वास्तविक प्रेरक हेतु है। सकल्प, हेतु को सफल बनाने का साधन मात्र है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने किसी कार्य के हेतुओं को दो प्रकार का माना है—ज्ञात और अज्ञात। आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य के भावो को ही उसके कार्यों का वास्तविक हेतु मानता है। ये भाव कभी कभी मनुष्य को ज्ञात रहते हैं, और

---

1 Intuitionist 2 Emotions Feelings 3, Intention. 4. Motive 5 Spring of action 6 Means

कभी-कभी वे उसकी चेतना की सतह के नीचे काम करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य अपनी क्रियाओं के वास्तविक हेतुओं को स्वयं नहीं जानता। वह जिन हेतुओं को दूसरे लोगों के समक्ष अपने कार्यों का हेतु बताता है, वे वास्तविक हेतु के आवरण मात्र होते हैं। सोलहवीं शताब्दी में कुछ पादरी लोग धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करने वाले व्यक्तियों को जिन्दा जलवा देते थे। वे ऐसे कर्मों को वास्तव में द्वेष-वश करते थे; किन्तु वे संसार के समक्ष बताते थे, कि यह काम धर्म-पथ से विचलित होने वाले व्यक्तियों के प्रति दया भाव से प्रेरित होकर किया जा रहा है। सम्भवतः वे अपने इस प्रकार के हेतु की सचाई में विश्वास भी करते थे। उनका विचार था कि अधर्म पर चलने वाले लोगों को अनन्तकाल तक नरक की यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। इस यन्त्रणा से बचाने के लिए धर्म-पथ से विचलित लोगों को जला देना ही अच्छा है। इस तरह थोड़ा कष्ट देकर उन्हें महान् कष्ट से मुक्त कर दिया जाता था। कितने ही लोग कृपणता के कारण भिखारियों को दान नहीं देते; अथवा अपने बच्चों पर ही पर्याप्त पैसा खर्च नहीं करते। परन्तु वे अपने इन कामों के लिए दूसरे ही हेतु बताते हैं। सम्भवतः भिखारियों को दान न देने वाले व्यक्ति देश में निकम्मे लोगों की संख्या न बढ़ने देने का ही हेतु अपने सामने रखते हों। इसी प्रकार बालकों में सादगी की आदत डालने के विचार से ही बहुत से धनी लोग उन्हें खर्च करने के लिए पर्याप्त पैसा नहीं देते पर ये हेतु प्रायः वास्तविक हेतु के आवरण मात्र होते हैं। इस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य के कार्यों के आन्तरिक हेतु और ऊपरी हेतु में भेद करता है। एक हेतु को कार्य का प्रेरक[1] अथवा कारण कहा जाता है और दूसरे को उसका सबब[2] कहा जाता है। एक वास्तविक वस्तु है, और दूसरा बौद्धिक। कार्य का प्रेरक मनुष्य के भीतरी मन में रहता है, और उसका सबब उसके बाहरी मन में। अधिकतर मनुष्यों को अपने आंतरिक हेतुओं का ज्ञान रहता है, इसीलिये हेतु के आंतरिक और बाहरी मार्गों में भेद नहीं किया जाता। परन्तु कभी-कभी मनुष्य को अपनी क्रिया के आंतरिक हेतु का ज्ञान नहीं रहता। ऐसी अवस्था में किसी कार्य के कारण और सबब का भेद स्पष्ट हो

1 Motive, 2. Reason,

जाता है। कार्य की नैतिकता पर विचार करते समय साधारणतया मनुष्य के उसी हेतु पर विचार किया जाता है, जिसका उसे ज्ञान है। मनुष्य के आतरिक हेतु पर विचार करना इतना सरल काम नही है।

आचरण में वातावरण[1] और चरित्र[2] का महत्त्व

आचरण क्या है?—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमें मनुष्य के आचरण के आतरिक कारणों पर प्रकाश पडता है। मनुष्य का आचरण उसकी स्वतत्र इच्छाशक्ति का कार्य है। आचरण में मनुष्य के विवेक[3] और आदर्श कार्य करते हैं। उसके सामने परिस्थितियाँ रहती हैं। वह कभी-कभी परिस्थितियों के अनुसार काम करता है, और कभी उनसे लडता है। जैसा उसका विवेक सुझाता है, उसी प्रकार वह काम करता है। मनुष्य का आचरण दूसरे प्राणियों के व्यवहारों से भिन्न वस्तु है। दूसरे प्राणी सदा प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। उनमे स्वतत्र इच्छाशक्ति नहीं होती। अतएव उनमें प्रकृति से लडने की योग्यता भी नहीं रहती। दूसरे प्राणियों के व्यवहारों में वह विवेकशीलता नहीं दिखाई देती, जो मनुष्य के व्यवहारों में दिखाई देती है। वे अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करते हैं। उनके लिए मानो प्रकृति ही उचित अथवा अनुचित का विचार करती है। पर मनुष्य स्वय अपने कार्यों के उचितानुचित का विचार करता है। इसलिए मनुष्य के व्यवहारों को ही आचरण कहा जाता है।

प्रकृतिवादी नीति शास्त्रज्ञों ने जिस प्रकार मनुष्य के व्यवहारों को आचरण कहा है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों के व्यवहारों को भी आचरण कहा है। इस प्रकार स्पेंसर महाशय ने पशु-पक्षियों और कीडे मकोडों के आचरण की चर्चा की है। यदि चींटी बरसात होने के पूर्व भोजन इकट्ठा कर लेती है, तो उसके आचरण को भला कहा जाता है। यहाँ भले-बुरे का निर्णायक, प्राणी को जीवन मे सहायता देना ही मान लिया गया है। इसी प्रकार मनुष्य की उन क्रियाओं को भी आचरण कहा जाता है, जिसमे वह अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य करता है।

---

1 Environment, 2 Character, 3 Reason.

आधुनिक काल के प्रगतिशील नीति शास्त्रज्ञ, प्रकृतिवादियों के आचरण की इस परिभाषा को नहीं मानते। उनके कथनानुसार जहाँ इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता नहीं, वहाँ आचरण की भी सम्भावना नहीं है। आचरण मनुष्य की उन्हीं क्रियाओं का नाम है जिनमें स्वतंत्र इच्छाशक्ति का भाग होता है। मनुष्य से भिन्न प्राणियों में स्वतंत्र इच्छाशक्ति नहीं होती। अतएव उनके व्यवहारों को आचरण कहना नीति शास्त्र की दृष्टि से महान् भूल है।

आचरण में वातावरण का कार्य—हमने ऊपर बताया है कि मनुष्य के आचरण में उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति, अथवा उसके चरित्र का ही प्रधान भाग होता है। चरित्र इच्छाशक्ति का संचित बल है। प्रकृतिवादी नीति-शास्त्रज्ञों का मत है कि मनुष्य का आचरण उसके चरित्र और वातावरण का परिणाम है। जिस प्रकार मनुष्य का आचरण उसके चरित्र से स्वतंत्र सम्भव नहीं उसी प्रकार वह वातावरण से भी स्वतंत्र नहीं हो सकता। मनुष्य का चरित्र भी इस सिद्धांत के अनुसार उसके वातावरण का परिणाम है।

यदि हम इस दृष्टि को स्वीकार कर लें तो फिर हम किसी व्यक्ति के आचरण को न तो भला और न बुरा कह सकते हैं। यदि "भला आचरण" और "बुरा आचरण" ऐसे शब्दों का हम प्रयोग भी करें, तो हम भला आचरण करने वाले व्यक्ति की न तो प्रशंसा कर सकेंगे और न बुरा आचरण करने वाले की निन्दा। हमें फिर मानना पड़ेगा कि अनुकूल वातावरण में पड़ने के कारण कोई मनुष्य अच्छा आचरण करते हैं और प्रतिकूल वातावरण में पड़ने के कारण वही मनुष्य बुरा आचरण करता है अर्थात् 'बुरा' और 'भला' शब्द वातावरण के गुण का बोधक होना चाहिए, न कि व्यक्ति के। इस दृष्टि से चोर को चोरी करने के कारण दोषी ठहराना भूल है। चोर सम्भवतः इस लिए चोरी करता है, कि वह गरीब है अथवा बचपन में उसे उचित शिक्षा नहीं मिली। उचित शिक्षा न मिलने का कारण भी माता पिता की अशिक्षा अथवा राज्य में शिक्षा-व्यवस्था की कमी हो सकती है। उचित शिक्षा के अभाव में जब बालकों में बुरी आदतें पड़ जाती हैं तो फिर उनका बुरा आचरण करना स्वाभाविक है। यहाँ उनके बुरे आचरण के लिए वातावरण ही दोषी है।

उपर्युक्त सिद्धान्त में मनुष्य के आचरण में उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति

अथवा उसके चरित्र को कोई महत्त्व का स्थान नहीं दिया गया है। परन्तु ऐसा करने से नैतिक विचार अर्थ-हीन हो जाता है। नैतिक विचार की पूर्वमान्यताएँ स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति और चरित्र हैं। जहाँ आचरण की स्वतन्त्रता नहीं, वहाँ आचरण का उत्तरदायित्व भी नहीं। फिर किसी आचरण को बुरा अथवा भला कहना सम्भव नहीं है।

यदि हम मनुष्य के आचरण के कारणों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें, तो प्रकृतिवादियों के आचरण-सम्बन्धी विचारों की त्रुटियों को भली भाँति समझ लेंगे। पहले तो नीति-शास्त्र में मनुष्य के चरित्र के मनोवैज्ञानिक कारणों पर विचार करना युक्ति-सगत नहीं है। नीति-शास्त्र में विकासात्मक दृष्टि से चरित्र का अध्ययन नहीं किया जाता। नीति-शास्त्र का चरित्र-अध्ययन दार्शनिक अथवा विश्लेषणात्मक अध्ययन है। नीति शास्त्र मे, चरित्र कैसे बना—इसे जानना उतना महत्व नहीं रखता, जितना चरित्र बनने के लिए किन-किन तत्वों की आवश्यकता है—यह रखता है। चरित्र के बनने मे वातावरण ईंट और गारे का काम करता है। परन्तु जिस प्रकार ईंट-गारे की उपस्थिति से ही कोई भवन तैयार नहीं हो जाता, उसी प्रकार बिना स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के वातावरण के द्वारा अपने-आप चरित्र गठित नहीं हो जाता। जो कार्य कारीगर इमारत के तैयार करने में करते हैं, वही कार्य इच्छाशक्ति चरित्र के निर्माण में करती है। वह वातावरण को अपने ही ढग से काम में लाती है।

जिस प्रकार चरित्र-निर्माण में वातावरण सहकारी कारण का कार्य करता है, उसी प्रकार वह मनुष्य के किसी विशेष आचरण में भी सहकारी, परन्तु परतन्त्र रूप से, कार्य करता है। हम देखते हैं कि एक ही वातावरण का प्रभाव सभी लोगों पर एक-सा नहीं पड़ता। मनुष्य का जैसा चरित्र होता है, उसे वातावरण उसी प्रकार प्रभावित करता है। अन्धेरे में एक पेड़ के ठूँठ को देखकर डरपोक बालक भयभीत हो जाता है, और भागने की चेष्टा करने लगता है। इसके प्रतिकूल वीर बालक उस ठूँठ से घबड़ाता नहीं, वह उसके पास जाकर वास्तविकता को जानने की चेष्टा करता है। कोई मनुष्य धन के प्रलोभन से झूठ बोल देता है, तो कोई इस प्रकार के प्रलोभन से बिल्कुल चलायमान नहीं होता। वह प्रलोभन देने वाले से ही क्रुद्ध हो जाता है। कायर मनुष्य रण से भागता है,

और वीर पुरुष रण में न केवल अपने ही लड़ता है, परन्तु दूसरों को भी प्रोत्साहित करता है।

इस भाँति हम देखते हैं कि एक ही प्रकार का वातावरण मनुष्य के चरित्र भेद के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के आचरण का कारण बन जाता है। किसी विशेष प्रकार का वातावरण मनुष्य के आचरण को किस प्रकार प्रभावित करेगा, यह उसके चरित्र पर ही निर्भर करता है और यह चरित्र वातावरण का परिणाम नहीं वरन् मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य है। शरीर और बुद्धि की तीक्ष्णता मनुष्य को उसके माता पिता से मिलती हैं, परन्तु उसे अपना चरित्र अपने-आप ही बनाना पड़ता है। जैसा कि काण्ट महाशय ने बताया है, भौतिक दृष्टि से मनुष्य पर जात है और आध्यात्मिक दृष्टि से वह आत्मजात[1] है।

जब हम मनुष्य के वातावरण पर ही विचार करते हैं, तो सभी प्रकार के वातावरण को नैतिक दृष्टि से महत्व का नहीं पाते। मनुष्य के आचरण को प्रभावित करने वाला वातावरण भौतिक वातावरण नहीं, वरन् सामाजिक और विचारों का वातावरण है। मनुष्य किसी काम के करने में कुछ लोगों को अनुकूल करने की चेष्टा करता है, कुछ के द्वारा प्रोत्साहित होता है, और कुछ के द्वारा हतोत्साहित होता है। ये सभी बातें उसके आचरण का कारण बनती हैं, पर यदि हम इन बातों को दार्शनिक दृष्टि से देखें, तो उन्हें हम अपने द्वारा ही निर्मित पावेंगे। मनुष्य अपने सम्बन्धियों और मित्रों की सलाह कहाँ तक मानेगा उनको सन्तोष देने की कहाँ तक चेष्टा करेगा यह उसके चरित्र पर निर्भर है। जैसा मनुष्य का चरित्र होता है, वह अपने वातावरण को भी वैसा ही बना लेता है।

मान लीजिए कि किसी कारणवश कोई व्यक्ति हमें गाली दे देता है। इस गाली को हम सह लेते हैं, और गाली देने वाले व्यक्ति को नासमझ जानकर क्षमा कर देते हैं। इसी तरह हमको कहीं बिना परिश्रम के धन मिल जाता है। हम इस धन को दान में दे देते हैं। हम अपनी इन क्रियाओं से एक प्रकार का वातावरण तैयार करते हैं। यदि हम क्रोध में आकर गाली देने वाले

1 Self-created.

व्यक्ति को तमाचा मार देते हैं, अथवा मुफ्त मे पाए हुए धन को अपने ही काम में खर्च करते हैं, तो हम इन क्रियाओ के द्वारा दूसरे प्रकार के वातावरण का निर्माण कर लेते हैं। हम गाली देने वाले को तमाचा मारेंगे अथवा नहीं, मुफ्त में मिले धन को दान में दे देंगे अथवा अपने आप खर्च करेंगे, यह हमारे चरित्र के ऊपर निर्भर है। इस प्रकार हमारा चरित्र ही हमारे शत्रु और मित्र का निर्माण करता है, और प्रतिकूल तथा अनुकूल परिस्थितियों को हमारे समक्ष उपस्थित करता है। इस प्रकार हमारा वातावरण वास्तव मे हमारे ही द्वारा, अर्थात् हमारे चरित्र के द्वारा निर्मित होता है। नीति-शास्त्र के विद्वान मेकेन्जी महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है, कि मनुष्य का आचरण उसके चरित्र और वातावरण का परिणाम नहीं बल्कि वातावरण में प्रकाशित चरित्र का परिणाम है। आदर्शवादी विचार-धारा के अनुसार आचरण में प्रधान वस्तु वातावरण नहीं वरन् चरित्र है। यही मत हमें युक्ति-सगत दिखाई देता है।

प्रश्न

१. भूख और इच्छा में क्या भेद है? मनुष्य के नैतिक आचरण में इच्छा का क्या स्थान है?

२. इच्छाओं के द्वन्द्व का क्या अर्थ है? इससे मनुष्य का नैतिक विकास कैसे होता है?

३. इच्छित क्रिया के स्वरूप को उसका विश्लेषण करके स्पष्ट कीजिये। निश्चय के पूर्व की अवस्था की मनोवैज्ञानिक महत्ता क्या है?

४. स्वतत्र इच्छा शक्ति का क्या अर्थ है? इसकी उपस्थिति को प्रमाणित करने के लिये कौन-कौन युक्तियाँ दी जाती हैं?

५. नियतवाद और स्वतत्रतावाद का नीतिशास्त्र के विचारों मे क्या महत्त्व है? यदि हम स्वतत्रतावाद को नहीं मानें, तो नीतिशास्त्र का क्या रूप होगा?

६ चरित्र कैसे बनता है। इसके बनने में स्वतंत्र इच्छाशक्ति का क्या स्थान है?

७ "स्वच्छन्दता स्वतन्त्रता नहीं है"–इस कथन की सत्यता को स्पष्ट कीजिये। नीतिशास्त्र के लिये किस प्रकार की स्वतन्त्रता की आवश्यकता है।

८. नैतिक आचरण के लिये किस प्रकार की नियतिता आवश्यक है। इस नियतिता का भेद नैतिक नियतिता से बताइये।

९. इच्छा हेतु और संकल्प में क्या भेद है? उदाहरण देकर समझाइये? मनुष्य के आचरण की नैतिकता को कौन-सा तत्त्व अधिक स्पष्ट करता है।

१ मनुष्य का आचरण उसके चरित्र और वातावरण का परिणाम है—इस कथन की समालोचना करके उचित सिद्धान्त का निरूपण कीजिये।

चौथा प्रकरण

मनुष्य की क्रियाओं के हेतु[1]

दो विरोधी विचार

मनुष्य की क्रियाओं के हेतु के विषय में दो विरोधी विचार हैं। एक विचार के अनुसार मनुष्य की सभी क्रियाओं का हेतु सुख की इच्छा होती है, और दूसरे विचार के अनुसार उसकी क्रियाओं का हेतु उसका ज्ञान होता है। पहले प्रकार के विचार को मनोवैज्ञानिक सुखवाद[2] कहा जाता है, और दूसरे प्रकार के विचार को विचारवाद[3] कहते हैं। इन दोनों विचारधाराओं को जानना और उन पर विवेचन करना नीति-शास्त्र की अनेक जटिल समस्याओं को हल करने के लिये आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद

वेन्थम महाशय की युक्ति—मनोवैज्ञानिक सुखवाद के प्रमुख प्रवर्त्तक वेन्थम और मिल महाशय हैं। जेरोमी वेन्थम महाशय अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिन्सपिल्स आफ लेजिसलेशन' के प्रथम प्रकरण में निम्नलिखित युक्तियाँ मनोवैज्ञानिक सुखवाद को सिद्ध करने के लिये देते है—

"प्रकृति ने हमें सुख और दुःख के राज्य में रख दिया है। हमारे सभी विचार इन्हीं के कारण उत्पन्न होते है। हम अपने सभी निर्णयों और निश्चयों को उन्हीं के अनुसार बनाते है। जो इस अनुशासन से मुक्त रहने की बात कहता है वह नहीं जानता कि मै क्या कह रहा हूँ। उसका उद्देश्य एक ही होता है, सुख को ग्रहण करना और दुःख से मुक्ति पाना। जब वह अधिक-से-

---

1 Motives 2 Psychological hedonism. 3 Rationalism

को देखना पड़ेगा, और यह प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर ही निर्भर है। इसे हम आत्म-निरीक्षण और दूसरे व्यक्तियों के आत्म-निरीक्षण की सहायता से निश्चित कर सकते हैं। मेरा विश्वास है कि इन दो प्रमाणों पर पक्षपात-रहित विचार करने से यह अवश्य निश्चित हो जायगा, कि किसी वस्तु की इच्छा करना, और उसे सुखद पाना तथा उससे भागना और उसको दुःखद सोचना एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते, अर्थात् ये एक ही घटना के दो भाग हैं, ये एक ही मनोवैज्ञानिक सत्य को दो प्रकार से कहने की विधियाँ है। किसी वस्तु को इच्छा के योग्य और सुखद मानना एक ही बात है। किसी वस्तु की, सुख के विचार के अतिरिक्त किसी और कारण से, इच्छा करना भौतिक और तात्विक दृष्टि से असम्भव है"।*

सुखवाद की आलोचना—मिल महाशय के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के कार्यों का हेतु सुख की चाह के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता। सुख-प्राप्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे हेतु से काम करना मनुष्य के लिये,

* "And to decide whether it is really so, whether mankind do desire nothing for itself but that which is a pleasure to them or of which the absence is a pain, we have evidently arrived at a question of fact and experience, dependent like all similar questions, upon evidence It can only be determined by observation of others I believe that these sources of evidence, impartially consulted, will declare that desiring a thing and finding it pleasant, aversion to it and thinking of it as painful, are phenomena, entirely inseparable, or rather two parts of the same phenomenon, in strictness of language, two different modes of naming the same psychological fact—that to think of an object as desirable (except for the sake of its consequence) and to think of it as pleasant are one and the same thing and that to desire any thing, except in proportion as the idea of it is pleasant, is a physical and metaphysical impossibility"—

Utilitarianism.

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। इस तत्व का प्रमाण अपने विचारों के निरीक्षण से मिलता है। इस निरीक्षण की योग्यता अभ्यास से आती है। अब हमें विचार करना है, कि क्या मनुष्य के सभी कार्यों का हेतु सुख की चाह ही होती है, और क्या मनुष्य अपने आपको सुख की इच्छा से किसी भी स्थिति में मुक्त नहीं कर सकता ?

सुख और संतोष का ऐक्य—सुखवादियों ने सुख और आत्मसंतोष का ऐक्य कर दिया है। यह कथन सत्य है कि मनुष्य आत्मसन्तोष के लिये सभी काम करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह सुख के लिये सब कुछ करता है। मनुष्य जब कोई काम करता है तो उसे सुख अवश्य होता है; परन्तु इस सुख को ही काम का हेतु बनाकर काम करने से सुख की प्राप्ति के बदले सुख का विनाश हो जाता है। मान लीजिये कि कोई खिलाड़ी किसी खेल में भाग इसलिए लेता है कि उससे उसको सुख प्राप्त होगा। क्या वह खेल के सुख की वास्तविक अनुभूति का विनाश सुख प्राप्ति की चिन्ता से नहीं कर लेता ? यदि वह बार बार यह सोचता रहे कि उसे सुख प्राप्त हुआ अथवा नहीं तो वह ठीक से खेल ही न सकेगा और उसे सुख की प्राप्ति की जगह सुख का विनाश ही मिलेगा। जिस प्रकार खेल का सुख उसके विषय में चिन्ता करने से नष्ट हो जाता है उसी प्रकार कलाकार, लेखक और समाज सेवा के किसी काम में लगे हुए व्यक्ति का सुख भी उन कामों से प्राप्त होने वाले सुख के विषय में चिन्ता करने से नष्ट हो जाता है। जो व्यक्ति अपने काम से प्राप्त होने वाले सुख के बारे में जितना चिन्तित रहता है वह अपने सुख का उतना ही अधिक विनाश करता है।

सुखवादियों के अनुसार निःस्वार्थ परोपकार का काम करना संभव ही नहीं। जो कुछ काम किया जाता है वह अपने सुख के लिये ही किया जाता है। इस सुख का स्वरूप क्या है ? यह बाह्य पदार्थ की प्राप्ति होने पर संवेदनाओं की अनुभूति रूप कहा गया है। पर यह देखा जाता है कि देश भक्त अपने देश के कल्याण हेतु, अथवा *स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये फाँसी के तख्ते पर प्रसन्नता से चढ़ जाता है।* उसे फाँसी के तख्ते पर चढ़ने से कौन सा सुख प्राप्त होता है, और किस भावी सुख की आशा से वह अपने प्राणों की बलि देता है ? जब उसका अस्तित्व ही न रहेगा तो उसे कौन-सा सुख होना सम्भव है ?

विचार-जन्य सुख की विशेषता—सम्भव है कि उक्त तर्क के उत्तर में यह कहा जाय, कि उसे अपने देश के स्वतन्त्र होने का विचार सुख देता है। पर इस उत्तर का अर्थ यही होता है, कि मनुष्य को सुख के त्याग से भी सुख प्राप्त होता है। वह सुख कैसा, जो उसके त्याग से उत्पन्न हो? वास्तव में विचारजन्य सुख को आत्म सन्तोष का नाम देना उचित है। मनुष्य सभी काम आत्मसंतोष के लिये करता है। किसी व्यक्ति का आत्म-संतोष भोग्य पदार्थों की प्राप्ति में होता है, और किसी का आत्म-संतोष उनके त्याग से होता है। जो व्यक्ति किसी प्रकार के उपवास का व्रत रखता है, उसे उपवास के दिन भोजन कर लेने से शारीरिक सुख तो होता है, पर तुरन्त ही उसे आत्म-ग्लानि का दुख होने लगता है। इस दुःख का साधारण दुःख से साम्य नहीं किया जा सकता। यह दुःख आध्यात्मिक असन्तोष है।

आन्तरिक अशान्ति की वास्तविकता—हमारे देखने में कई व्यक्ति ऐसे आते हैं, जो धन-मान से सम्पन्न हैं, जिनका शरीर स्वस्थ है, परन्तु उन्हें आन्तरिक अशान्ति है। उन्हें किसी प्रकार के काम को करने की इच्छा ही नहीं होती। खाने-पीने और पहिनने-ओढ़ने के सुख उन्हें सुखरूप नहीं दिखाई देते, वे सदा बेचैन रहते हैं। जैसे कोई अपनी खोई वस्तु के लिये बेचैन रहे, वे उसी प्रकार बेचैन अथवा मानसिक अशान्ति की अवस्था में रहते हैं। उनके जीवन में सुखों की कमी नहीं, पर उन्हें सुख सुखरूप दिखायी नहीं देते। ये उन्हें दुःखरूप अथवा भाररूप दिखाई देते हैं। वास्तव में सुख की चाह भी तभी उत्पन्न होती है, जब मनुष्य में आध्यात्मिक शान्ति रहती है।

अपने और पराये सुख में भेद—कितने ही व्यक्ति अपने सुख की कल्पना के कारण किसी काम में प्रवृत्त होते हैं, और कितने ही दूसरे लोगों के सुख की कल्पना के कारण। दूसरे व्यक्तियों का सुख अपने लिये उसी प्रकार का सुख नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार सुख के भोक्ताओं के लिए वह सुख है। दूसरों का सुख हमारे मन में सन्तोष भले ही उत्पन्न करे, पर वह ऐन्द्रिक सुख नहीं देता। यह सन्तोष[1] विवेक का संतोष है। जब मनुष्य अपना

---

1 Satisfaction

अनुसार करता है, अर्थात् विवेकानुकूल अपना आचरण बनाता है, तो उसे आत्म-संतोष प्राप्त होता है। यही आत्म संतोष उच्च श्रेणी के लोगों के कार्यों का हेतु होता है।

विवेकशीलता[1] —मानव स्वभाव की विशेषता—जब कोई सुखवादी कहता है कि कोई भी व्यक्ति सुख के अतिरिक्त दूसरे किसी हेतु से प्रेरित होकर काम नहीं करता, तो वह मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं करता। पशु सदा विषय सुख से ही प्रेरित होकर किसी प्रकार की क्रिया में लगता है। मनुष्य में विचार-शक्ति है। इसके कारण जिस काम में पशु को सुख होता है उसमें मनुष्य को कभी सन्तोष और कभी असन्तोष होता है। अपने विवेक के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य को सन्तोष न होकर, असन्तोष ही होता है। इस तरह हम देखते हैं कि जहाँ तक मनुष्य अपने आचरण में मानवता को प्रदर्शित करता है, वहाँ तक वह विषय सुख की ओर न होकर विचार से उत्पन्न संतोष के लिये ही काम करता है।

'सुख' और उसका पर्यायवाची अंगरेजी शब्द "हैपीनेस" ऐसे शब्द हैं, जो दो विभिन्न अर्थ के काम में आते हैं। सुख तथा "हैपीनेस" का साधारण अर्थ विषय-सुख होता है। पर आत्म-संतोष वास्तव में विषय-सुख से भिन्न वस्तु है। आत्म संतोष मनुष्य के विचारों पर निर्भर है और सुख बाह्य पदार्थों की उपस्थिति पर। सुख में त्याग की कल्पना के लिए स्थान नहीं पर आत्म-संतोष में त्याग की कल्पना का स्थान है। सुख की उत्पत्ति किसी बाह्य वस्तु की प्राप्ति से होती है और आत्म सन्तोष आत्मा की पूर्णता के ज्ञान से होता है। आत्म-संतोष न केवल इच्छित वस्तुओं के अभाव से नष्ट हो सकता है वरन वह नैतिकता में कमी की अनुभूति से भी नष्ट हो जाता है।

विवेकवाद[2] का सिद्धान्त

विवेकवादियों के अनुसार मनुष्य के कार्यों का हेतु उसका ज्ञान होता है।

---

1 Reason. 2. Rationalism.

मनुष्य जिस विषय के बारे में जानता है, उसी की प्राप्ति की वह चेष्टा भी करता है, जिसके बारे मे वह जानता ही नहीं, वह उसके कार्यों का हेतु नहीं बन सकता। मनुष्य विषय-सुख के लिये इसलिये सदा इच्छुक रहता है, कि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपादेय पदार्थ वह जानता ही नहीं। जब मनुष्य को विषय-सुख की ओर जाने के दुष्परिणाम का ज्ञान होता है, जब वह विषय-सुख को झूठा अथवा भ्रमात्मक समझने लगता है, तब वह उसकी ओर नहीं दौड़ता। जब उसे आध्यात्मिक बातों का ज्ञान होता है, तब वह आध्यात्मिक मूल्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता महात्मा सुकरात का यह कथन है कि ज्ञान ही सद्गुण है।* महात्मा सुकरात का कथन है कि मनुष्य किसी व्यसन में इसलिये पड़ता है, क्यों कि वह उस व्यसन मे होने वाली बुराइयों को नहीं जानता। दूसरे उसे ऐसी दूसरी भली वस्तु का ज्ञान ही नहीं, जिसकी प्राप्ति के लिये वह चेष्टा करे। यदि मनुष्यों को सुशिक्षित बनाया जाय, उनके समक्ष सदा आध्यात्मिक विषयों की चर्चा की जाय, तो वे कदापि दुराचारी न बनें। सुकरात ने इस सिद्धान्त को अपने जीवन में पूर्णतः चरितार्थ किया। वह सदा आध्यात्मिक विचारों में ही निमग्न रहता था। जो व्यक्ति उसके पास आता था, उससे वह सदा सदासद् विवेक की ही चर्चा करता था। वह यूनान के नवयुवकों से सदा घिरा रहता था। राह में चलते हुए भी वह गम्भीर-से-गम्भीर दार्शनिक विषयों पर उनसे विचार-विनिमय करता था, और उन्हें जीवन को सफल बनाने का मार्ग सुझाता रहता था। उसके उपदेश के परिणाम स्वरूप बहुत से धनी घर के युवकों ने धन कमाने का व्यवसाय छोड़ दिया और अपना जीवन सत्यान्वेषण के लिये अर्पित कर दिया। ऐसे शिष्यों मे प्लेटो (अफलातून) महाशय का नाम अग्रगण्य है।

सुकरात के उक्त सिद्धान्त का समर्थन जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक और शिक्षा-वैज्ञानिक हरबार्ट महाशय ने भी किया है। उनके कथनानुसार बालकों

---

* Knowledge is virtue.

के चरित्र गठन के लिये उनमें सुन्दर नैतिक विचारों का बाहुल्य होना चाहिए। विचार से किसी विषय में 'रुचि'[1] उत्पन्न होती है यह रुचि आचरण का कारण बनती है और आचरण से चरित्र बनता है। अतएव किसी व्यक्ति का आचरण और चरित्र सुधारने के लिये उसे भले विचार देना आवश्यक है। इस कथन का सारांश यही है कि मनुष्यों के कार्यों का हेतु विचार ही होता है।

उक्त कथन कुछ मौलिक सत्य को प्रदर्शित करता है। मनुष्य की इच्छाओं के बनने में विचार का प्रधान स्थान रहता है। पशुओं की चाह और मनुष्यों की इच्छा में यही भेद है कि पशु उचित और अनुचित का विचार नहीं करता; मनुष्य इसका विचार करता है। पर केवल विचार ही किसी क्रिया का हेतु नहीं होता। विचार क्रियात्मक मनोवृत्ति को एक ओर अथवा दूसरी ओर मोड़ सकता है, वह अपने आप क्रिया का हेतु नहीं बन सकता।

विज्ञानवादियों के विचारानुसार ज्ञान का उत्पन्न होना ही किसी क्रिया का हेतु होने के लिये पर्याप्त है, पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। मनुष्य एक बात को सही मानता है पर करता दूसरी को ही है। यदि ज्ञान ही क्रिया का हेतु बन जाता तो नैतिकता की मौलिकता ज्ञात होने पर मनुष्य अनैतिक आचरण कदापि न करता। पर देखा गया है कि जो लोग अनेक प्रकार के दर्शनों के विद्वान् होते हैं वे अवसर आने पर अपने आप को किसी विशेष प्रकार के प्रलोभनों से नहीं रोक पाते। प्रलोभनों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि हमारे कार्यों का हेतु हमारी क्रियात्मक मनोवृत्ति ही होती है। विचार इस मनोवृत्ति को विशेष प्रकार का रूप देता है। विचार मनुष्य की पाशविक वासनाओं को विवेकयुक्त इच्छाएँ बनाता है, और इस प्रकार वह सदाचार का कारण बनता है।

---

1 Interest.

मार्टीनो महाशय का सिद्धान्त

कार्य-स्रोत[1] की कल्पना—मर्टानो महाशय के कथनानुसार मनुष्य के सभी कार्यों के हेतु उसकी जन्मजात अथवा अर्जित प्रवृत्तियाँ होती है। इन प्रवृत्तियों को मार्टीनो ने "कार्य-स्रोत" कहा है। ये स्रोत दो प्रकार के होते हैं—प्राथमिक[2] और सांस्कारिक[3]। प्राथमिक कार्य-स्रोत वे हैं जो हमे अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा मूल प्रवृत्तियो की तृप्ति के लिये कार्य मे प्रेरित करते हैं। इनके लक्ष्य पहले से निश्चित नहीं रहते। इन प्रवृत्तियो मे विचार का स्थान नहीं रहता। जीवन के पहले-पहल के कार्य इन्हीं के द्वारा प्रेरित रहते हैं।

सांस्कारिक कार्यों के स्रोत वे है जो पूर्व निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य को प्रेरित करते हैं। प्राथमिक कार्य-स्रोत ही अनुभव और संस्कारों के द्वारा बदल कर सांस्कारिक कार्य-स्रोत बन जाते हैं। इनके द्वारा इच्छित क्रियाएँ होती हैं। जब किसी प्राथमिक प्रवृत्ति के अनुसार काम करने से किसी सुख की प्राप्ति हो जाती है तो उस प्रवृत्ति और सुख में एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस सम्बन्ध के कारण हम प्रायः उसी प्रकार के काम करने की प्रेरणा अपने भीतर पाते हैं। जब अपने अनुभव के द्वारा इस प्रकार प्राथमिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन हो जाता है तो नये कार्यों के स्रोत का निर्माण होता है। इन्हें द्वितीय वर्गीय अथवा सांस्कारिक कार्य-स्रोत कहा जाता है।

मार्टीनो महाशय ने इन दो प्रकार के कार्य-स्रोतों का फिर से चार विभागों मे वर्गीकरण किया है। विभिन्न प्रकार के लक्ष्य की दृष्टि से प्रत्येक कार्य-स्रोत चार प्रकार के हैं—(१) राग, (२) द्वेष, (३) प्रेम और (४) स्थायी भाव।

---

1 Springs of action. 2 Primary 3 Secondary.

निम्नलिखित तालिका उक्त वर्गीकरण को भली प्रकार से स्पष्ट करती है।

भाव-स्रोत

- राग*
  - प्राथमिक
    - (१) खाने की भूख[1]
    - (२) काम वासना[2]
    - (३) पाशविक स्फूर्ति[3]
  - सांस्कारिक
    - (१) पटुत्व
    - (२) विलासिता[5]
    - (३) पैसे का लोभ[6]
    - (४) खेलकी प्रवृत्ति
- द्वेष†
  - प्राथमिक
    - (१) घृणा[1]
    - (२) क्रोध[2]
    - (३) भय[3]
  - सांस्कारिक
    - (१) हिंसा
    - (२) प्रतिशोध[5]
    - (३) संदेह[6]
- प्रेम‡
  - प्राथमिक
    - (१) मातृभाव[1]
    - (२) समाज भाव[2]
    - (३) करुणा[3]
  - सांस्कारिक
    - (१) बालरमण[4]
    - (२) समाजरमण[5]
    - (३) दीनरमण[6]
- स्थायी भाव**
  - प्राथमिक
    - (१) आश्चर्य[1]
    - (२) प्रशंसा[2]
    - (३) श्रद्धा[3]
  - सांस्कारिक
    - (१) विद्या-प्रेम[4]
    - (२) कला-प्रेम[5]
    - (३) धर्म-प्रेम[6]

* Propensions—1. *Appetite for food* 2. Appetite for sex, 3. Animal spontaneity 4 Gentiltony 5. Sensuality 6. Lovhe of mohney 7 Indulgence in play

† Passions—1. Antipalthy 2. Anger 3. Fear 4. Malice 5. Vindictiveness 6. Mistrust.

‡ Affections—1. Parental, 2. Social 3. Compassionate 4. Play with children, 5 Love of Social inter-course 6 Indulgence in pity

** Sentiments—1 Wonder 2. Admiration 3. Reverence 4 love of self-culture 5. AEstheticism, 6. Interest in religion.

राग उस मानसिक प्रवृत्ति का नाम है, जो मनुष्य में किसी विशेष विषय की ओर जाने की प्रेरणा उत्पन्न करती है। यह दो प्रकार का है, एक प्राथमिक और दूसरा सास्कारिक। प्राथमिक राग भोजन की इच्छा, कामेच्छा और शारीरिक क्रिया की इच्छा मे प्रकाशित होते है, और ये उनके उपयुक्त विषयों की प्राप्ति के लिये चेष्टा करने का कारण बनते हैं। सास्कारिक राग मनुष्य में पेटूपन, विलासिता, पैसे का लोभ और खेल की प्रवृत्ति के रूप ले लेते हैं। ये वास्तव में प्राथमिक राग के परिवर्तन के परिणाम मात्र हैं।

द्वेष उस मानसिक प्रवृत्ति का नाम है, जिसके कारण मनुष्य किसी दुःखदायी पदार्थ से विरत होता है। प्राथमिक द्वेष सहज प्रवृत्ति का रूप लेता है, और सास्कारिक द्वेप अनुभव के बाद उत्पन्न होते हैं। प्राथमिक द्वेष घृणा, क्रोध और भय है, सस्कार-जन्य द्वेष हिंसा, प्रतिशोध और सदेह के भाव हैं। घृणा हिंसा-भाव को उत्पन्न करता है, क्रोध प्रतिशोध के भाव को और भय सदेह को।

प्रेम का भाव हमे किसी व्यक्ति की ओर ले जाता है। यह भी दो प्रकार का होता है, एक प्राथमिक, और दूसरा सस्कारजन्य, अर्थात् सहज प्रेम और अर्जित प्रेम। मार्टीनो महाशय ने सहज प्रेम को निःस्वार्थ प्रेम बताया है, और अर्जित प्रेम को स्वार्थी। सहज प्रेम दूसरे व्यक्ति के प्रति आत्मीयता के भाव की अनुभूति से प्रेरित होता है, और अर्जित प्रेम उनसे प्राप्त होने वाले सुख के भाव से प्रेरित रहता है। मातृ-भाव, समाज-भाव और करुणा प्राथमिक प्रेम के रूप हैं, और बाल-रमण, समाज-रमण और दीन-रमण के भाव अर्जित प्रेम के।

स्थायी भाव वे प्रवृत्तियाँ हैं, जो मनुष्यों में किसी प्रकार के आदर्शों की प्राप्ति की प्रेरणा उत्पन्न करती है। ये भी दो प्रकार की है—प्राथमिक और सस्कारजन्य। प्राथमिक स्थायी भाव तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक। इनके कारण मनुष्य मे तीन प्रकार के आदर्शों की ओर प्रवृत्ति होती है। ज्ञानात्मक स्थायी भाव आश्चर्य है, यह सत्य की प्राप्ति की प्रेरणा उत्पन्न करता है; भावात्मक स्थायी भाव प्रशसा है, यह सौंदर्य की प्राप्ति की प्रेरणा उत्पन्न करता है, क्रियात्मक स्थायी भाव श्रद्धा है, यह मनुष्य को शिव अर्थात् भलाई की ओर प्रेरित करती है, और उसे बुराई से विरत करती है। अर्जित स्थायी भाव विद्या-प्रेम, कला-प्रेम और धर्म-प्रेम के भाव हैं।

निम्नांकित तालिका उक्त वर्गीकरण को भली प्रकार से स्पष्ट करती है।

* Propensions—1. Appetite for food 2. Appetite for sex 3. Animal spontaneity 4 Gluttony 5. Sensuality 6. Lovhe of mohney 7 Indulgence in play

† Passions—1 Antipathy 2. Anger 3. Fear 4. Malice 5. Vindictiveness, 6. Mistrust

‡ Affections—1. Parental 2. Social 3. Compassionate 4. Play with children 5 Love of Social inter-course 6. Indulgence in pity

** Sentiments—1. Wonder 2. Admiration 3. Reverence 4 love of self-culture 5. AEstheticism, 6. Interest in religion

उत्पन्न हुये नैतिक आचरण सम्भव नहीं। अतएव नैतिक भावों को जन्मजात नहीं कहा जा सकता। नैतिक भाव अभ्यास का परिणाम है। मार्टीनो महाशय ने जिस प्रकार अन्य कार्यस्रोतों को जन्मजात बताया है, उसी प्रकार नैतिक भावों को जन्मजात बताकर, नीति शास्त्र की दृष्टि से एक बड़ी भूल की है। मनुष्य जन्म से सद्गुणी नहीं होता, वह प्रयत्न से अपने आपको सद्गुणी बनाता है।

मार्टीनो महाशय ने उक्त कार्यस्रोतों को फिर तेरह भागों में बाँटा है, और नैतिकता की दृष्टि से एक के बाद एक को उनकी बुराई और भलाई के अनुसार रखा है। यह वर्गीकरण नैतिक मापदण्ड से सम्बन्ध रखता है, अतएव इसका उल्लेख तथा उसकी आलोचना हम उचित स्थान पर करेंगे।

प्रश्न

१. मनोवैज्ञानिक सुखवाद क्या है? अपने विचार के समर्थन के लिये बेन्थम महाशय ने कौन से प्रमाण दिये हैं? उनकी युक्तियों की समालोचना कीजिये।

२. मिल महाशय ने अपनी पुस्तक 'यूट लिटेरियनिज्म' में मनोवैज्ञानिक सुखवाद के समर्थन में कौन-कौन से प्रमाण दिये हैं? इनकी समुचित समालोचना कीजिये।

३. सुख और आत्मसंतोष में क्या भेद है? विचारजन्य सुख की विशेषता बताइये।

४ मनुष्य के कार्य के हेतुओं की विशेषता क्या है? मनुष्य दूसरे के सुख की वृद्धि के लिये किस कारण से प्रेरित होता है?

५ सोक्रिटीज महाशय के इस कथन की समालोचना कीजिये कि ज्ञान ही सत्गुण है। क्या यह कहना सत्य है कि मनुष्य अपनी क्रियाओं में सदा अपने विवेक से ही प्रेरित होता है? मनुष्य के कार्य के हेतुओं में विचार का क्या स्थान है?

६ मार्टिनो महाशय के कार्यस्रोत की कल्पना के सिद्धान्त को स्पष्टतः समझाइये। क्या यह कहना सत्य है कि नैतिक आचरण उच्च कोटि के कार्यस्रोत का परिणाम है?

———

ये मायमिक स्थायी भावों से उत्पन्न हुए हैं। इनमें अपने सुख के ध्यान से मनुष्य किसी प्रकार के उद्योग में लगता है।

इनके अतिरिक्त कुछ प्रवृत्तियाँ अर्थात् कार्य स्रोत ऐसे हैं, जिनमें प्राथमिक और सांस्कारिक प्रवृत्तियों का मिश्रण होता है—जैसे स्पर्धा, लोक प्रशंसा आदि के भाव।

मार्टीनो के सिद्धान्त की समालोचना—मार्टीनो महाशय के सिद्धान्त में मुख्य दो दोष हैं एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा नीति-शास्त्र सम्बन्धी। मार्टीनो ने बहुत सी अर्जित प्रवृत्तियों को प्राथमिक अथवा जन्मजात प्रवृत्तियाँ मान लिया है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से मार्टीनो महाशय का उक्त वर्गीकरण अवैज्ञानिक है। किसी प्रकार के स्थायी भाव को जन्मजात प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता। मार्टीनो ने जिस प्रकार राग द्वेष और प्रेम की प्रवृत्तियों को दो विभागों में विभाजित किया है उसी प्रकार उन्होंने स्थायी भावों को भी दो भावों में विभक्त किया है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य के सभी स्थायी भाव अर्जित होते हैं। मार्टीनो के वर्गीकरण में और भी अनेक प्रकार की भूलें हैं। मार्टीनो ने मूल प्रवृत्तियों और उनसे सम्बन्धित उद्वेगों का मिश्रण कर दिया है। इनके वर्गीकरण का दूसरा दोष नीति-शास्त्र सम्बन्धी है। इन्होंने सभी प्रकार की प्रवृत्तियों को एक ही वर्ग में रख दिया है। मनुष्य में कुछ प्रवृत्तियाँ सुखात्मक होती हैं और कुछ आदर्शात्मक। अपने शरीर की रक्षा अथवा उसके सुख से सम्बन्ध रखनेवाली प्रवृत्तियाँ एक प्रकार की होती हैं और आदर्शात्मक प्रवृत्तियाँ दूसरे प्रकार की। मार्टीनो महाशय ने चतुराई और विवेक के भेद को स्पष्ट नहीं किया। चतुराई सुख-प्राप्ति का साधन होता है और विवेक शीलता नैतिक आदर्श प्राप्ति का। मनुष्य में चतुराई का आना स्वाभाविक है; यह प्राकृतिक रूप से आती है किन्तु नैतिकता के लिए मनुष्य को अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करना पड़ता है। यह सामान्य प्रकृति के प्रतिकूल आचरण करने से आती है। चतुराई की वृद्धि के लिये त्याग और तपस्या की आवश्यकता नहीं होती पर त्याग और तपस्या के बिना नैतिकता का विकास सम्भव नहीं। नैतिकता का उदय महान् प्रयत्न का परिणाम है। नैतिकता का विकास विचार अथवा विवेक के विकास के साथ-साथ होता है। बिना विचार और विवेक के

उत्पन्न हुये नैतिक आचरण सम्भव नहीं। अतएव नैतिक भावों को जन्मजात नहीं कहा जा सकता। नैतिक भाव अभ्यास का परिणाम है। मार्टीनो महाशय ने जिस प्रकार अन्य कार्यस्रोतों को जन्मजात बताया है, उसी प्रकार नैतिक भावों को जन्मजात बताकर, नीति शास्त्र की दृष्टि से एक बडी भूल की है। मनुष्य जन्म से सद्गुणी नहीं होता, वह प्रयत्न से अपने आपको सद्गुणी बनाता है।

मार्टीनो महाशय ने उक्त कार्यस्रोतों को फिर तेरह भागों में बाँटा है, और नैतिकता की दृष्टि से एक के बाद एक को उनकी बुराई और भलाई के अनुसार रखा है। यह वर्गीकरण नैतिक मापदण्ड से सम्बन्ध रखता है, अतएव इसका उल्लेख तथा उसकी आलोचना हम उचित स्थान पर करेंगे।

प्रश्न

१. मनोवैज्ञानिक सुखवाद क्या है ? अपने विचार के समर्थन के लिये वेन्थम महाशय ने कौन से प्रमाण दिये हैं ? उनकी युक्तियों की समालोचना कीजिये।

२. मिल महाशय ने अपनी पुस्तक 'यूट लिटेरियनिज़्म' में मनोवैज्ञानिक सुखवाद के समर्थन में कौन-कौन से प्रमाण दिये हैं ? इनकी समुचित समालोचना कीजिये।

३. सुख और आत्मसतोष में क्या भेद है ? विचारजन्य सुख की विशेषता बताइये।

४ मनुष्य के कार्य के हेतुओं की विशेषता क्या है ? मनुष्य दूसरे के सुख की वृद्धि के लिये किस कारण से प्रेरित होता है ?

५ सोक्रिटीज़ महाशय के इस कथन की समालोचना कीजिये कि ज्ञान ही सत्गुण है ' क्या यह कहना सत्य है कि मनुष्य अपनी क्रियाओं में सदा अपने विवेक से ही प्रेरित होता है ? मनुष्य के कार्य के हेतुओं में विचार का क्या स्थान है ?

६ मार्टिनो महाशय के कार्यस्रोत की कल्पना के सिद्धान्त को स्पष्ट समझाइये। क्या यह कहना सत्य है कि नैतिक आचरण उच्च कोटि के कार्यस्रोत का परिणाम है ?

पाँचवाँ प्रकरण

नैतिक उत्तरदायित्व[1]

नैतिक उत्तरदायित्व का आधार[2]—नीतिशास्त्र की एक पूर्व मान्यता नैतिक उत्तरदायित्व है। नैतिक जिम्मेदारी की संभावना न रहने पर नैतिकता पर विचार करना व्यर्थ हो जाता है। मनुष्य में नैतिक उत्तरदायित्व स्वतंत्र इच्छाशक्ति के साथ-साथ आता है। जिस मनुष्य में अपने आप स्वतन्त्र सोचने की शक्ति है, और जो मनुष्य अपने कर्तव्य को समझ सकता है, उसके ऊपर ही किसी प्रकार का नैतिक उत्तरदायित्व आता है। यदि हम मनुष्य के आचरण को किसी बाहरी सत्ता के ऊपर निर्भर मान लें अथवा मनुष्य के चरित्र को वातावरण का परिणाम मात्र मान लें तो नैतिक उत्तरदायित्व की भित्ति ही गिर जाती है।

ईश्वरवादी विचार[3] की कठिनाई—ईश्वरवादी विचार में नैतिक उत्तरदायित्व का प्रश्न जटिल हो जाता है। ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है। वह हमारे विचारों को जानता है, और हमारे मन में किसी भी प्रकार के काम करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। वह सृष्टि के लक्ष्य को भी जानता है और उस लक्ष्य के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति में किसी काम के करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। अतएव कोई काम भला हो अथवा बुरा इसकी जिम्मेदारी मनुष्य के ऊपर नहीं ईश्वर के ही ऊपर है। ईश्वर सर्व शक्तिमान है, अतएव वह बुरे मनुष्य को बुराई करने से रोक सकता है। फिर उसके होते हुए भी यदि कोई मनुष्य बुरा आचरण करता है तो वह ईश्वर की ही भूल है। इस भूल के लिये उसे न मनुष्य को जिम्मेदार करना चाहिए, और न इसके लिये उसे दण्ड देना चाहिए।

---

1 Moral responsibility 2. Basis of moral responsibility
3. Theism.

कई एक लोगों का कहना है कि ईश्वर जो कुछ करता है, भले के लिये करता है, ईश्वर से भूल हो ही नहीं सकती। यदि इस विचार को ठीक मान लिया जाय, तो नैतिक और अनैतिक आचरण एक ही कोटि के हो जायेंगे। फिर न सत के काम स्तुत्य माने जायँगे, और न दुराचारी के काम निन्द्य। सभी कामों को भला मानने पर नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न उठता ही नहीं।

स्पैनोजा महाशय का कथन है कि ईश्वर सर्वव्यापी है, और ससार के सभी भले बुरे काम ईश्वर ही करता है। मनुष्य की सच्ची स्वतन्त्रता अपने आपको ईश्वर के ऊपर छोड़ देने मे है। मनुष्य वास्तव मे स्वतन्त्र न होकर अपने आपको स्वतन्त्र मान बैठा है। यही भ्रम उसके दु:खों का कारण है। मनुष्य के दु:ख और उसकी स्वतन्त्रता दोनों ही कल्पित वस्तुयें हैं। एक झूठी कल्पना दूसरी कल्पना का कारण बन जाती है। मनुष्य अपने आपको स्वतन्त्र मानता है, अतएव उसे अपने आपको भले और बुरे कामों के लिये जिम्मेदार भी मानना पड़ता है। इसके कारण ही उसे दुःख और सुख होते हैं। जब मनुष्य परमात्मा मे अपना एकत्व समझ लेता है, तो वह समझ जाता है कि सभी काम ईश्वर की इच्छा से ही होते हैं, वह स्वयं कुछ भी नहीं करता। इस मानसिक स्थिति में पहुँचने पर किसी प्रकार की नैतिक जिम्मेदारी नहीं रहती। अतएव ऐसी स्थिति मे नीति-शास्त्र की आवश्यकता ही नहीं रहती। जो कठिनाई स्पैनोज़ा के विचार मे आती है, वह भारतवर्ष के वेदान्त-विचार में आती है।

समाजवादी विचार की कठिनाई—ईश्वरवादी विचार पुराना विचार है, और समाजवादी विचार नया विचार है। पर जिस प्रकार की नैतिक जिम्मेदारी की कठिनाई ईश्वरवादी विचार में आती है, उसी प्रकार की कठिनाई समाजवादी विचार में भी आती है। समाजवादी विचार मनुष्य के व्यक्तित्व के बनने मे सामाजिक वातावरण को ही प्रधान मानता है। मनुष्य का चरित्र उसकी कुछ जन्मजात प्रवृत्तियों और वातावरण के नैतिक सस्कारों पर निर्भर है। यह कहना सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आचरण मे स्वतन्त्र है, पर यह स्वतन्त्रता भ्रामक है। जब मनुष्य का व्यक्तित्व ही किसी दूसरी सत्ता के ऊपर निर्भर है, तो उसे हम अपने कार्यों के लिये कैसे स्वतन्त्र मान सकते हैं, और उसके ऊपर कोई नैतिक जिम्मेदारी कैसे डाल सकते हैं? वशानुक्रम और वातावरण ही

मनुष्य के व्यक्तित्व का बनाते हैं और ये दोनों ही उसकी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर नहीं करते। यदि किसी मनुष्य में कम बुद्धि है अथवा वह लंगड़ा है, तो यह उसका दोष नहीं; यह दोष जन्मजात है। पर इसके कारण उसके चरित्र का विकास निर्धारित कर दिया जाता है। यदि किसी बालक का प्रारम्भ से दूषित वातावरण में रख दिया जाता है और इसके कारण वह चोर, व्यभिचारी अथवा अत्याचारी बन जाता है; तो इसमें दोष समाज का है न कि उस बालक का।

इन कठिनाइयों का हल करने के लिये हमें मनुष्य के स्वभाव और समाज के साथ उसके सम्बन्ध पर विचार करना पड़ता है। मनुष्य न तो ईश्वर के समान सर्वशक्तिमान है, और न वह निरा पशु ही है। मनुष्य प्रयत्न के द्वारा अपने आपको सुधार सकता है। उससे भूलें होती हैं, पर वह भूलों से शिक्षा ग्रहण करके भले मार्ग का अनुसरण कर सकता है। यदि मनुष्य पशु होता, तो उसमें अपने आपको सुधारने की योग्यता का मानना युक्ति-संगत न होता। पशु को न तो भले-बुरे का ज्ञान है, और न उसे किसी प्रकार का नैतिक जिम्मेदारी का ही है। जो मनुष्य उचित अनुचेत के विषय में सोच सकता है, जिसे भले बुरे का ज्ञान होता है उसी के विषय में नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न आता है। मनुष्य के सामने भले और बुरे आदर्श रहते हैं; वह इन आदर्शों को जान सकता है और बुरे आदर्शों को छोड़कर भले आदर्शों को ग्रहण कर सकता है। उसकी जन्मजात योग्यताएँ चाहे जो हों और उसका वातावरण चाहे जैसा हो उसकी नैतिक उन्नति के लिये सदा अवसर रहता है। बायरन स्वभाव लंगड़ा था पर उसका लँगड़ापन ही उसे महान् बनने की प्रेरणा पैदा करने वाला बन गया। अष्टावक्र जन्म से आठ जगह से टेढ़े थे परन्तु उनका टेढ़ापन उनके आध्यात्मिक विकास में बाधा न डाल सका बरन् उनका शारीरिक दोष ही उनमें दार्शनिक प्रतिभा के विकास का कारण हुआ।

समाज के साथ हमें बुरा अथवा भला तब तक कहेंगे, जब तक हम में अपनी योग्यताओं अथवा सुविधाओं का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करने की शक्ति है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपनी योग्यता को भले-से भले काम में लगावे। उसमें अपनी जन्मजात कमियों से मुक्त होने की शक्ति न हो परन्तु वह इन कमियों को अपने नैतिक विकास में बाधक बनने से रोक सकता है। इसी

प्रकार वह अपनी योग्यताओं को ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक आदर्श की प्राप्ति में लगा सकता है, अथवा उन्हें व्यर्थ खो सकता है। जब तक मनुष्य में यह शक्ति है, तभी तक उसे अपने कृत्यों की नैतिक जिम्मेदारी को तात्त्विक वस्तु मानना ठीक है। जेम्स० एस० मकेन्जी महाशय का यह कथन सर्वथा सार्थक है, कि मनुष्य की नैतिक उन्नति में बाधक अपने आपको छोड़कर कोई दूसरा वस्तु नहीं है, और वह अपने आपके विषय में यह नहीं कह सकता कि मैं अपने आपको बदलने में असमर्थ हूँ। वह पशुओं के समान प्राकृतिक परिस्थितियों का परिणाम मात्र नहीं है, वरन् जैसा उसने अपने आपको बनाया है, वह वैसा ही है।

जहाँ तक मनुष्य का ईश्वर से सम्बन्ध है, वहाँ तक उसकी जिम्मेदारी दूसरे प्रकार की ही होती है। समाज के प्रति नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न तो सामान्य विचार के द्वारा हल किया जा सकता है। ईश्वर के प्रति नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न तत्त्व-विज्ञान का प्रश्न है, और इस प्रश्न को हल करने के लिये तत्त्व-निरूपण की आवश्यकता होती है। सामाजिक काम करते समय अपने आपको स्वतन्त्र मानना आवश्यक है। तभी मनुष्य अपने आपको समाज की स्तुति और निन्दा का अधिकारी बनाता है। नैतिक पूर्णता अपने आप प्रयत्न करने से आती है। इस प्रयत्न की योग्यता मनुष्य में है, और ऐसे प्रयत्न की प्रेरणा की अनुभूति भी उसे होती है। जब तक मनुष्य अपने आप में पुरुषार्थ की प्रेरणा पाता है, तभी तक उसमें अपने आचरण के लिये नैतिक जिम्मेदारी भी है।

जब हम मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी में ईश्वर का प्रश्न ले आते हैं, तो हम नैतिक प्रश्न का आध्यात्मिक प्रश्न के साथ मिश्रण कर देते हैं। यह सम्भव है कि मनुष्य की नैतिक पूर्णता के लिये अपने आपको स्वतन्त्र मानना आवश्यक हो, और उसकी आध्यात्मिक पूर्णता के लिये अपने आपको ईश्वर की इच्छा पर निर्भर रहना अथवा सभी काम को भला काम मानना आवश्यक हो। जहाँ तक उसके आचरण का समाज से सम्बन्ध रहता है, वहीं तक नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न आता है। जब उसके आचरण का सम्बन्ध ईश्वर से हो जाता है, अर्थात् जब वह अन्तर्मुखी हो जाता है, और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करना ही उसके जीवन का मुख्य ध्येय हो जाता है, तो वह नैतिकता के स्तर से ऊँचा उठ जाता है। यहाँ नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न आता ही नहीं। उसके आचरण का

ध्येय फिर आध्यात्मिक शुद्धि मात्र रह जाता है। वह फिर सब प्रकार की व्यक्तिगत सफलता के प्रति उदासीन हो जाता है।

प्रश्न

१ नैतिक उत्तरदायित्व का आधार क्या है? यदि हम ईश्वर को सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान मानें तो मनुष्य के नैतिक उत्तरदायित्व पर इस विचार का क्या प्रभाव पड़ता है?

२ यदि हम मनुष्य के व्यक्तित्व को सामाजिक वातावरण का परिणाम मानें, तो उसके नैतिक उत्तरदायित्व को कहाँ तक युक्ति संगत माना जा सकता है?

३ मनुष्य के द्वारा अपने कार्यों का नैतिक उत्तरदायित्व किस स्थिति में नहीं होता? उदाहरण देकर स्पष्ट समझाइये।

छठाँ प्रकरण

नैतिक आचरण और विचार का विकास

आचरण की विभिन्न अवस्थाएँ—पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य के आचरण और पशुओं के आचरण में मौलिक भेद है। पशु के आचरण के विषय में नैतिक सज्ञाओं का प्रयोग नहीं होता, किन्तु मनुष्यों के आचरण के विषय मे इनका प्रयोग होता है। मनुष्य भले और बुरे का विचार करता है, किन्तु पशुओं में विचार करने की शक्ति नहीं है। जो मनुष्य जितना ही सभ्य होता है, वह उतना ही अपने प्रत्येक कार्य की भलाई और बुराई के विषय मे विचार करता है। पर अपने आचरण की भलाई और बुराई, औचित्य और अनौचित्य के विषय में विचार करना मनुष्य में धीरे-धीरे आता है, अतएव पहले पहल उसका आचरण विचार की परिपक्वता को नहीं दर्शाता।

नैतिकता की दृष्टि से मनुष्यों के आचरण के विकास की निम्नलिखित तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं—

(१) रीति-पथ-प्रदर्शन[1],

(२) नियम पथ-प्रदर्शन[2],

(३) विचार पथ प्रदर्शन[3]।

रीति पथ प्रदर्शन—मानव-समाज मे प्रारम्भ से ही कुछ रीतियाँ चली आई है। सामान्य मनुष्य इन्हीं रीतियों को देख कर चलता है। निम्न स्तर के मनुष्यों को इन रीतियों का भी ठीक से ज्ञान नहीं रहता, दूसरे लोग जैसा करते है, वे उसी के अनुसार काम करते रहते हैं। उनके आचरण मे निर्देश और

---

1 Guidance of custom 2 Guidance of law 3. Guidance of reason.

अनुकरण की प्रधानता रहती है। वे इतना ही देखते हैं, कि दूसरे लोग क्या कर रहे हैं। विचार की सर्वथा अविकसित अवस्था मे साधारण मनुष्य आस-पास के बड़े समझे जानेवाले लोगों का अन्धानुकरण करता रहता है। इस प्रकार जो काम प्रतिष्ठित अथवा शक्तिशाली लोग करते हैं, उसे ठीक मान लिया जाता है।

इस मानसिक अवस्था से उच्च कोटि की अवस्था वह है, जिसमें मनुष्य समाज की परंपराओं और रीतियों को मानने की चेष्टा करता है। और उन रीतियों के अनुसार अपने आचरण को बनाता है। इस प्रकार वह एक अनिश्चित अवस्था को छोड़ एक निश्चित नियम का पालन करने लगता है।

नियम पथ प्रदर्शन—आचरण के विकास की दूसरी अवस्था में मनुष्य किसी नियम को अपना पथ प्रदर्शक बना लेता है। रीतियों का कभी-कभी आपस में विरोध होता है। दो विरोधी रीतियों मे जब उसे किसी एक को चुनना पड़ता है, तो उसे नियम की आवश्यकता होती है। विकसित अवस्था मे समाज में भी नियमों की प्रधानता होती है। वे नियम राजनैतिक अथवा धार्मिक नियम होते हैं। समाज के रीति रिवाजों के पालन करने मे मनुष्य अपने आप में उस बाध्यता का अनुभव नहीं करता जो किसी नियम के पालन करने मे करता है। अतएव जब मनुष्य अपने आचरण को नियम के अनुसार बना लेता है तो वह परस्पर विरोधी आचरण नहीं करता। नियम के पालन करने से वह समाज की भली रीतियों को बली बनाता है और बुरी रीतियों का अन्त कर डालता है।

विचार-पथ प्रदर्शन—आचरण की सब से अधिक विकसित अवस्था विचार के द्वारा अपने आचरण का सञ्चालन करना है। यह अवस्था नियमों के बन जाने पर अपने आप आ जाती है। जब समाज के भाव नियम का रूप धारण कर लेते हैं तो कई प्रकार के विरोध उत्पन्न हो जाते हैं। नियमों का पहला विरोध रीति रिवाजों से ही होता है। फिर प्रश्न आता है कि रीति-रिवाजों को मानें अथवा नियमों का पालन करें? भारतवर्ष में बाल विवाह की प्रथा चली आई है। जब इसके विरुद्ध राज्य का नियम बन जाता है तो स्वतन्त्र विचार करने के लिये सामग्री उपस्थित हो जाती है। फिर सोचा जाने लगता है कि पुरानी रीति को मानना उचित है अथवा राज्य के नियम को।

जिस प्रकार पुरानी रीति से किसी नियम का विरोध होता है, उसी प्रकार

दो नियमों का भी आपस मे विरोध हो जाता है। कोई भी ऐसा नियम नहीं है, जो सभी परिस्थितियों मे एक ही तरह से लागू हो सके। ऐसी अवस्था में मनुष्य को अपने आप सोच कर अपना मार्ग निकालना पड़ता है। विकसित आचरण उस व्यक्ति का है, जो अपने प्रत्येक काम में उचितानुचित स्वतन्त्र विचार से काम लेता है। जिस व्यक्ति में स्वतन्त्र सोचने की और अपने स्वतन्त्र विचार के अनुसार काम करने की योग्यता है, वही सभ्य मनुष्य है। सर्वोत्तम आचरण अपने बनाये सिद्धान्तो के अनुसार आचरण है।

आचरण और विचार—मनुष्य के साधारण आचरण मे उपर्युक्त तीनों प्रकार के पथ-प्रदर्शन काम करते है। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो अपने प्रत्येक काम को करते समय सिद्धान्तों का विचार करे। हम जिन विचारों के अनुसार काम करते हैं, उनमे से कुछ नैतिकता के विषय मे चिन्तन करने से आते हैं, कुछ अपने व्यक्तिगत अनुभव और कुछ सामाजिक अनुभव के ऊपर आधारित रहते हैं, अर्थात् हम अपने प्रति-दिन के आचरण मे सामाजिक रीतियों, समाज और राज्य के नियमों तथा अपने स्वतन्त्र नैतिक विचार से काम लेते हैं।

नैतिक विचार[1] और नैतिकता के विचार[2]—नैतिक आचरण का आधार नैतिक विचार होते हैं, और नैतिक आचरण से नैतिक विचार परिपक्व होते है, किन्तु नैतिकता के विचारों का सीधा सम्बन्ध नैतिक आचरण से नहीं है। नैतिक विचार व्यावहारिक विचार हैं, और नैतिकता के विचार दार्शनिक है। यह सम्भव है कि किसी मनुष्य को पर्याप्त नैतिक विचार ज्ञात हों, पर उसे नैतिकता के विचारों का ज्ञान न हो। समाज का सामान्य व्यक्ति यह जानता है कि उसे चोरी, व्यभिचार, चुगली, हिंसा आदि न करना चाहिए। ये सब विचार नैतिक विचार हैं। ये विचार उसके आचरण को प्रभावित करते हैं। पर यदि उससे यह पूछा जाय कि उसे इन बातो को क्यों न करना चाहिए, तो वह प्राय इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर न दे सकेगा। सभवत उसने इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया होगा। हम समाज से नैतिक विचारों को प्राय. उसी प्रकार ले लेते है, जिस प्रकार हम अपने कपड़े पहनने और भोजन करने के ढग को लेते हैं। समाज मे कुछ

---

1 Moral ideals, 2. Ideals about morality

बातें भली, और कुछ बुरी मानी जाती हैं; इन बातों को हम भी भली अथवा बुरी मानने लगते हैं। समाज में भली समझी जाने वाली कोई बात भली क्यों है, और बुरी समझी जाने वाली कोई बात बुरी क्यों है, यह कोई दार्शनिक ही सोचता है।

जब समाज में प्रचलित नैतिक विचारों की नैतिकता पर विचार किया जाने लगता है, तो नीति-शास्त्र के अनेक प्रकार के वादों की सृष्टि होती है। झूठ बोलना अथवा चोरी करना क्यों बुरा है, इस प्रश्न का उत्तर स्वस्ति अनुभूतिवादी एक तरह से देगा, सुखवादी दूसरी तरह से और विवेकवादी तीसरी तरह से देगा। विलियम लुन्ड महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि प्रायः सभी मनुष्य नैतिक विचारों के बारे में सहमत होते हैं, परन्तु नैतिकता के विचारों में उनकी राय बहुत कम मिलती है।

नैतिक विचार[1] की विधि का विकास

सामाजिकता के भावों की वृद्धि—जिस प्रकार मनुष्य के आचरण का विकास धीरे धीरे हुआ है, उसी प्रकार अपने कार्यों की नैतिकता पर विचार करने की शक्ति भी उसमें धीरे-धीरे आई है। जैसा पहले कहा जा चुका है, मनुष्य पहले नैतिक आचरण करना सीखता है, पीछे उसमें नैतिक विचार करने की योग्यता आती है। मनुष्य जब समाज में आता है, तो वह समाज के साथ अपना ऐक्य स्थापित कर लेता है। फिर जो कुछ कार्य समाज के कल्याण के लिये होते हैं, उन्हें वह अनायास करता है। समाज के कल्याण के भाव ही उसकी अन्तरात्मा की आवाज बन जाते हैं। समाज के हित के लिये आचरण करने से उसे आत्म सन्तोष प्राप्त होता है, और उसके प्रतिकूल आचरण करने से उसे आत्म भर्त्सना होती है। इस समय मनुष्य में नैतिक निर्णय करने की शक्ति नहीं होती, उसे किसी कार्य की नैतिकता के माप दण्ड का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, पर उसके सामाजिक भाव ही उससे नैतिक आचरण कराते हैं।

सामाजिक रीति का माप दण्ड—सामाजिक रीतियों को नैतिकता का माप दण्ड मान लेना नैतिक विचार के विकास की दूसरी अवस्था होती है। इस

1 Moral judgment.

स्थिति मे जो बात समाज की परम्परा में चली आई है, उसे ठीक मान लिया जाता है, और सामाजिक रूढ़ियों के द्वारा अपने कार्यों की नैतिकता मापी जाती है। इस अवस्था मे नैतिकता के प्रति उतनी दृढता का भाव नहीं रहता, जितना पीछे आता है। पहले तो समाज की रीतियाँ बदलती रहती हैं, और दूसरे समाज मनुष्य के बाहरी आचरण को ही देखता है। इसके कारण मनुष्य उतनी ही दूर तक अपने आपको नैतिक बनाने की चेष्टा करता है, जहाँ तक समाज उसके ऊपर अप्रसन्न न हो। सामाजिक रीतियों का माप दण्ड सन्तोषजनक नहीं होता। इसमें नियमों की अस्पष्टता रहती है, और इसके कारण नैतिक जीवन ढीला रहता है। अतएव मनुष्य को किसी दूसरे माप दण्ड की आवश्यकता पड़ती है।

राज्य-नियम का माप-दण्ड—रीतियों के माप-दण्ड का स्थान राज्य नियम ले लेते है। राज्य के नियम बधे रहते हैं। ये वैसे ढीले नहीं होते, जैसे सामाजिक रीति रिवाज होते है, अतएव राज्य-नियम का माप-दण्ड चिन्तनशील व्यक्ति को अधिक सन्तोष देता है। इन नियमों के पालन करने से मनुष्य समाज मे आदर पाता है, और इनकी अवहेलना करने से वह समाज के द्वारा दण्डित होता है। इस प्रकार अपराध और फिर पाप की कल्पनाओं का जन्म होता है।

नैतिक नियम का माप दण्ड—राज्य का नियम मनुष्य की बाहरी क्रियाओं से ही सम्बन्ध रखता है, वह मनुष्य की क्रिया के हेतु, सकल्प और उसके चरित्र पर विचार नहीं करता। इस दृष्टि से उक्त माप-दण्ड वास्तव मे नैतिक माप-दण्ड नहीं है। सच्चा नैतिक माप-दण्ड मनुष्य के आन्तरिक भावों, हेतुओं और सकल्पों से सम्बन्धित रहता है। बुरा आचरण ही नैतिकता की दृष्टि से बुरा नहीं है, वरन् मन मे बुरा विचार लाना भी बुरा है।

नैतिक नियम प्राय. किसी धर्मोपदेशक की शिक्षा के रूप में मिलता है। इस प्रकार ससार के प्रत्येक धर्म में अनेक नैतिक नियम पाये जाते हैं। इनके अनुसार आचरण करना मनुष्य के आध्यात्मिक कल्याण के लिये भला होता है।

जब नैतिक नियमों की सृष्टि हो जाती है, तो इन नियमों का राज्य नियम और सामाजिक रीतियों से विरोध होने लगता है। इस प्रकार मनुष्य के सामने धर्म-सकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मानव समाज की अविकसित अवस्था में धर्म-सकट की जो परिस्थितियाँ नहीं रहतीं, वे समाज की विकसित अवस्था में

उत्पन्न होती है। धर्म संकट उसी व्यक्ति के सामने आता है जिसमें सोचने की शक्ति प्रबल है। साधारण लोग न तो नैतिक सिद्धान्त और सामाजिक रीतियों के विरोध को देख सकते हैं और न एक नैतिक सिद्धान्त का दूसरे सिद्धान्त से विरोध देख सकते हैं। जब मनुष्य में इस विरोध के देखने की शक्ति आती है तो वह बाह्य सत्ता के नैतिक नियम से संतुष्ट न रहकर आन्तरिक नैतिक नियम की खोज करता है। इस प्रकार वह एक नये मापदण्ड का आविष्कार करता है।

अन्तर्ध्वनि का मापदण्ड—अन्तर्ध्वनि के मापदण्ड का आविष्कार नैतिक नियमों में आपस का विरोध अथवा नैतिक नियम का राज्य-नियम से विरोध देखने का परिणाम है। जब लोकमत और शास्त्रमत में स्पष्ट अथवा पारस्परिक विरोध हो तो मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा की शरण लेनी पड़ती है। मनुष्य को किसी विशेष परिस्थिति में क्या करना चाहिए, यह अन्तरात्मा की आवाज से ज्ञात होता है।

विवेकात्मक विचार—पर दूरदर्शी को थोड़े ही समय में इस सिद्धान्त की कमी ज्ञात हो जाती है। अन्तरात्मा की आवाज हर समय स्पष्ट नहीं रहती। एक ही परिस्थिति में मनुष्य कभी एक प्रकार का आदेश अन्तरात्मा से पाता है और कभी दूसरे प्रकार का। उसे कभी-कभी स्वीकार करना पड़ता है कि उसने अन्तरात्मा की आवाज सुनने में भूल की। मनुष्य के राग द्वेष ही उसे कभी एक तरह के आचरण के लिये प्रेरित करते हैं, और कभी दूसरे तरह के आचरण के लिये। इस प्रकार मनुष्य अपने आपको एक प्रकार की भूल भुलैया में पड़ा हुआ देखता है। इस भूल भुलैया से निकलने के लिये उसे विश्लेषणात्मक आध्यात्मिक विचार की शरण लेनी पड़ती है। उसे फिर मानना पड़ता है कि नैतिकता का मापदण्ड वैयक्तिक विचार अथवा भावना नहीं हो सकती। नैतिकता का मापदण्ड कोई व्यापक नियम ही हो सकता है। वह विवेकयुक्त नियम है। हमारा विवेक बताता है कि हमें न केवल अपनी अन्तरात्मा की आवाज का आदर करना चाहिये वरन् दूसरे लोगों की अन्तरात्मा की आवाज का भी आदर करना चाहिये। यही नैतिक मापदण्ड सच्चा नैतिक मापदण्ड है जिसे कोई भी व्यक्ति अपने आचरण की नैतिकता को जानने में काम में ला सके। सच्चा नैतिक

मापदण्ड सभी मनुष्यों को सभी परिस्थितियों में आचरण की नैतिकता को जानने में सहायता देता है।

नैतिक विचार के विकास के लक्षण—नैतिक विचार का विकास निम्नलिखित तीन प्रकारों से होता है—

(१) नैतिक विचार सामाजिक रीतियों से प्रारम्भ होकर किसी नियम की ओर जाता है, और फिर स्वतन्त्र सिद्धान्त की ओर जाता है।

(२) नैतिक विचार बाहरी आचरण पर प्रारम्भ होकर भीतरी हेतुओं और चरित्र के ऊपर जाता है।

(३) नैतिक विचार वर्ग विशेष में प्रचलित विचारों से प्रारम्भ होकर ऐसे विचारों की ओर जाता है, जिनकी उपयोगिता मानव-समाज भर के लिये है।

प्रश्न

१ नैतिक आचरण के विकास को स्पष्टत समझाइये। नैतिक आचरण के विकास में नियम-प्रथपदर्शन की अवस्था का क्या स्थान है।

२ आचरण और विचार का क्या सम्बन्ध है ? क्या यह कहना सच है कि मनुष्य के विचार के विकास के साथ-साथ आचरण का भी विकास होता है ?

३. नैतिक विचार और नैतिकता के विचार में क्या भेद है ? मनुष्य में नैतिकता के विचार कब आते हैं ?

४ नैतिक विचार के विकास के लक्ष्य क्या हैं ? उसकी प्रगति किस प्रकार होती है।

सातवाँ प्रकरण

नैतिक विचार का विषय[1]

नैतिक विचार के दो प्रश्न—नैतिक विचार मनुष्य के आचरण की भलाई अथवा बुराई से सम्बन्ध रखता है। किसी आचरण को भला अथवा बुरा कहते समय हमें दो प्रकार की बातों को सोचना पड़ता है—

(१) नैतिक विचार किसके ऊपर किया जाता है, अर्थात् उसका वास्तविक विषय क्या है?

(२) नैतिक विचार कौन करता है अर्थात् उसका मापदण्ड क्या है?

पहले प्रश्न के बारे में विभिन्न प्रकार के उत्तर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने दिए हैं, इसी तरह दूसरे प्रश्न के भी अनेक उत्तर दिये गये हैं। इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर जानने के लिये हमें विभिन्न प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों को जानना होगा। इस प्रकरण में हम पहले प्रश्न पर ही विचार करेंगे।

विचार का विषय इच्छित कार्य[2]—साधारणतः यह कहा जा सकता है कि नैतिक विचार का विषय मनुष्य का इच्छित कार्य होता है। नीति-शास्त्र का ध्येय मनुष्य की इच्छाशक्ति को ठीक मार्ग पर लगाना है अतएव हमारे नैतिक विचार का विषय मनुष्य की इच्छाशक्ति ही होती है। जो काम मनुष्य स्वतन्त्र इच्छा से करता है वही नैतिक विचार का विषय बन सकता है जो काम वह अनिच्छा से अथवा बाध्य होकर करता है, उसे भला अथवा बुरा नहीं कहा जा सकता। जो काम किसी मनुष्य के द्वारा अकस्मात् हो जाता है उसे न तो भला और न बुरा ही कहा जाता है। मान लीजिए कि कोई डाक्टर रोगी के कल्याण

---

1 Object of moral judgment. 2. Voluntary action.

के लिये कोई इन्जेक्शन देता है, पर इससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो हम इस काम को बुरा नहीं कहते। यदि रोगी की मृत्यु डाक्टर की असावधानी से हुई, तो हम डाक्टर को कुछ दूर तक दोषी ठहराते हैं, परन्तु यदि डाक्टर ने जानबूझ कर रोगी के मारने के लिये ही उसे विशेष प्रकार का इन्जेक्शन दिया हो, तो हम उसे नैतिक दृष्टि से दोषी समझते हैं, उसे हम हत्यारा कहते है।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि उसी काम पर नैतिक विचार किया जाता है, जिसके बारे में मनुष्य पहले से सोचता है और जिसे करने की वह स्वयं इच्छा करता है। कभी-कभी मनुष्य की इच्छा भली होती है, पर कार्य-फल भला नहीं होता। ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट होता है। परन्तु नैतिक विचार करते समय हमें मनुष्य के कार्य के फल को न देख कर कार्य के कारण को ही देखना पड़ता है। नैतिकता की दृष्टि से मनुष्य का वास्तविक कार्य आन्तरिक कार्य है। कार्य फल उसके हाथ की बात नहीं है। यह कभी भला होता है, कभी बुरा।

हेतु और संकल्प (ईप्सा) का स्थान—नीति-शास्त्र के सभी विद्वानों का इस बात पर एक ही मत है कि किसी कार्य का नैतिक मूल्य उसके फल के ऊपर निर्भर नहीं वरन् उन विचारों और भावों के ऊपर निर्भर है, जो कार्य के प्रेरक होते है। परन्तु कार्य के आन्तरिक पहलू भी अनेक हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार कार्य की नैतिकता उसके प्रेरक भावों के ऊपर निर्भर है, कुछ के अनुसार कार्य की नैतिकता कार्य के संकल्प के ऊपर निर्भर है और कुछ के अनुसार कार्य के हेतु के ऊपर यह निर्भर करती है। अन्त अनुभूतिवादियों के अनुसार कार्य के प्रेरक वे भाव हैं, जिन्हें डा० मार्टीनो ने कार्य-स्रोत कहा है। इन्हीं पर कार्य की नैतिकता निर्भर करती है। मिल महाशय के कथनानुसार कार्य की नैतिकता कार्य के संकल्प (ईप्सा) के ऊपर निर्भर है, और आदर्शवादियों के अनुसार इसकी नैतिकता उसके हेतु के ऊपर निर्भर करती है।

इन विभिन्न प्रकार के दृष्टि-विन्दुओं को दो एक उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

मान लीजिए कि रामनाथ, अमृतलाल को किसी कारण-वश गाली दे उठता

है। यह एक साधारण सी घटना है। किन्तु यदि नैतिक विचार की दृष्टि से देखा जाय तो हम इसमें पर्याप्त चिन्तन की सामग्री पावेंगे। हम रामनाथ को अमृतलाल को गाली देने के कारण कहाँ तक दोषी ठहरा सकते हैं। इसके जानने के लिये हमें इस घटना को एक अकस्मात् घटना नहीं मानना पड़ेगा। इस घटना के पीछे रामनाथ का अमृतलाल से सम्बन्ध उसके इस कार्य के हेतु[1] और संकल्प[2] (इच्छा) तथा रामनाथ के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर विचार करना पड़ेगा। जो काम एक परिस्थिति में क्षम्य माना जाता है, वही दूसरी परिस्थिति में अक्षम्य होता है। नैतिकता में जिस परिस्थिति पर विचार करना पड़ता है वह बाह्य परिस्थिति नहीं वरन् आन्तरिक परिस्थिति होती है। संभव है कि रामनाथ ने क्रोध के आवेश में आकर गाली दी हो या संभव है उसने मनोरञ्जन के भाव से अथवा उसे धमकाने के लिये ही गाली दी हो। ये भाव कार्यों के प्रेरक माने जाते हैं। फिर गाली देने का हेतु अमृतलाल की भलाई का भाव अथवा उसका अपमान करना और उसे दूसरों की दृष्टि में गिराना भी हो सकता है। यदि उसका हेतु पहले प्रकार का है तो उसका काम नैतिक दृष्टि से निकृष्ट नहीं माना जायगा; और यदि उसके कार्य का हेतु दूसरे प्रकार का है, तो उसका कार्य निकृष्ट माना जायगा। किसी व्यक्ति को अनायास गाली दे उठना और सोचकर मना कर उसे गाली देना दो तरह की बातें हैं। गाली देने का विचार कार्य का संकल्प अथवा ईप्सा कहा जायगा। मनुष्य का जैसा संकल्प होता है, उसका कार्य भी वैसा ही होता है।

अन्तः अनुभूतिवादियों[3] का सिद्धान्त—इतना तो निश्चित है कि नैतिक विचार का विषय मनुष्य का बाहरी आचरण नहीं होता। अन्तः अनुभूतिवादियों के अनुसार नैतिकता के निर्णय में हमें कार्यों के स्रोत अथवा प्रेरकों पर विचार करना चाहिये। ये कार्य-स्रोत मनुष्य के विभिन्न प्रकार के भाव अथवा संवेग होते हैं। डा० मार्टीनो के कथनानुसार यदि किसी कार्य के प्रेरक भाव निम्न कोटि के हैं तो हमें उस कार्य को बुरा मानना चाहिये; और यदि वे उच्च कोटि के हैं, तो उसे हमें भला मानना चाहिये।

1 Motive. 2. Intention. 3 Intuitionists.

सुखवादियों का सिद्धान्त—उक्त सिद्धान्त के प्रतिकूल सुखवादियों का सिद्धान्त है। मिल महाशय के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के सभी प्रकार के भले अथवा बुरे कामों का प्रेरक एक ही तथ्य होता है—सुख की प्राप्ति, और दुःख से बचने की इच्छा। सत के काम इसी इच्छा से प्रेरित होते हैं, और अपराधी तथा पापी के भी कार्य इसी इच्छा से प्रेरित होते हैं। अतएव यदि कार्यों की नैतिकता केवल प्रेरकों की दृष्टि से ही निर्णीत की जाय, तो सभी कार्य एक ही कोटि के समझे जायेंगे। कार्यों के प्रेरकों को अनेक प्रकार का मानना, मिल महाशय के अनुसार, एक भारी मनोवैज्ञानिक भूल है। अतएव किसी कार्य-सम्बन्धी नैतिक विचार मनुष्य के सकल्प पर किया जाना चाहिये, क्योंकि ये भिन्न-भिन्न होते हैं।

आदर्शवादी सिद्धान्त—आदर्शवादी अथवा विवेकवादी विचार के अनुसार कार्य की नैतिकता का विचार करते समय न तो कार्य के प्रेरकों पर विचार करना उतना आवश्यक है, और न उसके सकल्पों पर। कार्य के हेतुओं पर ही विचार करना आवश्यक है, अर्थात् किसी काम को किस लिये किया जाता है, इस बात को जानना कार्य की नैतिकता को निश्चित करने के लिये आवश्यक है। कार्यों के प्रेरक भावों की नैतिकता भी कार्य के लक्ष्य के ऊपर निर्भर है। दूसरे व्यक्ति की भलाई की दृष्टि से, अथवा समाज के कल्याण-हेतु क्रोध का प्रदर्शन एक बात है, और उसके अकल्याण की दृष्टि से अथवा अपने स्वार्थ-साधन के हेतु क्रोध प्रदर्शन करना दूसरी बात है। मिल महाशय ने कार्य के केवल बाहरी पहलू पर ही विचार किया है। इसका कारण उनकी यह भ्रमपूर्ण मनोवैज्ञानिक धारणा थी कि सभी कार्यों का प्रेरक एक ही तथ्य होता है। वास्तव में कार्यों के प्रेरक अनेक होते हैं, और ये प्रेरक मनुष्य की विभिन्न प्रकार की इच्छायें होती हैं, न कि विभिन्न प्रकार के भाव अथवा उद्वेग। इच्छा का लक्ष्य ही कार्य का हेतु कहलाता है, अतएव कार्यों की नैतिकता पर विचार करते समय इस लक्ष्य को ही ध्यान में रखना पड़ता है। यदि यह लक्ष्य विवेक-युक्त है और सभी लोगों का उससे कल्याण होता है, तो इस लक्ष्य से ही जो कार्य किया जाता है, वही कार्य भला कहा जायगा, अन्यथा नहीं।

कानूनी[1] और नैतिक[2] दृष्टिकोण में भेद—जैसा पिछले प्रकरण में बताया जा चुका है कि कार्य का हेतु वह लक्ष्य है जिसको दृष्टि में रख कर कोई काम किया जाता है, और उसका संकल्प वह विचार है, जिसके द्वारा इस हेतु की प्राप्ति की जाती है। संकल्प कार्य के बाहरी रूप से सम्बन्ध रखता है, और हेतु कार्य की आत्मा है। कार्य के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये विशेष प्रकार के साधनों को काम में लाया जाता है। ये साधन कार्य के संकल्प बनते हैं। ये साधन कभी कभी भले दिखाई देते हैं और कभी बुरे। साधारण बुद्धि के लोग किसी काम की नैतिकता का मूल्य साधनों को देखकर आँकते हैं। मिल महाशय, तथा अन्य सुखवादी नीति शास्त्रज्ञों का भी यही दृष्टिकोण है। परन्तु यह दृष्टिकोण कानूनी दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण व्यवहार में उपयोगी दिखाई पड़ता है। कानून मनुष्य की बाहरी चेष्टाओं को देखकर ही उसको दोषी अथवा निर्दोष निश्चित करता है। कानून के लिए मनुष्य के आन्तरिक भावों अथवा हेतुओं को जानना अत्यन्त कठिन है। हम केवल अपने कार्यों के हेतुओं को ही ठीक से जान सकते हैं, दूसरे व्यक्ति के कार्यों के ठीक हेतु को जानना हमारे लिए असम्भव है। पर नैतिक विचार का मुख्य उद्देश्य दूसरे व्यक्ति के आचरण की नैतिकता जानना नहीं वरन् अपने ही कार्यों की नैतिकता जानना है। हम अपने आपको ही ठीक तरह से जान सकते हैं अर्थात् अपने वास्तविक हेतुओं का ज्ञान केवल कार्य करने वाले व्यक्ति को ही हो सकता है। नैतिकता आन्तरिक वस्तु है अतएव दूसरों के वास्तविक हेतु को न जान सकने के कारण इन कार्यों के हेतु को छोड़ हम उसके बाहरी रूप पर नैतिक विचार नहीं करने लग जायेंगे। हम अपने कर्मों के ऊपर ठीक से नैतिक विचार कर सकते हैं, इतना ही पर्याप्त है। कानूनी दृष्टि लौकिक दृष्टि है, और नैतिक दृष्टि आध्यात्मिक दृष्टि है। नैतिकता कार्य के बाहरी रूप से उतना सम्बन्ध नहीं रखती जितना वह उन विचारों से सम्बन्ध रखती है, जिनके कारण कोई काम किया जाता है।

जो काम कानूनी दृष्टि से अपराध समझे जाते हैं, वे ही यदि भले हेतुओं से प्रेरित होकर किये गये हैं, तो भले समझे जाते हैं। ब्रूटस ने रोम की स्वतन्त्रता के

---

1 Legal. 2. Moral

लिए रोम के अधिनायक जूलियस सीजर को मार डाला । कानूनी दृष्टि से ब्रूटस को जूलियस सीजर का हत्यारा कहा जायगा । उसका कार्य निन्द्य है। पर यदि नैतिक दृष्टि से देखा जाय, तो उसका कार्य क्षम्य ही नहीं, वरन् स्तुत्य है। यदि कोई व्यक्ति समस्त राष्ट्र के कल्याण के हेतु किसी विशेष व्यक्ति को मार डालता है, तो वह बुरा काम नहीं करता। जब ब्रूटस ने इस काम को जनता की पुकार मान कर किया, तो उसने अपना कर्तव्य ही किया, और अपना कर्तव्य करना ही नीति-शास्त्र सिखाता है। अपने कर्त्तव्य को पूरा करना ही चाहिए, चाहे इसके लिए लोक में निन्दा हो या स्तुति।

ब्रूटस ने जूलियस सीजर को रोम की स्वतन्त्रता के लिये मार डाला, पर जूलियस सीजर की हत्या का षड्यन्त्र कैशियस और कासका आदि लोगों ने किया था। ये लोग जूलियस सीजर से ईर्ष्या करते थे और उसकी बढ़ती हुई कीर्ति को सह नहीं सकते थे। जूलियस सीजर उनकी स्वार्थ-सिद्धि में बाधक था, अर्थात् वह उन्हें बढ़ने नहीं देता था, अतएव अपने मार्ग का कंटक हटाने के लिए केशियस और कासका आदि ने जूलियस सीज़र की हत्या करवाई। अब जूलियस सीजर की हत्या को यदि व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन का उपाय माना जाय, तो नैतिक दृष्टि से वह बड़ा निन्द्य कार्य था।

एक ही कार्य दो भिन्न-भिन्न हेतुओं से किये जाने के कारण भिन्न-भिन्न नैतिक मूल्य का होता है। सीज़र की हत्या में ब्रूटस का कार्य स्तुत्य है, और केशियस का निन्द्य। ब्रूटस का हेतु भला था, अतएव उसका कार्य भला कहा जायगा, और केशियस का हेतु बुरा था, अतएव उसका कार्य बुरा कहा जायगा।

साधन की पवित्रता का स्थान—यहाँ प्रश्न आता है कि मनुष्य के आचरण की नैतिकता में साधन की पवित्रता का क्या स्थान है? क्या लक्ष्य की पवित्रता किसी कार्य को पवित्र बना सकती है? नीति-शास्त्र के कितने ही विद्वानों का मत है कि किसी कार्य की पवित्रता निश्चित करने के लिये अर्थात् उसका नैतिक मूल्य आँकने के लिये, न केवल हमें लक्ष्य की पवित्रता पर विचार करना चाहिये, वरन् साधन की पवित्रता पर भी विचार करना चाहिये। कोई भी कार्य तब तक पवित्र नहीं कहा जा सकता, जब तक उसका न केवल लक्ष्य

कानूनी[1] और नैतिक[2] दृष्टिकोण में भेद—जैसा पिछले प्रकरण में बताया जा चुका है कि काम का हेतु वह लक्ष्य है जिसको दृष्टि में रख कर कोई काम किया जाता है, और उसका संकल्प वह विचार है, जिसके द्वारा इस हेतु की प्राप्ति की जाती है। संकल्प काम के बाहरी रूप से सम्बन्ध रखता है, और हेतु कार्य की आत्मा है। कार्य के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये विशेष प्रकार के साधनों को काम में लाया जाता है। वे साधन काम के संकल्प बनते हैं। ये साधन कभी कभी भले दिखाई देते हैं, और कभी बुरे। साधारण बुद्धि के लोग किसी काम की नैतिकता का मूल्य साधनों को देखकर आँकते हैं। मिल महाशय, तथा अन्य सुखवादी नीति शास्त्रज्ञों का भी यही दृष्टिकोण है। परन्तु यह दृष्टिकोण कानूनी दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण व्यवहार में उपयोगी दिखाई पड़ता है। कानून मनुष्य की बाहरी चेष्टाओं को देखकर ही उसको दोषी अथवा निर्दोष निश्चित करता है। कानून के लिए मनुष्य के आन्तरिक भावों अथवा हेतुओं को जानना असम्भव कठिन है। हम केवल अपने कार्यों के हेतुओं को ही ठीक से जान सकते हैं, दूसरे व्यक्ति के कार्यों के ठीक हेतु को जानना हमारे लिए असम्भव है। पर नैतिक विचार का मुख्य उद्देश्य दूसरे व्यक्ति के आचरण की नैतिकता जानना नहीं वरन् अपने ही कार्यों की नैतिकता जानना है। हम अपने आपको ही ठीक तरह से जान सकते हैं अर्थात् अपने वास्तविक हेतुओं का ज्ञान केवल काम करने वाले व्यक्ति को ही हो सकता है। नैतिकता आन्तरिक वस्तु है, अतएव दूसरों के वास्तविक हेतु को न जान सकने के कारण इन कार्यों के हेतु को छोड़ हम उनके बाहरी रूप पर नैतिक विचार नहीं करने लग जायेंगे। हम अपने कामों के ऊपर ठीक से नैतिक विचार कर सकते हैं, इतना ही पर्याप्त है। कानूनी दृष्टि लौकिक दृष्टि है, और नैतिक दृष्टि आध्यात्मिक दृष्टि है। नैतिकता कार्य के बाहरी रूप से उतना सम्बन्ध नहीं रखती, जितना वह उन विचारों से सम्बन्ध रखती है, जिनके कारण कोई काम किया जाता है।

जो काम कानूनी दृष्टि से अपराध समझे जाते हैं, वे ही यदि भले हेतुओं से प्रेरित होकर किये गये हैं तो भले समझे जाते हैं। ब्रूटस ने रोम की स्वतन्त्रता के

1 Legal. 2. Moral

अनुसार मनुष्य के कार्य की नैतिकता लक्ष्य पर ही निर्भर है। यदि किसी मनुष्य का लक्ष्य ठीक नहीं है, तो वह गलत मार्ग को ग्रहण करता है। पर एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के अनेक मार्ग होते हैं। वही मार्ग ठीक समझा जाना चाहिये, जिसके द्वारा मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्ति कर सके। नैतिकता मे हमे सदा मनुष्य के हेतु पर ही विचार करना चाहिये, उसके बाह्य कार्य पर अथवा उस कार्य के सकल्प पर विचार करना भूल है। नैतिकता की दृष्टि से मनुष्य का आन्तरिक कार्य ही सच्चा कार्य है। यह कार्य मनुष्य की इच्छाओ के ऊपर निर्भर करता है। फिर मनुष्य की इच्छायें भी उसके चरित्र के ऊपर निर्भर करती है। नैतिक विचार अन्त में मनुष्य के चरित्र के ऊपर होता है। यदि कोई मनुष्य सदा उच्च आदर्श से प्रेरित होकर अपने जीवन के सभी कामो को करता है, तो हम उसके लौकिक दृष्टि से निन्द्य कार्यों को भी भला कार्य ही कहेंगे। मनुष्य को सदा अपने आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करते रहना चाहिये। आदर्श स्वत्व की प्राप्ति के लिये उसे अपनी योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। कोई व्यक्ति अपने आदर्श स्वत्व का प्राप्ति अध्ययन और अध्यापन के कार्य से करता है, कोई वाणिज्य व्यवसाय-द्वारा और कोई राष्ट्र की पुलिस और सेना में भरती होकर। राष्ट्र को पुलिस और सेना की उसी प्रकार आवश्यकता है, जिस प्रकार उसे अध्यापकों की आवश्यकता है। पर ऊपरी दृष्टि से पुलिस और सेना के लोगों का काम उतना पवित्र नहीं है, जितना अध्यापन का कार्य है। पुलिस को चोरों, डाकुओं और राष्ट्र-द्रोहियों का पता लगाने के लिये झूठ बोलना और छल स काम लेना पडता है, और सेना को देश पर आक्रमण के समय आक्रमणकारियों की हत्या करनी पडती है। पर उनका कर्तव्य यही है। खुफिया पुलिस का जो अधिकारी आवश्यकता पडने पर झूठ बोलने से हिचकता है, अथवा जो सेनानायक राष्ट्र के दुश्मनों के प्रति दया दिखाकर उनको नहीं मारता, वह अपने राष्ट्र के प्रति विश्वासघात करता है। वह इस तरह अपने आदर्श स्वत्व के प्रतिकूल चलता है।*

---

* भगवान् कृष्ण ने महाभारत युद्ध मे झूठ बोलकर द्रोणाचार्य को मरवा डाला; पर उनका कार्य निन्द्य नहीं माना जाता। इसका कारण यही है कि

पवित्र हो, परन्‌ उसके साधन भी पवित्र हों। यदि हम किसी भले लक्ष्य को किसी बुरे साधन के द्वारा प्राप्त करते हैं, तो हमारा लक्ष्य ही इन साधनों के कारण दूषित हो जाता है।

मान लीजिए कि हमारा देश परतन्त्र है और वह एक अत्याचारी राज्य के हाथ में है। देश की स्वतन्त्रता को प्राप्त करना हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हम विदेशी राज्याधिकारियों के प्रति षड्यन्त्र करते हैं, और इसी लक्ष्य के हेतु कुछ अधिकारियों की हत्या कर डालते हैं। फिर अपने मित्रों को राज-दण्ड से बचाने के लिए हम झूठ बोलते हैं, और उन्हें छिपाते हैं। हमारा लक्ष्य पवित्र है, पर हमारे साधन अपवित्र माने जाते हैं। क्या हमें देश की स्वतन्त्रता के लिये झूठ बोलना और अत्याचारी लोगों की हत्या करना चाहिये? क्या हमें अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदा उन्हीं साधनों से काम लेना चाहिये, जो लौकिक दृष्टि में सुलभ मान गये हैं?

अन्तः अनुभूतिवादियों और आदर्शवादियों ने उक्त प्रश्न के दो भिन्न भिन्न उत्तर दिए हैं। अन्तः अनुभूतिवादियों के कथनानुसार पवित्र लक्ष्य को भी अपवित्र साधनों के द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा मनुष्य को नहीं करनी चाहिये। यदि साधन अपवित्र है तो प्राप्त लक्ष्य भी अपवित्र ही रहता है। और यदि साधन पवित्र है तो लक्ष्य भी पवित्र है। हम किस स्थान पर पहुँचेंगे यह हमारे मार्ग पर निर्भर है। गलत मार्ग पर चल कर कोई भी व्यक्ति ठीक स्थान पर नहीं पहुँच सकता। अतएव ठीक लक्ष्य पर पहुँचने के लिये हमें ठीक मार्ग को ही ग्रहण करना चाहिये। लक्ष्य की प्राप्ति मार्ग पर चलने का स्वाभाविक परिणाम है। जिस प्रकार मार्ग और लक्ष्य का अनिवार्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार साधन और साध्य का भी अनिवार्य सम्बन्ध है। अतएव जो मनुष्य किसी भले लक्ष्य पर पहुँचना चाहता है, उसे ऐसे काम करना चाहिये जो संसार में भले कहे जाते हैं। चोरी डकैती षड्यन्त्र और हत्या के द्वारा यदि किसी देश को स्वतन्त्रता मिले भी तो वह उपादेय वस्तु नहीं। इस प्रकार प्राप्त की गई स्वतन्त्रता एक दूषित वस्तु होगी जिससे समाज का कल्याण न होकर उसकी हानि ही होगी।

उक्त विचार से भिन्न दूसरे प्रकार के विचार हैं। आदर्शवादी विचार के

अनुसार मनुष्य के कार्य की नैतिकता लक्ष्य पर ही निर्भर है। यदि किसी मनुष्य का लक्ष्य ठीक नहीं है, तो वह गलत मार्ग को ग्रहण करता है। पर एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के अनेक मार्ग होते है। वही मार्ग ठीक समझा जाना चाहिये, जिसके द्वारा मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र अपने लक्ष्य का प्राप्ति कर सके। नैतिकता मे हमें सदा मनुष्य के हेतु पर ही विचार करना चाहिये, उसके बाह्य कार्य पर अथवा उस कार्य के सकल्प पर विचार करना भूल है। नैतिकता की दृष्टि से मनुष्य का आन्तरिक कार्य ही सच्चा कार्य है। यह कार्य मनुष्य की इच्छाओं के ऊपर निर्भर करता है। फिर मनुष्य की इच्छायें भी उसके चरित्र के ऊपर निर्भर करती है। नैतिक विचार अन्त में मनुष्य के चरित्र के ऊपर होता है। यदि कोई मनुष्य सदा उच्च आदर्श से प्रेरित होकर अपने जीवन के सभी कामों को करता है, तो हम उसके लौकिक दृष्टि से निन्द्य कार्यों को भी भला कार्य ही कहेंगे। मनुष्य को सदा अपने आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करते रहना चाहिये। आदर्श स्वत्व की प्राप्ति के लिये उसे अपनी योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। कोई व्यक्ति अपने आदर्श स्वत्व का प्राप्ति अध्ययन और अध्यापन के कार्य से करता है, कोई वाणिज्य व्यवसाय-द्वारा और कोई राष्ट्र की पुलिस और सेना में भरती होकर। राष्ट्र को पुलिस और सेना की उसी प्रकार आवश्यकता है, जिस प्रकार उसे अध्यापकों की आवश्यकता है। पर ऊपरी दृष्टि से पुलिस और सेना के लोगों का काम उतना पवित्र नहीं है, जितना अध्यापन का कार्य है। पुलिस को चोरों, डाकुओं और राष्ट्र-द्रोहियों का पता लगाने के लिये झूठ बोलना और छल स काम लेना पड़ता है, और सेना को देश पर आक्रमण के समय आक्रमणकारियों की हत्या करनी पड़ती है। पर उनका कर्तव्य यही है। खुफिया पुलिस का जो अधिकारी आवश्यकता पड़ने पर झूठ बोलने से हिचकता है, अथवा जो सेनानायक राष्ट्र के दुश्मनों के प्रति दया दिखाकर उनको नहीं मारता, वह अपने राष्ट्र के प्रति विश्वासघात करता है। वह इस तरह अपने आदर्श स्वत्व के प्रतिकूल चलता है।*

---

* भगवान् कृष्ण ने महाभारत युद्ध मे झूठ बोलकर द्रोणाचार्य को मरवा डाला, पर उनका कार्य निन्द्य नहीं माना जाता। इसका कारण यही है कि

जहाँ पर लक्ष्य की प्राप्ति में साधन की पवित्रता का विचार किया जाता है, वहाँ पर वास्तव में मनुष्य के समक्ष कोई निश्चित लक्ष्य नहीं रहता। पर यदि साधन और लक्ष्य के सम्बन्ध पर विचार किया जाय तो हमें कहना पड़ेगा कि लक्ष्य की स्पष्ट कल्पना के अभाव में साधन की पवित्रता अथवा अपवित्रता का विचार अर्थहीन हो जाता है। व्यवहारवादी की दृष्टि में वह साधन पवित्र है जिसका लक्ष्य भला हो। यदि हमें कोई नैतिक सार निकालना है तो लक्ष्य में ही निकालना चाहिये।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि नैतिक विचार का प्रधान विषय हेतु है न कि संकल्प। हेतु काम के लक्ष्य से सम्बन्ध रखता है और संकल्प साधन से। परन्तु अन्त में नैतिक विचार का विषय मनुष्य का चरित्र ही होता है। किसी भी व्यक्ति के आचरण पर तब तक हम ठीक निर्णय नहीं कर सकते जब तक हम उसके पूर्व मानसिक संस्कारों आदतों और विभिन्न व्यक्तियों से उसके सम्बन्ध को नहीं जान लेवे। आचरण मनुष्य के चरित्र का प्रकाशन मात्र है, चरित्र स्थायी वस्तु है। इसी के आधार पर किसी विशेष प्रकार के आचरण को भला अथवा बुरा कहा जा सकता है।

प्रश्न

१ नैतिक विचार का विषय क्या है? क्या नैतिक विचार में मनुष्य के संकल्प को प्रधान स्थान दिया जाना चाहिये?

उन्होंने यह काम अपने मतलब के लिये नहीं किया वरन् लोक हित के लिये किया था। दुर्योधन ने समाज के सभी नैतिक मूल्यों की अवहेलना की थी। यदि महाभारत-युद्ध में दुर्योधन की विजय होती तो संसार में 'शक्ति ही नीति है' का सिद्धान्त प्रचलित हो जाता। फिर मनुष्य में किसी के अधिकार पर विचार करने की प्रेरणा भी न होती। जिसके मन में जो कुछ आता वह वही करने लग जाता। इस प्रकार समाज से नैतिक प्रतिबंध उठ जाने से समाज का विनाश हो जाता। इस विनाश से समाज को बचाने के लिये ही कृष्ण ने महाभारत युद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर को विजयी बनाने की पूरी चेष्टा की। उनका हेतु पवित्र था, अतएव उनके झूठ बोलने के कार्य को भी हम नैतिक दृष्टि से बुरा नहीं कहते।

२ रोम को स्वतन्त्र बनाए रखने के लिए ब्रूटस ने सीजर की हत्या की—ब्रूटस के उक्त आचरण की नैतिक मीमांसा कीजिये। क्या हम मनुष्य के किसी कार्य को, उसके हेतु के भला होने के कारण, भला कह सकते हैं?

३. नैतिक विचार के विषय में सुखवादी और आदर्शवादी सिद्धान्तों के भेद को स्पष्टत. समझाइये। मनुष्य के कार्य की नैतिकता निश्चित करने में उसके संकल्प का क्या स्थान है?

५ कार्य की नैतिकता को निश्चित करने मे साधन की पवित्रता का क्या स्थान है? क्या यह कहना सत्य है कि यदि हमारा लक्ष्य ठीक है, तो उसकी प्राप्ति के लिये जो भी साधन काम में लाये जाँय, वे उचित ही समझे जायँगे?

———

आठवाँ प्रकरण

नैतिकता के मापदण्ड

मनुष्य का नैतिक स्वत्व[1]

पिछले प्रकरण में बताया गया है कि मनुष्य के आचरण और नैतिक विचार का विकास धीरे धीरे होता है। नैतिक विचार और आचरण के परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने आप में दो प्रकार के स्वत्वों की उपस्थिति का अनुभव करता है—एक उसका वास्तविक स्वत्व[2] और दूसरा उसका आदर्श स्वत्व[3]। उसका वास्तविक स्वत्व ही काम करता है, और वही किसी काम की भलाई अथवा बुराई के लिये प्रशंसा अथवा निन्दा का भागी होता है। उसका आदर्श स्वत्व उसके काम की भलाई अथवा बुराई का नियामक होता है। यह स्वत्व उसी प्रकार मनुष्य के निजी कामों पर विचार करता है, जिस प्रकार वह दूसरे व्यक्ति के कामों पर विचार करता है।

मनुष्य पहले पहल अपने से भिन्न व्यक्तियों के कामों पर नैतिक विचार करता है। इस प्रकार विचार करना उसका अभ्यास हो जाता है। पीछे उसे विचार आता है कि जिस तरह वह दूसरे लोगों के आचरण पर विचार करता है, उसी प्रकार दूसरे लोग भी उसके आचरण पर विचार करते होंगे। यह विचार उसे अपने ही कामों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने के लिए बाध्य करता है। यह आलोचनात्मक दृष्टि ही उसका आन्तरिक स्वत्व बन जाती है। एडम स्मिथ महाशय ने इसे निष्पक्ष साक्षी* कहा है। यह साक्षी एक ओर व्यक्ति के कामों पर नैतिक विचार करता है और दूसरी ओर वह नैतिकता का मापदण्ड भी उपस्थित करता है।

---

1 Moral Self. 2 Actual Self. 3. Ideal Self. * Impartial Spectator

नैतिकता के माप दण्डों का वर्गीकरण[1]

नैतिकता के माप-दण्डों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न नीति शास्त्रज्ञों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। म्योरहेड महाशय ने नीति-शास्त्रों को तीन प्रकार का बताया है। वे नैतिकता के निम्नलिखित तीन विभिन्न प्रकार के माप-दण्डों को मानते हैं—

(१) ऐसे नीति शास्त्र जो किसी बाहरी नियम के पालन करने में नैतिकता देखते हैं, (२) ऐसे नीति-शास्त्र जो नैतिकता के निर्णय में आन्तरिक नियम को प्रधान स्थान देते हैं और (३) ऐसे नीति-शास्त्र जो किसी लक्ष्य की प्राप्ति में नैतिकता का सार देखते हैं।

इस प्रकार नैतिकता के विचार तीन प्रकार के होते हैं, शास्त्रवादी[2], अनुभूतिवादी[3] और लक्ष्यवादी[4]। शास्त्रवादी नैतिकता के सिद्धान्त दो प्रकार के होते हैं। एक में लौकिक नीति और अनीति के विचारों की प्रधानता रहती है, और दूसरे में धार्मिकता की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार अन्त. अनुभूतिवाद के भी कई प्रकार हैं। एक में वैयक्तिक अनुभव पर जोर दिया जाता है, और दूसरे में सामष्टिक अन्त अनुभूति अर्थात् विवेक युक्त अन्त अनुभूति पर जोर दिया जाता है। इसी प्रकार लक्ष्यवादी सिद्धान्त कई प्रकार के हैं। किन्तु हम इन्हें दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। एक में बाहरी लक्ष्य की प्रधानता रहती है, और दूसरे में आन्तरिक लक्ष्य की। बाहरी लक्ष्य को महत्त्व देने वाले सुखवाद और प्रकृतिवाद हैं, और आन्तरिक लक्ष्य को महत्त्व देने वाले पूर्णतावाद और आदर्शवाद हैं। नैतिकता के कुछ मापदण्ड ऐसे हैं, जो इस वर्गीकरण में नहीं आते। वे एक ओर किसी लक्ष्य को मानते हैं, और दूसरी ओर किसी नियम को भी, इन्हें मिश्रित माप दण्ड कहा जाता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के माप दण्डों को निम्नाङ्कित तालिका में दर्शाया गया है—

---

1 Classification 2 Authorititarian 3 Intuitionist
4 Standard as End

नैतिकता के माप-दण्ड*
बाह्य नियमवादी
आन्तरिक नियमवादी
लक्ष्यवादी
लोकमतवादी
धर्म-शास्त्रवादी
विशेषानुभूतिवादी
सामान्यानुभूतिवादी
प्रकृतिवाद
सुखवाद
आदर्शवाद
* Moral Standard
External law
Internal law
End
Political or Social law
Religious Law
Intuitive law
Rational law
Naturalism
Hedonism
Idealism
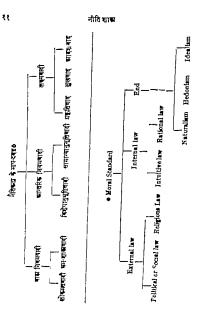
बाह्य नियमवाद[1] —म्योरहेड महाशय के अनुसार शास्त्रवाद की अपेक्षा अन्तः अनुभूतिवाद अधिक विकसित नैतिक विचार है। इसी प्रकार लक्ष्यवाद अन्त अनुभूतिवाद की अपेक्षा अधिक उन्नत विचार है। नीति शास्त्र के दूसरे विद्वान् उक्त विचार से सहमत नहीं हैं। अमेरिका के प्रसिद्ध नीति-शास्त्रज्ञ ह्वील राइट महाशय ने प्रकृतिवाद और सुखवाद को अन्त अनुभूतिवाद से निम्न-कोटि का माना है। प्रकृतिवाद और सुखवाद बाहरी लक्ष्य को जीवन के समक्ष रखते है। अतएव इन्हे निम्नकोटि का नैतिक विचार मानना ठीक ही है।

सभी प्राणियों को सुख की इच्छा रहती है, और सभी प्राणी दु:ख से बचना चाहते हैं। इसी दृष्टि से सभी प्राणियों के काम होते है। अपने सुख के लिए प्राणी कभी दूसरे को दु:ख देता है, इससे फिर उसको भी दु:ख सहना पड़ता है। दूसरों को दु:ख अथवा सुख देने की शक्ति दूसरे प्राणियों से कहीं अधिक मनुष्य में है। यदि मनुष्य के ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण न हो, तो वह पशु से भी अधिक बुरा आचरण करे। फिर मानव-समाज की स्थिति सम्भव ही न हो। मानव-समाज की स्थिति तभी तक सम्भव है, जब तक समाज के अधिक लोगों मे दूसरे लोगों को कष्ट देने की नहीं, वरन् उन्हें सुखी बनाने की इच्छा रहती है। समाज के अगुआ मनुष्य समाज को बनाए रखने के लिए ही अनेक प्रकार के नैतिक नियमों को समाज में प्रचलित करते हैं। इसी प्रकार धर्म-शास्त्र और राज्य-नियमों का प्रचार होता है। राज्य के नियम और धर्म-शास्त्र मनुष्य को अपने सुख के लिए दूसरों को कष्ट देने से रोकते है। वे अनेक प्रकार के पुरस्कार के विचारों के द्वारा मनुष्य को भले कामों में भी लगाते है। राज्य नियम अधिकतर नकारात्मक होते हैं। उसी प्रकार धार्मिक नियम भी अधिकतर नकारात्मक होते हैं, अर्थात् वे बुरे कामों से मनुष्य को रोकते है। धार्मिक नियम भले काम में भी मनुष्य को लगाते हैं। धार्मिक नियमों की अवहेलना करने से दूसरे जन्म में किसी न-किसी प्रकार का दण्ड मिलता है, अथवा मरने के उपरान्त नरक में जाना पड़ता है। इस प्रकार पुनर्जन्म

1 External Law

और नरक की यन्त्रणा के भय मनुष्य को अनैतिक आचरण से रोकते रहते हैं, और समाज-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखते हैं।

परन्तु किसी धर्म शास्त्र के अनुसार नैतिक आचरण करना एक बाहरी सत्ता को प्रमाण, नीति और अनीति का निर्णायक मान लेना है। इसके अतिरिक्त यह नैतिक आचरण के लिए मनुष्य को किसी बाह्य सत्ता के ऊपर निर्भर मान लेना है। बाह्यसत्ता के भय से जो आचरण किया जाता है, उससे मनुष्य की इच्छा शक्ति दृढ़ न होकर निर्बल होती है। इससे मनुष्य का आध्यात्मिक विकास नहीं होता। मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का लक्ष्य उसे स्वावलम्बी और निर्भीक बनाना है। जब तक मनुष्य किसी बाहरी सत्ता के भय अथवा प्रलोभन के कारण नैतिक आचरण करता है तब तक उसमें वास्तविक नैतिकता का उदय नहीं होता। वास्तविक नैतिकता में मनुष्य को कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय के लिए अपने स्वतन्त्र विवेक पर निर्भर करना पड़ता है और नैतिक आचरण का प्रेरक अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ नहीं होता। इस दृष्टि से बिना समझे-बूझे धर्म-शास्त्र की आज्ञा का पालन करना निम्नकोटि का नैतिक आचरण है।

फिर संसार में अनेक धर्म हैं और उनके धर्म-शास्त्र भी भिन्न भिन्न हैं। एक धर्म की पुस्तक के अनुसार जो कर्तव्य माना जाता है वही किसी दूसरे धर्म की पुस्तक के अनुसार अकर्तव्य माना जाता है। प्राचीन काल में भिन्न भिन्न धर्म के लोग भिन्न भिन्न प्रदेशों में रहते थे। उस समय न पुस्तकें थीं और न विभिन्न धर्मों के विचारों को जानने का साधारण व्यक्ति के पास कोई साधन था। अधिकतर जनता अपढ़ रहती थी। ऐसी अवस्था में धर्म पुस्तक की कही हुई बातों पर किसी प्रकार शंका नहीं उत्पन्न होती थी। परन्तु अब परिस्थिति बदल गई है। सभी धर्मों के विचार अब साधारण व्यक्ति को भी सुलभ हैं। ऐसी अवस्था में धर्म की कही हुई बातों को ही नैतिकता का प्रमाण मान लेना कठिन होता है। दूसरे धर्म की बुराइयों को देखना बड़ा सरल है। उसमें मानव-समाज के कल्याण के विरुद्ध जो बातें रहती हैं, उन पर हमारी दृष्टि तुरन्त चली जाती है। फिर जब हम एक धर्म की बातों के दोष देखने लगते हैं, तो दूसरे धर्म और अपने ही धर्म की बातों में भी दोष दिखाई देने लगते हैं। जब मनुष्य में एक बार

आलोचनात्मक बुद्धि जाग्रत हो जाती है, तो वह दूसरे समाज और धर्मों की आलोचना तक ही सीमित नहीं रहती। जिन दोषों को वह दूसरे धर्मों मे देखती है, उन्हीं दोषों को वह अपने-आप मे भी देखने लगती है। इस प्रकार धर्म शास्त्र के अतिरिक्त नैतिकता के किसी दूसरे प्रमाण को खोजने की आवश्यकता पड़ जाती है।

फिर विभिन्न धर्मों के संघर्ष, धर्म-शास्त्रों की महत्ता को और भी गिरा देते हैं। प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपनी ही धर्म-पुस्तक को ईश्वरवाक्य मानते हैं, और उसकी बातों मे किसी प्रकार का सन्देह करना महान् पाप समझते हैं। ऐसे लोग अपने धर्म का प्रचार करने के लिए अनेक सीधे-सादे लोगों की हत्या भी कर डालते हैं। धर्मान्धता के कारण आधुनिक काल मे मनुष्य मनुष्य के प्रति जितनी निर्दयता का व्यवहार करता है, उतनी निर्दयता का व्यवहार वह अन्यत्र नहीं करता है। धर्मान्धता मनुष्य के विवेक का विनाशक है। विवेक के उदय के साथ-साथ धर्मान्धता का अन्त होना स्वाभाविक है।

जब मनुष्य में विवेक का उदय होता है, तब वह धर्म शास्त्र की सभी बातों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है। वह सोचता है कि प्रत्येक धर्म अपने-आप को सबसे ऊँचा मानता है, और धर्म-पुस्तक में कही गई बातों को वह ईश्वर की बात मानता है। ईश्वर एक है, फिर वह विभिन्न धर्मों में विभिन्न बातें क्यों कहता है। यदि इन धर्म-पुस्तकों में भेद है, तो उनकी कही हुई बातें एकही सत्ता की आज्ञाएँ नहीं हैं, अर्थात् धर्म-शास्त्रों के भेदों की उपस्थिति उनकी असत्यता को सिद्ध करती है। ऐसी स्थिति म मनुष्य को अपने आचरण की नैतिकता का निर्णायक धर्म पुस्तक अर्थात् उसके नियमों को मान लेना एक बड़ी भूल है। इस विचार के आते ही उसे आवश्यकता होती है, कि वह किसी दूसरे अधिक विश्वसनीय नैतिकता के प्रमाण को खोजे।

जब हम एक ही धर्म को देखते है, तो भी उसकी धर्म-पुस्तक मे बताये हुए नैतिक नियमों को अपने आचरण के लिए पर्याप्त पथ प्रदर्शक नहीं पाते। कभी कभी धर्म-शास्त्र में बताए हुए एक कर्त्तव्य का दूसरे कर्त्तव्य से विरोध हो जाता है। मान लीजिए, कि धर्म-शास्त्र सच बोलने को धर्म कहता है, और दूसरे की प्राण रक्षा को भी धर्म कहता है। कोई परिस्थिति ऐसी आ सकती है, जिसमे

और नरक की यन्त्रणा के भय मनुष्य को अनैतिक आचरण से रोकते रहते हैं, और समाज-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखते हैं।

परन्तु किसी धर्म-शास्त्र के अनुसार नैतिक आचरण करना एक बाहरी सत्ता को धर्माधर्म नीति और अनीति का निर्णायक मान लेना है। इसके अतिरिक्त यह नैतिक आचरण के लिए मनुष्य को किसी बाह्य सत्ता के ऊपर निर्भर मान लेना है। बाह्यसत्ता के भय से जो आचरण किया जाता है, उससे मनुष्य की इच्छा-शक्ति दृढ़ न होकर निर्बल होती है। इससे मनुष्य का आध्यात्मिक विकास नहीं होता। मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का लक्ष्य उसे स्वावलम्बी और निर्भीक बनाना है। जब तक मनुष्य किसी बाहरी सत्ता के भय अथवा प्रलोभन के कारण नैतिक आचरण करता है तब तक उसमें वास्तविक नैतिकता का उदय नहीं होता। वास्तविक नैतिकता में मनुष्य को कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय के लिए अपने स्वतन्त्र विवेक पर निर्भर करना पड़ता है, और नैतिक आचरण का प्रेरक अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ नहीं होता। इस दृष्टि से बिना समझे-बूझे धर्म शास्त्र की आज्ञा का पालन करना निम्नकोटि का नैतिक आचरण है।

फिर संसार में अनेक धर्म हैं और उनके धर्म-शास्त्र भी भिन्न भिन्न हैं। एक धर्म की पुस्तक के अनुसार जो कर्त्तव्य माना जाता है वही किसी दूसरे धर्म की पुस्तक के अनुसार अकर्तव्य माना जाता है। प्राचीन काल में भिन्न भिन्न धर्म के लोग भिन्न भिन्न प्रदेशों में रहते थे। उस समय न पुस्तकें थीं और न विभिन्न धर्मों के विचारों को जानने का साधारण व्यक्ति के पास कोई साधन था। अधिकतर जनता अपढ़ रहती थी। ऐसी अवस्था में धर्म पुस्तक की कही हुई बातों पर किसी प्रकार शंका नहीं उत्पन्न होती थी। परन्तु अब परिस्थिति बदल गई है। सभी धर्मों के विचार अब साधारण व्यक्ति को भी सुलभ हैं। ऐसी अवस्था में धर्म की कही हुई बातों को ही नैतिकता का प्रमाण मान लेना कठिन होता है। दूसरे धर्म की बुराइयों को देखना बड़ा सरल है। उसमें मानव-समाज के कल्याण के विरुद्ध जो बातें रहती हैं उन पर हमारी दृष्टि तुरन्त चली जाती है। फिर जब हम एक धर्म की बातों के दोष देखने लगते हैं तो दूसरे धर्म और अपने ही धर्म की बातों में भी दोष दिखाई देने लगते हैं। जब मनुष्य में एक बार

को दूसरों पर निर्भर करने मे उसे कभी शांति नहीं मिलती। इसी कारण वह नैतिकता के बाहरी माप दण्ड को छोड़कर किसी आन्तरिक माप दण्ड की खोज करने का चेष्टा करता है, और इस प्रकार अन्त. अनुभूतिवाद का जन्म होता है।

आन्तरिक नियमवाद—बाहरी नियम का नैतिकता का माप-दण्ड मानने से जो कठिनाइयाँ होतीं हैं, उनके कारण यह आवश्यक हो गया कि मनुष्य किसी भीतरी नैतिक नियम को धमाधर्म का माप-दण्ड मान, और बाहरी सत्ता को सर्वोच्च सत्ता न मानकर किसी भीतरी सत्ता की खोज करें। नैतिकता का प्रारम्भ धार्मिक भावों की वृद्धि से होता है, और प्रत्येक धर्म मे किसी बाहरी देवी-देवता को माना जाता है, जो मनुष्य के ऊपर शासन करता है। बौद्ध-धर्म मे ईश्वर की कल्पना नहीं की गयी है, परन्तु उसमे बुद्ध भगवान् को उसी दृष्टि से देखा जाता है, जिस दृष्टि से अन्य धर्मवाले लोग ईश्वर को देखते है। जो श्रद्धा-भाव दूसरे धर्मों मे अपने-अपने धर्मग्रन्थो के प्रति है, वही श्रद्धाभाव बौद्ध धर्म मे बौद्ध धर्मग्रन्थों के प्रति है, और जिस प्रकार अन्य धर्म मे धर्मगुरु होते है, उसी प्रकार बौद्ध-धर्म में भी धर्मगुरु होते हैं। पर विकासात्मक मनोवृत्ति का मनुष्य इस स्थिति मे सतुष्ट नहीं रहता। नैतिकता की दृष्टि से ससार के विभिन्न धर्म समाज के सामान्य लोगों की सेवा उसी प्रकार करते है, जिस प्रकार बालक के अभिभावक बालक की सेवा करते है। परन्तु [illegible]भावकों की आवश्यकता मनुष्य के बचपन मे ही होती है। उसकी [illegible]वस्था मे अभिभावकों की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार समाज [illegible]ानवृद्धि के साथ-साथ मनुष्य के नैतिक आचरण के लिए बाहरी नियम [illegible] आवश्यकता नहीं होती। बाह्य नियम और बाह्य सत्ता का स्थान [illegible]क नियम और आन्तरिक सत्ता ले लेते है। इस प्रकार अन्तः अनुभूति-[illegible]विकास होता है।

[illegible] पहले मनुष्य अपने आचरण के नियामक की कल्पना अपने से [illegible]े है। किन्तु जब उसके विचार की वृद्धि होती है, तो उसे अपने से [illegible]ो नियामक की उपस्थिति नहीं दिखाई देती। ऐसी स्थिति में मनुष्य या [illegible]वादी अथवा सुखवादी बन जाता है, या अन्त. अनुभूतिवादी।

को तर्क के परे मानते हैं। तार्किक विचार आत्मा की आवाज को प्रकाशित कर सकता है, परन्तु तार्किक विचार ही स्वयं अन्तरात्मा की आवाज नहीं है।

नीति शास्त्र के कुछ अन्त अनुभूतिवादी विद्वानों ने तार्किक विचार और अन्त अनुभूति का सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। सर्वोत्कृष्ट तार्किक विचार ही मनुष्य का विवेक कहलाता है। विवेक किसी व्यापक नियम का सृजन करता है। विवेक हमें दूसरे लोगों के साथ उसी प्रकार के व्यवहार को करने की प्रेरणा देता है, जिस प्रकार का व्यवहार हम उनसे चाहते हैं। मनुष्य की अन्तरात्मा विवेकशील है। अतएव किसी ऐसी बात का अन्तरात्मा की आवाज नहीं माना जा सकता, जो विवेक के प्रतिकूल हो। मनुष्य की अन्तरात्मा स्वतन्त्र है। अतएव जिस किसी आचरण मे अन्तरात्मा का स्वतन्त्रता नहीं देखी जाती, जो काम राग-द्वेष के वशीभूत होकर किया जाता है, वह अन्तरात्मा के आज्ञानुसार नहीं हो सकता। राग द्वेषवश किये गये काम अन्तरात्मा की आवाज के विरुद्ध होते हैं। वास्तव में अन्तरात्मा की आवाज उन्हीं लोगों को सुनाई देती है, जो सांसारिक प्रलोभनों से मुक्त हो गये हैं; और जिनके मन किसी प्रकार के उद्वेगों से विचलित नहीं होते। ऐसे व्यक्ति स्वभावतः ही उस नियम का पालन करते है, जिस नियम को वे ससार भर के लिए व्यापक बनाने की इच्छा करते हैं।

कठोर अन्त. अनुभूतिवादी सभी प्रकार की इच्छाओं अथवा राग द्वेष के त्याग का सिद्धान्त प्रचलित करते हैं। जब तक मनुष्य इच्छाओं के जाल में पड़ा हुआ है, जब तक उसके मन में किसी न-किसी प्रकार के राग-द्वेष उत्पन्न होते रहते हैं, तब तक उसकी दृष्टि शुद्ध नहीं हो सकती, और न उसे सत्य के दर्शन ही हो सकते है। वह अपने वास्तविक धर्म अथवा कर्तव्य को नहीं जान सकता। अतएव धर्म-पथ को जानने के लिए और धर्माचरण करने के लिए पहली आवश्यकता यह है, कि मनुष्य अपने-आपको सब राग-द्वेषों से मुक्त करे, और अपनी सभी इच्छाओं का त्याग करे। ऐसी ही अवस्था में मनुष्य अपने प्रति निरपेक्ष भाव धारण कर सकता है। निरपेक्ष साक्षी भाव के धारण करने पर ही मनुष्य को सत्य के दर्शन होते है। अतएव कठोर अन्त. अनुभूतिवादी आत्म-विजय प्राप्त करने को ही अन्तरात्मा की आवाज सुनने का प्रमुख साधन मानते हैं। वे उस आचरण को नैतिक आचरण नहीं

मानते, जिसमें आत्म विकास की किसी प्रकार से अवहेलना पाई जाय। आत्म-विकास के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य में वह शक्ति रह ही नहीं जाती, जिसकी सहायता से वह सत्यासत्य का निर्णय कर सके अथवा सत्य को जानकर उसके ऊपर चल सके।

अन्तः अनुभूतिवाद की कठिनाइयाँ—अन्तः अनुभूतिवाद नैतिकता में स्वतन्त्र विचार का मूल्य करता है। पर अन्तः अनुभूतिवाद की कुछ विशेष कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई यह है कि कभी-कभी मनुष्य का स्वतन्त्र विचार उसे एक ओर ले जाता है और उसका हृदय उसे दूसरी ओर ले जाता है। जब मनुष्य अपने हृदय और बुद्धि में संघर्ष देखे तो उसे किसके अनुसार आचरण करना चाहिए? यदि वह अपने विवेक की मानता है तो उसका आचरण न्यायमुक्त होता है। परन्तु कभी कभी उसका हृदय इस प्रकार के आचरण को वाञ्छनीय नहीं समझता। ऐसी अवस्था में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि मनुष्य अपने हृदय की बात न माने तो उसे विक्षिप्तता आने की सम्भावना रहती है और यदि हृदय की बात माने, तो उसका आचरण विवेक के प्रतिकूल हो जाता है। पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि हृदय की बात मानना भूल है। वास्तव में अन्तः अनुभूतिवाद नैतिक निर्णयों में बुद्धि को प्रधानता न देकर हृदय को ही प्रधानता देता है। बुद्धि उपस्थित महत्वों के आधार पर विचार करती है, और हृदय कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय सीधे करता है। अतएव हृदय के निर्णयों को ऊँचे स्तर का माना जाता है। परन्तु हम जानते हैं कि मनुष्य का हृदय उसे उन्हीं भावनाओं की ओर ले जाता है जिनका अभ्यास मनुष्य को है। जिन बातों को कोई मनुष्य कई दिनों से ठीक समझता आया है उनके विरुद्ध किसी प्रकार के प्रमाण को उसका हृदय ग्रहण नहीं करता। अभ्यस्त नैतिक विचार ही उसकी अन्तरात्मा की आवाज बन जाते हैं और मनुष्य साधारणतः अपने अभ्यास के औचित्य को ही बौद्धिक प्रमाणों से सिद्ध करता रहता है। पर प्रश्न यह है कि हृदय और बुद्धि के विरोध की अवस्था में किसकी बात को सत्य समझा जाय। यहाँ अन्तः अनुभूतिवाद की कमी स्पष्टतः दिखाई देने लगती है। अन्तः अनुभूतिवाद की दूसरी कठिनाई उसकी वैयक्तिकता है।

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अन्तः अनुभूति, हृदय अथवा अन्तरात्मा की आवाज, एक ही परिस्थिति में विभिन्न प्रकार की बातों का आदेश देती है। ऐसी अवस्था मे किस व्यक्ति की अन्तः अनुभूति को प्रमाण माना जाय। विरोधावस्था मे सभी व्यक्तियों की अन्तः अनुभूति को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, और यदि समाज सभी लोगों को अपनी-अपनी अन्तः अनुभूतियों के अनुसार आचरण करने की स्वतन्त्रता दे दे, तो उसका संगठन ही नष्ट हो जाय। फिर अन्त अनुभूति के अनुसार आचरण में बुरे-से-बुरे आचरण का उसी प्रकार समावेश हो जावेगा, जिस प्रकार भले-से-भले आचरण का होता है। चोर, डाकू और व्यभिचारी भी यह कह सकते है कि हम अपनी अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार आचरण कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में सभी स्वार्थी लोग अपने आचरण की नैतिकता दर्शाने के लिए अन्तरात्मा की आवाज की दुहाई दे सकते हैं।

पर, यदि यह कहा जाय कि अन्तरात्मा की आवाज सभी लोगों को नहीं वरन् किसी विशेष व्यक्ति को ही सुनाई देती है, और जब विभिन्न व्यक्तियों की अन्तरात्मा की आवाज में विरोध हो, तो हमें उस व्यक्ति की अन्तरात्मा की आवाज को सच्चा मानना चाहिए, जो सदाचारी हो, तो प्रश्न उठता है कि यह सदाचार ही क्या है? सदाचार नैतिक आचरण है, और नैतिकता का निर्णायक अन्तरात्मा की आवाज है। यहाँ विचारों का गोल मटोल होना प्रत्यक्ष है—सदाचार अन्तरात्मा की आवाज पर निर्भर है, और अन्तरात्मा की आवाज सदाचार पर। इस प्रकार के गोल-मटोल विचार से कोई विवेकशील व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

वास्तव में अन्तरात्मा की आवाज का सिद्धान्त हमें नैतिकता में अराजकता की ओर ले जाता है। अन्तरात्मा की आवाज का सिद्धान्त वहीं सफल होता है, जहाँ हम यह मान लेते हैं कि अन्तरात्मा की आवाज किसी एक ही व्यक्ति को सुनाई देती है, और दूसरे व्यक्तियों को वह नहीं सुनाई देती। जन-समुदाय जब इस बात को मान लेता है कि वह अन्तरात्मा की आवाज को नहीं सुनता, तो वह अन्तरात्मा की आवाज सुनने वाले व्यक्ति का आज्ञाकारी भक्त बन जाता है, और उसके प्रति आत्म-समर्पण कर

देता है। इस तरह का व्यक्ति अन्तरात्मा की आवाज सुनने वाला माना जाता है यह बड़े-बड़े जन समूह का नेता बन जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रायः धार्मिक नेता ही होता है पर कभी-कभी वह राजनैतिक नेता भी हो जाता है। अन्तरात्मा की आवाज सुनने की योग्यता होने के कारण उसे समाज के अन्य लोग समाज का विशेष व्यक्ति मान लेते हैं। ऐसे लोग वास्तव में कभी-कभी समाज का बड़ा कल्याण करते हैं। नये धर्म के प्रवर्तक अन्तरात्मा की आवाज के आधार पर ही समाज में नये धर्म का प्रचार कर सके हैं। परन्तु, कुछ धूर्त लोग भी जन-साधारण के इस विश्वास से लाभ उठाते हैं कि उनमें अन्तरात्मा की आवाज सुनने की क्षमता है। वे अपने-आप को ईश्वर के चुने हुए व्यक्ति के नाम से प्रसिद्ध करते हैं, और समाज के लोगों को इस भ्रम में रखने में समर्थ होते हैं कि वे जो कुछ करते हैं वह अन्तः अनुभूति अथवा अन्तरात्मा की आवाज के अनुसार ही करते हैं; दूसरे लोगों को अन्तरात्मा की यह आवाज नहीं सुनाई देती अतएव उन्हें उनका अनुकरण करना चाहिए। इस प्रकार हिटलर ने अपने अन्तः अनुभूति के आधार पर सारे जर्मनी को मानसिक गुलामी में डाल रक्खा था।

पर मनुष्य जब तक अपनी आत्मा की आवाज नहीं सुनता, और अपनी अन्तः अनुभूति के अनुसार आचरण नहीं करता तब तक उसका आचरण नैतिक आचरण नहीं कहा जा सकता। नैतिक आचरण वह है, जिसमें मनुष्य के स्वतन्त्र चिन्तन करने की शक्ति की वृद्धि होती है, और जिस आचरण को मनुष्य अपने स्वतन्त्र निर्णय के अनुसार करता है। जिस आचरण में मानसिक स्वतन्त्रता नहीं अर्थात् जो दूसरे व्यक्ति का अन्धानुकरण मात्र है अथवा जिसमें बौद्धिक दासता पाई जाती है वह ऊपरी दृष्टि से कितना ही उच्चकोटि का आचरण क्यों न हो नैतिक आचरण नहीं है। नैतिक आचरण में भूल करने के लिए स्थान रहता है। अनेक प्रकार की भूलों और प्रयत्नों के पश्चात् मनुष्य यह जानता है कि उसका वास्तविक कर्तव्य क्या है। जब मनुष्य के विचार की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया जाता है तो उसमें अपने कर्तव्य के निर्णय की शक्ति ही नष्ट हो जाती है। ऐसा मनुष्य दूसरों का दास बन कर ही रहता है। दास के आचरण में कोई नैतिकता नहीं हो सकती। उसके

कामों की नैतिकता का उत्तरदायित्व उसके ऊपर नहीं वरन् उसके नेता के ऊपर रहता है। शिक्षा के अभाव मे ही मनुष्य स्वेच्छा से दूसरों की गुलामी स्वीकार करता है। जब मनुष्य सुशिक्षित हो जाता है, और जब उसका विवेक पूर्ण रूप से जाग्रत हो जाता है, तो वह किसी दूसरे व्यक्ति का, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, अन्धानुकरण करने को तैयार नहीं होता। वह जनता है कि उसे अन्तरात्मा की आवाज नहीं सुनाई देती। ऐसी स्थिति मे वह अपने सामान्य विचार से ही काम लता है, अपने सामान्य विचार से ही वह नैतिकता क नए माप दण्ड की खोज करने को चेष्टा करता है, और फिर किसी आदर्श की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है।

लक्ष्यवाद—लक्ष्यवाद का विकास अन्त अनुभूतिवाद की कमियों के कारण होता है। हम अन्त अनुभूतिवाद की मुख्य-मुख्य त्रुटियों को देख चुके हैं। लक्ष्यवाद मनुष्य के विवेकयुक्त विचार को ही नैतिक ध्येय के निश्चय का सम्पूर्ण श्रेय देता है। जिस मनुष्य की तार्किक बुद्धि जितनी ही प्रवीण है, और जिस मनुष्य का विवेक जितना ही जाग्रत होता है, वह धर्माधर्म, नीत्यानीति, और कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने की योग्यता उतनी ही अधिक रखता है। मनुष्य के विचार और उसके चरित्र का विकास एक साथ होता है। वास्तव में ये मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के दो भिन्न-भिन्न पहलू है, जो एक दूसरे पर पूर्णत आश्रित हैं। जब मनुष्य के विचारों में प्रौढ़ता आती है, तो वह सत्यासत्य, भला-बुरा तथा जीवन के अन्तिम लक्ष्य को जानने की चेष्टा करता है। मनुष्य अनेक प्रकार के पदार्थों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह इन पदार्थों को इसीलिए प्राप्त करना चाहता है कि इन्हें वह कीमती समझता है। वह जानता है कि अमुक पदार्थ के प्राप्त कर लेने से उसे विशेष प्रकार की पूर्णता प्राप्त हो जावेगी, उससे उसे स्थायी आत्म-सतोष होगा। इस तरह मनुष्य सबसे मूल्यवान् वस्तु, पूर्णता अथवा 'स्थायी आत्म-संतोष, को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इनकी खोज पहले वह विषय सुख अथवा सासारिक सफलता मे करता है। पीछे वह इनको कमियो को जान लेता है, और आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करने लगता है। इस प्रकार मनुष्य का विवेक उसे अपनी बहिर्मुखता को छोडने के लिए बाध्य

और अन्तर्मुखी होने के लिए प्रेरित करता है। विवेकी पुरुष के आचरण का लक्ष्य आन्तरिक पूर्णता अथवा निःश्रेय की प्राप्ति होती है। सर्वोत्तम लक्ष्यवाद के अनुसार किसी भी प्रकार के आचरण की नैतिकता इसी बात से मापी जाती है, कि वह विवेक के द्वारा स्थिर किये हुए लक्ष्य की प्राप्ति में कहाँ तक साधक है।

मनुष्य का विवेक उसे विश्वात्मा की ओर ले जाता है। विवेकवान् व्यक्ति अपने वैयक्तिक सुख से सुखी नहीं होता वह सबका सुख चाहता है। जिस प्रकार वह अपने वैयक्तिक विचार को एक मत मात्र मानता है और उसी विचार को सद्विचार अथवा सिद्धान्त मानता है जिसे वह सर्वमान्य पाता है अर्थात् जिसकी सत्यता उसे सभी विवेकशील व्यक्तियों में प्रत्यक्ष दिखाई देती है उसी प्रकार वह ऐसे आचरण को नैतिक आचरण नहीं मानता जो किसी वैयक्तिक अनुभूति के ऊपर आधारित हो और जिसका समर्थन सभी विवेकशील मनुष्यों के द्वारा न होता हो। उसके जीवन का लक्ष्य केवल अपनी ही पूर्णता प्राप्त करना नहीं वरन् सभी की पूर्णता प्राप्त करना होता है। वास्तव में पूर्णता कोई वैयक्तिक वस्तु नहीं है वह व्यापक वस्तु है। जो व्यक्ति अपनी ही पूर्णता की खोज करता है वह इस खोज करने की क्रिया से ही उसका विनाश कर देता है। वह पूर्णता ही कैसी जो किसी व्यक्ति विशेष में ही सीमित हो।

प्रश्न

१ मनुष्य के कार्यों की नैतिकता के विभिन्न मापदण्डों का वर्गीकरण कीजिये। इनका विकास किस प्रकार हुआ?
२ बाह्य नियमवाद को कहाँ तक नैतिकता का उचित मापदण्ड माना जा सकता है? अन्तर्नियमवाद की इससे तुलना कीजिये।
३ अन्तः अनुभूतिवाद का सिद्धान्त क्या है? इस मत के मुख्य दोष क्या हैं?
४ अन्तः अनुभूतिवाद और लक्ष्यवाद की तुलनात्मक विवेचना कीजिये। लक्ष्यवाद का विकास किस मानसिक स्तर पर होता है?

नवाँ प्रकरण

अन्तः अनुभूतिवाद[1]

अन्त अनुभूतिवाद की आवश्यकता—हमने पिछले प्रकरण मे दिखलाया है कि पहले-पहल मनुष्य नैतिकता की कसौटी की खोज अपने से बाहर करता है, पीछे जब वह इस कसौटी की त्रुटियों को जान लेता है, तो वह अपने भीतर ही नैतिकता की कसौटी की खोज करता है। धर्म की अविकसित अवस्था मे ईश्वर की आज्ञा को धर्म अथवा कर्तव्य मान लिया जाता है। ईश्वर की आज्ञा को हम धर्मग्रन्थों से पहचानते हैं। यह मान लिया जाता है कि धर्मग्रन्थों को या तो ईश्वर ने ही बनाया है, अथवा ईश्वर के किसी अवतार ने। धर्मग्रन्थों का अधिकार और सत्ता मनुष्यों के उक्त विश्वास पर निर्भर है। जब मनुष्यों मे विचार का विकास होता है, तो वह ईश्वर की खोज अपने से बाहर न करके अपने भीतर ही करता है। इस प्रकार ईश्वर का विचार परमात्मा, अन्तर्यामी, साक्षी, कूटस्थ आदि विचारों का जनक होता है। जब मनुष्य ससार के महाप्रभु को अपने भीतर ही देखने लगता है, तो उसकी आज्ञा को ही सर्वोच्च धर्म मानने लगता है। इस प्रकार जब तार्किक विचार गम्भीर होता है, तो वह मनुष्य को स्वत. ही अन्तः अनुभूति की ओर ले जाता है। अन्त अनुभूतिवाद के सभी बड़े-बड़े पण्डित दार्शनिक और किसी-न-किसी धर्म के मानने वाले थे। कितने ही अन्त अनुभूतिवादियों को बचपन में अच्छी धार्मिक शिक्षा मिली थी। जब एक बार मनुष्य धार्मिक बन जाता है, तो वह अपनी धार्मिक मनोवृत्ति को वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करने पर भी नहीं छोड़ता। वैज्ञानिक विचार बाहरी ईश्वर की सत्ता में

---

1 Intuitionism

अविश्वास उत्पन्न कर सकता है, परन्तु यदि मनुष्य में श्रद्धा की मनोवृत्ति है तो वह अपने भीतर ही उस सत्ता को देखने लगेगा जिसकी कल्पना वह अपने से बाहर करता है। बहिर्मुखी बुद्धि लौकिक अनुभव और वैज्ञानिक विचारों में लगन उत्पन्न करती है और अन्तर्मुखी बुद्धि मनुष्य को अन्तर्यामी की ओर ले जाती है।

अन्तः अनुभूति क्या है?—मनुष्य का अनुभव दो प्रकार का होता है एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। बाह्य अनुभव बाह्य इन्द्रियों के द्वारा होता है, और आन्तरिक अनुभव मनुष्य को उसकी अन्तर्मुखी बुद्धि अथवा हृदय के द्वारा होता है। इस प्रकार ज्ञान के दो प्रकार के साधन होते हैं—बाह्य करण अर्थात् इन्द्रिय और अन्तः करण। अन्तः अनुभूति अन्तः करण के द्वारा प्राप्त ज्ञान है। इसे अंग्रेजी में इन्ट्यूशन अर्थात् आन्तरिक आदेश कहते हैं। जो शक्ति इस ज्ञान को देती है, उसे अंग्रेजी में कान्शन्स अर्थात् अन्तरात्मा कहा जाता है। कभी-कभी कान्शन्स को अन्तरात्मा की आवाज अर्थात् अन्तर्ध्वनि भी कहा जाता है। अन्तः अनुभूति को भारतीय दर्शन में प्रधान मानते हैं। अन्तः अनुभूति एक ओर मनुष्य को आत्म-तत्त्व का ज्ञान कराती है, और दूसरी ओर यह मनुष्य को उसके कर्तव्य का ज्ञान कराती है। जब इसका काम ज्ञानोत्पादन होता है तब इसे दिव्य दृष्टि भी कहते हैं और जब यह क्रिया का काम करती है, तब इसे कान्शन्स अथवा अन्तरात्मा की आवाज अथवा अन्तःप्रेरणा अन्तर्ध्वनि आदि नामों से पुकारा जाता है। नीति-शास्त्र में हमारा प्रयोजन अन्तः अनुभूति के क्रियात्मक पक्ष से अधिक रहता है।

अन्तर्ध्वनि का स्वरूप—अन्तः अनुभूतिवाद के अनुसार अन्तर्ध्वनि ही कर्तव्याकर्तव्य की निर्णायक है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह मनुष्य की क्रिया से सम्बन्ध रखती है। यह मनुष्य को उसकी भूलें बताती है और उसमें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा उत्पन्न करती है। अन्तर्ध्वनि का स्वरूप और उसके कार्य भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार के माने हैं। कितने ही विद्वानों ने इसे मनुष्य की आन्तरिक इन्द्रिय कहा है जिसका मुख्य काम धर्माधर्म का विवेचन करना ही है। कुछ विद्वानों के अनुसार धर्माधर्म का यह ज्ञान उसी प्रकार प्राप्त करती है जिस प्रकार आँखें रंग और कान शब्द का —

प्राप्त करते है। प्रत्येक व्यक्ति की अन्तर्ध्वनि अलग-अलग होती है। किन्तु जिन लोगों को अच्छी शिक्षा मिली हो, उन सभी लोगों की अन्तर्ध्वनि एक ही बात कहती है। दूसरे लोग इसकी ज्ञान-शक्ति को दूसरे प्रकार का मानते है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

अन्तर्ध्वनि केवल कर्तव्य, अकर्तव्य, तथा आचरण के औचित्य और अनौचित्य की पहचान ही नहीं करती, वरन् वह मनुष्यों के हृदय में प्रेरणा उत्पन्न करती है कि वे भले काम करें, और बुरे काम से अपने-आप को रोकें। जब मनुष्य कोई बुरा काम कर बैठता है, तो उसकी अन्तरात्मा मे आत्म-ग्लानि के रूप मे उसे दण्ड भी मिलता है। जब वह ठीक काम करता है, तो उसके मन मे आत्म-प्रसाद उत्पन्न होता है। यह आत्म-प्रसाद ठीक काम करने का पुरस्कार है। इस तरह अन्तर्ध्वनि कई काम करती है। वह नैतिकता के माप-दण्ड को निश्चित करती है, अर्थात् उसके नियम को बनाती है, वह मनुष्य मे भले काम करने के लिए प्रेरणा उत्पन्न करती है, और बुरे काम करने पर वह दोषारोपण करती है, वह साक्षी भाव से न्यायाधीश का काम करती है और यदि कोई काम उसकी दृष्टि मे अनुचित ठहरा तो उसके लिये दण्ड भी देती है। किन्तु उसका प्रधान कार्य नैतिकता के विषय मे निर्णय करने का है। वही नैतिकता की कसौटी और उसका निर्णायक है।*

* Conscience is knowledge or judgment This, we have seen, is not merely logical judgment It is not a mere judgment of fact It is also judicial It is judgment upon fact This judicial attitude of conscience is a prominent characteristic of it Conscience in its usual manifestation seems to be engaged in a species of judicial investigations. Older writers delight in this metaphor which they worked out to show that, as common language seems to imply conscience is at once law giver, accuser witness and judge, conscience, it is said, "commands", conscience "accuses", conscience, "bears witness", conscience 'acquits' or "condemns Muirhead—**Elements of Ethics**

अविश्वास उत्पन्न कर सकता है, परन्तु यदि मनुष्य में श्रद्धा की मनोवृत्ति है तो वह अपने भीतर ही उस सत्ता को देखने लगेगा जिसकी कल्पना वह अपने से बाहर करता है। बहिर्मुखी बुद्धि लौकिक अनुभव और वैज्ञानिक विचारों में लगन उत्पन्न करती है और अन्तर्मुखी बुद्धि मनुष्य को अन्तर्यामी की ओर ले जाती है।

अन्तः अनुभूति क्या है ?—मनुष्य का अनुभव दो प्रकार का होता है एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। बाह्य अनुभव बाह्य इन्द्रियों के द्वारा होता है और आन्तरिक अनुभव मनुष्य को उसकी अन्तर्मुखी बुद्धि अथवा हृदय के द्वारा होता है। इस प्रकार ज्ञान के दो प्रकार के साधन होते हैं—बाह्य करण अर्थात् इन्द्रिय और अन्तः करण। अन्तः अनुभूति अन्तः करण के द्वारा प्राप्त ज्ञान है। इसे अंग्रेजी में इन्ट्यूशन अर्थात् आन्तरिक आदेश कहते हैं। जो शक्ति इस ज्ञान को देती है, उसे अंग्रेजी में कान्शन्स अर्थात् अन्तरात्मा कहा जाता है। कभी कभी कान्शन्स को अन्तरात्मा की आवाज अर्थात् अन्तर्ध्वनि भी कहा जाता है। अन्तः अनुभूति को भारतीय दर्शन में प्रज्ञान कहते हैं। अन्तः अनुभूति एक ओर मनुष्य को आत्म-तत्त्व का ज्ञान कराती है, और दूसरी ओर यह मनुष्य को उसके कर्तव्य का ज्ञान कराती है। जब इसका कार्य ज्ञानोत्पादन होता है तब इसे दिव्य दृष्टि भी कहते हैं, और जब यह क्रिया का काम करता है तब इसे अन्तस्तत्त्व अथवा अन्तरात्मा की आवाज अथवा अन्तःप्रेरणा अन्तर्ध्वनि आदि नामों से पुकारा जाता है। नीति-शास्त्र में हमारा प्रयोजन अन्तः अनुभूति के क्रियात्मक पहलू से अधिक रहता है।

अन्तर्ध्वनि का स्वरूप—अन्तः अनुभूतिवाद के अनुसार अन्तर्ध्वनि ही कर्तव्याकर्तव्य की निर्णायिका है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह मनुष्य की क्रिया से सम्बन्ध रखती है। यह मनुष्य को उसकी भूलें बताती है और उसमें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा उत्पन्न करती है। अन्तर्ध्वनि का स्वरूप और उसके कार्य भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के माने हैं। कितने ही विद्वानों ने इसे मनुष्य की छठवीं इन्द्रिय कहा है, जिसका मुख्य कार्य धर्माधर्म का विवेचन करना ही है। कुछ विद्वानों के अनुसार धर्माधर्म का यह ज्ञान उसी प्रकार प्राप्त करती है जिस प्रकार आँखें रंगरूप और कान शब्द का ज्ञान

पहले मत के प्रवर्तक शेफ्टसबरी और हचिन्सन महाशय हैं, दूसरे मत के प्रधान प्रवर्तक कडवर्थ, वालस्टेन और इमेनुअल कान्ट महाशय हैं, और तीसरे मत के प्रवर्तक मार्टिनो, विशपबटलर और न्यूमन महाशय हैं। अन्तः अनुभूति को भली-भाँति समझने के लिए इन सभी मतों को जानना। अतः हम आगे के पृष्ठों में उक्त मतों का संक्षेप में परिचय कराने की चेष्टा करेंगे।

नैतिक-प्रज्ञावाद—नैतिक प्रज्ञावाद के प्रवर्तक शेफ्टसबरी और हचिन्सन महाशय हैं। उनके मत का समर्थन जान रस्किन के लेखों में भी पाया जाता है। नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार हम किसी प्रकार के आचरण की नैतिकता को अपनी एक विशेष इन्द्रिय के द्वारा जानते हैं। इस इन्द्रिय को अन्तर्ध्वनि अथवा नैतिक प्रज्ञा कहते हैं। नैतिक प्रज्ञा से भले और बुरे का ज्ञान उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार हमारी बाहरी इन्द्रियों के द्वारा बाहरी पदार्थों के विभिन्नप्रकार के गुणों का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के लिए विचार की आवश्यकता नहीं होती। रंग का ज्ञान आँख से होता है, ध्वनि का कान से, इसी प्रकार भलाई और बुराई का ज्ञान सीधे नैतिक प्रज्ञा से होता है।

सुशिक्षित व्यक्ति आचरण की भलाई और बुराई को तुरन्त पहचान जाता है, और उसे भला आचरण अच्छा लगता है। सुन्दरता से प्रेम करने वाले व्यक्ति का दुराचारी होना सम्भव नहीं। मनुष्य में सुन्दरता का प्रेम जन्मजात है, शिक्षा के द्वारा उसकी वृद्धि की जाती है। इसी तरह उसमें सदाचार की प्रवृत्ति जन्म जात है, इसे शिक्षा के द्वारा बढ़ाया जा सकता है।

नैतिक प्रज्ञावाद की समालोचना—नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार नैतिकता का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान के सदृश तर्क-वितर्क रहित ज्ञान है। इसके लिए विचार की आवश्यकता नहीं होती। पर बात ऐसी नहीं है। किसी विशेष कार्य की नैतिकता को जानने के लिए पर्याप्त चिन्तन करना पड़ता है। जब मनुष्य किसी धर्म-संकट में पड़ जाता है, तो उसका मन कभी एक काम को करने को कहता है और कभी दूसरे काम को। यदि नैतिकता को जानने वाली शक्ति आँख और कान के सदृश काम करती, तो जिस प्रकार रंग और ध्वनि का ज्ञान हम एकाएक कर लेते हैं, उसी प्रकार हम नैतिकता का ज्ञान भी एकाएक कर लेते और आचरण की नैतिकता के विषय में हमें अधिक सोचना ही न पड़ता।

अन्तर्ध्वनि तार्किक बुद्धि से स्वतन्त्र वस्तु है। यह उससे ऊँचे स्तर का ज्ञान देती है। अन्तर्ध्वनि से प्राप्त हुए ज्ञान की सत्यता और उसकी आज्ञा का औचित्य तर्क-बुद्धि के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु अन्तर्ध्वनि स्वयं तर्क से उत्पन्न नहीं होती। यह अन्तर्ध्वनि मनुष्य को निश्चयात्मक बुद्धि देती है। तार्किक विचार मनुष्य को सदा डाँवा डोल अवस्था में रखता है। वह कभी एक पक्ष को ठीक सिद्ध करता है और कभी दूसरे को। निश्चयात्मक विचार अन्तर्ध्वनि से प्राप्त होता है। अतएव जो व्यक्ति अन्तर्ध्वनि की आज्ञा को सुनने का प्रयत्न जितना ही कम करता है वह अपने निश्चय में उतना ही डाँवा डोल रहता है और जो अन्तर्ध्वनि पर अपने-आप को जितना ही अधिक आश्रित कर देता है, वह अपने निश्चयों में उतना ही दृढ़ होता है। जिन लोगों को बड़े-बड़े महत्त्व के धार्मिक सामाजिक तथा राजनैतिक निश्चय करने पड़ते हैं उन्हें अन्तर्ध्वनि की आवाज पर निर्भर होने की बड़ी ही अधिक आवश्यकता होती है। जब वे एक निर्णय पर पहुँच जाते हैं, तो वे अपने विरोधी विचारों के कारण अपने निश्चय से चलायमान नहीं होते।

अन्तर्ध्वनिवाद के प्रकार

अन्तर्ध्वनिवाद की कई शाखाएँ हैं। अन्तर्ध्वनि को मानने वाले विद्वानों ने अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार अन्तर्ध्वनि के भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना की है। कुछ विद्वानों ने इसकी तुलना हमारी साधारण ज्ञानेन्द्रियों से की है और इसे विशेष प्रकार की इन्द्रिय माना है, दूसरे विद्वानों ने इसे ईश्वर की आवाज माना है, और कुछ ने इसे विवेकात्मक विचार माना है। इस तरह हम तीन प्रकार के प्रधान मतों को पाते हैं। ये मत तीन प्रकार के अन्तः अनुभूतिवाद कहे जाते हैं—

(१) अन्तःकरण-वाद अथवा नैतिक प्रज्ञावाद[1]
(२) विवेकात्मक अन्तः अनुभूतिवाद[2] और
(३) धार्मिक अन्तः अनुभूतिवाद[3]।

---

1 Moral Sense School. 2. Rationalisti Intuitionism.
3. Religious Intuitionism.

पहले मत के प्रवर्तक शेफ्टसबरी और हचिन्सन महाशय हैं, दूसरे मत के प्रधान प्रवर्तक कडवर्थ, वालस्टेन और इमेनुअल कान्ट महाशय हैं, और तीसरे मत के प्रवर्तक मार्टिनो, विगफहटनर और न्यूमन महाशय हैं। अन्तः अनुभूति को भली-भाँति समझने के लिए इन सभी मतों को जानना । अतः हम आगे के पृष्ठों में उक्त मतों का संक्षेप में परिचय कराने की चेष्टा करेंगे।

नैतिक-प्रज्ञावाद—नैतिक प्रज्ञावाद के प्रवर्तक शेफ्टसबरी और हचिन्सन महाशय हैं। उनके मत का समर्थन जान रस्किन के लेखों में भी पाया जाता है। नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार हम किसी प्रकार के आचरण की नैतिकता को अपनी एक विशेष इन्द्रिय के द्वारा जानते हैं। इस इन्द्रिय को अन्तर्ध्वनि अथवा नैतिक प्रज्ञा कहते हैं। नैतिक प्रज्ञा से भले और बुरे का ज्ञान उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार हमारी बाहरी इन्द्रियों के द्वारा बाहरी पदार्थों के विभिन्नप्रकार के गुणों का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के लिए विचार की आवश्यकता नहीं होती। रंग का ज्ञान आँख से होता है, ध्वनि का कान से, इसी प्रकार भलाई और बुराई का ज्ञान सीधे नैतिक प्रज्ञा से होता है।

सुशिक्षित व्यक्ति आचरण की भलाई और बुराई को तुरन्त पहचान जाता है, और उसे भला आचरण अच्छा लगता है। सुन्दरता से प्रेम करने वाले व्यक्ति का दुराचारी होना सम्भव नहीं। मनुष्य में सुन्दरता का प्रेम जन्मजात है, शिक्षा के द्वारा उसकी वृद्धि की जाती है। इसी तरह उसमें सदाचार की प्रवृत्ति जन्म जात है, इसे शिक्षा के द्वारा बढ़ाया जा सकता है।

नैतिक प्रज्ञावाद की समालोचना—नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार नैतिकता का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान के सदृश तर्क-वितर्क रहित ज्ञान है। इसके लिए विचार की आवश्यकता नहीं होती। पर बात ऐसी नहीं है। किसी विशेष कार्य की नैतिकता को जानने के लिए पर्याप्त चिन्तन करना पड़ता है। जब मनुष्य किसी धर्म-संकट में पड़ जाता है, तो उसका मन कभी एक काम को करने को कहता है और कभी दूसरे काम को। यदि नैतिकता को जानने वाली शक्ति आँख और कान के सदृश काम करती, तो जिस प्रकार रंग और ध्वनि का ज्ञान हम एकाएक कर लेते हैं, उसी प्रकार हम नैतिकता का ज्ञान भी एकाएक कर लेते और आचरण की नैतिकता के विषय में हमें अधिक सोचना ही न पड़ता।

अन्तर्ध्वनि तार्किक बुद्धि से स्वतन्त्र वस्तु है। यह उससे ऊँचे स्तर का ज्ञान देती है। अन्तर्ध्वनि से प्राप्त हुए ज्ञान की सत्यता और उसकी आज्ञा का औचित्य तर्क-बुद्धि के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु अन्तर्ध्वनि स्वयं तर्क से उत्पन्न नहीं होती। यह अन्तर्ध्वनि मनुष्य को निश्चयात्मक बुद्धि देती है। तार्किक विचार मनुष्य को सदा डाँवा डोल अवस्था में रखता है। वह कभी एक पक्ष को ठीक सिद्ध करता है और कभी दूसरे को। निश्चयात्मक विचार अन्तर्ध्वनि से प्राप्त होता है। अतएव जो व्यक्ति अन्तर्ध्वनि की आज्ञा को सुनने का प्रयत्न जितना ही कम करता है वह अपने निश्चय में उतना ही डाँवा डोल रहता है और जो अन्तर्ध्वनि पर अपने-आप को जितना ही अधिक आश्रित कर देता है वह अपने निश्चयों में उतना ही दृढ़ होता है। जिन लोगों को बड़े-बड़े महत्त्व के धार्मिक सामाजिक तथा राजनैतिक निश्चय करने पड़ते हैं उन्हें अन्तर्ध्वनि की आवाज पर निर्भर होने की बड़ी ही अधिक आवश्यकता होती है। जब वे एक निर्णय पर पहुँच जाते हैं, तो वे अपने विरोधी विचारों के कारण अपने निश्चय से चलायमान नहीं होते।

अन्तर्ध्वनिवाद के प्रकार

अन्तर्ध्वनिवाद की कई शाखाएँ हैं। अन्तर्ध्वनि को मानने वाले विद्वानों ने अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार अन्तर्ध्वनि के भिन्न भिन्न प्रकार की कल्पना की है। कुछ विद्वानों ने इसकी तुलना हमारी साधारण ज्ञानेन्द्रियों से की है और इसे विशेष प्रकार की इन्द्रिय माना है, दूसरे विद्वानों ने इसे ईश्वर की आवाज माना है, और कुछ ने इसे विवेकात्मक विचार माना है। इस तरह हम तीन प्रकार के प्रधान मतों को पाते हैं। ये मत तीन प्रकार के अन्तः अनुभूतिवाद कहे जाते हैं—

(१) अन्तःकरण-वाद अथवा नैतिक भाववाद[1]
(२) विवेकात्मक अन्तः अनुभूतिवाद[2] और
(३) धार्मिक अन्तः अनुभूतिवाद[3]।

---

1 Moral Sense School. 2. Rationalistic Intuitionism.
3. Religious Intuitionism.

पहले मत के प्रवर्तक शेफ्टसबरी और हचिन्सन महाशय हैं, दूसरे मत के प्रधान प्रवर्तक कडवर्थ, वालस्टेन और इयेनुअल कान्ट महाशय हैं, और तीसरे मत के प्रवर्तक मार्टिनो, विशपहटजर और न्यूमन महाशय हैं। अन्तः अनुभूति को भली-भाँति समझने के लिए इन सभी मतों को जानना। अत हम आगे के पृष्ठों में उक्त मतों का संक्षेप में परिचय कराने की चेष्टा करेंगे।

नैतिक प्रज्ञावाद—नैतिक प्रज्ञावाद के प्रवर्तक शेफ्टसबरी और हचिनसन महाशय हैं। उनके मत का समर्थन जान रस्किन के लेखों म भी पाया जाता है। नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार हम किसी प्रकार के आचरण की नैतिकता को अपनी एक विशेष इन्द्रिय के द्वारा जानते हैं। इस इन्द्रिय को अन्तर्ध्वनि अथवा नैतिक प्रज्ञा कहते हैं। नैतिक प्रज्ञा से भले और बुरे का ज्ञान उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार हमारी बाहरी इन्द्रियों के द्वारा बाहरा पदार्थों क विभिन्नप्रकार के गुणों का ज्ञान हाता है। इस ज्ञान के लिए विचार का आवश्यकता नहीं होती। रग का ज्ञान आँख से होता है, ध्वनि का कान से, इसी प्रकार भलाई और बुराई का ज्ञान सीधे नैतिक प्रज्ञा से होता है।

सुशिक्षित व्यक्ति आचरण की भलाई और बुराई को तुरन्त पहचान जाता है, और उसे भला आचरण अच्छा लगता है। सुन्दरता से प्रेम करने वाले व्यक्ति का दुराचारी होना सम्भव नहीं। मनुष्य में सुन्दरता का प्रेम जन्मजात है, शिक्षा के द्वारा उसकी वृद्धि की जाती है। इसी तरह उसमें सदाचार की प्रवृत्ति जन्म जात है, इसे शिक्षा के द्वारा बढाया जा सकता है।

नैतिक प्रज्ञावाद की समालोचना—नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार नैतिकता का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान के सदृश तक-वितर्क रहित ज्ञान है। इसके लिए विचार की आवश्यकता नहीं होता। पर बात ऐसी नहीं है। किसी विशेष कार्य की नैतिकता को जानने के लिए पर्याप्त चिन्तन करना पडता है। जब मनुष्य किसी धर्म-सकट में पड जाता है, तो उसका मन कभी एक काम को करने को कहता ह और कभी दूसरे काम को। यदि नैतिकता को जानने वाला शक्ति आँख और कान के सदृश काम करती, तो जिस प्रकार रंग और ध्वनि का ज्ञान हम एकाएक कर लेते हैं, उसी प्रकार हम नैतिकता का ज्ञान भी एकाएक कर लेते और आचरण की नैतिकता के विषय में हमें अधिक सोचना ही न पडता।

अन्तर्ध्वनि तार्किक बुद्धि से स्वतन्त्र वस्तु है। यह उससे ऊँचे स्तर का ज्ञान देती है। अन्तर्ध्वनि से प्राप्त हुए ज्ञान की सत्यता और उसकी आज्ञा का औचित्य तर्क-बुद्धि के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु अन्तर्ध्वनि स्वयं तर्क से उत्पन्न नहीं होती। यह अन्तर्ध्वनि मनुष्य को निश्चयात्मक बुद्धि देती है। तार्किक विचार मनुष्य को सदा डाँवा डोल अवस्था में रखता है। वह कभी एक पक्ष को ठीक सिद्ध करता है और कभी दूसरे को। निश्चयात्मक विचार अन्तर्ध्वनि से प्राप्त होता है। अतएव जो व्यक्ति अन्तर्ध्वनि की आज्ञा को सुनने का प्रयत्न जितना ही कम करता है वह अपने निश्चय में उतना ही डाँवा डोल रहता है और जो अन्तर्ध्वनि पर अपने-आप को जितना ही अधिक आश्रित कर देता है, वह अपने निश्चयों में उतना ही दृढ़ होता है। जिन लोगों को बड़े-बड़े महत्व के धार्मिक सामाजिक तथा राजनैतिक निश्चय करने पड़ते हैं उन्हें अन्तर्ध्वनि की आवाज पर निर्भर होने की बड़ी ही अधिक आवश्यकता होती है। जब वे एक निश्चय पर पहुँच जाते हैं तो वे अपने विरोधी विचारों के कारण अपने निश्चय से चलायमान नहीं होते।

अन्तर्ध्वनिवाद के प्रकार

अन्तर्ध्वनिवाद की कई शाखाएँ हैं। अन्तर्ध्वनि को मानने वाले विद्वानों ने अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार अन्तर्ध्वनि के भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना की है। कुछ विद्वानों ने इसकी तुलना हमारी साधारण ज्ञानेन्द्रियों से की है और इसे विशेष प्रकार की इन्द्रिय माना है, दूसरे विद्वानों ने इसे ईश्वर की आवाज माना है, और कुछ ने इसे विवेकात्मक विचार माना है। इस तरह हम तीन प्रकार के प्रधान मतों को पाते हैं। ये सब तीन प्रकार के अन्तः अनुभूतिवाद कहे जाते हैं—

(१) अन्तःकरण-वाद अथवा नैतिक प्रज्ञावाद[1]
(२) विवेकात्मक अन्तः अनुभूतिवाद[2] और
(३) धार्मिक अन्तः अनुभूतिवाद[3]।

---

1 Moral Sense School. 2. Rationalistic Intuitionism.
3. Religious Intuitionism.

पहले मत के प्रवर्तक शेफ्टसबरी और हचिन्सन महाशय हैं, दूसरे मत के प्रधान प्रवर्तक कडवर्थ, वालस्टेन और इमेनुअल कान्ट महाशय हैं, और तीसरे मत के प्रवर्तक मार्टिनो, विशपहट्लर और न्यूमन महाशय हैं। अन्तः अनुभूति को भली-भाँति समझने के लिए इन सबों मतों को जानना। अतः हम आगे के पृष्ठों में उक्त मतों का संक्षेप में परिचय कराने की चेष्टा करेंगे।

नैतिक-प्रज्ञावाद—नैतिक प्रज्ञावाद के प्रवर्तक शेफ्ट्सबरी और हचिन्सन महाशय हैं। उनके मत का समर्थन जान रस्किन के लेखों में भी पाया जाता है। नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार हम किसी प्रकार के आचरण की नैतिकता को अपनी एक विशेष इन्द्रिय के द्वारा जानते हैं। इस इन्द्रिय को अन्तर्ध्वनि अथवा नैतिक प्रज्ञा कहते हैं। नैतिक प्रज्ञा से भले और बुरे का ज्ञान उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार हमारी बाहरी इन्द्रियों के द्वारा बाहरी पदार्थों के विभिन्नप्रकार के गुणों का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के लिए विचार की आवश्यकता नहीं होती। रंग का ज्ञान आँख से होता है, ध्वनि का कान से, इसी प्रकार भलाई और बुराई का ज्ञान सीधे नैतिक प्रज्ञा से होता है।

सुशिक्षित व्यक्ति आचरण की भलाई और बुराई को तुरन्त पहचान जाता है, और उसे भला आचरण अच्छा लगता है। सुन्दरता से प्रेम करने वाले व्यक्ति का दुराचारी होना सम्भव नहीं। मनुष्य में सुन्दरता का प्रेम जन्मजात है, शिक्षा के द्वारा उसकी वृद्धि की जाती है। इसी तरह उसमें सदाचार की प्रवृत्ति जन्म जात है, इसे शिक्षा के द्वारा बढ़ाया जा सकता है।

नैतिक प्रज्ञावाद की समालोचना—नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार नैतिकता का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान के सदृश तर्क-वितर्क रहित ज्ञान है। इसके लिए विचार की आवश्यकता नहीं होती। पर बात ऐसी नहीं है। किसी विशेष कार्य की नैतिकता को जानने के लिए पर्याप्त चिन्तन करना पड़ता है। जब मनुष्य किसी धर्म-संकट में पड़ जाता है, तो उसका मन कभी एक काम को करने को कहता है और कभी दूसरे काम को। यदि नैतिकता को जानने वाली शक्ति आँख और कान के सदृश काम करती, तो जिस प्रकार रंग और ध्वनि का ज्ञान हम एकाएक कर लेते हैं, उसी प्रकार हम नैतिकता का ज्ञान भी एकाएक कर लेते और आचरण की नैतिकता के विषय में हमें अधिक सोचना ही न पड़ता।

अन्तर्ध्वनि तार्किक बुद्धि से स्वतन्त्र वस्तु है। यह उससे ऊँचे स्तर का ज्ञान देती है। अन्तर्ध्वनि से प्राप्त हुए ज्ञान की सत्यता और उसकी मान्यता का औचित्य तर्क-बुद्धि के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु अन्तर्ध्वनि स्वयं तर्क से उत्पन्न नहीं होती। यह अन्तर्ध्वनि मनुष्य को निश्चयात्मक बुद्धि देती है। तार्किक विचार मनुष्य को सदा डाँवा डोल अवस्था में रखता है। यह कभी एक पक्ष को ठीक सिद्ध करता है और कभी दूसरे को। निश्चयात्मक विचार अन्तर्ध्वनि से प्राप्त होता है। अतएव जो व्यक्ति अन्तर्ध्वनि की आज्ञा को सुनने का प्रयत्न जितना ही कम करता है वह अपने निश्चय में उतना ही डाँवा डोल रहता है और जो अन्तर्ध्वनि पर अपने-आप को जितना ही अधिक आश्रित कर देता है, वह अपने निश्चयों में उतना ही दृढ़ होता है। जिन लोगों को बड़े बड़े महत्त्व के धार्मिक सामाजिक तथा राजनैतिक निश्चय करने पड़ते हैं उन्हें अन्तर्ध्वनि की आवाज पर निर्भर होने की बड़ी ही अधिक आवश्यकता होती है। जब वे एक निश्चय पर पहुँच जाते हैं तो वे अपने विरोधी विचारों के कारण अपने निश्चय से चलायमान नहीं होते।

अन्तर्ध्वनिवाद के प्रकार

अन्तर्ध्वनिवाद की कई शाखाएँ हैं। अन्तर्ध्वनि को मानने वाले विद्वानों ने अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार अन्तर्ध्वनि के भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना की है। कुछ विद्वानों ने इसकी तुलना हमारी साधारण ज्ञानेन्द्रियों से की है और इसे विशेष प्रकार की इन्द्रिय माना है, दूसरे विद्वानों ने इसे ईश्वर की आवाज माना है, और कुछ ने इसे विवेकात्मक विचार माना है। इस तरह हम तीन प्रकार के प्रधान मतों को पाते हैं। ये मत तीन प्रकार के अन्तः अनुभूतिवाद कहे जाते हैं—

(१) अन्तःकरण-वाद अथवा नैतिक प्रज्ञावाद
(२) विवेकात्मक अन्तः अनुभूतिवाद और
(३) धार्मिक अन्तः अनुभूतिवाद।

Moral Sense School. 2. Rationalistic Intuitionism.
-ligious Intuitionism.

पहले मत के प्रवर्तक शेफ्टसवरी और हचिन्सन महाशय है, दूसरे मत के प्रधान प्रवर्तक कडवर्थ, वालन्स्टेन और इयेनुअल कान्ट महाशय हैं, और तीसरे मत के प्रवर्तक मार्टिनो, विशपहटलर और न्यूमन महाशय हैं। अन्त· अनुभूति को भली-भाँति समझने के लिए इन सबों मतों को जानना। अतः हम आगे के पृष्ठों मे उक्त मतों का संक्षेप मे परिचय कराने की चेष्टा करेंगे।

नैतिक-प्रज्ञावाद—नैतिक प्रज्ञावाद के प्रवर्तक शेफ्टसवरी और हचिनसन महाशय है। उनके मत का समर्थन जान रस्किन के लेखों मे भी पाया जाता है। नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार हम किसी प्रकार के आचरण की नैतिकता को अपनी एक विशेष इन्द्रिय के द्वारा जानते है। इस इन्द्रिय को अन्तर्ध्वनि अथवा नैतिक प्रज्ञा कहते हैं। नैतिक प्रज्ञा से भले और बुरे का ज्ञान उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार हमारी बाहरी इन्द्रियों के द्वारा बाहरी पदार्थों के विभिन्नप्रकार के गुणों का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के लिए विचार की आवश्यकता नहीं होती। रंग का ज्ञान आँख से होता है, ध्वनि का कान से, इसी प्रकार भलाई और बुराई का ज्ञान सीधे नैतिक प्रज्ञा से होता है।

सुशिक्षित व्यक्ति आचरण की भलाई और बुराई को तुरन्त पहचान जाता है, और उसे भला आचरण अच्छा लगता है। सुन्दरता से प्रेम करने वाले व्यक्ति का दुराचारी होना सम्भव नहीं। मनुष्य में सुन्दरता का प्रेम जन्मजात है, शिक्षा के द्वारा उसकी वृद्धि की जाती है। इसी तरह उसमें सदाचार की प्रवृत्ति जन्म जात है, इसे शिक्षा के द्वारा बढ़ाया जा सकता है।

नैतिक प्रज्ञावाद की समालोचना—नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार नैतिकता का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान के सदृश तर्क-वितर्क रहित ज्ञान है। इसके लिए विचार की आवश्यकता नहीं होती। पर बात ऐसी नहीं है। किसी विशेष कार्य की नैतिकता को जानने के लिए पर्याप्त चिन्तन करना पड़ता है। जब मनुष्य किसी धर्म-संकट में पड़ जाता है, तो उसका मन कभी एक काम को करने को कहता है और कभी दूसरे काम को। यदि नैतिकता को जानने वाली शक्ति आँख और कान के सदृश काम करती, तो जिस प्रकार रंग और ध्वनि का ज्ञान हम एकाएक कर लेते है, उसी प्रकार हम नैतिकता का ज्ञान भी एकाएक कर लेते और आचरण की नैतिकता के विषय में हमें अधिक सोचना ही न पड़ता।

फिर कभी-कभी महत्व-पूर्ण कामों की नैतिकता के विषय में दो व्यक्ति भिन्न-भिन्न राय रखते हैं। यदि अन्तर्ध्वनि का ज्ञान आँखों के ज्ञान के सदृश होता तो इस प्रकार के मत भेद का होना असंभव होता। ऐसा मत भेद शिक्षित व्यक्तियों में उसी प्रकार होता है जिस प्रकार अशिक्षित व्यक्तियों में। यदि हम किसी काम की नैतिकता के निर्णय में तार्किक विचार को स्थान न दें तो दो व्यक्तियों के भिन्न भिन्न मतों में से यह कभी न जान सकेंगे कि कौन-सा मत ठीक है और कौन सा गलत। हम प्रायः अपने विचार से ही यह निर्णय करते हैं कि दो व्यक्ति व्यक्तियों में से किसकी राय को मानना चाहिए।

साधारणतः अन्तरात्मा की आवाज सुनने वाले लोग दूसरे लोगों की अन्तरात्मा की आवाज को महत्त्व नहीं देते। वे अपनी ही अन्तरात्मा की आवाज को सच्चा मान लेते हैं। दूसरे लोग उनका अन्धानुकरण मात्र करते हैं।

नैतिक प्रज्ञावादियों का कथन है कि भली शिक्षा से अन्तर्ध्वनि सुनाई देता है। पर हम किस शिक्षा को भली और किस को बुरी कहेंगे? यदि इसका उत्तर यह हो कि जो शिक्षा सद्विचार के अनुसार हो यह भली मानी जाय तो सद्विचार नैतिकता निर्णायक हो जायगा और यदि कहा जाय कि अन्तर्ध्वनि के अनुसार प्राप्त शिक्षा भली शिक्षा है तो अन्तर्ध्वनि का स्वरूप फिर भी स्पष्ट न होगा। इस प्रकार की युक्ति अन्योन्याश्रय-दोष से युक्त है।

सौन्दर्य ज्ञान की समता देकर अन्तर्ध्वनि के ज्ञान का तार्किक विचार के परे बताना सम्भव नहीं। तार्किक विचार वस्तुओं की सुन्दरता के निर्णय में काम करता है। किसी पदार्थ की सुन्दरता उस पर विचार किये बिना नहीं निश्चित होती। इसी प्रकार बिना विचार किए आचरण की नैतिकता का निर्णय करना सम्भव नहीं। फिर सुन्दरता के विषय में दो व्यक्ति अपने अपने संस्कारों के अनुसार दो प्रकार के निर्णय देते हैं। इन लोगों के विचारों में समन्वय स्थापित करने अथवा उनके विषय में सद्‌सत् जानने की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी नैतिक विचारों के विषय में होती है। सुन्दरता का ⸺विक रूप जाने बिना भी कोई मनुष्य अपने जीवन को सम्पन्न बना सकता है; पर नैतिकता की ठीक ठीक निर्णय कर सकने की

योग्यता के बिना वह अपने जीवन को सफल नहीं बना सकता, और समाजोपयोगी काम ही कर सकता है। अतएव नैतिकता के विचार जीवन में जितना महत्त्व रखते हैं, सौन्दर्य के विचार उतना महत्त्व नहीं रखते।

सुन्दरता और नैतिकता का ऐक्य करना एक भारी भूल है। मनुष्य के अनेक काम ऐसे होते हैं, जो देखने में तो असुन्दर, पर नैतिकता की दृष्टि से उच्च होते हैं। किसी रोगी की सेवा करना, उसका मल-मूत्र साफ करना असुन्दर काम दिखाई देते हैं, पर नैतिकता की दृष्टि से ये ऊँचे काम हैं। फिर कितने ही सुन्दर पुरुष और सुन्दरता के प्रेमी व्यभिचारी होते हैं, अर्थात् उनका आचरण अनैतिक होता है, और कितने ही रूप में असुन्दर पुरुष तथा सुन्दरता से उदासीन व्यक्तियों का आचरण उच्च कोटि का होता है। यूनान देश में किसी समय सुन्दरता के उपासकों की वृद्धि हो गई थी। महात्मा सुकरात को विष पिलाने में इन उपासकों को इसी लिये हिचक न हुई कि वे सोचते थे कि हम एक दुरात्मा को मार रहे हैं। महात्मा सुकरात रूप में असुन्दर थे और अपनी गरीबी के कारण सुन्दर-सुन्दर वस्त्र भी धारण नहीं कर सकते थे। यूनानियों का विचार था कि जो व्यक्ति रूप में असुन्दर है, वह आत्मा में भी असुन्दर होगा, अतएव ऐसे व्यक्ति की मृत्यु का हो जाना ही अच्छा है। आज हम जानते हैं कि उनका इस प्रकार का विचार गलत था।

कितने ही विलासी नवयुवक और नवयुवतियाँ अपने आपको आकर्षक बनाने के लिये अनेक प्रकार के शृंगार करते हैं। प्रति-दिन नये-नये धुले कपड़े पहनना, साड़ियाँ बदलना और चेहरे को चमकीला बनाने के लिये पाउडर और स्नोक्रीम लगाना सुन्दरता की अति उपासना का ही परिणाम है। यदि ये लोग अपनी विलासिता की सामग्री को कम करके, शरीर के शृङ्गार की चीजों से पैसा बचा कर, भूखे-मरते गरीबों को खाने को देते, तो उनका रूप कुछ अनाकर्षक अवश्य हो जाता, पर नैतिकता की दृष्टि से वे अपने आपको ऊंचा उठा लेते। जब किसी राष्ट्र में सुन्दरता की उपासना की अत्यधिक वृद्धि होती है, तो उसका पतन होता है, और जब नैतिकता की वृद्धि होती है, तो [illegible] होता है। प्राचीनकाल में यूनान और भारतवर्ष की [illegible]

रचालता को ले गए। वर्तमानकाल में भारतवर्ष में नवजीवन नैतिकता के आचरण के साथ-साथ आया है।

विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद[1]

विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद के मुख्य तत्त्व-विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद न्याय शास्त्र को नीति-शास्त्र मे प्रधानता देता है। इसके अनुसार मनुष्य की अन्तरात्मा उसे जिस कार्य की ओर प्रेरित करती है, वह विवेक के प्रतिकूल नहीं होता। जब कभी हमें अन्तरात्मा से कोई ऐसा काम करने का आदेश मिले जो हमारे विवेक के प्रतिकूल है, तो हमे समझना चाहिये कि वह अन्तरात्मा का आदेश ही नहीं है। अन्तरात्मा के आदेश तर्क-बुद्धि के द्वारा ठीक माने जाते हैं। इंग्लैंड के प्रसिद्ध नीति शास्त्रज्ञ कडवर्थ और क्लार्क महाशयों का कथन है कि नैतिक निर्णय तर्क शास्त्र के निर्णय के समान् है। जिस प्रकार शास्त्रवादी कहा करते थे कि अनैतिक काम वह है, जो सुन्दरता के विरुद्ध हो अर्थात् अनैतिक कार्य असुन्दर कार्य है; उसी प्रकार विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद के प्रवर्तकों ने कहा है कि जो कार्य तर्कयुक्त न हो वह अनैतिक है। उन्होंने आचरण की भूल को विचार की ही भूल माना है। जिस प्रकार विचार में मनुष्य को अविरोध के नियम को पालन करना पड़ता है, उसी प्रकार नैतिक आचरण में भी उसे उसका पालन करना पड़ता है। जो व्यक्ति अपने आचरण को कभी कैसा और कभी कैसा बनाता है, अर्थात् जिसके आचरण में एकता या साम्य नहीं रहता, वह सदाचारी नहीं कहा जा सकता है। अपने पूर्व-कृत्य के विरुद्ध आचरण करना अनैतिक आचरण है जिस तरह कि अपने पूर्व-विचार के प्रतिकूल किसी विचार को लाना विचार में भूल माना जाती है। जिस तरह पारस्परिक विरोधी विचार सही नहीं होते उसी तरह पारस्परिक विरोधी आचरण भी सही नहीं होते।

वालस्टेन का मत—विलियम वालस्टेन महाशय विवेकात्मक अन्तर्दर्शनवाद के एक मुख्य प्रवर्तक थे। उनके कथनानुसार अनैतिक आचरण वह है,

1 Rationalistic Intuitionism. 2. Law of Noncontradiction.

जिसमें मनुष्य अपने आचरण को झूठा बनाता है। वालस्टेन महाशय ने नैतिकता के आधारभूत निम्न चार सिद्धान्तों का निरूपण किया है—

(१) जिन कार्यों को नैतिक अथवा अनैतिक कहा जा सकता है, वे विवेक-युक्त और स्वतन्त्र कर्ता के होते हैं, अर्थात् कर्त्ता में पहचानने, चुनाव करने और भले समझे जाने वाले काम को करने की योग्यता होती है।

(२) वे विचार सही हैं जिनके द्वारा वस्तु-स्थिति के अनुरूप बातें बताई जाती हैं। सत्य को अपने कार्य अथवा वचन के द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है, और उसमें वस्तु स्थिति को ही दर्शाया जाता है।

(३) किसी भी सच्चे विचार का खण्डन शब्द अथवा क्रिया से हो सकता है।

(४) वस्तु स्थिति के प्रतिकूल कोई भी कार्य सही नहीं हो सकता।

वालस्टेन महाशय का कथन है कि मनुष्य किसी कार्य की नैतिकता को अपनी अन्तर्दर्शन की शक्ति से तुरन्त पहचान लेता है, और इस पहचान में उक्त चार सिद्धान्तों का समावेश रहता है। वालस्टेन महाशय के सिद्धान्तानुसार अनैतिकता एक प्रकार से आचरण की झूठ है। जब कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का घोड़ा चुरा लेता है, तो वह अपने आचरण से एक झूठ को प्रकाशित करता है। वालस्टेन न तो तर्क को ही नैतिकता का मापदण्ड मानते हैं, और न संसार के सुख अथवा प्रकृति के नियम के अनुसार आचरण बनाने को ही। उनका कथन है कि तर्क के द्वारा बुद्धि में प्रवीण लोग सही को गलत और गलत को सही सिद्ध कर देते है, फिर स्वयं तर्क किसी निर्णय पर नहीं ले जाता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि मेरा तर्क ही ठीक है। अतएव वस्तु-स्थिति के अनुसार आचरण करना ही नैतिक आचरण है। घोड़ा चुराने वाले का तर्क ठीक हो सकता है, पर वह वस्तु-स्थिति के प्रतिकूल आचरण करता है, अर्थात् वह घोड़े का मालिक न होकर भी उसके मालिक होने का दावा करता है, और इस प्रकार वह अपने आचरण से झूठ बोलता है। इसीलिये उसका आचरण अनैतिक आचरण माना गया है।

वालस्टेन महाशय सुख को नैतिकता का मापदण्ड इसलिये नहीं मानते कि

सभी भले कामों का सुख के साथ अनिवार्य-सम्बन्ध नहीं होता। बहुत से भले काम कष्ट के साथ किये जाते हैं और उनका फल भी सुखदायक नहीं होते। फिर यदि सुख को ही नैतिकता का मापदण्ड मान लिया जाय तो मनुष्य इसके कारण इन्द्रिय सुख की लोलुपता में ही पड़ जायगा और वह अपनी इन्द्रियों को स्वच्छन्दता पूर्वक विषय भोगों मे रमण करने की छूट दे देगा। पर मनुष्य को इन्द्रिय-संयम सिखाना ही धर्म और नैतिकता का प्रधान उद्देश्य है।

वालस्टन के मत की आलोचना—वालस्टैन विवेकात्मक अन्तर्वनिवाद के सबसे अच्छे प्रतिनिधि हैं। इनके मत का खण्डन मेकेन्जी और स्टीफन महाशयों ने किया है। मेकेन्जी महाशय के कथनानुसार प्रत्येक भले काम को सत्य के अनुसार और प्रत्येक बुरे काम को सत्य के प्रतिकूल मानना तो ठीक है पर इस नियम को नैतिकता का माप दण्ड नहीं बनाया जा सकता। नैतिकता में वस्तुस्थिति पर जोर देना और नैतिक आदर्श की अवहेलना करना भारी भूल है। इस प्रसंग मे स्टेफन महाशय का एक व्यंग उल्लेखनीय है—"तीस वर्ष के दार्शनिक मनन के बाद वालस्टैन महाशय इस नियम पर आये कि अपनी स्त्री का सिर फोड़ना इस लिए बुरा है, कि इस प्रकार वे उस स्त्री के अपनी पत्नी होने के तत्व को अस्वीकार करते हैं। सभी पाप झूठ बोलना है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे को मार डालता है, तो उसका मार डालना उसके प्रति भ्रातृत्व के भाव के विरुद्ध जाता है, इसलिए ही बुरा है। वालस्टैन महाशय का कथन है कि यह अपराध ही नहीं उससे भी बुरा है, अर्थात् यह विचार की भारी भूल है।

किसी आचरण को इस लिये अनैतिक मानना कि वह वस्तु स्थिति के विरुद्ध है, उसकी नैतिकता की ठीक परख नहीं है। कोई आचरण इस लिये अनैतिक होता है क्योंकि वह मनुष्य के आदर्श के प्रतिकूल है।

उपर्युक्त विद्वानों ने न्याय-शास्त्र और नीति-शास्त्र का ऐक्य कर दिया है, जो अनुचित है। दोनों विज्ञानों का क्षेत्र अलग-अलग है। विचार नैतिकता के निर्णय में सहायक अवश्य होता है, पर नैतिकता को सम्पूर्ण रूप से विचार पर ही आश्रित कर देना और अनैतिक आचरण को एक प्रकार की भूल मानना अनुचित है। इससे नीति शास्त्र का स्वतन्त्र अस्तित्व ही मिट जाता है। पर

नीति शास्त्र का विशेष क्षेत्र है। हम विचार की भूल के लिये मनुष्य को उतना दोषी नहीं ठहराते, जितना दुराचरण के लिए ठहराते है। यदि कोई व्यक्ति झूठ को सत्य, और सत्य को झूठ मान ले, तो हम उसे केवल मूर्ख मानकर रह जाते हैं, उसे दण्ड देने के लिये उतारू नहीं होते। पर यदि कोई व्यक्ति दुराचरण करता है, तो समाज उसे दण्ड देता है, उसके प्रति उदासीनता दिखाना समाज व्यवस्था के लिये हानिकारक है। इस प्रकार आचरण की बुराई को विचार की भूल मात्र नहीं कहा जा सकता। वास्तव मे जब हम किसी व्यक्ति के आचरण की बुराई को उसके विचार की भूल के रूप में देखने लगते हैं, तो उसके बुरे आचरण को क्षम्य मान लेते हैं।

धार्मिक अन्त अनुभूतिवाद[1]

न्यूमेन का मत—धार्मिक अन्तःअनुभूतिवाद के सबसे अच्छे प्रवर्तक कार्डिनल न्यूमेन महाशय है। इन्होंने अपने सिद्धान्तों को अपनी पुस्तक "ग्रामर आफ असेन्ट" में लिखा है। कार्डिनल न्यूमेन महाशय के अनुसार मनुष्य के विचार में दो प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं, एक युक्तियों को खोजती है और दूसरी निर्णय देती, तथा विश्वास उत्पन्न कराती है। पहली प्रकार की शक्ति को तर्कबुद्धि, और दूसरी को निश्चयात्मक बुद्धि कह सकते हैं। न्यूमेन महाशय ने इसे "इलेटिव फेकल्टी"[2] कहा है। निश्चयात्मक बुद्धि ही अन्तर्ध्वनि है। यह मनुष्य के नैतिक और धार्मिक दोनों प्रकार के विचारों में काम करती है।

न्यूमेन महाशय का कथन है कि हमारे प्रत्येक विचार में तर्क के परे एक विलक्षण शक्ति कार्य करती है। इसे "स्वीकार शक्ति" कह सकते हैं। किसी निश्चय के लिये न तो अनुभव पर्याप्त होते हैं, और न तार्किक प्रमाण। जब तक हम किसी बात को मानने को तैयार नहीं होते, तब तक कोई भी व्यक्ति हमें तर्क अथवा अनुभव के प्रमाणों द्वारा उसे मनवा नहीं सकता। यदि मनुष्य केवल तर्क के आधार पर ही अपना निर्णय करे, तो वह कुछ भी निर्णय न कर सकेगा। उसका मन सदा डवाडोल की अवस्था में ही बना रहेगा। एक प्रमाण, दूसरे विरोधी प्रमाण को काट देता है, इस प्रकार वह बुद्धि को अस्थिर

---

1 Religious intuitionism 2. Illative Faculty

कर देता है। फिर यदि हम प्रमाणों के आधार पर ही अपने निश्चय को बनाने लग जायें तो हम सदा संदिग्ध मन का रहेंगे, क्योंकि प्रत्येक प्रमाण का विरोधी प्रमाण आज नहीं तो भविष्य में मिल सकता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य सदा सन्देह की मनोवृत्ति में ही बना रहेगा। अतएव किसी निश्चय का आधार तार्किक प्रमाण मात्र ही नहीं वरन् श्रद्धा और विश्वास भी होते हैं। विश्वास की मनोवृत्ति ही एक प्रकार के प्रमाणों को स्वीकार करती है और दूसरे प्रकार के प्रमाणों को अस्वीकार करती है। जब तक यह मनोवृत्ति अपना काम नहीं करती तबतक मनुष्य सदा सन्दिग्ध मन बना रहता है।

न्यूमैन का कथन है कि निश्चय पर पहुँचाने वाली बुद्धि विश्लेषणात्मक[1] नहीं है। यह बुद्धि सभी बातों को एक साथ देखने की योग्यता रखती है; अर्थात् यह संश्लेषणात्मक[2] बुद्धि है। जब यह बुद्धि नैतिक निर्णयों में काम करती है तो यह अन्तर्ध्वनि कहलाती है। यह तर्क बुद्धि से सहायता लेती है; किन्तु यह उसके परे है। दूसरे लोगों की अपेक्षा धार्मिक मनोवृत्ति के लोगों में यह अधिक प्रबल होती है।

उक्त मत की आलोचना—धार्मिक अन्तर्ध्वनिवाद एक महत्त्व के सत्य को प्रदर्शित करता है। किसी निर्णय पर आने के लिये मनुष्य केवल अपनी तर्क बुद्धि से ही काम नहीं लेता वरन् वह अपनी सम्पूर्ण बुद्धि और अचेतन भावनाओं से भी काम लेता है। पर इस निर्णय की शक्ति को युक्तिसंगत विचार अथवा तर्क बुद्धि से पृथक् वस्तु मानना अनावश्यक है। यह बात सत्य है कि हम बहुत सी बातों को बिना तार्किक बुद्धि के काम में लाये ठीक-ठीक समझ जाते हैं और हमारे बहुत से ऐसे निर्णय होते हैं जिनकी सभी युक्तियाँ हम तर्क के रूप में दूसरों के समक्ष नहीं रख सकते। हम कभी किसी व्यक्ति को देखते हैं और एकाएक उससे किसी प्रकार के नुकसान की आशा करने लगते हैं और कभी हम दूसरे व्यक्ति को देखते हैं और उससे लाभ की आशा करने लगते हैं। यह हमारी संश्लेषणात्मक बुद्धि का काम है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को नैतिक काम करने का अभ्यास है वह किसी भी कार्य की नैतिकता को उस पर तार्किक

1 Analytic. 2 Synthetic.

विचार किये बिना ही तुरन्त समझ जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी निर्णय पर आने के लिये तर्क के अतिरिक्त दूसरी शक्ति भी सहायता करती है।

पर इस शक्ति को तर्क-शक्ति के ऊपर की शक्ति मानना अथवा उससे भिन्न मानना अथवा उसे किसी एक प्रकार के व्यक्ति की विशेषता मानना युक्ति सगत नहीं है। जिस निर्णय पर हम एकाएक आजाते हैं, उसके विषय में जब हम विचार करते हैं, तो युक्तियों को भी जान लेते हैं। ये युक्तियाँ हमारे अचेतन मन मे वर्तमान रहती हैं, पर यत्न करने पर ये चेतना को स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती हैं। इस प्रकार मनुष्य की समझ के दो अग हैं, एक तार्किक विचार[1] और दूसरा अज्ञात समझ[2]। यह समझ सभी लोगों को होती है। इसके लिये धार्मिक साधनाओं की विशेष आवश्यकता नहीं। जिन लोगों को धार्मिक जीवन का अभ्यास है, वे धार्मिक निर्णयों मे प्रवीण होते हैं, और जिन लोगों का मन राजनैतिक बातों मे विचरण करता है, वे राजनैतिक बातों के निर्णय करने में प्रवीण होते हैं। यहाँ मनुष्य का अभ्यास ही उसकी विशेष प्रकार की शक्ति की वृद्धि का कारण होता है।

धार्मिक अन्तर्ध्वनिवाद के मानने वाले लोग अन्तरात्मा की आवाज मे विश्वास करते हैं। ऐसे लोग ससार के दूसरे लोगों के धर्म-गुरु बनते हैं। धार्मिक पैगम्बरों के बारे में प्रसिद्ध है कि ये अपनी अन्तरात्मा मे भगवान की आवाज सुनते थे। इसी प्रकार आधुनिक काल में भी कुछ लोग ईश्वर की आवाज अपने हृदय में सुनते हैं, और इस आवाज के आधार पर वे अपना सारा कार्य-क्रम बनाते है। ईश्वर की आवाज सुनने वाले लोग दृढ इच्छा-शक्ति के होते हैं। वे समाज के नेता होते हैं, वे अपने निश्चय के प्रतिकूल किसी प्रकार की युक्तियों को नहीं सुनते। वे दृढ़व्रती होते हैं, अतएव वे समाज का बहुत कुछ उपकार करने में समर्थ होते हैं। परन्तु यदि वे कोई भूल करें, तो उसका सुधारना भी कठिन होता है। वे दूसरे लोगों की अन्तरात्मा की आवाज की परवाह नहीं

---

1 Rational thought, 2 Apperceptive power

करते। जो उनसे भिन्न राय रखता है, उसे वे गुमराह मान लेते हैं। इसके कारण कभी-कभी समाज की भारी क्षति भी हो जाती है।

अन्तःकरण को मानने वाले लोगों का व्यक्तित्व जिस प्रकार प्रबल होता है, उनके अनुयायियों का व्यक्तित्व उसी प्रकार निर्बल होता है। मनुष्य की इच्छा शक्ति अपने ही निश्चय के अनुसार काम करने से दृढ़ होती है, चाहे वह निश्चय स्वबुद्धि का निर्णय हो अथवा किसी दूसरे शक्ति का। जो लोग अन्तरात्मा की आवाज सुनने वाले व्यक्ति को खास पुरुष मान कर बिना तार्किक विचार के उसका अनुकरण करते हैं, वे स्वतन्त्र निश्चय करने की शक्ति को खो देते हैं। इस प्रकार महान् पुरुषों के व्यक्तित्व की प्रबलता ही दूसरे लोगों की नैतिक दुर्बलता का कारण बन जाती है। व्यक्तित्व की महानता अपनी ही *निश्चयात्मक बुद्धि की प्रबलता से आती है; दूसरे व्यक्ति की निश्चयात्मक बुद्धि के* अनुसार चलने से व्यक्तित्व की दुर्बलता उत्पन्न होती है।

मार्टीनो महाशय का अन्तः अनुभूतिवाद—डाक्टर मार्टीनो के कथनानुसार किसी की भलाई अथवा बुराई उस कार्य के प्रेरक पर निर्भर है। डाक्टर मार्टीनो ने मनुष्य के विभिन्न प्रकार के कार्यों के भिन्न-भिन्न प्रेरक माने हैं। इन प्रेरकों को उन्होंने "कार्य भाव"[1] कहा है। हम एक पिछले प्रकरण में कार्य भाव की कुछ चर्चा कर चुके हैं। वहाँ पर इन कार्य-भावों का मनोवैज्ञानिक वर्णन किया गया है। ये कार्य-भाव मनुष्य की कुछ जन्मजात और कुछ अर्जित प्रवृत्तियाँ हैं। ये चार प्रकार के बताए गए हैं, अर्थात् राग[2], द्वेष[3] प्रेम और स्थायी भाव[5]। मार्टीनो महाशय ने इनके नैतिक मूल्य के अनुसार इन्हें तेरह विभागों में विभक्त किया है। इनमें नैतिकता की दृष्टि से जिनकी सब से कम कीमत है, उन्हें उन्होंने इस तालिका के ऊपर लिखा है; और फिर क्रमशः अधिकाधिक कीमतवाले कार्य-भावों को उनके नीचे लिखा है। इस प्रकार का

---

1 Springs of action 2. Propension. 3 Passion 4 Affections. 5. Sentiments.

सब से अधिक मूल्यवान् कार्य क्षेत्र है, उसे तालिका में सबसे नीचा स्थान मिला है। यह तालिका निम्नलिखित है—

(१) हिंसा, प्रतिशोध और सन्देह।
(२) आलस्य और विलासिता।
(३) आहार और विषय भोग की भूख।
(४) सहज चंचलता।
(५) लोभ।
(६) करुणोपासन।
(७) विद्रोह, भय और क्रोध।
(८) शक्ति का प्यार और स्वतन्त्रता।
(९) संस्कृतिरमण।
(१०) आश्चर्य और प्रशंसा का भाव।
(११) मातृभाव, मैत्रीभाव, दया और कृतज्ञता का भाव।
(१२) सहृदयता।
(१३) श्रद्धा।

---

1 Censoriousness, vindictiveness, euspiciousness
2 Love of ease, Love of sensual pleasure
4 Appetites for food and sex
4 Spontanious activity (unselective)
5 Love of gain
6. Sentimental indulgence of sypathetic feeling
7 Antipathy, fear, resentment
8 Love of power, Love of liberty
9 Love of culture
10 Primary sentiments of wonder and admiration
11 Parental love, social friendship, generosity, gratitude.
12 Primary affection of compassion
13 Primary sentiment of reverence

उपर्युक्त तालिका में हिंसा, प्रतिशोध और सन्देह के भाव को मार्टीनो महाशय न सब से ऊपर लिखा है, और श्रद्धा के भाव को सब से नीचे। इसका अर्थ यह है कि नैतिकता की दृष्टि से हिंसा प्रतिशोध और संशय के भाव निकृष्टतम हैं और श्रद्धा का भाव उच्चतम है। अतएव जिन कार्यों के प्रेरक हिंसा प्रतिशोध और सन्देह के भाव होते हैं वे नैतिकता की दृष्टि से नीची कोटि के हैं और जिन कार्यों का प्रेरक श्रद्धा का भाव है वे नैतिकता की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। इस प्रकार किसी कार्य की नैतिकता को जानने के लिए हमें इतना ही जानना होता है कि उस कार्य का प्रेरक अर्थात् कार्य स्रोत क्या है। जब हमने इसे जान लिया तो उसका नैतिक मूल्य आँकना कठिन नहीं होता। हमें केवल यही देखना रह जाता है कि वह प्रेरक उपर्युक्त तालिका में कौनसा स्थान रखता है। यदि उसका स्थान उच्चतम प्रेरक के नजदीक है, तो वह अच्छा है और यदि उससे दूर है तो वह बुरा है।

मार्टीनो महाशय का कथन है कि दो कार्य स्रोतों की तुलना के समय ही हमें यह ज्ञात होता है कि कौनसा कार्य स्रोत ऊँची श्रेणी का है, और कौनसा नीची श्रेणी का अर्थात् प्रत्येक कार्य स्रोत की महत्ता दूसरे कार्य स्रोतों की तुलना पर ही निर्भर है। जब दो कार्य-स्रोत एक साथ हमारे विचार के सामने आते हैं तभी हमें उनके मूल्य का ज्ञान होता है।

अब प्रश्न यह है कि किसी कार्य-स्रोत को निकृष्ट और किसी को उत्कृष्ट क्यों माना जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में मार्टीनो महाशय का कथन है कि हमारी अन्तरात्मा की आवाज (अन्तर्ध्वनि) ही यह बताती है कि कौन सा कार्य स्रोत अधिक मूल्य रखता है और कौन सा कम। इसके लिए तार्किक विचार की आवश्यकता नहीं होती। मार्टीनो महाशय के कथनानुसार हमारी अन्तर्ध्वनि अथवा अन्तर्ज्ञान का शक्ति एक दर्पण के समान है। जिस प्रकार दर्पण उसके सामने के पदार्थ को प्रतिबिम्बित करता है उसी प्रकार हमारे अन्तर्ज्ञान की शक्ति किसी भी कार्य स्रोत के नैतिक मूल्य को प्रतिबिम्बित करती है। स्वयं कार्य स्रोत में ही नैतिक मूल्य निहित है। हमारी अन्तरात्मा इस मूल्य का ज्ञान मात्र करती है; नैतिक मूल्य का ज्ञान तब तक नहीं होता जब तक कम-से-कम दो कार्य स्रोत एक साथ उसके सामने नहीं आते।

मार्टीनो महाशय के सिद्धान्तों की समालोचना—मार्टीनो महाशय ने कार्य-श्रोत के नैतिक मूल्य को कार्य-श्रोत के स्वभाव पर ही निहित कर दिया है। उनके कथनानुसार हमें इसका ज्ञान बिना तार्किक विचार के होता है। परन्तु उनका यह कथन वस्तु-स्थिति से दूर है। हम जब किसी कार्य श्रोत का मूल्य आँकते हैं, तो दो अथवा दो से अधिक कार्य-श्रोतों में आपस की तुलना ही नहीं करते, वरन् उन कार्य-श्रोतों को एक नैतिक लक्ष्य की दृष्टि से देखने की चेष्टा भी करते हैं। फिर मार्टीनो महाशय ने कार्य श्रोतों के नैतिक मूल्य को जिस प्रकार बताया है, वह सर्वमान्य नहीं है। सम्भव है कि जिन कार्य श्रोतों को मार्टीनो महाशय ने अपेक्षाकृत निकृष्ट माना है, कोई दूसरा विद्वान् उन्हें अधिक उत्तम माने। वास्तव में यदि किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसे मार्टीनो महाशय के कार्य-श्रोतों के क्रम का ज्ञान नहीं है, सब कार्य श्रोतों के नाम लिखकर दे दिया जाय और उसे कहा जाय कि वह अपनी बुद्धि के अनुसार उनके नैतिक मूल्य को क्रमानुगत लिख दे, तो हम देखेंगे कि वह मार्टीनो महाशय के क्रम के अनुसार लिखने में सर्वथा असमर्थ रहेगा। इससे यह स्पष्ट है कि मार्टीनो महाशय ने कार्य-श्रोतों का जो क्रम बताया है, वह उनके व्यक्तिगत विचार के अनुसार है, यह क्रम सर्वमान्य नहीं हो सकता। परन्तु जो नैतिक मापदण्ड केवल वैयक्तिक विचार के अनुसार होता है, वह सच्चा मापदण्ड नहीं माना जा सकता।

मार्टीनो महाशय ने प्रत्येक कार्य श्रोत के नैतिक मूल्य को एक तालिका बनाकर सदा के लिए निश्चित कर दिया है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी कार्य-श्रोत का नैतिक मूल्य सब समय के लिए निश्चित है। किसी भी कार्य-श्रोत का मूल्य उन परिस्थितियों पर भी निर्भर है, जिनमें वे क्रियमाण होते हैं। यदि हम गाली खाने पर अथवा बुरी तरह अपमानित होने पर क्रुद्ध होते हैं, तो यह नैतिकता की दृष्टि से उतना बुरा नहीं है, जितना कि किसी सामान्य भूल के लिए किसी व्यक्ति पर क्रुद्ध होना।

यही बात दया और सहृदयता के भावों के विषय में सत्य है, यदि हम कुपात्र के प्रति दया और सहृदयता का भाव दर्शावें, तो हम बड़ी भूल करेंगे। नैतिकता की दृष्टि से दूसरों के प्रति अत्याचार करने वाले व्यक्ति के प्रति क्रोध-प्रदर्शन करना दया दिखाने की अपेक्षा श्रेयस्कर है। यह

सामान्य बुद्धि के व्यक्ति को मान्य होगा, परन्तु मार्टीनो महाशय के सिद्धान्त के मानने पर उक्त विचार को हमें एक भूल मानना पड़ेगा।

नैतिक लक्ष्य के अभाव में मार्टीनो महाशय के बताए हुए कार्य स्रोतों का क्रम अर्थहीन हो जाता है। जब तक हम नैतिकता के अन्तिम लक्ष्य को नहीं जानते तब तक किसी काम स्रोत को उच्च अथवा निम्न कोटि का कैसे कह सकते हैं। किसी भी प्रकार के मूल्य के आँकने समय हमें एक ऐसे मापदण्ड को स्वीकार कर लेना पड़ता है जो कि मूल्य आँके गए वस्तुओं से भिन्न होता है। यदि मार्टीनो महाशय ने काम स्रोतों का मूल्य आँका है, तो वे अनजाने ही अवश्य किसी ऐसे मापदण्ड को काम में लाए होंगे, जो कार्य स्रोतों से भिन्न है, और जो स्वतः ही नैतिक जीवन का आदर्श प्रदर्शित करता है।

नीति शास्त्र की दृष्टि से मार्टीनो महाशय के काम स्रोतों की तालिका बिल्कुल व्यर्थ है। नीति-शास्त्र केवल यह कहकर सन्तोष नहीं कर लेता कि अमुक काम स्रोत ऊँचा है और अमुक नीचा वरन् उसे किसी भी कार्य स्रोत के ऊँचे अथवा नीचे समझे जाने का कारण भी बताना पड़ता है। जहाँ तक मार्टीनो महाशय ने अपने नैतिक सिद्धान्त में यह नहीं किया वहाँ तक उन्होंने अपने विचार को नीति-शास्त्र की दृष्टि से व्यर्थ कर दिया है। हम न तो केवल व्यक्तिगत राय से सन्तोष कर सकते हैं, और न एक बनी-बनाई तालिका से। नीति-शास्त्र में हमें किसी ऐसे सिद्धान्त की खोज करनी पड़ती है, जो विवेकयुक्त हो जिसमें संसार की बदलती हुई परिस्थितियों का ध्यान रखा जाता हो और जो समाज के प्रत्येक विवेकी व्यक्ति को मान्य हो; अर्थात् जो व्यक्तिगत सिद्धान्त न होकर व्यापक नैतिक सिद्धान्त हो।

प्रश्न

१ अन्त: अनुभूतिवाद के स्वरूप को विचारपूर्वक समझाइये अनुसार अन्तध्वनि क्या वस्तु है, और मनुष्य को ... के अनुसार चलना कहाँ तक उचित है?

२ अन्त: अनुभूतिवाद के विभिन्न प्रकार क्या हैं? नैतिक प्रमाणवाद के मत को स्पष्ट करके उसकी आलोचना कीजिये।

३ नैतिक आचरण सुन्दर आचरण है—इस सिद्धान्त की समालोचना कीजिये।

४ विवेकात्मक अन्त अनुभूतिवाद क्या है? बाल्स्टेन महाशय के मत को स्पष्ट कीजिये।

५ धार्मिक अन्त अनुभूतिवाद और विवेकात्मक अन्त अनुभूतिवाद की तुलना कीजिये।

६ "स्वीकारशक्ति" का नैतिक निर्णय में क्या स्थान है? इसकी उपस्थिति के लिये क्या प्रमाण दिया जा सकता है?

——

दसवाँ प्रकरण

विवेकवाद[1]

विवेकवाद की विशेषता

विवेकवाद का कथन है कि हम कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय विवेक अर्थात् सद्विचार के द्वारा ही कर सकते हैं। अन्तरात्मा का आदेश भ्रमात्मक हो सकता है। भिन्न भिन्न व्यक्तियों की अन्तरात्माएँ उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार से आदेश कर सकती हैं। यदि राम की अन्तरात्मा कहती है कि चोरी करना सभी समय पाप है और श्याम की अन्तरात्मा कहती है कि चोरी करना कभी कभी बुरा नहीं होता तो किसकी अन्तरात्मा की आवाज ठीक मानी जाय। यदि दोनों व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा के आदेशों को उचित और अनुचित जानने के लिए किसी तीसरे निर्णायक को नहीं मानेंगे तो वे आपस में झगड़ते रहेंगे। अतएव यहाँ यह आवश्यक होता है कि मनुष्य दो विभिन्न विरोधी पक्षों में उचित और अनुचित का निर्णय करने के लिए एक तीसरे सर्वमान्य सिद्धान्त को स्वीकार करे।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त क्या हो सकता है? यह सर्वमान्य सिद्धान्त विवेक ही हो सकता है। मनुष्य की विशेषता यह है कि वह विवेकशील प्राणी है, अतएव अपने विवेक गुण के आधार पर उसे सत्य और असत्य तथा उचित और अनुचित का विवेचन करना चाहिए।

विवेक के लक्षण—यदि हम विवेक को अन्तरात्मा के विरोधी आदेशों के बीच निर्णायक बनाते हैं, तो यह आवश्यक है कि हम उसके स्वरूप और लक्षण को भली प्रकार से जान। प्रत्येक मनुष्य में विचार की शक्ति होती है, किन्तु इसका विकास भिन्न भिन्न व्यक्तियों में मात्रा के अनुसार कम और अधिक होता है। विवेक

---

1 Rationalism.

वह विचार है, जो सर्वग्राह्य है, और जो अबाधित है। जिस विचार को एक ही व्यक्ति ठीक मानता है, उस विचार को विवेक नहीं कहा जा सकता। यदि श्याम की आत्मा कहती है कि चोरी करना ठीक है, और समाज के दूसरे लोगों की आत्माएँ कहती हैं कि चोरी करना ठीक नहीं है, तो चोरी का कार्य नैतिक नहीं माना जा सकता। इसी तरह जो व्यक्ति एक समय एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और दूसरे समय दूसरे सिद्धान्त का, उसके विचारों को सद्विचार नहीं कहा जा सकता। विवेक में आदत, आवश्यकता आदि वैयक्तिक भावनाओं के लिए स्थान नहीं। सभव है कि एक व्यक्ति की परिस्थिति ऐसी हो जिसमे उसे चोरी करना ठीक मालूम पड़ता है, किन्तु ऐसी विशेष परिस्थिति को नैतिकता में स्थान न देना चाहिए। अपनी विशेष परिस्थिति को वृहत् लोकमत की दृष्टि से देखना चाहिए। यदि हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि हम जो कुछ करते हैं, उसी प्रकार के व्यवहार यदि दूसरे व्यक्ति भी करें, तो हम उन्हें नैतिक कहेंगे, तभी हम अपने किसी भी आचरण को नैतिक आचरण कह सकते हैं। मनमाना कार्य करना अनैतिक है। ससार के कितने व्यक्ति ऐसे हैं, जो मनमाना कार्य इसलिए करते है कि वे उसे अन्तरात्मा की आवाज मानते हैं। इस प्रकार उस मनमानी बात को नैतिक सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु इस प्रकार की अन्तरात्मा के आदेशों पर चलकर कोई भी समाज सुसगठित नहीं रह सकता, और न कोई व्यक्ति स्थायी शान्ति का उपभोग ही कर सकता। अनेक प्रकार की अनैतिकता अन्तरात्मा की आवाज के नीचे छिपकर रह सकती है। अतएव हमें चाहिए कि हम सर्वग्राह्य और नित्य सिद्धान्त को ही अपने नैतिक जीवन का निर्णायक मानें, अर्थात् जिस सिद्धान्त के ये लक्षण हैं, वही नैतिकता और अनैतिकता का निर्णायक बन सकता है।

विवेक के सिद्धान्त के प्रकार—विवेक के द्वारा हम कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय कर सकते हैं। इसके विषय में ससार में अनेक मत मतान्तर हुए हैं। यहाँ हम यूरोप के कुछ श्रेष्ठ मतों का उल्लेख करेंगे। इनमें से सिनिसिजम, स्टोयसिजम और कान्ट का सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सिनिसिजम—सिनिसिजम एक विशेष प्रकार का विवेकवाद है। इस विचार के प्रवर्त्तक ऐन्टेस्थनीज थे। वे महात्मा सुकरात के शिष्य थे। वे एक किसी

विशेष स्थान पर अपना व्याख्यान दिया करते थे। उस स्थान का नाम सिनिक था, किन्तु इस शब्द का मतलब यूनानी भाषा में कुत्ता भी है। अतएव ऐन्टेस्थनीज़ और उनके अनुयायियों का मज़ाक उड़ाने वाले लोग उन्हें सिनिक अर्थात् कुत्ता कहते थे। ऐन्टेस्थनीज़ का सिद्धान्त था कि जीवन सुख भोग और आराम के लिए नहीं आध्यात्म विचार के लिए है। संसार का सुख आध्यात्म विचार में बाधक होता है अतएव उसका त्याग करना परमावश्यक है। हमारी वासनायें ही हमें सत्य से वंचित करती हैं इसलिए सत्य की प्राप्ति के लिए वासनाओं को दबाना परमावश्यक है। प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति के जीवन का यह ध्येय होना चाहिए कि वह अपनी वासनाओं को सदा ही संयत रक्खे और अपना सब समय आध्यात्म विचार में लगावे। जीवन बिताने का यही उचित तरीका है। जहाँ भी हमारी इच्छाओं का विरोध हमारे विचारों से होता है वहाँ हमें इच्छा को अवश्य दबा देना चाहिए। दूसरों से हमारा लड़ाई झगड़ा इसलिए ही होता है कि हम अपनी वासनाओं की तृप्ति करना चाहते हैं। यदि हम अपनी वासनाओं को अपने काबू में रक्खें तो किसी प्रकार के झगड़े की संभावना ही न हो। अतएव ऐन्टेस्थनीज़ ने आदेश किया है कि मनुष्य को अपना सारा जीवन तप और त्याग में ही व्यतीत कर देना चाहिए। इसके प्रतिकूल कोई भी व्यवहार अवाञ्छनीय है। जिस व्यक्ति का मन इस प्रकार का रहेगा वह स्वयं ही सत्य और असत्य कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय सरलता से कर लेगा।

ऐन्टेस्थनीज़ का चेला डायजोनीज़ था। जो उपदेश ऐन्टेस्थनीज़ ने दिए थे उसे डायजोनीज़ ने अपने जीवन में चरितार्थ किया। वह अपने गुरु से भी बड़ा तपस्वी था। उसका जीवन बड़ा ही विचित्र था। वह शीत और ताप दोनों प्रकार की अवस्था में एक ही तरह से एक ही स्थान पर रहता था। लोग कहते हैं कि उसका घर एक टब या नाद था। उसी में बैठे-बैठे वह आध्यात्म-चिन्तन किया करता था। उदर पोषण करने के लिए भीख माँग कर खाता था किन्तु वह बड़ा आत्माभिमानी था। वह जब किसी से भीख माँगता था तो बड़े दीन भाव से नहीं माँगता था किन्तु उसके भीख माँगने से ऐसा जान पड़ता था कि मानों उसको दूसरों से भीख लेने का अधिकार है। एक दिन वह एक धनी

व्यक्ति के यहाँ भीख माँगने गया। उस धनी व्यक्ति ने भीख देने मे देर कर दी। तब डाइजोनीज् कहने लगा "अरे भाई, मुझे भोजन के लिए भीख चाहिए, कफन के लिए फीस नहीं।"

अपने मन को वश में करने के लिए डायजोनीज् अनेक प्रकार की साधनाएँ किया करता था। एक बार देखा गया कि वह पत्थर की एक मूर्ति के सामने खड़ा होकर भीख माँग रहा है। जब लोगों ने पूछा—"यह क्या कर रहे हो?" तो उसने जवाब दिया "मैं पत्थर की इस मूर्ति से भीख माँग रहा हूँ।" जब पूछा गया कि क्या तुम आशा करते हो कि यह मूर्ति तुम्हें भीख दे देगी। उसने उत्तर दिया "मै भीख इन्कार कर दिए जाने का अभ्यास कर रहा हूँ।"

एक समय बादशाह सिकन्दर डायजोनीज का नाम सुन कर उसके पास गया। डायजोनीज अपने टब मे बैठा-बैठा धूप ले रहा था। बादशाह सिकन्दर ने अपने घोड़े की लगाम उसके टब के सामने खींची। वहाँ पर जो वार्तालाप हुआ, वह बड़ा मनोरञ्जक है—

सिकन्दर—मै सिकन्दर हूँ, इस देश का राजा।
डायजोनीज—और मै डायजोनीज हूँ, कुत्ता।
सिकन्दर—तो क्या तुम मुझसे डरते नहीं?
डायजोनीज्—क्यों! तुम अच्छी चीज हो, या बुरी?
सिकन्दर—जरूर, मैं कोई अच्छी चीज हूँ।

डायजोनीज—तो भला कौन आदमी ऐसा मूर्ख होगा, जो अच्छी चीज से डरेगा?

इस उत्तर को पाकर सिकन्दर बड़ा प्रसन्न हो गया, और उसने डायजोनीज से कहा "आप मुझसे कोई वरदान माँगिए, मैं उसे तुरन्त पूरा कर दूँगा।" तब डायजोनीज ने उससे कहा, "कृपा करके आप यहाँ से अपनी तशरीफ ले जाइए, और मुझे धूप लेने दीजिए।"

डायजोनीज का सिद्धान्त—डायजोनीज के अनुसार मनुष्य को स्वाभा-

बिक जीवन व्यतीत करना चाहिए। हमें प्रकृति से शिक्षा लेनी चाहिए कि हम किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करें। स्वयं डायजोनीज इस प्रकार के जीवन में रहता था। वह प्रकृति की छोटी-छोटी बातों से शिक्षा ग्रहण करता था। कहा जाता है कि एक बार उसने चूहों को इधर-उधर दौड़ते हुए देखा। चूहा अपने लिए कोई विशेष स्थान नहीं बनाता, और न वह अन्धकार से भागने से डरता ही है। वह अपने शारीरिक आराम के लिए सुविधा नहीं खोजता। डायजोनीज ने इससे शिक्षा ग्रहण की और उसने कहा कि मनुष्य को भी अपना जीवन इसी प्रकार का बनाना चाहिए, उसे किसी प्रकार के आराम की सामग्री को नहीं बटोरना चाहिए। जैसी भी परिस्थिति उसके सामने आए, उसमें उसे सन्तुष्ट रहना चाहिए।

इस प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने की प्रवृत्ति का उदाहरण हम अपने पुराने ऋषि गुरु दत्तात्रेय से पाते हैं। दत्तात्रेय ऋषि के चौबीस गुरु थे, जिनमें से एक गुरु सर्प भी था। सर्प अपने रहने के लिए घर नहीं बनाता। इसे देख गुरु दत्तात्रेय ने कहा कि मुझे अपने निवास के लिए घर न बनाना चाहिए।

डायजोनीज का सिद्धान्त उस समय के एथेन्स निवासियों को अप्रिय था। वे डायजोनीज की हँसी उड़ाया करते थे। एथेन्स निवासी कला और साहित्य प्रेमी थे। एथेन्स में उस समय अनेक प्रकार के सुख की सामग्री सरलता से प्राप्त थी। अतएव वे डायजोनीज के सिद्धान्त को एक पागलपन मानते थे। डायजोनीज के जीवन में सच्चाई अवश्य थी। किन्तु उसका यह सिद्धान्त कि सत्य खोजने वाले व्यक्ति को सुख और दुःख में समभाव रहना चाहिए, युक्तिसंगत था। जब तक मनुष्य शीतोष्ण सुख-दुःख पर विजय नहीं प्राप्त करता तब तक वह एक मन होकर आध्यात्म-चिन्तन नहीं कर सकता और न उसे सत्यासत्य का ज्ञान ही हो सकता है। इसी तरह वह कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में विवेचना नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति से अपने कर्तव्य के विषय में भूल हो जाना सम्भव है।

स्टोइसिज्म (स्तोइकवाद)—विवेकवाद का एक विशेष मत स्टोइसिज्म है। स्टोइसिज्म साइप्रस द्वीप के निवासी जीनो का चलाया हुआ मत

है। एथेन्स मे वह हजरत ईसा से लगभग ३०० वर्ष पहले आया अर्थात् महात्मा सुकरात की मृत्यु के समय ही उसका एथेन्स मे आगमन हुआ। एथेन्स में आकर वह एक विशेष स्थान मे रहा, जिसको ग्रीक भाषा में स्टोवा कहते हैं। इसी स्थान के नाम से उसके मत का नाम स्टोइसिज्म वा स्टोइकवाद पड़ा। स्टोइसिज्म के अनुसार ससार को घटनाओं के अन्तस्तल मे विवेक कार्य करता है। कोई भी घटना अकारण अथवा निर्लक्ष्य नहीं होती। उनका कथन था कि ससार में जो कुछ है, वह सब ठीक है, और सुव्यवस्थित रूप से रक्खा हुआ है। ससार मे कोई पदार्थ बुरा नहीं है। किसी घटना मे बुराई देखना हमारा भ्रम मात्र है। मनुष्य के जीवन का आदर्श यह होना चाहिए कि वह प्रत्येक परिस्थिति में शाति और सन्तोष से रहे और जो कुछ उसे सुख-दु ख पड़े उसे प्रसन्नता के साथ सहन करे। इसी तरह से ही हम अविच्छिन्न शाति का उपभोग कर सकते हैं। ससार का घटनाएँ हमारे वश की नहीं हैं। जो कुछ होना है, वह अवश्य ही होकर रहेगा। अतएव घटना के विषय मे चिन्ता करना मूर्खता है। हममें घटना को बदल देने की शक्ति नहीं है, हम केवल घटना के प्रति अपने रुख को बदल सकते हैं। जिस घटना को हम बुरी समझते हैं, उसको हम विवेक द्वारा भली समझ सकते है, और ऐसी घटना से उद्विग्न न होकर प्रसन्न चित्त रह सकते हैं, क्योंकि इस ससार को बनाने वाला विवेक ही है, और सब घटनाएँ विवेक द्वारा ही सचालित होती हैं। अतएव ज्ञानी पुरुष को किसी प्रकार की घटना से उद्विग्न मन न होना चाहिए। सब लोग अपने स्वभाव के अनुसार ही अपना-अपना कार्य करते हैं। इसलिए ज्ञानी को यह भी चाहिए कि वह दूसरों के कार्यों की नुक्ताचीनी न करे। किसी के स्वभाव मे परिवर्तन करना सम्भव नहीं।

हमे अपने कर्त्तव्यों का निर्णय विवेक या सद्‌विचार से करना चाहिए। मनुष्य को सवेगों के वश में न होना चाहिये, उसे इन्द्रियों के वश मे न होना चाहिए। मनुष्य का ऐसा हो आचरण अच्छा कहा जा सकता है, जो विवेक के नियन्त्रण में किया गया हो। विवेकी पुरुष किसी भी काम को अनासक्त बुद्धि के साथ करता है, वह अपने कर्त्तव्य मात्र की ओर देखता है, वह किसी लाभ की आशा नहीं करता। उसका न तो कोई विशेष प्रिय ही है, और न

कोई विशेष अप्रिय ही। सब लोगों को एक दृष्टि से देखना उसके जीवन का सिद्धान्त रहता है।

इस प्रकार के जीवन का उदाहरण हम रोम के प्रसिद्ध दार्शनिक बादशाह मारकस आर्लियस में पाते हैं। मारकस आलियस अपने दुश्मनों के साथ लड़ता तो था किन्तु उन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं देखता था। अपने राज्य का सब काम करता था, किन्तु उसमें उसको सफलता और असफलता का विचार नहीं रहता था। मारकस आर्लियस जिस समय समर के मैदान में अपने खेमे में पड़ा रहता था उस समय भी आध्यात्म-चिन्तन किया करता था। ऐसे समय के उसके मौलिक विचार अभी तक हमें उपलब्ध हैं।। इन्हें हम 'मारकस आर्लियस के चिन्तन" (मेडिटेशन आफ मारकस आर्लियस) नामक पुस्तक में पाते हैं।

स्टोइक लोग सब चीजों की भलाई में इतना दृढ़ विश्वास करते थे कि सच्चे स्टोइक का मन दुःख से कभी विचलित नहीं होता था। जब रोम के पोसीडोनियस नामक एक प्रसिद्ध स्टोइक एक भयानक बीमारी से ग्रस्त था तो उसने कहा "ऐ दुःख, तू मुझे खूब त्रास दे ले जितनी चाहे उतनी पीड़ा दे ले किन्तु मुझसे यह कभी नहीं स्वीकार करा सकता कि तू बुरा है"।

स्टोइकिज्म के अनुसार मनुष्यों को आवेश का निराकरण करना चाहिए। किसी प्रकार के आवेश या संवेग शुद्ध विचार में बाधक होते हैं। अतएव जो मनुष्य जितना ही आवेशों से मुक्त रहेगा वह उतना ही सद्‌विचार कर सकता है। जिन संवेगों या आवेशों को हम भला समझते हैं उन्हें भी स्टोइक लोग बुरा समझते थे। किसी परिस्थिति में दया के आवेश में आना भी बुरा है। मनुष्य दया के आवेश में आकर भी अपने विवेक को भूल जाता है, और न्याय न करके समाज का अहित कर देता है। दया के स्थान पर स्टोइक लोग प्रशान्त मन रहने और सद्‌भाव लाने का आदेश करते हैं। सभी प्राणियों में आत्मीयता स्थापित करनी चाहिए। आत्मीयता उपादेय है, दया नहीं। सब का शुभ चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार की मनोवृत्ति मनुष्य की अपनी निराली सम्पत्ति है। यह कर्त्तव्य करने से ही प्राप्त होती है। स्टोइक लोग दूसरे के

आचरण को बुरा-भला नहीं कहते थे। जिन लोगों का आचरण स्टोइक आदर्श से विरुद्ध भी रहा हो, उन्हें भी वे घृणा की दृष्टि से नहीं देखते थे।

जब हम स्टोइक सिद्धान्त की ठीक से विवेचना करते हैं, तो देखते है कि उसके अनुसार चल कर मनुष्य अपने-आपको यदि सुखी न बना पावे तो कम से-कम दूसरों को दु'खी नहीं बनाता है। स्टोइक सुख की जो कुछ भी अवहेलना करते हैं, वे अपने लिए करते हैं, दूसरों के लिए नहीं। इतना ही नहीं,स्टोइसिजम कर्त्तव्य को जीवन में प्रथम स्थान देता है। जो व्यक्ति कत्तव्यपरायण हैं, वे अविचलित शक्ति प्राप्त करते हैं। यह प्रत्येक मनुष्य का अनुभव है और ससार के सभी महात्माओं ने इस सिद्धान्त का आदेश दिया है।

स्टोइक लोगों की कुछ बातें ऐसी अवश्य हैं, जो हमारे साधारण तर्क को ग्राह्य नहीं हैं। स्टोइक लागों के कथनानुसार ससार की सभी घटनाएँ अपने-आप ही होती हैं। उनमें कोई परिवर्तन होना सभव नहीं है। कृष्ण भगवान् ने गीता में भी इसी प्रकार के सिद्धान्त का प्रवत्तन किया है। किन्तु यदि सभी घटनाओं का स्वभाव पहले से ही निश्चित है, तो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य किस बात मे रह जाता है, यह साधारण मनुष्य को समझ के बाहर है। हम प्राय. कर्त्तव्य का अर्थ यही लगाते हैं कि हम कुछ उचित कार्य करे। किन्तु जब यह बताया जाता है कि ससार की सभी क्रियाएँ पहले से ही निश्चित हैं, तो हमारे कर्त्तव्य के लिए स्थान कहाँ रहा ? जब तक मनुष्य को अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में स्वतन्त्र मान लिया जाता है, तब तक कर्त्तव्य के लिए कोई स्थान नहीं रहता। इस शका का समाधान स्टोइक मत वाले यह कह कर करते हैं कि स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है, एक बाह्य और दूसरा आतरिक। मनुष्य को बाह्य स्वतन्त्रता नहीं है, अर्थात् वह ससार की घटनाओं में परिवतन नहीं कर सकता है, पर उसे आन्तरिक स्वतन्त्रता अवश्य है, अर्थात् वह यह निश्चय कर सकता है कि हमें अपनी अन्तरात्मा से किसी घटना के प्रति सहयोग करना चाहिए अथवा नहीं।

प्रश्न

१ कर्तव्याकर्तव्य के विवेचन में विवेक की अपेक्षा होती है अन्तरात्मा की आवाज की नहीं। ऐसा क्यों ?

२. दयाभाव से मरणासन्न की दर्दों के मायारहाय यदि कोई व्यक्ति मारी करता है, तो उसके कार्य को नैतिक कहा जायगा या अनैतिक ?

३ सिनिसिज्म क्या है ? इसके सिद्धान्तों का विश्लेषण कीजिए।

४ "सत्य बोलनेवाले व्यक्ति को सुख और दुःख में समभाव से रहना चाहिये।" इस कथन की सार्थकता सिद्ध कीजिए।

५. स्टोइसिज्म का मूल सिद्धान्त क्या है ? किसी प्रकार के आदर्श दुर क्यों होते हैं ?

ग्यारहवाँ प्रकरण

इमेनुअल कान्ट का आध्यात्मवाद

कान्ट के दार्शनिक विचार की विशेषता—यूरोप में जितने तत्त्व वेत्ता हुए हैं, उनमें सबसे गम्भीर कान्ट माने जाते हैं। कान्ट महाशय जर्मनी के कानिग्वर्ग विश्व विद्यालय में प्रोफेसर थे। उनका जीवन बडा सादा और नियमित था। वे जीवन भर अविवाहित रहे, और उन्होंने बडी पवित्रता से अपना जीवन निबाहा। कान्ट महाशय किसी विचार को प्रकाशित करने के पूर्व उसपर बडी गम्भीरता पूर्वक चिन्तन करते थे। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक "दी क्रिटिक आफ प्योर रीजन" छियासठ वर्ष की अवस्था में प्रकाशित की। उन्होंने इस पुस्तक मे विचार शक्ति की सीमाएँ वताई हैं। मनुष्य अपने तार्किक विचारों द्वारा जीवन के अन्तिम तत्त्वों के विषय में कुछ भी नहीं जान सकता। दार्शनिक समस्याओं को हल करने की वह जितनी चेष्टा करता है, वे उतनी ही जटिल होती जाती हैं। इन समस्याओं को हल करना उसकी बुद्धि के परे की बात है। आत्मा और परमात्मा का ज्ञान करना, अमरत्व को जानना, किसी वस्तु के तत्व को समझना—ये सभी बातें बुद्धि के द्वारा नहीं सम्भव होतीं। बुद्धि हमारे सामान्य लौकिक अनुभव को समझने का एक साधन मात्र है। इस साधन को हम लौकिक अनुभव के परे की बातों को समझने के प्रयोग मे नहीं ला सकते। यही सिद्धान्त कान्ट महाशय ने अपनी 'क्रिटिक आफ प्योर रीजन' नामक पुस्तक में स्थिर किया है। कान्ट महाशय ने उक्त सिद्धान्त को स्थिर करके, अर्थात् बुद्धि की सीमा बताकर उस समय के दार्शनिक विवादों को बन्द कर दिया। इस प्रकार कान्ट का निषेधात्मक कार्य बड़े ही महत्त्व का है।

पर, अब प्रश्न आता है कि हम जिन अन्तिम तत्त्वों का अनुसन्धान

कर रहे हैं उन्हें अनुभवगम्य करने के लिए क्या तार्किक विचार के अतिरिक्त दूसरा मार्ग उपलब्ध है ? काण्ट के कथनानुसार यह मार्ग आचरण अथात् व्यावहारिक विचार का मार्ग है। प्रत्येक व्यक्ति में सदाचरण की प्रवृत्ति रहती है और वह अपने आप में निःश्रेय की प्राप्ति करने की प्रबल प्रेरणा पाता है। इस प्रबल प्रेरणा के आधार पर ही कहा जा सकता है कि निःश्रेय कोई वस्तु है। इसी के आधार पर आत्मा का अमरत्व सिद्ध होता है।

नैतिकता का आधार—काण्ट के कथनानुसार नैतिकता का आधार एक आन्तरिक अनुभूति है। इस अनुभूति का नाम उन्होंने "कैटेगोरिकल इम्परेटिव" अथात् अनिवार्य आज्ञा रक्खा है। यह अनिवार्य आज्ञा मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा से मिलती है। मनुष्य का स्वभाव दो प्रकार के तत्वों का बना हुआ है। एक तत्व के अनुसार वह सुख की इच्छा करता है, और दूसरे के अनुसार वह अपने आप में आत्म नियन्त्रण की अनुभूति करता है। एक तत्व रागात्मक[1] है और दूसरा विवेकात्मक[2] है। रागात्मक तत्व मनुष्य को विषय भोग की ओर ले जाती है और विवेकात्मक तत्व उसमें उनसे मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। रागात्मक तत्व मनुष्य को स्वार्थी बनाता है, और विवेकात्मक तत्व उसे परमार्थी तथा न्यायप्रिय बनाता है। इस अन्तरात्मा से उसे वही अनिवार्य आज्ञा मिलती है जो विवेकानुसार है। वास्तव में अन्तरात्मा की आज्ञा और विवेक की आज्ञा एक ही आज्ञा है।

काण्ट महाशय का कथन है कि नैतिकता के नियम अखण्ड[3] हैं। वे अन्तरात्मा की अनिवार्य आज्ञाएं[4] हैं। वे सदा एक से ही रहते हैं। परिस्थितियों का कैसा ही परिवर्तन क्यों न हो विवेक अथवा अन्तरात्मा की अनिवार्य आज्ञा में कोई परिवर्तन नहीं होता। काण्ट का कथन है कि नैतिक नियम अपरिवर्तनशील[5] और व्यापक[6] है। नैतिक नियम की अनिवार्यता काण्ट महाशय ने दूसरे अन्य प्रकार के नियमों से तुलना करके बताया है। दूसरे प्रकार के नियमों की अवहेलना की जा सकती है। पर नैतिक नियम का पालन एक

---

1 Sensibility 2. Rationality 3. Uncontradictable. 4 Categorical imperative. 5 Unchangeable. 6 Universal.

और मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है, वे उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा बनाये गए हैं, और दूसरी ओर उनके पालन करने में अनिवार्यता भी है। यह अनिवार्यता सामाजिक, सरकारी अथवा प्राकृतिक नियमों के पालन करने की अनिवार्यता के समान नहीं है। सामाजिक नियम कहता है कि हमें विशेष प्रकार की पोशाक पहन कर समाज में न आना चाहिये। साधु कोपीन लगा कर समाज मे आ सकता है, किन्तु गृहस्थ इस प्रकार बिना वस्त्र के समाज में नहीं आ सकता। यदि वह ऐसा करता है, तो उसका आचरण निन्दनीय माना जाता है। समाज ऐसे व्यक्ति का बहिष्कार करता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति समाज का बहिष्कार सहने के लिये तैयार है, तो लँगोटी लगाकर समाज में आने से उसे कोई रोक नहीं सकता। संसार के बड़े-बड़े महात्माओं ने कभी-कभी समाज में प्रचलित व्यवहार के नियमों के प्रतिकूल आचरण किया है, और उसके लिए उन्होंने समाज से दण्ड भी प्राप्त किए है। समाज ने उनके कामो की निन्दा की, परन्तु वे अपने निश्चय से नहीं डिगे। इससे यह स्पष्ट होता है कि समाज के नियम अनिवार्य नियम नहीं हैं। जो व्यक्ति उन नियमों को तोड़ने के कारण दण्ड भोगने के लिए तैयार रहता है, वह उन्हे तोड़ सकता है।

जिस प्रकार समाज के नियम 'अनिवार्य आज्ञा' नहीं माने जाते, उसी प्रकार राजनैतिक नियम भी अनिवार्य आज्ञा का रूप नहीं ग्रहण कर सकते। राजा की निन्दा करना राजनियम के विरुद्ध होता है। इस नियम को जो तोड़ता है, उसे राजदण्ड भोगना पड़ता है। मनुष्य की व्यवहार-कुशल बुद्धि उसे सिखाती है कि वह समाज के अथवा राज्य के नियम को न तोड़े। पर, इन नियमों में उस प्रकार की अनिवार्यता नहीं है, जिस प्रकार की अनिवार्यता नैतिक नियम में रहती है। इन नियमों का पालन भय वश किया जाता है।

जिस प्रकार सामाजिक और नैतिक नियम दुःख के डर और पुरस्कार की आशा से पालन किये जाते हैं, उसी प्रकार प्राकृतिक नियम भी शारीरिक क्लेश के भय अथवा शारीरिक सुख की आशा से पालन किए जाते हैं। जाड़े में गरम कपड़ा पहनना चाहिये और गर्मी में धूप मे बाहर न निकलना चाहिये, यह

प्राकृतिक नियम है। पर जो बीमार होने की परवाह नहीं करता, उसके लिए इन नियमों का पालन करना अनिवार्य नहीं है। इन नियमों का पालन न करने से आत्मग्लानि और आत्मभर्त्सना की अनुभूति नहीं होती।

नैतिक नियम उक्त नियमों से विलक्षण हैं। इनकी अनिवार्यता किसी बाहरी सत्ता के दण्ड अथवा पुरस्कार देने की सम्भावना पर आश्रित नहीं है यह आत्म-सन्तोष की प्राप्ति पर निर्भर करती है। जब कभी मनुष्य की अन्तरात्मा की पुकार[1] किसी सामाजिक अथवा राजनैतिक नियम के विरुद्ध होती है तो उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह सामाजिक अथवा राज-नियम के प्रतिकूल आचरण करे और समाज अथवा राज्य उसे जो दण्ड दे उसको वह प्रसन्नता पूर्वक सहन करे। यही नैतिक नियम अर्थात् अन्तरात्मा की अनिवार्यता है। नैतिक नियम का पालन दण्ड के भय अथवा पुरस्कार के प्रलोभन के कारण नहीं किया जाता वरन् उसका पालन इसलिए किया जाता है कि यह अपने ही विवेक अथवा अन्तरात्मा का नियम है, और उसका पालन करके ही मनुष्य अपना आध्यात्मिक विकास तथा निर्भय की प्राप्ति कर सकता है। काण्ट के अनुसार मनुष्य के जीवन का लक्ष्य आध्यात्मिक विकास[2] अथवा निर्भय की प्राप्ति ही है और उसका एक मात्र साधन अन्तरात्मा की अनिवार्य आज्ञा के अनुसार अर्थात् नैतिक नियम के अनुसार आचरण करना है। इसमें परावलम्बन नहीं है। जहाँ तक मनुष्य के जीवन में परावलम्बन आता है अर्थात् वह किसी बाहरी सत्ता के भय अथवा उसके प्रिये प्रलोभन वश कोई काम करता है, वहाँ तक वह नैतिकता के उच्च स्तर से गिर जाता है।

नैतिक विचार में हेतु की प्रधानता—काण्ट का कथन है कि जब हम किसी व्यक्ति के आचरण की नैतिकता के ऊपर विचार करें तो हमें उसके किसी काम के फल को न देखकर उसके हेतु[3] की ओर देखना चाहिए। यदि किसी काम की प्रेरणा करने वाला हेतु ऊँचा है तो वह काम ऊँचा है और यदि काम की प्रेरणा करने वाला हेतु नीचा है, तो काम नीचा है। सुखवादी नैतिक विचार

---

1 Conscience. 2 Spiritual dev l pment. 3 Motive

धारा में किसी काम की नैतिकता का निर्णय करने में काम के फल को महत्त्व दिया जाता है। कान्ट का कथन है कि काम के फल उसकी नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। किसी कार्य की नैतिकता में उसी बात पर विचार किया जाना चाहिए, जो मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के नियन्त्रण में है। जिन बातों पर मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नियन्त्रण नहीं है, अर्थात् जो उसकी वश की बातें नहीं हैं, उन्हें नैतिक विचार में कोई स्थान नहीं होना चाहिए। बाह्य जगत् की घटनाएँ अनेक प्रकार के कारणों के परिणाम होती हैं। उन घटनाओं को पैदा करने में हमारी इच्छाशक्ति ही एक मात्र कारण नहीं होती। अतएव यदि कोई घटना वैसी घटित न हो, जिस प्रकार मनुष्य चाहता है, तो इसमें अपने-आपको ही दोषी समझ लेना विवेकहीनता है। मनुष्य वहीं तक किसी घटना के अवाञ्छनीय परिणाम के लिए दोषी है, जहाँ तक कि उस अवाञ्छनीय परिणाम को रोक सकना उसकी शक्ति के भीतर हो। मनुष्य को चाहिए कि वह किसी प्रकार के अवाञ्छनीय परिणाम के प्रति पूरी सावधानी रक्खे। परन्तु यदि इस सावधानी के होते हुए भी वातावरणजन्य किसी विशेष परिस्थिति के कारण जैसा वह इच्छा करता है उसके प्रतिकूल फल हो, तो उसे आत्म-भर्त्सना करना उचित नहीं।

किसी भी कार्य के दो प्रकार के परिणाम होते हैं—एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य। आन्तरिक परिणाम मनुष्य की चित्तवृत्ति का सुधार और हृदय की शुद्धता है, और बाह्य परिणाम विशेष प्रकार की घटनाओं का घटित होना है। आन्तरिक परिणाम मनुष्य के वश की चीज है, बाह्य परिणाम उसके वश की चीज नहीं है। बाह्य परिणाम प्रकृति की इच्छा के ऊपर निर्भर है, आन्तरिक परिणाम मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता है। अतएव नैतिकता का विचार करते समय हमें मनुष्य के आचरण के बाह्य परिणाम पर विचार न करके, उसके आन्तरिक परिणाम पर ही विचार करना चाहिए। प्रत्येक भला हेतु भला ही आन्तरिक परिणाम उत्पन्न करता है। उसका बाह्य परिणाम भला अथवा बुरा हो सकता है। इसी तरह प्रत्येक बुरा हेतु बुरा ही आन्तरिक परिणाम उत्पन्न करता है, उसका बाह्य परिणाम भला अथवा बुरा हो सकता है।

मान लीजिए, एक मनुष्य के ऊपर एक शेर आक्रमण कर रहा है। हम

आक्रमण करते हुए शेर को देखते हैं। हम मनुष्य को बचाने के लिए शेर के ऊपर गोली चला देते हैं। परन्तु हमारा निशाना चूक जाता है शेर और मनुष्य के बहुत निकट होने के कारण गोली शेर को न लगकर मनुष्य को लग जाती है। इससे उसकी मृत्यु हो जाती है। सम्भव है यदि हम मनुष्य के रक्षार्थ गोली न चलाते, तो वह किसी प्रकार शेर के आक्रमण से बच जाता। शेर उसकी थोड़ी बहुत क्षति करके छोड़ दे सकता था। पर उसको बचाने के प्रयत्न में हमने उसे मार ही डाला। अब प्रश्न आता है कि हमें इस प्रकार शेर के मुँह से बचाने से उस व्यक्ति को बचाना था या नहीं? फल को देखते हुए हमारा काम बुरा रहा। किन्तु क्या हमारा काम सचमुच में नैतिक दृष्टि से बुरा था?

हम एक और उदाहरण दे सकते हैं। एक रोगी डाक्टर के पास जाता है। उसकी आँत में कोई खराबी हो गई है इसके लिए एक बड़े आपरेशन की आवश्यकता है। डाक्टर सोचता है कि यदि वह रोगी के पेट का आपरेशन नहीं करता तो उसकी पूरी आँत सड़ जायगी और उसकी मृत्यु हो जायगी। यदि वह आपरेशन करके दूषित भाग को निकाल दे तो सम्भवतः वह बहुत दिनों तक जीवित रहे। डाक्टर रोगी के स्वास्थ्य-लाभ के हेतु उसके पेट की चीर-फाड़ करता है। किन्तु उस चीर फाड़ के परिणाम स्वरूप उसके पेट में एक नया फोड़ा तयार हो जाता है जिसके बढ़ने पर उसकी मृत्यु हो जाती है। अब हमें देखना है कि नैतिकता की दृष्टि से डाक्टर का काम कैसा रहा भला अथवा बुरा?

उक्त प्रश्नों का कान्ट महाशय का एक ही उत्तर है कि काम की भलाई अथवा बुराई को देखने के लिये हमें उसके परिणाम को न देखकर उसके हेतु को देखना चाहिए। हेतु की शुद्धता पर कार्य की पवित्रता निर्भर है। जिस कार्य का हेतु पवित्र है उसका फल चाहे जो कुछ हो वह पवित्र कार्य ही है। फल का होना मनुष्य की इच्छा शक्ति पर नहीं निर्भर करता है। प्रकृति में कोई एक बात ऐसी होती है जिसके कारण हम जैसी इच्छा करते हैं उसके अनुसार काम फल नहीं होता है। मनुष्य अपने हेतु को कितनी ही शुद्धता क्यों न रखे और वह संसार का कितना ही कल्याण क्यों न चाहे; उसके कामों के फल की विधाता के लिए कुछ अज्ञात परिणाम हो ही जाती है और परिणाम कुछ का कुछ हो जाता है। कान्ट ने प्रकृति के इस प्रकार के कर्मफल में बाधा डालने

के कार्य को सौतेली माँ के समान माना है। अतएव मनुष्य को कर्मफल से अपने काम की नैतिकता पर विचार न करना चाहिए।

कितने ही लोगों के काम का हेतु भला नहीं होता, किन्तु काम का फल आकस्मिक भला हो जाता है। मान लीजिए, कोई भिखारी हमारे सामने आता है और वह भीख के लिए हाथ पसारता है। हम गुस्से में आकर तांबे का एक सिक्का उसके सिर पर फेंककर मारते हैं। सिक्का उसके सिर पर न लगकर नीचे गिर जाता है। भिखारी उस सिक्के को उठा लेता और उससे रोटी खरीद लेता है। इससे उसकी क्षुधा शान्त हो जाती है। यहाँ हमारे काम का हेतु बुरा था, परन्तु फल अच्छा ही हुआ। फिर हमें इस काम को नैतिक दृष्टि से अच्छा कहना चाहिए, या बुरा?

यदि हम कान्ट की विचार-धारा को मानें तो भिखारी के ऊपर सिक्का फेंकने के काम को हमें बुरा ही कहना पड़ेगा, उस काम का बाहरी परिणाम चाहे जो कुछ हो। कान्ट का यह विचार सर्वथा युक्ति-सगत है। मनुष्य का हेतु ही उसके चरित्र तथा स्वभाव को भला अथवा बुरा बनाता है। नैतिक आचरण का लक्ष्य बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना नहीं, वरन् आन्तरिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करना है। नैतिक प्रयत्न-द्वारा मनुष्य बाहरी पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता, वरन् आन्तरिक पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता है, और यह पूर्णता हेतु की पवित्रता से ही आती है, बाह्य सफलता से नहीं।

कान्ट का नैतिकता ध्येय[1]—कान्ट की नैतिकता का ध्येय किसी प्रकार के लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं है। कान्ट महाशय के कथनानुसार नैतिकता का ध्येय अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के बनाये हुए नैतिक नियम का पालन करना ही है। यह ध्येय अपने ही भीतर है। कान्ट अपने से बाहर किसी प्रकार के आदर्श की कल्पना नहीं करते थे। नीति-शास्त्र के दूसरे विद्वान् किसी ऐसे आदर्श की कल्पना करते हैं, जो इस समय आचरणकर्ता को अप्राप्य है, और जिसे उसे आगे चलकर अपने भले कामों के द्वारा प्राप्त करना है। भौतिकतावादियों और सुखवादियों ने अपना आदर्श बाहरी सफलता को बना रखा है,

---

1 Aim

और आदर्शवादियों ने आन्तरिक सफलता में अपने आदर्श की कल्पना की है। दोनों प्रकार की विचार धाराएँ अपने आप से पृथक् किसी विशेष प्रकार के लक्ष्य की कल्पनाएँ करती हैं। यही लक्ष्य उनका निःश्रेय है। किसी प्रकार का आचरण जहाँ तक इस निःश्रेय की प्राप्ति में सहायक होता है, वहाँ तक उस आचरण को भला कहा जाता है और जहाँ तक उसकी प्राप्ति में यह बाधक होता है वहाँ तक उसे बुरा कहा जाता है। दोनों प्रकार की विचारधाराओं में अपने से पृथक किसी सर्वोत्तम तत्त्व को प्राप्त करने का निर्देश है। कान्ट महाशय के विचारानुसार यह सर्वोत्तम तत्त्व अपने-आप ही है। शुद्ध भावना के अतिरिक्त दुनियाँ में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो कि स्वयं अपने आप में भली हो। किसी वस्तु का भला अथवा बुरा होना यह मनुष्य की भावना पर निर्भर करता है। मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति ही अपने आप में भली वस्तु है।*

मनुष्य अनेक प्रकार के बाहरी पदार्थों को भला समझ कर उनको प्राप्त करने की चेष्टा करता है। कोई धन को भला समझता है कोई मान मर्यादा को और कोई दान पुण्य को। परन्तु वास्तव में इनमें से कोई भी वस्तु अपने आप में भली नहीं है। यह वहीं तक भली है जहाँ तक यह भली इच्छा से सम्बन्धित है या उसका प्रकाशन करती है। यह भली इच्छाशक्ति अपने आप से बाहर नहीं है, यह आप में ही है। भली इच्छाशक्ति के नियम को मानना ही अपने-आप का अथवा अपनी आत्मा का नियम मानना है। जिस काम में हम जहाँ तक इस भली इच्छाशक्ति की क्रिया को देखते हैं, वहाँ तक वह क्रिया भली है और जहाँ तक इस इच्छाशक्ति की क्रिया में किसी दूसरे प्रकार के हेतुओं का अथवा प्रेरकों का मिश्रण हो जाता है, वहाँ तक वह क्रिया बुरी हो जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की इच्छाशक्ति स्वतन्त्र न रह कर परतन्त्र हो जाती है। जहाँ तक इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता है वहीं तक नैतिकता है, जहाँ इच्छाशक्ति की परतन्त्रता आई वहीं नैतिकता का अन्त हुआ और अनैतिक आचरण प्रारंभ हुआ।

इस स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का विरोध मनुष्य के भाव उद्वेग अथवा रागात्मक वृत्तियों के द्वारा होता है। जो व्यक्ति जितना दूर तक राग-द्वेष के वश में आता

* Good will is the only good that is good without qualification.

है, वह उतनी दूर तक नैतिक आचरण करने मे असमर्थ रहता है। उद्वेग का गुलाम बनकर कोई भी व्यक्ति नैतिक आचरण नहीं कर सकता। नैतिक आचरण ऐसा ही आचरण है, जिसका हेतु स्वय स्वतन्त्र इच्छाशक्ति म हो। जिस आचरण का हेतु स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के बाहर हो, वह नैतिक आचरण नहीं कहा जा सकता। अतएव किसी बाहरी प्रलोभन अथवा भय के कारण जो कुछ काम मनुष्य करता है, वह कान्ट महाशय के कथनानुसार अनैतिक ही है। कान्ट महाशय प्रेम, दया और श्रद्धा आदि मनोभावों को भी अपने आप मे भले नहीं मानते। यदि ये मनोभाव मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की प्रेरणा के विरुद्ध आचरण कराते है, तो वे बुरे कहे जायँगे। दया अथवा मोह से प्रेरित होकर स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के विरुद्ध काम करने को कान्ट महाशय ने मानसिक बीमारी का लक्षण माना है।

कान्ट का नैतिक नियम मनुष्य को अपने आप पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है। अन्तरात्मा की 'अनिवार्य आज्ञा' का यही लक्ष्य है। वही व्यक्ति पूर्णत. नैतिक आचरण कर सकता है, जिसकी इच्छाशक्ति पूर्णत. स्वतन्त्र है, और यह स्वतन्त्रता उस व्यक्ति को सम्भव नहीं, जिसने आत्म-विजय को प्राप्त नहीं किया, अर्थात् जिसने अपने प्रबल उद्वेगों[1] को नियन्त्रण मे नहीं कर लिया। प्रबल काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, इत्यादि के आवेश को रोकने की जिसमें शक्ति है, वही सच्चा नैतिक व्यक्ति है। जो इनके आवेश मे आकर किसी ओर बह जाता है, वह अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता को खो देता है। ऐसे व्यक्ति का आचरण कदापि नैतिक आचरण नहीं हो सकता। आत्म विजय[2] आत्म-सयम और शान्ति भाव से किया गया आचरण ही कान्ट के अनुसार नैतिक आचरण है।

कान्ट का नैतिक नियम—हमने ऊपर कान्ट के बताए नैतिक नियम के बारे में कुछ चर्चा की है। यह कहा गया है कि यह नियम स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नियम है। यह नियम अन्तरात्मा की आवाज है, और यह अनिवार्य आज्ञा का रूप लिए हुए है। इस नियम का पालन करना ही नैतिकता का सर्वोच्च

1 Emotions 2 Self-conquest

आवश्यक है। अब प्रश्न उठता है कि यह नियम क्या है? इस नियम को कान्ट ने एक ही पंक्ति में कहा है— उसी सिद्धान्तानुसार आचरण करो जिसको तुम मनुष्य मात्र के लिए व्यापक बनाने की इच्छा कर सकते हो।* कोई भी नियम, जिसको हम सब लोगों के लिए व्यापक नहीं बना सकते नैतिकता की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। नैतिक नियम में किसी प्रकार के अपवाद[1] को स्थान नहीं। नैतिक नियम का किसी प्रकार अपवाद अनैतिकता है। मनुष्य सदा यह चाहता है कि दूसरे लोग तो किसी विशेष प्रकार के नियम का पालन करें किन्तु उसके आचरण में नैतिक नियम के अपवाद के लिए स्थान रहे। यह अपवाद का विचार ही अनैतिक आचरण का कारण होता है। नैतिक नियम की व्यापकता को समझाते हुए कान्ट महाशय ने कुछ उदाहरण दिये हैं। उनमें से एक उदाहरण वचन पूरा करने का है। यदि हम वचन पूरा करने के नियम का उल्लंघन करते हैं तो हमें उसे नैतिक बनाने के लिए यह इच्छा करनी होगी कि सभी लोग हमारे ही समान उक्त नैतिक नियम का उल्लंघन करें अर्थात् वचन-भंग करें। इस तरह वचन भंग के नियम को व्यापक करके उसे नैतिक नियम बनाने की चेष्टा करेंगे। परन्तु वचन पालन का नियम जिस प्रकार व्यापक नियम बनाया जा सकता है वचन भंग का नियम ठीक उसी प्रकार व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता। यदि हम वचन भंग के नियम को व्यापक नियम बना दें तो फिर कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के वचन देने पर विश्वास ही न करेगा। वचन में विश्वास के अभाव में वचन देने की आवश्यकता ही न होगी। फिर, जहाँ वचन नहीं दिये जायेंगे वहाँ वचन भंग होना कैसे सम्भव है? अर्थात् वचन भंग होने का नियम स्वगत विरोध के कारण व्यापक नियम बनने पर नष्ट हो जाता है। अतएव जो नियम व्यापक नियम न बन सके और जो किसी विशेष व्यक्ति के आचरण के लिए ही मार्ग प्रदर्शित करता हो वह अनैतिक नियम है।

जिस प्रकार वचन भंग को नैतिक नियम नहीं बनाया जा सकता उसी प्रकार चोरी व्यभिचार आत्म-हत्या को नैतिक नियम नहीं बनाया

---

* Act that principl which thou canst will to be an universal law

1 Exception

जा सकता । यदि सभी लोगों को चोरी करने की छूट दे दी जाय, तो फिर न कोई सम्पत्ति रखेगा और न चोरी ही होगी । इस तरह चोरी करने के नियम को व्यापक बनाने से वह नियम ही नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार यदि सभी लोग व्यभिचार पर तुल जॉय, तो विवाह-पद्धति ही न रह जायगी, और फिर व्यभिचार भी न रहेगा । इसी प्रकार आत्म-हत्या की बात है । आत्म-हत्या करने वाला कोई भी व्यक्ति आत्म-हत्या को व्यापक नियम बनाने की कल्पना नहीं कर सकता । आत्म हत्या के व्यापक बनने पर उसकी आवश्यकता ही न रह जायगी । इस तरह जिस नियम को हम व्यापक नियम का रूप नहीं दे सकते, वह नियम अनैतिक नियम है ।

नैतिक नियम अपनी अन्तरात्मा का नियम है, जो सत्य और न्याय-प्रिय है । अपनी सत्य-प्रियता के कारण वह उस विचार को सत्य मानता है, जो पारस्परिक विरोध मे रहित है । इसी प्रकार यह अन्तरात्मा उस आचरण को भी न्याययुक्त आचरण मानता है, जो अपने-आप के विरोध से रहित है । ज्ञान के जिस नियम को हम व्यापक नियम नहीं बना सकते वह नियम झूठा है । इसी तरह आचरण के जिस नियम को हम व्यापक नहीं बना सकते, वह नियम भी झूठा अथवा अनैतिक नियम है । मनुष्य की विवेकबुद्धि, जो अन्तरात्मा की शक्ति है, एक ओर उसे अपने विचार में व्यापक सत्य की ओर ले जाती है, और दूसरी ओर वह उसे आचरण में व्यापक नैतिक नियम के अनुसार काम करने के लिए बाध्य करती है । ये दो प्रकार के कार्य वास्तव में एक ही शक्ति के कार्य हैं, एक ज्ञान के क्षेत्र में है, और दूसरा क्रिया के क्षेत्र में । अतएव इन दोनों प्रकार के कार्यों का समान होना स्वाभाविक है। नैतिक आचरण वही आचरण है, जो विवेकयुक्त अथवा विज्ञानयुक्त हो ।

कान्ट महाशय का कथन है कि हमे प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः लक्ष्य मानना चाहिए, एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के सुख का साधन नहीं बनाना चाहिए ।* प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये जीता है, न कि दूसरे के लिये । जिस प्रकार हम अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए सब काम करते है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए सब काम करता है । अतएव जिस व्यक्ति के

* Regard humanity as an end and never as a means.

*(१) कान्ट का नैतिक नियम निरी सामान्यता पर जोर डालता है।

(२) उसका नैतिक नियम बड़ा कठोर है।

(३) इस नैतिक नियम में तपवाद की प्रधानता है।

इन तीनों प्रकार की आलोचनाओं को स्पष्ट करके एक एक पर विचार करना आवश्यक है।

कान्ट के आलोचकों का कथन है कि कान्ट के नैतिक नियम में कोई ऐसी बात नहीं बतायी गयी, जो हमारे व्यावहारिक जीवन मे काम में आवे। उनका नियम सामान्य नियम[1] है। वह केवल नैतिक नियम के बाहरी ढाँचे[2] को ही बताता है, उसके भीतर की वस्तु[3] को नहीं। आचरण के कौन-कौन से व्यावहारिक नियम हों, वह इन बातों को स्पष्ट नहीं करता। कान्ट ने कहा है कि उस नियम को अपने जीवन का नियम बनाओ, जिसको तुम व्यापक नियम बनाने की इच्छा कर सकते हो। पर प्रश्न यह है कि ऐसा कौन-सा नियम हो सकता है, जिसको हम व्यापक नियम बना सकते हैं। इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया गया है। स्वय कान्ट का कथन है कि व्यावहारिक नियम देश-काल पर निर्भर करेंगे। अतएव उनमें वे लक्षण नहीं हो सकते है, जिनका नैतिकता के नियम में होना आवश्यक है। नैतिकता का नियम अन्तरात्मा[4] का नियम है। इस नियम का रूप परिस्थितियों पर निभर नहीं करता। यदि उसका रूप परिस्थितियों पर निर्भर करने लगे, तो वह नैतिक नियम अपरिवर्तनशील नहीं होगा; और परिवर्तनशील नैतिक नियम सब समय और सब काल के मनुष्यों में व्यापक न होगा। जो नियम मनुष्य के बाह्य अनुभव पर आधारित रहता है, वह अन्तरात्मा का नियम नहीं हो सकता। अन्तरात्मा का नियम सासारिक अनुभवों के ऊपर स्थित नहीं रहता, वरन् वह अन्तरात्मा के स्वरूप को ही प्रगट करता है। यदि कान्ट की इस बात को मानकर नैतिक नियम को बनावें, तो वह नैतिक नियम के ढाँचे के अतिरिक्त और कुछ न होगा। वह हमारे व्यावहारिक जीवन में काम में नहीं आ सकता, क्योंकि उनमें व्यावहारिक जीवन के लिए पथ-प्रदर्शन का संकेत ही नहीं रहेगा। अतएव कान्ट के कुछ आलोचकों ने कहा है कि कान्ट

---

* (i) Kant's law is formal (ii) It is stringent (iii) It is ascetic.

1. Formal law, 2 Form 3. Matter 4. Conscience.

महाशय की इच्छा शक्ति वास्तव में कुछ इच्छा ही नहीं करती, अर्थात् उनकी अन्तरात्मा की आवाज से वास्तव में कुछ निर्देश ही नहीं मिलता।

काण्ट के नैतिक नियम की दूसरी आलोचना यह है कि यह बड़ा कठोर है। उसमें किसी प्रकार के अपवाद को स्थान ही नहीं है। परन्तु प्रत्येक नैतिक नियम का कभी न कभी अपवाद होना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ वचन पालन के नियम को ही लीजिए। मान लीजिए कि हमने किसी व्यक्ति को वचन दिया कि ठीक पाँच बजे संध्या को हम तुम्हारे पास पहुँचेंगे। परन्तु जब हम पाँच बजे उसके पास जाने की तैयारी करते हैं, तो हमको सूचना मिलती है कि हमारा एक मित्र अचानक बीमार हो गया है और उसके लिये हमें तुरन्त चिकित्सक को बुलाना है। यदि हम चिकित्सक को पाँच बजे न बुलावें तो सम्भव है कि उसके प्राण चले जावें। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि हमारा कर्तव्य अपने वचन-भंग की परवाह न करके मित्र की सेवा-सुश्रूषा में लगना ही है। झूठ बोलना साधारणतः बुरा है; परन्तु रोगी, आततायी और मूर्ख से सभी बातें सच्ची-सच्ची कह देना अपने और दूसरों के लिए घातक है। अतएव ऐसे लोगों से परिस्थिति के अनुसार सत्य कहना होगा अथवा सत्य को उनसे छिपाना होगा। किसी किसी परिस्थिति में झूठ बोलना ही मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है। परन्तु हम यह इच्छा नहीं कर सकते कि सभी लोग सब परिस्थितियों में झूठ बोलें अर्थात् झूठ बोलने के नियम को व्यापक नियम बनाने की इच्छा न रखते हुए भी कभी-कभी हम उससे काम ले सकते हैं। झूठ बोलने की नैतिकता झूठ बोलने के व्यापकत्व पर निर्भर नहीं करती वरन् उसकी नैतिकता किसी दूसरी बात पर निर्भर करती है।

अब यदि कहा जाय कि प्रत्येक व्यक्ति को यह निर्णय करने का अधिकार हो कि वह किस परिस्थिति में झूठ बोले और किस परिस्थिति में झूठ न बोले और जिस प्रकार की परिस्थिति में वह झूठ बोलता है, उसी प्रकार की परिस्थिति में सभी लोगों को झूठ बोलने की छूट दे दे, तो इस प्रकार के नियम से चोर और डाकू लोग भी लाभ उठावेंगे। वे यह सोच सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को हमारी परिस्थिति में झूठ ही बोलना चाहिए। किन्तु उनके इस प्रकार के सोचने से उनका झूठ बोलने का काम नैतिक कार्य नहीं हो जाता।

इस प्रकार हम देखते है कि न तो अन्तरात्मा का सिद्धान्त और न नैतिक नियम के व्यापकत्व का सिद्धान्त ही सामान्य व्यवहार में हमारे काम आता है। वास्तव मे यहाँ पर किसी ऐसी नैतिक कसौटी की आवश्यकता है, जो व्यापक और अव्यापक दोनों प्रकार के नियमों का औचित्य अथवा अनौचित्य दर्शा सके। आदर्शवादियों के अनुसार नैतिकता की यह कसौटी अपने ऊँचे-से-ऊँचे स्वत्व की प्राप्ति है। इस स्वत्व की प्राप्ति में लोक-कल्याण की भावना निहित है।

एक तरह से देखा जाय, तो हम कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकते, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित कार्य कहा जा सकता है। कान्ट महाशय आजन्म ब्रह्मचारी रहे और उनका जीवन बड़े उच्चकोटि का था। उनके ब्रह्मचर्य के प्रति कोई भी आपत्ति नहीं की जा सकती। परन्तु यदि इसी ब्रह्मचर्य को सर्वव्यापी नियम बना दिया जाय, तो सृष्टि का ही विनाश हो जायगा, अर्थात् ब्रह्मचर्य का नियम किसी विशेष व्यक्ति के लिए ही लागू होने पर चल सकता है। उसके व्यापक होने पर उसका स्वय विरोध हो जाता है। अतएव यदि स्वय विरोध हो जाना ही अनैतिकता का लक्षण है, तो ब्रह्मचर्य का पालन अनैतिक कहा जायगा। इसी प्रकार दान देने का नियम भी पूर्णत व्यापक नहीं बनाया जा सकता। जब समाज के कुछ व्यक्ति अपना सभा धन समाजसेवा के लिए दान में दे देते है, तब हम उनकी महानता की प्रशसा करते हैं, उन्हें नैतिक व्यक्ति मानते हैं, किन्तु यदि सभी लोग अपना सर्वस्व दान में देने लगें, तो दान देना भी आन्तरिक विरोध के कारण बन्द हो जायगा। सभी लोगों की दानशीलता अधिक होने पर किसी व्यक्ति के पास सम्पति ही न रह जायगी, और फिर दान देना सम्भव ही न होगा। इस तरह दानशीलता की व्यापकता की कल्पना नहीं की जा सकती। दान भी अपवाद के रूप में उचित कार्य माना जा सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि अपवाद के अभाव को ही नैतिकता का लक्षण मानना युक्तिसगत नहीं।

कान्ट महशय ने नैतिक जीवन का आदर्श कठोर तपमय बनाया है। उनके कथनानुसार त्याग और तपस्या में ही नैतिक जीवन का सार है। नैतिकता विवेकात्मक भाव है, और इच्छाओं की तृप्ति विवेक के प्रतिकूल है। जिस प्रकार

पुराने यूनानी कहा करते थे कि देवता का लक्षण इच्छाओं का अभाव है, उसी प्रकार कान्ट महाशय इच्छाओं के अभाव को विवेक का लक्षण मानते हैं। इच्छाओं को अथवा राग-द्वेष को अपने कार्य में किसी प्रकार का स्थान देना विवेक के प्रतिकूल माना है।

कांट के विचारों की मौलिकता

कांट संसार का महान् तपस्वी दार्शनिक था। उसका जीवन उसी प्रकार संसार में बीता जिस प्रकार किसी भारतीय ऋषि का बीतता है। वह सदा तत्व की खोज में लगा रहता था। उसके जीवन में कितनी कम सांसारिक मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा थी, यह इसी से स्पष्ट होता है कि उसका सर्वोत्तम ग्रन्थ छियासठ वर्ष की अवस्था में प्रकाशित हुआ। वह एक ही दार्शनिक विचार का चालीस वर्ष तक सोचता गया और जब तक उसने सारे पहलुओं पर विचार नहीं कर लिया; तब तक उसने अपना विचार संसार के सामने नहीं रखा। उसके जीवन में दिखावेपन का बिलकुल अभाव था। दार्शनिक विचारों में सदा निमग्न रहने के कारण उसने विवाह भी नहीं किया। यूरोप के विचारों की गम्भीरता दो विद्वानों के कार्यों पर निर्भर है—एक प्लेटो और दूसरा कांट। दोनों के जीवन में उन विचारों को चरितार्थ होते देखा जाता है, जिनका वे प्रतिपादन करते हैं।

कांट महाशय के नीति शास्त्र-सम्बन्धी विचार हमने दर्शाया तथा उन विचारों की किस प्रकार से सामान्यतः आलोचना होती है, उसे भी बताया। सम्भवतः इस आलोचना के कारण पाठकों के मन में यह धारणा हो जाय कि कांट का कार्य नगण्य था। ऐसा सोचना भारी भूल होगी। आधुनिक युग में यदि नीति-शास्त्र के विचारों में किसी विद्वान ने गम्भीरता लाया है तो वह कांट ने ही और यूरोप में प्लेटो के बाद कांट के विचार ही देखे हैं जो तत्त्व-चिन्तन के आधार पर सभी प्रकार की बातों में आधारित हैं।

कांट महाशय के पूर्व सुखवाद और अन्तः अनुभूतिवाद ही प्रचलित थे। नैतिक बातों पर विवेक से निश्चय करने की प्रणाली जिसे प्लेटो महाशय ने चलाई थी, लोप-सी हो गई थी। जिस प्रकार सुखवाद समाज में स्पर्धा का कारण

बन रहा था, उसी प्रकार अनुभूतिवाद भी कुछ धार्मिक लोगों के अत्याचार का कारण हो रहा था। सुखवाद का नियन्त्रण होना आवश्यक है और यह नियन्त्रण अन्तः अनुभूतिवाद ने किया। परन्तु अन्त. अनुभूतिवाद ने वैयक्तिक अनुभूति को प्रधानता देकर मनुष्य के विवेक को तुच्छ बना दिया था। अन्त अनुभूतिवाद का व्यावहारिक रूप धार्मिक और एकतन्त्रात्मक विचारों को प्रधानता देना हो जाता है। जो लोग अन्त. अनुभूति मे विश्वास करते हैं, वे उन्हीं प्रकार कट्टर विचार के होते हैं, जिस प्रकार धार्मिक पुस्तकों के विचारों को ईश्वर-वाक्य मानने वाले होते हैं। यदि अन्त. अनुभूतिवादी किसी व्यक्ति विशेष की अन्त अनुभूति को ही मुख्य वस्तु न मानें, पर सभी लोगों की अन्तः अनुभूति को बराबर का स्थान दें, तो उनका विचार उपादेय हो। परन्तु वह विचार निरा अन्त' अनुभूतिवाद न रह जायगा, वह विवेकवाद हो जायगा। काट महाशय ने यही किया।

कान्ट महाशय एक ओर अन्त. अनुभूतिवादी थे, और दूसरी ओर विवेकवादी। विवेकवाद और अन्त अनुभूतिवाद का जिस प्रकार समन्वय काट के विचारों मे पाया जाता है, वैसा किसी दूसरे दार्शनिक के विचारों मे नहीं पाया जाता। काट महाशय ने नैतिक निर्णयों मे अन्त अनुभूति को ही प्रधानता दी है। उनके कथनानुसार नैतिकता में उचित अनुचित का निर्णय करने वाली शक्ति अन्तः अनुभूति ही है। पर यह अन्त अनुमति अथवा ईश्वर की आवाज एक व्यापक वस्तु है। इससे भूल कभी नहीं होती। यह देश काल आदि से परे है। अर्थात् जिस प्रकार का निर्णय किसी विशेष नैतिक सकट मे पडने पर आज हमारी अन्तरात्मा देगी, ठीक उसी प्रकार का निर्णय वह दूसरी बार कई वर्षों के बाद भी देगी। इतना ही नहीं, यही निर्णय दूसरे देशों और दूसरे काल के लोगों का भी होगा। यदि इस प्रकार के विचार की समानता और ऐक्य मानव जाति में न हो, तो नैतिकता अर्थ-हीन वस्तु हो जायेगी। सच्ची नैतिकता के आधार पर ही मानव समाज में एकता आ सकती है।

काट महाशय ने दर्शाया है कि सभी मनुष्यों मे विचार करने की प्रक्रिया एक ही प्रकार की होती है। एक व्यक्ति मे बुद्धि जिस प्रकार काम करती है, उसी प्रकार वह दूसरे व्यक्ति में भी काम करती है, और यदि एक ही प्रकार के प्रदत्त

काट महाशय ने मनुष्य के कर्तव्यो की तालिका नहीं बनाई। उन्होंने यह भी नहीं बताया कि दो कर्तव्यों में कौन-सा कर्तव्य ऊँचा है, और कौन सा नीचा। मनुष्यों को सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर करके उसने उनका कोई विशेष कर्तव्य नहीं बताया। इसके परिणाम-स्वरूप काट के नीतिशास्त्र में नैतिकता का लक्ष्य क्या है, इसी पर अधिक विचार पाये जाते है। उनके विचारों में विशेष कर्तव्यों का उल्लेख नहीं पाया जाता। इसीलिए कहा जाता है कि काट महाशय की भली इच्छाशक्ति ऐसी है, जो कुछ भी इच्छा नहीं करती*। पर जब इस बात पर हम गम्भीरतापूर्वक विचार करते है, तो हम प्राय. उसी निष्कर्ष पर पहुँचते है, जिस पर काट पहुँचा। यदि नीतिशास्त्र का कोई विद्वान् पहले से ही बताये कि अमुक परिस्थितियों में अमुक प्रकार के व्यक्तियों का अमुक कर्तव्य है, तो वह मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का ही अपहरण कर लेगा। जहाँ स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का कार्य नहीं, वहाँ नैतिकता का विकास भी सम्भव नहीं। नैतिकता का मूल आधार स्वतन्त्र इच्छाशक्ति है। अतएव काट महाशय नैतिकता के नियम के विषय में यही कहकर रह गये कि व्यापक नियम के अनुसार चलना ही नैतिकता है।

यह बात सत्य है कि जब कभी किसी विशेष परिस्थिति में इस नियम को लगाया जायगा, तो कुछ दूर तक उसकी व्यापकता की अवहेलना हो जायेगी। अर्थात् व्यावहारिक जगत् में मनुष्य अपने आचरण को इतना व्यापक नहीं बना सकता कि वह ससार के सभी लोगों के लिये अनुकरणीय हो जाय। पर यदि वह इस प्रकार बना सके, तो यह बुरी बात न होगी। काट महाशय ने तो हमारे सामने एक आदर्श मात्र खड़ा किया है। इस आदर्श के होने के कारण ही हम अपने आचरण को ऐसा बनाते हैं, लोक में जिसकी निन्दा न हो। पुण्य वही है, जिसे छिपाने की इच्छा हमें नहीं होती, जो प्रकाश मे आने पर हमारे सम्मान का कारण होता है, और पाप वह है, जिसको हम छिपकर करते हैं—जिसे छिपाये रखने की हममें सदा इच्छा बनी रहती है और जिसके प्रकाशित होने पर हमारा सम्मान नष्ट हो जाता है, हमें शर्म के मारे सिर नीचा कर लेना पडता है। यदि

---

* Kant's good will is a will that wills nothing

हम कांट महाशय के नैतिक नियम के आदर्श को ध्यान में रखें, तो हम से !
होने की ही अधिक संभावना है और हम पाप से बचे रहेंगे।

कांट महाशय का दूसरा कथन यह था कि नैतिकता में अपवाद के f
कोई स्थान न रहे। जहाँ तक नैतिक नियम का अपवाद है, वहाँ तक अनैति
है। यदि कोई मनुष्य कहे कि मेरे लिए अधिक वेतन मिलना तो ठीक है
मेरे नीचे काम करनेवाले नौकरों के लिए यह ठीक नहीं है, तो वह अपने ।
कोई विशेष स्थान चाहता है। नैतिकता में इस प्रकार की विशेषता के f
स्थान नहीं। आज इसी के आधार पर संसार के गरीब लोग धनी लोगों
अपने अधिकारों की माँग कर रहे हैं। सभी मनुष्य बराबर हैं और सभी
संसार में जीने का उसकी संपत्ति के उपभोग का समान अधिकार है। '
कोई व्यक्ति अपने विशेष अधिकार का ढिंढोरा पीटता है, तो वह नैतिक न
अनैतिक व्यक्ति है। यदि कोई अपराध करने पर किसी गरीब मनुष्य
सजा होती है तो वैसी ही सजा उसी अपराध करने पर धनी व्यक्ति को भी हो
चाहिए। जब राजा गरीब को तो किसी अपराध के करने पर सजा देता है
धनी को बचा देता है तो वह एक अनैतिक नियम से काम लेता है।

यह संभव है कि मनुष्य अपने आचरण को ऐसा न बना सके कि उ
अपवाद का सर्वथा अभाव रहे। पर इसके कारण यह नहीं कहा जा सकता
अपवाद के अभाव का आदर्श बनाना ही बुरा है। आदर्श के रहने पर मनु
प्रयत्न करता रहेगा। वह जब कभी भूल करेगा, तो उसे ज्ञात हो जायेगा
उसने भूल कहाँ तक की। सभी लोग अपने पक्ष की बात को ठीक मान ले
हैं और अपने सम्बन्धी को विशेष स्थान देने की चेष्टा करते हैं। यह नैति
नियम का अपवाद है और जहाँ तक नैतिक नियम का अपवाद होता है, व
तक व्यक्ति के जीवन में अनैतिकता ही आता है।

कांट महाशय की तीसरी आलोचना उनके अपवाद की है। कांट महाश
का कथन है कि जहाँ तक हम अपने आचरण में उद्वेगों और भावों को स्था
देते हैं वहाँ तक हमारा आचरण नैतिक नहीं होता। नैतिक आचरण व
आचरण है, जो केवल विवेक मात्र के द्वारा संचालित है। यदि उसमें थोड़ा भ
भाव (उद्वेग) को स्थान दिया गया तो उस आचरण को नैतिक आचरण नहीं

कहा जायगा। जो लोग अपने सभी कामों में भाव से प्रेरित रहते हैं, उन्हें यह नियम बड़ा ही कठोर दिखाई देगा। यदि भावों से प्रेरित होकर नहीं, वरन् केवल कर्तव्य की दृष्टि से ही कोई काम किया जाय, तो वह काम नीरस हो जावेगा। ऐसे काम में भला मनुष्य का मन कैसे लगेगा? कर्तव्य को सरस बनाकर क्यों न किया जाय?

कांट महाशय की भाव-सम्बन्धी नैतिकता के विचारों की आलोचना इस प्रकार से करना कर्तव्य की महत्ता और उसके सच्चे स्वरूप को भुला देना है। कर्तव्य और अकर्तव्य का प्रश्न वहीं आता है, जहाँ मनुष्य का विवेक उसे एक ओर ले जाता है और उसके भाव, उद्वेग अथवा स्वार्थ उसे दूसरी ओर ले जाते हैं। इन दोनों के संघर्ष में मनुष्य के मनुष्यत्व की परख होती है। मनुष्य की विशेषता, उसकी धर्म परायणता, अर्थात् विवेक के अनुसार काम करने में है। विवेकी पुरुष अनुद्विग्न मन होकर तथा अपने सभी आवेशों को जीतकर काम करता है। पर यह तभी होता है, जब वह अपने प्रतिक्षण के काम में अपने भावों का नियन्त्रण करता रहे। मनुष्य का मन अभ्यास का दास है। मनुष्य का जैसा अभ्यास होता है, वह संकट काल में उसी प्रकार का आचरण करता है।

जिस व्यक्ति ने अपने प्रतिक्षण के कार्य में अपने मानसिक वेगों का नियन्त्रण करना नहीं सीखा, वह प्रबल भय, क्रोध, लोभ, शोक, ईर्ष्या आदि के आने पर उनके प्रवाह में बहने से अपने आपको कैसे बचा सकेगा? अतएव अपने आचरण में कर्तव्य-बुद्धि के प्रतिकूल आवेशों को तनिक भी स्थान देना अनैतिकता है। अपने आवेशों को इस प्रकार नियन्त्रण में रखने से मनुष्य की इच्छाशक्ति बलवती होती है। इच्छाशक्ति का बलवान होना ही नैतिक आचरण का सर्वश्रेष्ठ परिणाम है। जिस मनुष्य की इच्छा-शक्ति बलवती होती है, उसे वे संशय और भय व्यर्थ नहीं सताते, जो निर्बल इच्छाशक्ति के व्यक्तियों को सताते हैं। दृढ़ इच्छाशक्ति वाला व्यक्ति मौत का भी स्वागत प्रसन्नता से करता है। उसे मौत की परवाह ही नहीं रहती, और निर्बल इच्छाशक्ति का व्यक्ति सदा अधमर्गी अवस्था में रहा करता है। वह उन आपत्तियों के विषय में चिन्ता करता रहता है, जो उसके सामने आई ही नहीं। उनकी कल्पना ही उसे त्रास देती रहती है।

अवस्था में इससे हजारों मील की दूरी पर रहनेवाले विद्वान के स्वतन्त्र विचार हमारे लिये बड़ा मूल्य रखते हैं। वे एक ओर इस सत्य के दर्शन कराते हैं, और दूसरी ओर स्वतन्त्र चिन्तन की कीमत भी बताते हैं। कांट महाशय के नैतिक तथा दार्शनिक विचारों के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि जिस व्यक्ति की बुद्धि स्वतन्त्र है, वही तत्त्व के वास्तविक दर्शन कर सकता है। बुद्धि की स्वतन्त्रता का जहाँ अपहरण हुआ, वहाँ विचारों में भी जड़ता आ जाती है, और वहाँ सत्य विचार भी असत्य का प्रतीक बन जाता है।

प्रश्न

१ "अनिवार्य आज्ञा" देनेवाली शक्ति के स्वरूप को भली प्रकार से समझाइये। इसकी विवेकशीलता पर प्रकाश डालिये। कान्ट महाशय का इस विषय में क्या मत है?

२ "जब हम किसी व्यक्ति के आचरण की नैतिकता पर विचार करें, तो हमें उसके किसी काम के फल को न देखकर उसके हेतु की ओर देखना चाहिये" इस प्रकार के मत को स्पष्ट कर समालोचना कीजिये।

३ कान्ट महाशय के कथनानुसार नैतिकता का ध्येय क्या है? इस विषय में उनके विचारों की आलोचना कीजिये।

४. कान्ट महाशय का बतलाया हुआ नैतिक नियम क्या है? इस नियम को हम कैसे प्राप्त करते हैं? इसकी अनिवार्यता कहाँ तक ठीक है?

५ कान्ट महाशय के नैतिक नियम की विशेषता को स्पष्ट समझाइये।

६ "कान्ट महाशय का नैतिक नियम बड़ा कठोर है—" इस आलोचना को स्पष्ट कीजिये। नैतिक नियम का कठोर होना मनुष्य के नैतिक विकास के लिये कहाँ तक उचित है?

७ कान्ट के नैतिक सिद्धान्त में तपवाद की प्रधानता है—यह कहने का क्या अर्थ है? क्या तपस्या से मनुष्य की नैतिकता की वृद्धि होती है?

८. कान्ट महाशय ने अपने नैतिक विचारों के द्वारा मानव-जाति की क्या सेवा की है? उन्होंने मनोवैज्ञानिक सुखवाद की प्रवृत्तियों को कहाँ तक रोका है?

———

बारहवाँ प्रकरण

सुखवाद[1]

सुखवाद क्या है ?

सुखवाद आधुनिक काल का एक व्यापक नैतिक सिद्धान्त है । सुखवाद के अनुसार मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य सुख प्राप्ति है । सुख-प्राप्ति ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है इसी में उसकी वास्तविक भलाई है । अतएव जिन कर्मों मन्तव्यों अथवा हेतुओं से अधिक सुख की उत्पत्ति होती है, वे अच्छे हैं और जिनके द्वारा कम सुख और अधिक दुःख की उत्पत्ति होती है वे बुरे हैं । सुखवादी सुख को एक विशेष प्रकार की अनुभूति[2] अथवा संवेदना मानते हैं । उनके विचारानुसार विभिन्न प्रकार के सुख की संवेदनाओं को उसी प्रकार नापा जा सकता है, जिस प्रकार हम किसी भौतिक पदार्थ को माप लेते हैं । दो भिन्न-भिन्न कर्मों में वह काम नैतिक दृष्टि से अधिक अच्छा है, जिसके द्वारा अधिक परिमाण में सुख की संवेदना हमारे मन में उत्पन्न हो और कम-से कम दुःख की अनुभूति हो । ऐसे काम के हेतु और मन्तव्य भी अच्छे समझे जाते हैं ।

सुखवाद के दो मुख्य प्रकार हैं, एक स्वार्थ[3] सुखवाद और दूसरा परार्थ[4] । स्वार्थ सुखवाद के अनुसार मनुष्य की सबसे बड़ी भलाई अपने आप के सुख का उपार्जन करने में है । जो व्यक्ति अपने वैयक्तिक जीवन को जितना सुखी बना सकता है, वह उतना ही भला है । इसके विरुद्ध परार्थ सुखवाद का

---

1 Hedonism. 2 Feeling 3 Egoistic hedonism.

4 Altruistic hedonism.

सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को अपने सुख के लिए ही यत्न नहीं करना चाहिये, वरन दूसरे लोगों के सुख के लिए भी यत्न करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार वे काम नैतिक दृष्टि से अच्छे कहे जायँगे, जिनसे ससार मे अधिक सुख की उत्पत्ति होती है। यह सुख अपना ही नहीं, वरन् दूसरों का भी होता है। उस सिद्धान्त को उपयोगितावाद[1] या लाभवाद भी कहते है। आधुनिक काल में स्वार्थ-सुखवाद के समर्थक बहुत कम लोग हैं। सुखवाद जहाँ भी प्रचलित है, परार्थ सुखवाद के रूप में प्रचलित है। दोनों प्रकार के सुखवादियों का दार्शनिक आधार जडवाद[2] है। इनमें शरीर के अतिरिक्त दूसरे किसी तत्त्व की कामना नहीं की गई। शरीर नष्ट हो जाने पर मनुष्य का सर्वस्व नष्ट हो जाता है, यह सुखवाद और जडवाद की पूर्वमान्यता है। अब यहाँ हम दोनों सुखवादों का एक-एक करके विवेचन करेंगे।

स्वार्थसुखवाद

ससार में सभी जगह स्वार्थ सुखवाद के प्रवर्तक पाये जाते हैं। यूनान देश में इस सुखवाद के प्रवर्त्तक अरस्टीपस और इपीक्यूरस थे. और भारतवर्ष में इस वाद के प्रवर्त्तक बृहस्पति, भारद्वाज और चारवाक आदि थे। भारतवर्ष में स्वार्थ सुखवाद का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। उनके मतों के विरोधी मतावलम्बियों के ग्रन्थों में खण्डन मात्र पाया जाता है। विरोधियों ने उनके मत को बड़े वीभत्स और हास्यास्पद रूप मे प्रकट किया है। चारवाक का निम्नलिखित सिद्धान्त हँसी उड़ाने के लिये अक्सर उद्धृत किया जाता है—'यावत् जीवेत् सुख जीवेत्, ऋणकृत्वा घृत पिवेत्, भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत'।'

अर्थात् जब तक जीते हो, तबतक सुख से खाओ पिओ और मौज उडाओ। यदि पास में पैसा न भी हो तो, दूसरों से उधार ले लो। जब मनुष्य मर जाता है, तो उसका शरीर धूल मे मिल जाता है और फिर इस समार में आगमन कभी नहीं होता। जब पुनर्जन्म होता ही नहीं, तो मनुष्य को अपने आप को इसी जीवन में अधिक-से-अधिक सुखी बनाने के अतिरिक्त दूसरा पुरुषार्थ रह ही क्या जाता है। अनेक प्रकार के तप करके शरीर को कष्ट देना मूर्खता के अतिरिक्त और क्या है?

1 Utilitarianism 2. Materialism.

बारहवाँ प्रकरण

सुखवाद[1]

सुखवाद क्या है ?

सुखवाद आधुनिक काल का एक व्यापक नैतिक सिद्धान्त है । सुखवाद के अनुसार मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य सुख प्राप्ति है । सुख-प्राप्ति ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है इसी में उसकी वास्तविक भलाई है । अतएव जिन कार्यों मन्तव्यों अथवा हेतुओं से अधिक सुख की उत्पत्ति होती है, वे अच्छे हैं और जिनके द्वारा कम सुख और अधिक दुःख की उत्पत्ति होती है वे बुरे हैं । सुखवादी सुख को एक विशेष प्रकार की अनुभूति[2] अथवा संवेदना मानते हैं । उनके विचारानुसार विभिन्न प्रकार के सुख की संवेदनाओं को उसी प्रकार नापा जा सकता है, जिस प्रकार हम किसी भौतिक पदार्थ को माप लेते हैं । वो भिन्न भिन्न कार्यों में वह काम नैतिक दृष्टि से अधिक अच्छा है, जिसके द्वारा अधिक परिमाण में सुख की संवेदना हमारे मन में उत्पन्न हो और कम-से कम दुःख की अनुभूति हो । ऐसे काम के हेतु और मन्तव्य भी अच्छे समझे जाते हैं ।

सुखवाद के दो मुख्य प्रकार हैं, एक स्वार्थ[3] सुखवाद और दूसरा परार्थ[4] । स्वार्थ सुखवाद के अनुसार मनुष्य की सबसे बड़ी भलाई अपने आप के सुख का उपार्जन करने में है । जो व्यक्ति अपने वैयक्तिक जीवन को जितना सुखी बना सकता है, वह उतना ही भला है । इसके विरुद्ध परार्थ सुखवाद का

---

1 Hedonism. 2 Feeling 3 Egoistic hedonism.
4 Altruistic hedonism.

थोड़े दिन के बाद मानसिक बेचैनी का अनुभव करने लगता है। उसके समीप सुख की सामग्री रहने पर भी वह सुख का आस्वादन नहीं कर सकता। उसमें सुखों के उपभोग की शक्ति ही नहीं रह जाती। इतना ही नहीं, अधिक सुख और ऐश आराम के जीवन से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों के कारण मनुष्य सुखी न होकर दुःखी ही होता है। अतएव ईपीक्यूरस महाशय का आदेश है कि मनुष्य को अपने आप को जीवन भर सुखी बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह सयम का जीवन व्यतीत करे। जीवन मे न अधिक भोग विलास की वृद्धि हो, और न तप अर्थात् शारीरिक कष्ट की। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन से सब प्रकार के अतिक्रम को निकाल दे। वही जीवन सर्वश्रेष्ठ है, जिससे मनुष्य झूठे विचारों को त्याग करके गम्भीर चिन्तन से काम लेता है और विवेक-द्वारा अपने आप को सचालित करता है। ईपीक्यूरस महाशय का कथन है कि भला आदमी वही है, जो दार्शनिक है। दर्शन के बिना मनुष्य के मन में समता और शान्ति नहीं आती। दर्शन की सहायता से मनुष्य अपने आप को विलासिता से बचाता और अनेक प्रकार के निरर्थक भावों से अपने जीवन को मुक्त कर लेता है। दर्शन के द्वारा मनुष्य मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है, उसमें गम्भीरता और सहनशक्ति आ जाती है।

ईपीक्यूरस के उपयुक्त कथन से स्पष्ट है कि उसका मत चारवाक के सिद्धान्त से पृथक् है। पर साधारणतः ईपीक्यूरस के मत का यही अर्थ लिया जाता कि खाने-पीने और मौज उड़ाने में ही जीवन की सार्थकता है। ईपीक्यूरस ने आत्म-सयम और दार्शनिक जीवन के ऊपर जो जोर दिया है, उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। इसका प्रधान कारण यह है कि ईपीक्यूरसवाद में पुनर्जन्म की चर्चा नहीं है, और न उसने शरीर के अतिरिक्त किसी दूसरी आध्यात्मिक शक्ति का विवेचन ही किया। अतएव ईपीक्यूरस का मत एक प्रकार की चतुराई से जीवन व्यतीत करने का मत हो जाता है।

परार्थ सुखवाद

वर्तमान काल के सुखवाद के प्रवर्त्तक बेन्थम और जान स्टूअर्ट मिल महाशय हैं। ये दोनों विद्वान् अंग्रेज थे। ये दोनों जड वादी थे। न ये ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते थे, और न किसी आध्यात्मिक शक्ति में। मरने के बाद

भारतवर्ष एक आध्यात्मिक देश है। यहाँ की दार्शनिक विचारधारा में सदा आध्यात्मवाद और आदर्शवाद की प्रधानता रही है, अतएव जड़वाद और सुखवाद की हमेशा खिल्ली उड़ाई गई है। संसार के दूसरे देशों में ऐसी बात नहीं हुई। आधुनिक काल में तो पुनर्जन्म और आदर्शवादिता के सिद्धान्त की ही संसार के प्रगतिशील कहे जाने वाले देशों में खिल्ली उड़ाई जाती है। जिस प्रकार प्राचीन भारतवर्ष में चार्वाकवादी पुनर्जन्म के सिद्धान्त का तथा त्याग और संयम के जीवन को मूर्खता का परिणाम मानते थे, उसी प्रकार आधुनिक जगत् में साम्यवादी समाजवादी तथा पूँजीवादी लोग सुख की सामग्रियों का संग्रह करने और उपभोग करने में ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ देखते हैं। इन सब विचारधाराओं में पुनर्जन्म अथवा आदर्श त्याग की कल्पना कहीं नहीं पाई जाती। कोई-कोई पूँजीवादी सैद्धान्तिक रूप से यदि पुनर्जन्म और आदर्श वादिता को मानते भी हैं तो अपने आचरण के द्वारा वे उसका खण्डन करते हैं।

यूरोप के पुराने सुखवादी सैरेनिक थे। ये अरस्टीपस महाशय के अनुयायी थे। अरस्टीपस महाशय के सुखवाद का सिद्धान्त चार्वाक के सिद्धान्त के समान था। उनके कथनानुसार सुख-प्राप्ति ही जीवन का परम पुरुषार्थ है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने आप को जितना सुखी बना सके, उतना सुखी बनावे। यदि उसके कारण उसे किसी प्रकार का अपमान सहना पड़े तो इसमें कोई क्षति नहीं है। अरस्टीपस प्रत्येक क्षण के सुख की प्राप्ति पर जोर देता है। यदि प्रत्येक क्षण का सुख अधिक रहा तो जीवन भर में अधिक सुख होगा।

उक्त सिद्धान्त से भिन्न ईपीक्यूरस महाशय का सिद्धान्त है। परन्तु उनका आदर्श है कि मनुष्य को जीवन भर अपने आप को सुखी बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह विवेकहीन होकर अपने आप को भोग विलास में न खो दे। ऐसा करने से उसे सुख की प्राप्ति न होकर दुःख की ही प्राप्ति होती है। जब मनुष्य अपने आप को सदा नये प्रकार के सुखों के उपभोग में लगाये रहता है तो उसकी इन्द्रियाँ थोथी हो जाती हैं और उनमें सुख को ग्रहण करने की शक्ति ही नहीं रह जाती। अधिक सुख और भोग विलास के जीवन में मनुष्य

थोड़े दिन के बाद मानसिक बेचैनी का अनुभव करने लगता है। उसके समीप सुख की सामग्री रहने पर भी वह सुख का आस्वादन नहीं कर सकता। उसमें सुखों के उपभोग की शक्ति ही नहीं रह जाती। इतना ही नहीं, अधिक सुख और ऐश आराम के जीवन से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों के कारण मनुष्य सुखी न होकर दुःखी ही होता है। अतएव ईपीक्यूरस महाशय का आदेश है कि मनुष्य को अपने आप को जीवन भर सुखी बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह सयम का जीवन व्यतीत करे। जीवन मे न अधिक भोग विलास की वृद्धि हो, और न तप अर्थात् शारीरिक कष्ट की। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन से सब प्रकार के अतिक्रम को निकाल दे। वही जीवन सर्वश्रेष्ठ है, जिससे मनुष्य झूठे विचारों को त्याग करके गम्भीर चिन्तन से काम लेता है और विवेक-द्वारा अपने आप को सचालित करता है। ईपीक्यूरस महाशय का कथन है कि भला आदमी वही है, जो दार्शनिक है। दर्शन के बिना मनुष्य के मन में समता और शान्ति नहीं आती। दर्शन की सहायता से मनुष्य अपने आप को विलासिता से बचाता और अनेक प्रकार के निरर्थक भावों से अपने जीवन को मुक्त कर लेता है। दर्शन के द्वारा मनुष्य मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है, उसमें गम्भीरता और सहनशक्ति आ जाती है।

ईपीक्यूरस के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि उसका मत चारवाक के सिद्धान्त से पृथक् है। पर साधारणत. ईपीक्यूरस के मत का यही अर्थ लिया जाता कि खाने-पीने और मौज उडाने में ही जीवन की सार्थकता है। ईपीक्यूरस ने आत्म-सयम और दार्शनिक जीवन के ऊपर जो जोर दिया है, उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। इसका प्रधान कारण यह है कि ईपीक्यूरसवाद में पुनर्जन्म की चर्चा नहीं है, और न उसने शरीर के अतिरिक्त किसी दूसरी आध्यात्मिक शक्ति का विवेचन ही किया। अतएव ईपीक्यूरस का मत एक प्रकार की चतुराई से जीवन व्यतीत करने का मत हो जाता है।

परार्थ सुखवाद

वर्तमान काल के सुखवाद के प्रवर्त्तक बेन्थम और जान स्टूअर्ट मिल महाशय हैं। ये दोनों विद्वान् अग्रेज थे। ये दोनों जड वादी थे। न ये ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करते थे, और न किसी आध्यात्मिक शक्ति मे। मरने के बाद

शरीर नष्ट हो जाता है और फिर कोई वस्तु नहीं रह जाती, यह उनका निश्चित मत था। अतएव सांसारिक जीवन को अधिक से-अधिक सुखी बनाने में ही जीवन का सार्थकता वे देखते थे।

ये महापुरुष वैयक्तिक सुखवाद के समर्थक नहीं थे। उनके कथनानुसार आदर्श जीवन वह है, जिसमें समाज के अधिक-से-अधिक लोग सुख प्राप्त करें। उनके कथनानुसार नैतिक जीवन का आदर्श अधिक सुख की प्राप्ति ही होना चाहिये। यह सुख किसी व्यक्ति विशेष का न होकर समाज का होने से ही उसकी उपलब्धि हो सकती है। जब मनुष्य अपने ही सुख की चिन्ता में रहता है, तो वह दूसरे लोगों के सुख की परवाह नहीं करता। कभी-कभी अपने सुख की वृद्धि के लिए वह दूसरे लोगों को दुःख में डाल देता है। इस प्रकार संसार में सुख की वृद्धि न होकर दुःख की ही वृद्धि होती है।

बेन्थम और मिल महाशय अपने समय के प्रख्यात समाज-सुधारक थे। वे नास्तिक होने पर भी बड़े पवित्र आचरण के व्यक्ति थे। वे समाज में स्वार्थ की वृद्धि देख रहे थे जिसके कारण समाज के अधिक लोगों को दुःखी रहना पड़ता था। उनके मतानुसार वही काम अच्छा है जिसके द्वारा समाज के अधिक-से-अधिक लोग सुखी हो सकें। जिस काम से समाज के अधिक लोग दुःखी होते और थोड़े लोग सुखी होते हैं वह काम नैतिक दृष्टि से बुरा माना जाना चाहिए। वे चाहते थे कि मनुष्य को अपने सुख के उपार्जन करने की अधिक-से-अधिक सुविधा दी जावे पर उसकी स्वतन्त्रता इस प्रकार की हो कि वह दूसरे लोगों को कष्ट न पहुँचा सके। आदर्श समाज वह है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने सुख की वृद्धि की पूरी स्वतन्त्रता हो और यह स्वतन्त्रता दूसरे व्यक्ति की किसी प्रकार की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होती हो।

जिस समय बेन्थम और मिल महाशय ने अपने विचारों का इङ्गलैंड में प्रचार किया उस समय ऐसे विचारों की एक विशेष आवश्यकता थी। उस समय धर्म के ठेकेदार साधारण जनता को उनके सुखों से यह कह कर वंचित करते थे कि गरीब लोगों को सांसारिक सुख की आवश्यकता ही नहीं उन्हें स्वर्ग में ही पूरा सुख मिल जायगा। अर्थात् स्वर्ग के सुख उनके लिए सुरक्षित हैं अतएव सांसारिक सुखों की उन्हें परवाह न करनी चाहिये। इस प्रकार धर्मोपदेशक

स्वय तो अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग करते थे, पर सामान्य जनता को धर्म के नाम पर उनसे विरत करने की चेष्टा करते थे। आज भी धर्म के नाम पर धर्म के पुजारी और पूँजीपति यही कर रहे है। ससार मे सुखवाद का प्रचार इसी तरह के धर्म प्रचारकों की चेष्टा के परिणाम स्वरूप हुआ है। यह एक प्रकार की प्रतिक्रिया है। मनुष्य जडवाद और सुखवाद की ओर इसलिये जा रहा है, कि समाज के धार्मिक गुरु, जिन्हें त्याग और तप का आदर्श समाज के समक्ष रखना चाहिए था, स्वय जडवादी और सुखवादी बन गये हैं। वे अपने धर्मोपदेश में एक बात कहते है, और अपने आचरण मे दूसरी ही बात को प्रदर्शित करते है।

परार्थ सुखवाद का मनोवैज्ञानिक आधार

परार्थ सुखवाद का आधार मनोविज्ञान का वह सिद्धान्त है, जिसके अनुसार मनुष्य की सभी क्रियाओं का हेतु[1] सुख के लाभ और दु ख से बचने की इच्छा को माना जाता है। इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को "मनोवैज्ञानिक सुखवाद" कहा जाता है। हम पहले कह आये है कि उस मत के अनुसार सभी कार्मो के हेतु एक से ही होते हैं। अतएव हेतु की दृष्टि से न किसी काम को भला और न बुरा कहा जा सकता है। चोर, अपने सुख के लिये चोरी करता है। इस प्रकार दानी पुरुष भी दान सुखप्राप्ति के निमित्त करता है*। अतएव यदि हेतु पर विचार किया जाय, तो न चोर का काम बुरा है, और न दानी का भला। दोनों के काम एक ही हेतु से होने के कारण एक से ही हैं। यदि उनपर कोई नैतिक विचार हो सकता है, तो उनके मन्तव्यों[2] के आधार पर, अर्थात् हमें यह

---

1 Motive 2 Intentions.

इस प्रसग में बेन्थम महाशय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है

* Nature has placed mankind under the guidance of two sovereign masters, pain and pleasures It is for them alone to point out what we ought to do as well as to determine what we shall do On the one hand the standard of right and wrong, on the other the chain of causes and effects are fastened to their throne.

Principles of moral Legislation Chap IV.

देखना पड़ेगा, कि उनमें से किसने संसार में अधिक सुख की वृद्धि की कामना की है।

बेन्थम महाशय अपने सुखवाद की सिद्धि के लिए निम्नलिखित प्रमाण देते हैं—प्रत्येक व्यक्ति सुख का इच्छुक है, वह उसे भला समझता है। अतएव भलाई का काम वह है जिसके द्वारा अधिक सुख की प्राप्ति हो और बुरा काम वह है जिसके परिणाम स्वरूप अधिक कष्ट मिले। संभवतः ऐसा कोई भी काम न होगा, जिससे कुछ सुख और दुःख दोनों ही उत्पन्न न हों पर हमें अपेक्षाकृत सुख और दुःख को देखना है। जिस काम में अधिक सुख और कम दुःख हो वही अच्छा है।*

मिल महाशय ने सुखवाद की सिद्धि के लिए कुछ तार्किक युक्तियाँ दी हैं। उनकी पहली युक्ति यह है—प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है अतएव सुख चाहने योग्य वस्तु है इसलिए अधिक सुख की प्राप्ति करना नैतिक आचरण का आदर्श होना चाहिये।†

मिल महाशय की दूसरी युक्ति जो यथार्थ सुखवाद को सिद्ध करती है, निम्नलिखित है—प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिए भला अर्थात् उपादेय है संसार

---

* Intense long certain, speedy fruitful pure—
Such marks in pleasure and in pain endure.
Such pleasure seek if private be thy end,
If it be public let them wide extend
Such pains avoid whatever thy view
If pains must come let them extend to few

Principles of moral Legislation Chap IV

† The only proof capable of being given that an object is visible is that people actually see it The only proof that a sound is audible is that people hear it. In like manner the only proof it is possible to produce that any thing is desirable is that people do actually desire it.

J. S. Mills Utilitarianism. Chap. IV

के सभी लोगों का सुख सब लोगों के लिए भला है। इसलिए सबको सबके सुख के लिए प्रयत्न करना चाहिए। सुख सभी चाहते है, अतएव सबके सुख के अतिरिक्त जीवन का दूसरा क्या आदर्श हो सकता है।*

सुखवाद की आलोचना

सुखवाद संसार का एक व्यापक सिद्धान्त है। समाज के अधिक लोग सुख की ही इच्छा करते है। जब वे ऊँचे-ऊँचे आदर्श की बातें करते है, और त्याग और तपस्या के गुणगान गाते हैं तब भी अपने आचरण में वे प्रायः सुखवादी ही बने रहते हैं। पर इस कारण सुखवाद के सिद्धान्त को नैतिक दृष्टि से ही नहीं मान लिया जा सकता। संसार में सच्चे नैतिक आदर्श पर चलने वाला चाहे एक भी व्यक्ति न हो, तो भी नैतिक आदर्श झूठा नहीं हो जायगा। यदि सुख की कामना सभी लोग करते है, और कर्त्तव्य-शास्त्र भी उन्हें सुख की खोज की सलाह देता है, तो कर्त्तव्यशास्त्र की आवश्यकता ही क्या होगी? जिस बात को मनुष्य स्वभावतः करते है, उसमे कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य के विचार का स्थान ही नहीं रहता। कर्त्तव्य के विचार की महत्ता मनुष्य को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को रोकने में ही है। यदि यह मत सच है कि सभी मनुष्य सुख की इच्छा से प्रेरित होकर ही सब काम करते हैं, तो इससे यह कदापि तात्पर्य नहीं निकलता कि उन्हें सुख के लिए ही आचरण करना चाहिये।

मनुष्य क्या करता है, इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि उसे क्या करना चाहिए। कर्त्तव्य-शास्त्र आचरण के औचित्य और अनौचित्य पर विचार करता है, न कि आचरण की वास्तविकता पर।

---

*"No reason can be given why the general happiness is desirable except that each person so far as he believes it to be attainable desires his own happiness This, however, being a fact, we have not only the proof which the case admits of, but all which is possible to produce that happiness is good to that person, general happiness, therefore is good to the aggregate of all persons."

J. S. Mills Utilitarianism Chap. IV.

देखना पड़ेगा, कि उनमें से किसने संसार में अधिक सुख की वृद्धि की कामना की है।

बेन्थम महाशय अपने सुखवाद की सिद्धि के लिए निम्नलिखित प्रमाण देते हैं—प्रत्येक व्यक्ति सुख का इच्छुक है वह उसे भला समझता है। अतएव भलाई का काम वह है जिसके द्वारा अधिक सुख की प्राप्ति हो; और बुरा काम वह है जिसके परिणाम स्वरूप अधिक कष्ट मिले। संभवतः ऐसा कोई भी काम न होगा जिससे कुछ सुख और दुःख दोनों ही उत्पन्न न हो, पर हमें अपेक्षाकृत सुख और दुःख को देखना है। जिस काम में अधिक सुख और कम दुःख हो वही अच्छा है।*

मिल महाशय ने सुखवाद की सिद्धि के लिए कुछ तार्किक युक्तियाँ दी हैं। उनकी पहली युक्ति यह है—प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है अतएव सुख चाहने योग्य वस्तु है इसलिए अधिक सुख की प्राप्ति करना नैतिक आचरण का आदर्श होना चाहिये।†

मिल महाशय की दूसरी युक्ति जो परार्थ सुखवाद को सिद्ध करती है निम्नलिखित है—प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिए भला अर्थात् उपादेय है संसार

---

* Intense long, certain speedy fruitful pure—
Such marks in pleasure and in pain endure.
Such pleasure seek if privat be thy end,
If it be public let them wide extend
Such pains a void whatever thy view
If pains must come let them extend to few

Principles of moral Legislation Chap IV

† The only proof capable of being given that an object is visible I that people actually see it. The only proof that a sound is audible is that people hear it. In like manner the only proof it is possible to produce that any thing is desirable is that people do actually desire it.

J S. Mills Utilitarianism. Chap IV

सम्प्रदाय को, और एक वर्ग के लोग दूसरे वर्गों के लोगों को इस प्रकार सदा विनाश करने के लिए तत्पर रहते हैं। यह आधुनिक जडवाद और सुखवाद का ही परिणाम है।

सुखवाद के अनुसार सुख प्राप्त करना ही सर्वोच्च कर्त्तव्य है। सुख-प्राप्ति के अतिरिक्त दूसरी कोई भी उपादेय वस्तु संसार मे नहीं। इस सिद्धान्त का आधार यह मनोवैज्ञानिक तथ्य बताया जाता है, कि सभी लोग सुख की चाह करते हैं, और दुःख से मुक्ति चाहते हैं। प्राणिमात्र की सभी चेष्टाओं का हेतु सुख को प्राप्त करना और दुःख मे अपने आप को बचाना होता है। इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक सुखवाद कहा जाता है, और सुख-प्राप्ति को कर्त्तव्य माननेवाले सिद्धान्त को नैतिक सुखवाद कहा जाता है। प्राय सभी नैतिक सुखवादी मनोवैज्ञानिक सुखवाद को उसका आधार बनाते है। सभी मनुष्य सुख के हेतु ही काम करते हैं, अतएव सुख के अतिरिक्त दूसरी कोई उपादेय वस्तु नहीं, इसलिये सुख को प्राप्त करना अथवा उसकी वृद्धि करना परम कर्त्तव्य है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद स्वय एक भूल है। सभी लोग सुख की इच्छा नहीं करते और मनुष्य के सभी कार्यों का हेतु सुख की प्राप्ति ही नहीं होता। मनुष्य के कार्यों का हेतु आत्म सन्तोष प्राप्त करना होता है। आत्म-सन्तोष से आनन्द की उत्पत्ति होती है। पर यह आत्म-सन्तोष सदा सुख की प्राप्ति अथवा उसके उपयोग से नहीं होता। सुख इन्द्रियजन्य सवेदनाओं की अनुभूति का नाम है, और आत्मसन्तोष मानसिक स्थिति का सुख बाह्य पदार्थों की प्राप्ति पर अथवा उसके उपभोग पर निर्भर है, और आत्म-सन्तोष मनुष्य के विचारों पर निर्भर है। सुखवादियों ने प्राय. सुख और आत्मसन्तोष का ऐक्य कर दिया है। वे आनन्द और सुख को भी एक ही वस्तु मान लेते हैं, पर यह उनकी भारी भूल है। मनुष्य सदा आत्म-सन्तोष और आनन्द के लिये काम करता है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह सुख के लिये ही सदा प्रयत्न करता है। कभी-कभी उसको सन्तोष सुख की प्राप्ति से प्राप्त होता है, और कभी सुख के त्याग से। जब कोई व्यक्ति एकादशी का व्रत रखता है, तो अपने व्रत को निबाहने मे ही उसे सतोष होता है, अर्थात् अच्छे-से-अच्छे भोजन के त्याग में ही उसका आत्म-सन्तोष होता है। यदि एकादशी का व्रत लिये हुए कोई व्यक्ति भूल से अन्न खा ले, तो उसे सन्तोष की उत्पत्ति के बदले आत्म-भर्त्सना का

नैतिकता मनुष्य की आध्यात्मिक वृद्धि का साधन मानी जाती है। सुख की इच्छा मनुष्य और पशुओं में समानरूप से है। यदि मनुष्य सुख की वृद्धि करना मात्र अपने जीवन का लक्ष्य बना ले तो उसमें और पशुओं में भेद ही क्या रहेगा। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। उसमें भले और बुरे का विचार करने की शक्ति है। यह शक्ति पशुओं में नहीं है। इसी शक्ति के कारण मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। मनुष्य का विवेक उसे अनुचित सुखों के ग्रहण करने से रोकता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने आपको सुखों के भोग से रोकता है वह अपनी विचार शक्ति इच्छा शक्ति और विवेक को उतना ही बली बना लेता है। इन आध्यात्मिक शक्तियों का विकास सुख के उपभोग से नहीं होता वरन् अपने आप को सुख की ओर जाने से रोकने से होता है। जिस व्यक्ति में भोग-लिप्सा जितनी कम होती है, उसका चरित्र इच्छा शक्ति विवेक और सूक्ष्म विषय पर विचार करने की शक्ति उतनी ही अधिक होगी। अतएव मनुष्य के समक्ष सुखवादी आदर्श रखना उसे मनुष्यत्व से गिराकर पशुओं की श्रेणी में ले जाना है।

सुखवाद मनुष्यों को सुखी न बनाकर दुःखी ही बनावेगा। यदि संवेदनाओं से उत्पन्न हुए सुख के अतिरिक्त मनुष्य अपने जीवन में कोई दूसरा लक्ष्य नहीं रखता तो वह अपने लिये अधिक-से अधिक सुख की सामग्री एकत्र करने की चेष्टा करेगा। सुख की उत्पत्ति बाह्य भोग-सामग्री के ऊपर निर्भर है। संसार में भोग्य-वस्तुएँ परिमित हैं, और मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं। अतएव सुख का आदर्श लेकर मनुष्य सदा दुःखी ही रहेगा। वह भोग सामग्री के अभाव में दुःखी तो होगा ही दूसरे सामान्य लोगों को देखकर भी ईर्ष्या के कारण और भी दुःखी होगा। सुख की इच्छा के कारण संसार में भोग-सामग्री के लिए मारी छीना झपटी उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

वास्तव में आधुनिक काल के महान् युद्धों का कारण सुखवाद की मनोवृत्ति ही है। पूँजीपति अपने सुख के लिए श्रमिक लोगों को चूस लेते हैं और फिर सुखवाद की मनोवृत्ति से प्रेरित होकर श्रमिक वर्ग के लोग इन पूँजीपतियों के विनाश के लिये उद्यत हो जाते हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को एक सम्प्रदाय दूसरे

प्रतिकूल आचरण नहीं करता। जब तक मनुष्य विवेकहीन नहीं हो जाता, तब तक वह सुख ही को अपनी चेष्टा का हेतु नहीं बनाता।

यह बात सत्य है कि मनुष्य सुख की इच्छा करता है और सुख की प्राप्ति उसके कुछ कामों का हेतु होता है। पर इस हेतु के पूर्व उसका विवेक कार्य करता है, और विचारवान् मनुष्य पहले अपने विवेक से यह निर्णय करता है, कि उसे किसी विशेष सुख की प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिये अथवा नहीं। पीछे वह किसी प्रकार के सुख की प्राप्ति की चेष्टा करता है। इस प्रकार उसके कार्यों का प्रधान हेतु सुख-प्राप्ति का विवेक ही होता है। जब मनुष्य विवेक से काम नहीं लेता, तो वह मानवता के स्तर से गिर जाता है और उसका आचरण पशुवत हो जाता है।

ऊपर दर्शाया गया है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद स्वय असिद्ध है। पर मनोवैज्ञानिक सुखवाद यदि सत्य भी हो, तो उसके आधार पर नैतिक सुखवाद सिद्ध नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद मे पारस्परिक विरोध है। मान लीजिये सभी मनुष्य सुख की चाह करते हैं, तो फिर सुख-प्राप्ति को नैतिक आदर्श बनाने की आवश्यकता क्या है? नैतिक आदर्श कोई ऐसी वस्तु होती है, जिसकी ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। जिस वस्तु की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसके लिये ही किसी प्रकार की नैतिक प्रेरणा आवश्यक है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-शास्त्र की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। जब स्वाभाविक प्रवृत्ति और औचित्य म विरोध होता है, तभी कर्त्तव्य की आवश्यकता होती है, और कर्त्तव्य-शास्त्र का निर्माण ऐसी ही स्थिति मे होता है। यदि मनुष्य का कर्त्तव्य। वही मान लिया जाय, जिसकी ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा है, तो कर्त्तव्य कर्त्तव्य के निर्णय की आवश्यकता ही न होगी। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुखवाद नैतिक सुखवाद का आधार न होकर उसका उन्मूलन करने वाला सिद्धान्त है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद से नैतिक सुखवाद की पुष्टि करने मे वास्तविकतावाद की भूल होती है। यह एक प्रकार का नैतिक हेत्वाभास है, जिसे अमेरिका के कर्त्तव्य शास्त्र के विद्वान् व्हीलराइट महाशय ने दर्शाया है। कर्त्तव्य-शास्त्र विधेयात्मक

मानसिक क्लेश होता है। भूख के समय माल खाने से सुख की अनुभूति होनेपर भी भले मनुष्य को आत्मसंतोष नहीं होता। अतएव जहाँ तक उसे याद रहता है, वह इस प्रकार के सुख की प्राप्ति की चेष्टा नहीं करता। उसे व्यभिचार से सुख की अनुभूति होती है पर सन्तोष की अनुभूति नहीं होती; अतएव साधारणतः मनुष्य अपने आप को व्यभिचार से रोकता है। जब वह सुख के पीछे उचित अनुचित के विचार को भूल जाता है, और जिधर उसकी इन्द्रियाँ ले जाती हैं उधर ही जाने लगता है, तो हम उसे मानवता से गिरा हुआ व्यक्ति मानते हैं। पशु जीवन में ही प्राणी सुख के हेतु सभी काम करता है। मनुष्य जीवन में वह इस मानसिक स्तर से ऊँचा उठ जाता है, और आवश्यकता पड़ने पर प्रसन्नता के साथ अनेक कष्ट झेलता है। हम उसी व्यक्ति को भला कहते हैं, जो उचित काम करता और लोक कल्याण के लिये सुख का त्याग करता है। देशभक्त अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये न केवल सभी प्रकार के सुखों का त्याग करता और अनेक प्रकार के कष्टों को झेलता है, वरन् वह अपने प्राणों को भी देश हित के लिये निछावर कर देता है। कितने ही देशभक्त हँसते-हँसते फाँसी पर लटक जाते हैं। यदि मनुष्य के सभी कर्मों का हेतु सुख की प्राप्ति होता तो देशभक्त का देश के लिये कष्ट सहना और अपने प्राणों का बलिदान करना कैसे सम्भव होता।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद भ्रमात्मक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में आत्मसन्तोष और सुख का ऐक्य करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि जिस प्रकार प्रकृति के अन्य प्राणी अपने सुख के लिये सभी प्रकार की क्रियायें करते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी सुख की ही प्राप्ति के लिये सभी प्रकार की चेष्टाएं करता है। पर ऊपर दिये हुए उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि आत्मसन्तोष सुख से भिन्न वस्तु है और इसके लिये मनुष्य सुख का त्याग करता है। मनुष्य का आत्म सन्तोष किसी बाहरी वस्तुओं पर अथवा उनके उपभोग पर निर्भर नहीं करता वह उनके विचारों पर निर्भर करता है। जब मनुष्य अपने आदर्श के अनुसार आचरण नहीं करता है तो उसे आत्मसन्तोष न होकर आत्मग्लानि होती है और उससे बचने के लिये जहाँ तक सम्भव है मनुष्य अपने आदर्श के

प्रतिकूल आचरण नहीं करता। जब तक मनुष्य विवेकहीन नहीं हो जाता, तब तक वह सुख ही को अपनी चेष्टा का हेतु नहीं बनाता।

यह बात सत्य है कि मनुष्य सुख की इच्छा करता है और सुख की प्राप्ति उसके कुछ कामों का हेतु होता है। पर इस हेतु के पूर्व उसका विवेक कार्य करता है, और विचारवान् मनुष्य पहले अपने विवेक से यह निर्णय करता है, कि उसे किसी विशेष सुख की प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिये अथवा नहीं। पीछे वह किसी प्रकार के सुख की प्राप्ति की चेष्टा करता है। इस प्रकार उसके कार्यों का प्रधान हेतु सुख-प्राप्ति का विवेक ही होता है। जब मनुष्य विवेक से काम नहीं लेता, तो वह मानवता के स्तर से गिर जाता है और उसका आचरण पशुवत हो जाता है।

ऊपर दर्शाया गया है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद स्वयं असिद्ध है। पर मनोवैज्ञानिक सुखवाद यदि सत्य भी हो, तो उसके आधार पर नैतिक सुखवाद सिद्ध नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद में पारस्परिक विरोध है। मान लीजिये सभी मनुष्य सुख की चाह करते हैं, तो फिर सुख-प्राप्ति को नैतिक आदर्श बनाने की आवश्यकता क्या है? नैतिक आदर्श कोई ऐसी वस्तु होती है, जिसकी ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। जिस वस्तु की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसके लिये ही किसी प्रकार की नैतिक प्रेरणा आवश्यक है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-शास्त्र की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। जब स्वाभाविक प्रवृत्ति और औचित्य में विरोध होता है, तभी कर्त्तव्य की आवश्यकता होती है, और कर्त्तव्य-शास्त्र का निर्माण ऐसी ही स्थिति में होता है। यदि मनुष्य का कर्त्तव्य। वही मान लिया जाय, जिसकी ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा है, तो कर्त्तव्य कर्त्तव्य के निर्णय की आवश्यकता ही न होगी। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुखवाद नैतिक सुखवाद का आधार न होकर उसका उन्मूलन करने वाला सिद्धान्त है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद से नैतिक सुखवाद की पुष्टि करने में वास्तविकतावाद की भूल होती है। यह एक प्रकार का नैतिक हेत्वाभास है, जिसे अमेरिका के कर्त्तव्य शास्त्र के विद्वान् व्हीलराइट महाशय ने दर्शाया है। कर्त्तव्य-शास्त्र विधेयात्मक

विज्ञान शास्त्र है, यह वास्तविकतावादी विज्ञान नहीं। वस्तु स्थिति ही विधि निषेध का आधार नहीं बन सकती। उचित और अनुचित विचार इस मान्यता को लेकर चलते हैं कि मनुष्य वास्तविक परिस्थिति के प्रतिकूल आचरण कर सकता है, और ऐसा आचरण करना उचित है। मान लीजिये कि मनुष्य की सभी क्रियाओं का हेतु सुख की प्राप्ति है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सुख की प्राप्ति को उसकी क्रियाओं का हेतु होना ही चाहिये। "है" से "चाहिये" का निष्कर्ष निकालना तर्क एवं अथवा नैतिक विचार के प्रतिकूल है। यदि एक भी मनुष्य ऐसा न हो जो किसी महत्‌ आदर्श के लिये सुख का त्याग कर सकता हो तो भी सुख की प्राप्ति को जीवन का आदर्श नहीं बनाया जा सकता। औचित्य और नैतिकता का आधार वास्तविकता नहीं वरन् मनुष्य का आदर्श होता है। मनुष्य जो कुछ है, उससे उसे जो कुछ होना चाहिए इसका निर्णय नहीं किया जा सकता।

सुखवाद के अनुसार मनुष्य को सबसे अधिक सुख प्राप्त करना चाहिए। बहुत से लोगों का सुख अपने सुख से अधिक होता है अतएव सुखवाद का यह सिद्धान्त हो जाता है कि अधिक-से-अधिक लोगों के लिए अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार का काम करना चाहिये जिससे अपना और साथ-साथ दूसरों का भी सुख हो; यह सुख अधिक-से-अधिक लोगों के लिए अधिक से अधिक परिमाण में होना चाहिये।

उक्त सिद्धान्त से यह बात मान ली गयी है कि सुख मापा जा सकता है। जिस प्रकार थर्मामीटर लगाकर किसी मनुष्य का ताप मापा जा सकता है, उसी प्रकार सुख की भी माप हो सकती है। इस प्रकार की मान्यता के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि नैतिकता का आदर्श अधिक-से-अधिक लोगों का सुख ही होना चाहिये। पर वास्तव में सुख की माप नहीं हो सकती। किस व्यक्ति को किस बात में कितने सुख की अनुभूति हो रही है यह कौन बतायेगा! हम अपने ही एक सुख की तुलना दूसरे सुख के साथ करते समय ठीक ठीक से नहीं बता सकते कि कौन सा सुख अधिक है। सुख व्यक्तिगत अनुभव है। इसका माप किसी भौतिक पदार्थ के समान होना सम्भव नहीं। अतएव सुख के विषय में "अधिक से अधिक" का विचार असंगत है। सुखवादियों ने मान लिया है कि जिस प्रकार चीनी के दो ढेरों को तोल कर बताया जा सकता है, कि कौन सा ढेर बड़ा है,

उसी प्रकार सुख को भी तौल कर बनाया जा सकता है कि सुख का कौन-सा ढेर बडा है।

अपने ही व्यक्तिगत सुखों को एकत्र करके मापा नहीं जा सकता, फिर विभिन्न व्यक्तियों के सुख की माप तौल करना तो और भी असभव है। एक ही प्रकार का अनुभव भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के मन में कम अथवा अधिक सुख उत्पन्न करता है। इससे सब लोगों के सुख का अन्दाज लगाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

मिल महाशय ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का सुख अपने लिये भला ही होता है, अतएव सभी लोगों का सुख सभी लोगों के लिए भला होगा, अर्थात् वह उनके कल्याण की वस्तु होगी और उसे सभी लोग चाहेंगे। पर वस्तुस्थिति दूसरे ही प्रकार की है। एक मनुष्य का सुख दूसरे के लिए दुःख हो जाता है। मान लीजिये, कि एक साथ काम करने वाले दो व्यक्तियों को एक कारखाने में बराबर वेतन मिलता है। उनके वेतन में, मान लीजिये, वृद्धि हो गयी। एक का वेतन डेढा हो गया और दूसरे का सवाया। यदि हम मिल् के सिद्धान्त को मानें, तो दोनों को ही अधिक सुखी होना चाहिए। पर इस प्रकार की वृद्धि से एक अधिक सुखी होता है, और दूसरा दु:खी होता है। सभव है कि दोनों के सुख और दुःख का मिला देने पर दुःख की मात्रा ही अधिक निकले। जब चोर पकडा जाता है, तो साहूकार प्रसन्न होता है, और चोर दुःखी। ऐसी स्थिति में चोर के पकडे जाने के कार्य का मूल्य कैसे आँका जा सकता है।

सुखवाद के सिद्धान्त को यह मान्यता है कि अपने सुख और दूसरों के सुख में विरोध न हो। पर वास्तव में जो व्यक्ति अपने सुख का विचार रखकर काम करता है, वह दूसरों को सुखी नहीं बना सकता, और जो दूसरों के सुख को ध्यान मे रखता है, उसे अपने सुख का त्याग करना पडता है। दूसरे के सुख के लिये प्रयत्न करनेवाला व्यक्ति सुखवादी नहीं हो सकता। यदि वह सुख को ही सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु मानता, तो वह अपने लिए ही सबसे अधिक सुख प्राप्त करने की चेष्टा करता। सुखवाद के सिद्धान्त को त्याग कर ही मनुष्य दूसरों के सुख के लिये यत्न कर सकता है।

अपना सुख एक संवेदना उत्पन्न करने वाली वस्तु है, पर दूसरे का सुख संवेदना नहीं है। दूसरे का सुख मनुष्य का विचार मात्र होता है। यह विचार मनुष्य को संतोष भले ही दे वह वैसी संवेदनाएँ उत्पन्न नहीं कर सकता, वैसी अपना सुख उत्पन्न करता है। दूसरे लोगों के सुख के लिये यत्न करने वाला व्यक्ति एक आदर्श के लिये यत्न करता है, न कि सुख के लिये। इस तरह सुखवाद और सब की भलाई के सिद्धान्त में पारस्परिक विरोध है।

कुछ सुखवादी दार्शनिकों ने सब सुखों को एक ही प्रकार का नहीं माना है। स्टुअर्ट मिल महाशय के अनुसार सुख भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। शराबी और वेश्यागामी का सुख जिस प्रकार का है उसी प्रकार का सुख कवि और दार्शनिक का नहीं है। एक सुख पाशविक अर्थात् तामसिक है, और दूसरा सुख सात्विक है। इस प्रकार सुखों में प्रकार भेद का मानने से सुखवाद का सिद्धान्त नष्ट हो जाता है। यदि सुख भी कई प्रकार के हैं तो फिर कौन से सुख को नैतिकता का माप दण्ड बनाया जाय। किसी व्यक्ति के आचरण को एक व्यक्ति एक प्रकार के सुख से नाप सकता है और दूसरा दूसरे प्रकार के सुख से। दोनों ही कह सकते हैं कि उनका ही मापदण्ड ठीक है। ऐसी स्थिति में हमें एक दूसरे मापदण्ड की खोज करनी पड़ेगी जो विभिन्न प्रकार के सुखों में एक को उच्चकोटि और दूसरे को निम्नकोटि का प्रमाणित करे। वास्तव में इस प्रकार का मापदण्ड हमारे विचारों में सदा काम करता है। हम उस सुख को अच्छा कहते हैं, जिसमें सब लोगों का कल्याण होता है। इन्द्रिय सुख, जो एक ही व्यक्ति को आनन्द देता है, कभी भी उच्च कोटि का सुख नहीं माना जाता। विवेक और विचार से जो सुख उत्पन्न होता है उसी को ऊँचा माना जाता है। पर जब हम विवेक और विचार को सुख के ऊँचे और नीचे होने का निश्चायक मान लेते हैं, तो सुखवाद को मापदण्ड मानना छोड़ देते हैं। वह मापदण्ड कैसा जिसे स्वयं को प्रमाणित करने के लिए दूसरे मापदण्ड की आवश्यकता हो।

उपर्युक्त युक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि सुखवाद का सिद्धान्त त्रुटि-पूर्ण है। वास्तव में सुख चाहे वह एक व्यक्ति का हो अथवा सब का अथवा अधिक-से अधिक लोगों का नैतिकता का मापदण्ड नहीं बन सकता। सुख को नैतिकता का मापदण्ड मान लेने से नैतिकता की वृद्धि न होकर उसका

हानि ही होता है। सुखवादी अपने तथा अपने राष्ट्र के सुख की वृद्धि करने के लिये बड़े-बड़े संग्राम उपस्थित करते हैं। ये संग्राम सुख की वृद्धि न कर दुःख की ही वृद्धि करते हैं। इस प्रकार सुखवाद का अपने आप में ही विरोध हो जाता है। नैतिकता प्राकृतिक जीवन में नहीं, वरन् उसके ऊपर विजय प्राप्त करने में है। इसके लिये आत्म-नियन्त्रण और तप की आवश्यकता होती है।

अन्त• अनुभूतिवादी सुखवाद

अन्त अनुभूतिवादी सुखवाद के प्रवर्तक सिजविक महाशय हैं। सिजविक महाशय सुख को संसार की सबसे मूल्यवान् वस्तु मानते थे। परन्तु उन्हें यह भी ज्ञान था कि अपने ही सुख को अपने कार्यों का लक्ष्य बना लेना उचित नहीं। ऐसा करने से समाज में कलह हो जाने की सम्भावना है। प्रत्येक मनुष्य अपना सुख चाहता है, और यदि अपने सुख की प्राप्ति को ही परम पुरुषार्थ मान लिया जाय, तो फिर मनुष्यों को अपने सुख के हेतु दूसरों को कष्ट देनेसे रोकने के लिए कोई साधन न रह जायगा। परन्तु सिजविक महाशय यह भी जानते थे, कि स्वार्थ सुखवाद से, परार्थ सुखवाद नहीं निकाला जा सकता है। उन्हें मिल महाशय की तार्किक भूलों का पर्य्याप्त ज्ञान था और उपयोगितावाद के आन्तरिक विरोध को भी वे भली भाँति जानते थे। अतएव एक नये सिद्धान्त के आधार पर ही उन्हें परार्थ सुखवाद की सिद्धि करनी थी। इसलिए उन्होंने अन्त• अनुभूतिवाद की शरण ली।

सुखवाद की सिद्धि—सिजविक के सिद्धान्त के दो मुख्य अंग हैं—पहला सुख को सबसे मूल्यवान् वस्तु मानना, और दूसरा अपने तथा पराये दोनों के सुख के लिये समान प्रयत्न की आवश्यकता दर्शाना। सिजविक ने इन दोनों बातों को सिद्ध करने के लिए कुशल युक्तियों से काम लिया है। सुख का ही उचित पुरुषार्थ दर्शाने के लिये सिजविक ने निम्नलिखित उक्ति दी है—

मनुष्य अनेक प्रकार के पदार्थों को प्राप्त करने की सर्वदा चेष्टा किया करता है। इन पदार्थों को प्राप्त करने के प्रयत्न को यदि हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें, तो इस प्रयत्न का वस्तु को भौतिक पदार्थ नहीं, वरन् उस पदार्थ के ज्ञान को पावेंगे। मनुष्य को धन सन्तोष नहीं देता, वरन् अपने पास धन रहने का

ज्ञान सन्तोष देता है। इसी प्रकार किसी योग्य पदार्थ का ज्ञान ही वास्तविक मूल्यवान् वस्तु है। इस प्रकार हमें अनेक पदार्थों का ज्ञान होता रहता है। इन पदार्थों का ज्ञान स्वयं मूल्यवान् वस्तु नहीं है वरन् इन ज्ञानों से उत्पन्न होनेवाला सुख ही मूल्यवान् वस्तु है। जब कोई मनुष्य किसी विषय का चिन्तन करता है तो वह न बाह्य वस्तु के लिये चिन्तन करता है, और न उस वस्तु के विचार के लिए चिन्तन करता है, वरन् वस्तु के चिन्तन करने से उत्पन्न होने वाले सुख के लिये चिन्तन करता है। विषय स्वयं प्यारा नहीं है विषय से उत्पन्न होनेवाला सुख के लिये विषय प्यारा है। इस प्रकार सिजविक महाशय के कथनानुसार मनुष्य सब प्रकार के कामों को सुख के लिये ही करता है। यदि वह किसी विषय का चिन्तन करता है तो वह सुख के लिये, और यदि वह किसी काम से या उसके चिन्तन से विरत होता है तो वह सुख के विनाश के कारण। यदि हम इस प्रकार अन्तर्दर्शन के द्वारा यह निश्चय करने की चेष्टा करें कि मानव जीवन की सबसे मूल्यवान् वस्तु क्या है अर्थात् मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ क्या है, तो हम उसे सुख के अतिरिक्त और कुछ न पावेंगे। इस प्रकार सिजविक ने सुख को स्वत मूल्यवान् वस्तु सिद्ध किया है। दूसरी वस्तुओं का मूल्य सुख से आँका जाना चाहिए। परन्तु सुख का मूल्य अन्य किसी वस्तु के द्वारा नहीं आँका जा सकता।

व्यावहारिक विवेक का कार्य—सिजविक महाशय के सिद्धान्त का दूसरा भाग अपने और पराये सुख की वृद्धि की एक सी आवश्यकता को सिद्ध करता है। इसके लिए सिजविक महाशय विवेकवाद की शरण लेते हैं। मनुष्य का विवेक अथवा सद्विचार उसे अपने सभी कार्यों में न्याययुक्त होने के लिए प्रेरित करता है। न्याययुक्त होने की प्रेरणा मनुष्य की अन्तः अनुभूति है। इस प्रेरणा को सिजविक ने व्यावहारिक विवेक कहा है। यह व्यावहारिक विवेक[1] एक ओर मनुष्य को अपने और पराये सुख की कीमत एक ही तरह करने के लिए बाध्य करता है और दूसरी ओर वह भिन्न भिन्न समय के अपने ही सुख को एक बराबर मूल्य का समझने के लिए बाध्य करता है। जब मनुष्य इस

---

1 Intuitionistic Hedonism.

व्यावहारिक विवेक की अवहेलना करता है, अर्थात् जब वह अपनी अन्तरात्मा की आवाज के प्रतिकूल काम करता है, तो उसे आत्म-भर्त्सना की अनुभूति होती है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने सुख को अधिक मूल्यवान् मानने और दूसरे के सुख की परवा न करने की होती है। इस प्रवृत्ति का विरोध अन्तरात्मा के न्याय का नियम करता है, अर्थात् मनुष्य की अन्तरात्मा उसे दूसरे व्यक्तियो के सुख की वृद्धि के लिए प्रेरित करती है। इसी प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति जीवन भर के सुख को भुलाकर क्षणिक सुख की ओर दौडने की होती है। इस प्रवृत्ति का विरोध भी मनुष्य की अन्तरात्मा अपने न्याय के द्वारा करती है।

इस प्रकार जो व्यक्ति अपने आचरण को नैतिक बनाना चाहता है, उसे अपने और दूसरे लोगो के सुख के लिए समान रूप से प्रयत्न करना आवश्यक होता है। दूसरे, उसे क्षणिक सुख के फेर मे न पडकर जीवन भर रहने वाले सुख के लिए चेष्टा करना पडता है।

सिजविक के सिद्धान्त की आलोचना—सिजविक महाशय के सिद्धान्तो मे दो विरोधी विचारधाराओं का मिश्रण पाया जाता है। साधारणत अन्त. अनुभूतिवाद सुखवाद का विरोधी है। अन्त. अनुभूतिवाद मे त्याग, तपस्या और 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' करने के सिद्धान्त पर जोर दिया जाता है, और सुखवाद में सुख को ही जीवन का परम पुरुषार्थ मान लिया जाता है। सिजविक ने एक ओर जीवन की सबसे मूल्यवान् वस्तु सुख को बताया और दूसरी ओर इसे सभी मे बराबर बाँटने की आवश्यकता को अन्त अनुभूति के आधार पर सिद्ध किया। इस प्रकार उन्होंने जडवादी विचारधारा का आध्यात्मवादी विचार-धारा से सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। सुखवाद का सिद्धान्त मिल और बेन्थम महाशय का है, और व्यावहारिक विवेक का सिद्धान्त, जिसका आधार मनुष्य की अन्त. अनुभूति है, काट महाशय का है। इस प्रकार सिजविक के विचारों मे मिल और बेन्थम के विचारों का, काट के विचारों से समन्वय करने के यत्न को हम देखते हैं।

---

1. Practical reason.

परन्तु इस यत्न में आन्तरिक विरोध है। सुखवाद और कान्ट' अनुभूतिवाद या विवेकवाद को एक ही सिद्धान्त में ले आना ऊँट और बैल की जोड़ी बनाकर गाड़ी को चलाना है। सुखवाद सुख को ही परम पुरुषार्थ मानता है, और कांट के विवेकवाद का सार सुख त्याग है। पहले सिद्धान्त में इन्द्रियों की तृप्ति करना भला माना गया है और दूसरे में इन्द्रिय-सुख की इच्छा को अपने आचरण में स्थान देना कर्तव्य से च्युत होना बताया गया है। इस प्रकार सुख को परमपुरुषार्थ मान कर कांट महाशय के सिद्धान्त का सदुपयोग नहीं किया जा सकता। इससे यह निश्चित है कि यह बेमेल तत्वों का ऐक्य करना ही एक अनधिकार चेष्टा है।

सुखवाद की आलोचना हम पहले ही कर आए हैं। मनुष्य अपने सभी कामों में सुख की ही खोज नहीं करता है। आधुनिक मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक सुखवाद के सिद्धान्त को भ्रमपूर्ण मानता है। मनुष्य अपने कामों से आत्म-सन्तोष प्राप्त करने की चेष्टा करता है न कि सुख। यह आत्म-सन्तोष कभी सुख की प्राप्ति से होता है, और कभी सुख त्याग से।

सिजविक ने किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है वह ठीक नहीं है। सिजविक ने इस विश्लेषण में वस्तु के विचार और उससे होने वाले सुख में भेद किया है। परन्तु इस प्रकार भेद सम्भव नहीं। किसी भी विचार के तीन पहलू होते हैं—ज्ञानात्मक क्रियात्मक और रागात्मक। रागात्मक पहलू को दूसरे दो पहलुओं से पृथक नहीं किया जा सकता। यह सम्भव नहीं कि हम किसी वस्तु की प्राप्ति के सुख को चाहें और उस वस्तु को न चाहें। इस प्रकार मनुष्य किसी वस्तु के प्राप्त करने की चेष्टा में जो आत्म-संतोष की अनुभूति करता है वह उस वस्तु के सुख के कारण ही नहीं करता वरन् उस वस्तु के ज्ञान के कारण भी करता है। मनुष्य को संतोष देने वाली वस्तु उसका स्वत्व ही है। मनुष्य की इच्छाएँ उसका स्वत्व बन जाती हैं। उसे तब तक आत्म-सन्तोष नहीं होता जब तक कि वह अपने संतोष को ऊँचा-से-ऊँचा नहीं देख लेता। मनुष्य के पाशविक स्वत्व के लिए सुख की आवश्यकता है परन्तु उसका विवेकी स्वत्व अपने आपको पूर्ण अथवा वृहद देखना चाहता है। अपनी पूर्णता का ज्ञान ही मनुष्य को संतोष देता है। यही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। सिजविक ने सुख को सर्वोत्कृष्ट पदार्थ सिद्ध करके वही भूल की है जो सुखवादियों

ने अथवा उपयोगितावादियों ने की है। उन्होंने अपने आप को तार्किक भूलों से बचाने की चेष्टा की है, पर वे अपने आप को मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक भूलों से बचा न सके।

सिजविक ने व्यावहारिक विवेक के दो अंग बताए हैं। व्यावहारिक विवेक मनुष्य को अपने और पराये सुख को एक ही दृष्टि से देखने के लिए प्रेरित करता है। परन्तु इस प्रकार की प्रेरणा वास्तविक है या कोरी कल्पना मात्र, यह नहीं सिद्ध किया गया है। फिर अपने और पराये सुख मे सदा विरोध रहता है। जिस व्यक्ति को अपने सुख की चिन्ता का अभ्यास रहता है, उसमें दूसरे के सुख की परवाह करने की योग्यता नहीं रहती, और जो व्यक्ति दूसरे लोगों की सुख-वृद्धि करने का अभ्यास करता है, उसे अपने सुख की परवाह नहीं रहती। वास्तव मे ऐसा ही व्यक्ति दूसरे लोगों की सुख वृद्धि की परवाह करता है, जो शारीरिक सुख को सुख समझता ही नहीं। अपने और दूसरों के सुख की प्राप्ति की चेष्टा समान रूप से करना सम्भव नहीं।

इसी प्रकार अपने एक समय के सुख और जीवन भर के सुख के बीच न्याय के नियम को वर्तना सम्भव नहीं। सुख की कीमत करने वाला व्यक्ति प्रायः वर्तमान सुख को ही मूल्यवान मानता है, उसे भावी सुख की परवाह नहीं रहती। जिस तरह पराये सुख का विचार सुख नहीं है, उसी प्रकार भावी सुख का विचार भी सुख नहीं है। यदि पराये अथवा भावी सुख के विचार अपने और वर्तमान सुख के उपभोग से हमें रोकते है, तो इस रोकने की प्रक्रिया से सुखवाद की सिद्धि नहीं होती, वरन् उसका खण्डन ही होता है। सच्चा सुखवादी वर्तमान काल के अपने ही सुख की सबसे अधिक कीमत करता है। जब वह दूसरों के सुख की परवाह करने लगता है, तथा अपने जीवन भर सुखी रहने का विचार मन में लाता है, तो वह सुखवादी नहीं रह जाता, बल्कि विवेकवादी बन जाता है।

इस प्रकार सिजविक ने अन्तः अनुभूति अथवा विवेकवाद को सुखवाद के सिद्धान्तों से मिलाकर सुखवाद का पक्ष पुष्ट न करके उसके आधार-स्तम्भ को ही गिरा दिया है।

प्रश्न

१ नैतिक सुखवाद क्या है ? मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद में क्या भेद है ।

२ स्वार्थ सुखवाद और परार्थ सुखवाद में क्या भेद है ? इस प्रसंग में ईपीक्यूरस महाशय के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए उसे स्पष्ट कीजिये ।

३ परार्थ सुखवाद का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है ? बेन्थम महाशय के विचारों को स्पष्ट कीजिये और मिल के विचारों से उनकी तुलना कीजिये।

४ "सुखवाद मनुष्य को सुखी न बनाकर दुःखी ही बनायेगा"—यह कथन कहाँ तक सत्य है ? इस विषय में ग्रीन महाशय की युक्तियों को स्पष्ट कीजिये ।

५. मनोवैज्ञानिक सुखवाद नैतिक सुखवाद का आधार कहाँ तक बन सकता है ? क्या यह कहना ठीक है कि यदि मनोवैज्ञानिक सुखवाद सत्य है, तो नैतिक सुखवाद को अवश्य ही मिथ्या होना चाहिये ।

६ सिजविक महाशय के सुखवाद की विशेषता क्या है ? मनुष्य का व्यावहारिक विवेक उसके कर्तव्य के निर्णय में कहाँ तक काम करता है ?

—•—

तेरहवाँ प्रकरण

प्रकृतिवाद

प्रकृतिवाद का सिद्धान्त—प्रकृतिवाद नैतिकता का एक पुराना सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक जीवन ही भला जीवन है, और अप्राकृतिक जीवन ही बुरा है। जो आचरण प्रकृति के नियमों के अनुसार होता है, उसे हमें भला आचरण कहना चाहिए, और जो उन नियमों की अवहेलना करता है, उसे हमें बुरा आचरण अर्थात् अनैतिक आचरण कहना चाहिए। जिस प्रकार ससार के अन्य प्राणी प्रकृति के नियमों का पालन करते है, उसी प्रकार मनुष्य को भी प्रकृति के नियमों का पालन करना उचित है। मनुष्य यदि प्रकृति से अपने कर्त्तव्य के विषय मे शिक्षा नहीं लेता, तो उसे सन्मार्ग मिलना कठिन है। मनुष्य के मन मे अपने कर्त्तव्य के विषय में अनेक प्रकार की कल्पनायें उठती हैं, पर इन कल्पनाओं का कोई ठोस आधार नहीं रहता। प्रकृति की क्रियायें प्रत्यक्ष हैं। इन्हें आधार मानकर हम किसी निश्चित मत पर पहुँच सकते हैं, और अपने जीवन के लिए उचित मार्ग निकाल सकते हैं।

प्रकृतिवाद की आवश्यकता—प्रकृतिवाद रूढ़वाद का विरोधी है। साधारणतः मनुष्य अपने धर्माधर्म का निर्णय धार्मिक पुस्तकों से करते हैं, इन धार्मिक पुस्तकों में किसी महान् पुरुष की कही हुई बातें लिखी रहती हैं। दूसरे लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार इनमें परिवर्तन कर देते हैं। कभी-कभी धर्म-पुस्तकों के उपदेश, देश और काल के प्रतिकूल होते हैं। महान् पुरुषों ने जो उपदेश दिए थे, वे उस समय के लिए उपयुक्त थे, और वे किसी विशेष देश के लोगों के लिए दिए गए थे। पर उनके धर्मोपदेशों का प्रचार अनेक देशों में हो गया है, और अब समय भी बदल गया

है। अतएव उनके बहुत से उपदेश देश और काल के उपयुक्त नहीं हैं पर धर्म के पुरोहित उनके उपदेशों पर लोगों की श्रद्धा बनाये रखने की चेष्टा करते हैं। इसलिए वे धर्म पुस्तकों पर अनेक प्रकार की टीकायें और वार्तायें लिखते हैं। इस प्रकार पुराने पैगम्बरों के कहे हुए थोड़े से सीधे-सादे वाक्य बड़ी-बड़ी पोथियों का रूप धारण कर लेते हैं। जब कभी मनुष्य को धर्म का निर्णय करना पड़ता है, तो उसे धर्म के इन पुरोहितों की शरण लेनी पड़ती है। वे लोग कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय अपनी पोथियों के आधार पर करते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपने स्वतन्त्र चिन्तन की शक्ति को खो देता है।

धर्म पुस्तकों में कहे गये उपदेशों में विरोध होते हैं। दुनियाँ में कई धर्म हैं, और उनकी धर्म पुस्तकें विभिन्न प्रकार की बातों का मत बताती हैं। जब दो धर्म-पुस्तकों की बातों में विरोध हो तो सत् असत् का निर्णय कैसे किया जाय ? मनुष्य धर्म-पुस्तकों को अपना पथ-प्रदर्शक बनाकर अनेक प्रकार के अत्याचार करता है और बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ भी लड़ता है। इससे जीवन सुखी न होकर दुःखी ही होता है। विज्ञान-युग के पूर्व यूरोप में ईसाई धर्म का खूब प्रचार था। सभी लोग पादरियों को देवता के समान पूजते और उनकी बातों को बिना किसी नुक्ताचीनी के मानते थे। लोगों की इस मानसिक स्थिति से पादरियों ने लाभ उठाया। उन्होंने अपने जीवन को खूब विलासी बना लिया और रुपए इकट्ठा करने के लिये वे स्वर्ग के टिकट बेचने लगे। जो कोई उनके आचरण की नुक्ताचीनी करता था वे उसके प्राण ले डालते थे। स्वतन्त्र चिन्तन करने वाला अधर्मी समझा जाता था और धर्म पर किसी प्रकार आक्षेप करने वाले अथवा बाइबिल में लिखी बातों के प्रतिकूल किसी सत्य को दर्शाने वाले व्यक्ति को वे जिन्दा ही जला डालते थे। इस प्रकार धर्म के नाते सत्य का गला घोंट जाता था। स्वतन्त्र चिन्तन पाप समझा जाता था। जिस प्रकार हमारे पण्डे और पुरोहित शास्त्र के विरुद्ध किसी बात को सह नहीं सकते और स्वतन्त्र चिन्तन करने वाले व्यक्ति का दमन करते हैं, उसी प्रकार मध्यकालीन यूरोप में पादरी लोग बाइबिल के विरुद्ध किसी भी सिद्धान्त का प्रचार होने नहीं देते थे। जो ऐसे सिद्धान्त अथवा मत का प्रचार करता था उसका वे दमन करते थे। सारे यूरोप में रूढ़िवाद फैला हुआ था।

इसके कारण समाज के कुछ लोग सुख और आराम से रहते थे। और बाकी लोग पादरी और जमींदारों की गुलामी किया करते थे। वे इसी को अपना धर्म समझते थे।

उक्त सामाजिक स्थिति को बदलने के लिए ही प्रकृतिवाद का प्रचार हुआ। प्रकृतिवाद पुरानी रूढ़ियों और विचार परम्पराओं की आलोचना करता है। प्रकृतिवाद मनुष्य की बुद्धि को आप्त-वचन, परम्परागत विचार तथा धर्म पुस्तकों के बन्धन से मुक्त करने की चेष्टा करता है। प्रकृतिवादी विश्वास करता है, कि जिस प्रकार पुराने लोग अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर सके, उसी प्रकार हम भी अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर सकते हैं। यदि कोई एक व्यक्ति कर्त्तव्य-पथ को जान लेता है, तो हम भी अपने कर्त्तव्य-पथ को जान सकते हैं, हमें उसकी मानसिक गुलामी करने की आवश्यकता क्या है? प्रकृतिवादी पुस्तकों को गुरु न बनाकर प्रकृति को ही अपना गुरु बनाता है। मनुष्य सडी-पुरानी विचारधारा मे पड़कर मरता रहता है, उसे इससे मुक्त करना प्रकृतिवाद का उद्देश्य है। प्रकृति सदा नये विचार उत्पन्न करती है, और मनुष्य को उचित और अनुचित का ज्ञान कराती रहती है।

प्रकृतिवादी उसी सत्य को सच्चा मानता है, जो अनुभव-गम्य है। वह किसी के कहे हुए सत्य को नहीं मानता। यदि कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति कोई बात कहे, तो प्रकृतिवाद के अनुसार उसकी प्रामाणिकता का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति को अपने अनुभव के आधार पर करना चाहिए। कोई बात, चाहे वह कितने ही विद्वान व्यक्ति अथवा धर्म ग्रन्थ की कही हुई क्यों न हो—और उसको कितने ही लोग क्यों न मानते हों, यदि वह अपने अनुभव में सत्य नहीं उतरती, तो उसे कदापि न मानना चाहिये।

प्रकृतिवाद के प्रकार—सुखवाद के समान प्रकृतिवाद कई मतों का सूचक शब्द बन गया है। इसके अन्तर्गत कई विरोधी सिद्धान्तों का समावेश होता है। कुछ प्रकृतिवादी विवेकवादी[1] (सदविचारवादी) हैं, जो चैतन्यसत्ता को ससार का तत्व अथवा सचालनकर्त्ता मानते हैं, और कुछ प्रकृतिवादी जडवादी[2] हैं,

---

1. Rationalistic. 2 Materialistic.

जिन्हें चैतन्य सत्ता के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं है। प्राचीन समय के कुछ यूनानी दार्शनिक अपने आपको प्रकृतिवादी कहते थे पर वे चेतन सत्ता को जगत् का तत्त्व और उसकी क्रियाओं का संचालन करने वाला मानते थे। इस तरह स्टोइक मत के प्रवर्तक जेनो महाशय अपने मत को प्रकृतिवाद अथवा समभाववाद कहते थे। पर उनके कथनानुसार संसार की सभी क्रियाओं का संचालन विश्वव्यापी विवेक के द्वारा अर्थात् चेतन सत्ता के द्वारा होता है। यही चेतन सत्ता हमारे मन में भी विचार के रूप में काम करती है। जब हम विवेक से काम लेते हैं, तो हम इस चेतन सत्ता से अपना एकत्व स्थापित करते हैं। जिस प्रकार सामष्टिक विवेक सारे जगत का संचालन करता है, उसी प्रकार अपनी क्रियाओं को भी विवेक के द्वारा संचालित करने से समष्टि के साथ हमारी एकता स्थापित होती है। इस एकता को ध्यान में रखकर आचरण करना ही प्राकृतिक आचरण करना है। जो मनुष्य अपने आप को किसी प्रकार के प्रलोभनों में डालकर अपने विवेक के प्रतिकूल आचरण करता है, वह अप्राकृतिकता को चरितार्थ करता है।

अपने आप पर सम्पूर्ण नियन्त्रण रखने में ही विवेकशीलता है। इस प्रकार के नियन्त्रण की योग्यता प्राप्त करने के पूर्व मानसिक अभ्यास (ट्रेनिंग) की आवश्यकता है। यह अभ्यास अपनी इन्द्रियों को वश में लाने का अभ्यास है। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने में अभ्यस्त नहीं है वह समय आने पर प्रलोभनों और मानसिक वेगों के विरुद्ध काम नहीं कर सकता। ये उसके विवेक को बेठिकाने कर देते हैं। अतएव धर्म-संकट के समय उचित काम कर सकने की योग्यता प्राप्त करने के लिए और इन्द्रियों को वश में रखने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। यह अभ्यास कठोर जीवन यापन का अभ्यास है। आराम से रहने वाले लोग अपनी इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। जिसे जितेन्द्रिय होना है उसे तप और त्याग के अभ्यास की आवश्यकता है। उसे अनेक प्रकार के व्रत और उपवास करने पड़ेंगे। इस तरह इस मत के अनुसार इन्द्रियनिग्रह का जीवन ही प्राकृतिक जीवन है। जो मनुष्य जितना ही अधिक संयमी है, और भूख तथा शीतोष्ण को सह सकता है, वह

प्रकृतिवाद को अपने जीवन में उतना ही चरितार्थ करता है । स्टोइक मत में विवेकवाद और प्रकृतिवाद का एकत्व है ।

दैविक प्रकृतिवाद[1]—आधुनिक युग के आरम्भ मे यूरोप में प्रकृतिवाद के सिद्धान्त का प्रवर्तन फ्रान्स के क्रान्तिकारी विद्वान् जेकीस रूसो महाशय ने किया । रूसो महाशय जडवादी नहीं थे । वे चैतन्य सत्ता के अस्तित्व मे विश्वास करते थे । पर वे समाज की रूढ़ियों और उसमे प्रचलित रूढ़िवादी धर्म के विरोधी थे । वे उनका उन्मूलन करना चाहते थे । वे कृत्रिमता को हटाकर स्वाभाविकता को मनुष्य के जीवन में लाना चाहते थे। उन्होंने स्वाभाविक धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया । इस स्वाभाविक धर्म को हम पुस्तकों तथा समाज के रूढ़िवादी विचारों से न सीखकर प्रकृति देवी से सीखते हैं । रूसो महाशय के कथनानुसार प्रत्येक वस्तु, सृष्टिकर्त्ता के हाथो से आने के कारण, सुन्दर होती है, और वह मनुष्य के हाथ में आकर ही भ्रष्ट होती है।* अतएव भला आचरण वही है, जो प्राकृतिक है, और जिसमे किसी प्रकार की झूठ और कृत्रिमता के लिए स्थान नहीं है । यदि मनुष्य अपने ऊपर आप को निर्भर कर दे, तो वह अनेक प्रकार के शारीरिक रोगों और पापों से मुक्त रहेगा । सभ्यता मनुष्य को चतुर और चालाक बनाती है, वह उसे भला नहीं बनाती । भला बनने के लिए मनुष्य को प्रकृति-देवी की शरण लेनी चाहिये ।

जड़वादी प्रकृतिवाद—उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रकृतिवाद से भिन्न जड़वादी प्रकृतिवाद है । जड़वादी प्रकृतिवाद के सबसे अधिक प्रसिद्ध प्रवर्त्तक इंगलेंड के दार्शनिक हरवर्ट स्पेन्सर महाशय है । अब प्रकृतिवाद का जो रूप उन्होंने दिया, उसे प्रकृतिवाद का वास्तविक रूप माना जाता है । अतएव प्रकृतिवाद के सिद्धान्त को समुचित रूप से जानने के लिए हरवर्ट स्पेन्सर महाशय के विचारो की मुख्य बातों को समझना आवश्यक है ।

---

1 Spritualistic naturalism.

*"Every thing is beautiful as it comes from the hands of the Author of things every thing corrupts in the hands of man" —

Emile

जड़वादी प्रकृतिवाद का आधार

जड़वादी प्रकृतिवाद का आधार जीवन विज्ञान के वे सिद्धान्त हैं, जिनका अन्वेषण श्रीडार्विन महाशय ने किया है। डार्विन के अनुसार प्राणियों के जीवन के विकास मे निम्नलिखित चार क्रियायें काम करती हैं।

(१) जीवन के लिए युद्ध[1]
(२) आकस्मिक नवीनता का उदय[2]
(३) प्राकृतिक चुनाव[3]
(४) वंशानुक्रम द्वारा प्रसार[4]

संसार में अनेक प्राणी हैं। वे अपनी सन्तानों की उत्पत्ति करते रहते हैं। थोड़े ही समय मे वे इतने बढ़ जाते हैं, कि उनके लिए भोजन की कमी हो जाती है। ऐसी अवस्था मे उनमे भोजन के लिए आपस में युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। इस युद्ध मे एक प्राणी दूसरे से भोजन छीनने की चेष्टा करता है उस पर अधिकार जमाने की चेष्टा करता है, अथवा उसे नष्ट कर डालता है। प्राणी का सांसारिक जीवन ही एक संग्राम है। इसमें बलवान प्राणी निर्बल को सदा नष्ट करते रहते है, और अयोग्य नष्ट हो जाते हैं।

जीवन की लड़ाई करते समय एक ही प्रकार के प्राणियों में कुछ नवीनता आती है अर्थात् नये गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इनका उत्पन्न होना आकस्मिक होता है। यदि ये नये गुण उस प्राणी के जीवन-संग्राम में सहायक हुए तो वह प्राणी बच जाता है। वह दूसरे प्राणियों पर विजय प्राप्त करने मे समर्थ होता है। पर कभी-कभी किसी जाति के प्राणियों में ऐसे गुण उत्पन्न हो जाते हैं जो उन्हे जीवन-संग्राम मे सहायता न देकर उनके विनाश का कारण बन जाते हैं। जिन प्राणियों मे जीवन-संग्राम मे सहायता देने वाले गुणों का विकास हो जाता है वे बच जाते हैं। उनका बच जाना ही प्राकृतिक चुनाव कहलाता है।

---

1 Struggle for Existence 2. Chance variation.
3. Natural Selection. 4 Transmission through heredity

प्राणी के अच्छे गुण वे कहे जायेंगे, जो संग्राम मे उसके सहायक हों, अर्थात् जिनके कारण वह ससार मे अपना जीवन सुरक्षित रख सके, और बुरे गुण वे कहलायेंगे, जिनके कारण उसका विनाश हो।

प्राकृतिक चुनाव में वे प्राणी बच जाते हैं, जिनमें प्राकृतिक वातावरण के अनुसार अपने आप को बना लेने की योग्यता होती है, अर्थात् जिनमे ऐसे गुण हैं, जिससे वे बदलते हुए प्रकृति के वातावरण के अनुसार अपने आचरण को बना लेते हैं। जिन प्राणियों में यह गुण नहीं होता, वे नष्ट हो जाते है। प्रकृति किसी प्राणी के प्रति दया नहीं करती, वह सदा योग्य प्राणी की रक्षा करती है, और अयोग्य लोगों को ससार से निकाल बाहर करती है। योग्य प्राणी वह है, जो प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त करता है, अर्थात् जो अपने आप को अपने वातावरण के अनुसार परिवर्तित करता रहता है।

प्राकृतिक चुनाव होने पर जो प्राणी बच जाते हैं, उनकी सन्तान ही ससार में रहती है। वशानुक्रम के अनुसार योग्य प्राणियों की सतान ससार में समृद्ध होती है, अर्थात् ससार में बच रहनेवाले प्राणी वे हैं, जिनके पूर्वज अपने आप को प्राकृतिक वातावरण के अनुसार बनाने में समर्थ हुए।

मानव समाज के विकास का प्राकृतिक क्रम—उस प्राकृतिक जीवन-विकास के नियम को जब हम मानव समाज के विकास मे घटित करके देखते हैं, तो उसकी सत्यता बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। मानव समाज में वे लोग ही उन्नति करते हुए दिखाई देते हैं, जिनमें कुछ ऐसे गुण हैं, जिससे वे दूसरे मनुष्यों से जीवन सग्राम में विजय प्राप्त कर सकें, और अपने आप को वातावरण के अनुसार बना सकें। जिन लोगों में मानसिक जडता रहती है, और जो इसके कारण रूढिवादी बने रहते हैं, वे वातावरण के अनुसार बना लेनेवाले व्यक्तियों के विरुद्ध जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त नहीं कर पाते हैं। जो लोग सदा किसी नई बात की खोज में रहते हैं, और किसी भी प्रकार के नये आविष्कार से लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं, वे जीवन-सग्राम में सफल होते हैं। पुराने समय में लोग तीर, तलवार, भाले आदि से लडते थे। जब बारूद का आविष्कार हुआ, तो जिन लोगों ने इससे पहले-पहल लाभ उठाया, वे दूसरे लोगों पर सरलता से विजय प्राप्त कर सके। उसी प्रकार आधुनिक काल मे केवल शूर-वीरता पर

भरोसा करनेवाले व्यक्ति विजयी नहीं होते। जो लोग चतुराई से काम लेते हैं और वैज्ञानिक आविष्कारों से लाभ उठाते हैं, वे ही विजयी होते हैं। पहले पहल अमेरिका ने एटमबम (अणुबम) बनाया, अतएव वह सरलता से जापान पर विजय प्राप्त कर सका।

मनुष्य केवल वैज्ञानिक आविष्कारों से ही नहीं बल्कि नये प्रकार के सामाजिक विचारों से भी बली होता है। जो लोग नये विचारों का स्वागत करते हैं, और योग्य विचारों के अनुसार अपने सामाजिक रीति रिवाजों में परिवर्तन करते रहते हैं वे जीवित रहते हैं और अनेक प्रकार की उन्नति करते हैं। इसके प्रतिकूल रूढ़िवादी लोग सदा अवनत रहते और दूसरों के गुलाम हो जाते हैं। पर यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रत्येक प्रकार की नवीनता कल्याणकारी नहीं होती। प्रकृतिवाद के अनुसार वह नवीनता भली है जिससे मनुष्य को प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त हो अर्थात् जिससे मनुष्य अपने आप को वातावरण के अनुसार बनाने में समर्थ हो।

स्पेन्सर महाशय का प्रकृतिवाद

सुखवाद की आलोचना—स्पेन्सर महाशय के प्रकृतिवाद का प्रधान आधार डार्विन महाशय के जीवन-विकास का प्राकृतिक सिद्धान्त है। इसके अतिरिक्त सुखवाद के सिद्धान्त से भी उन्होंने अपने विचार का सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। सुखवाद की समालोचना करते हुए हरबर्ट स्पेन्सर महाशय कहते हैं कि सुख के मापने का कोई मापदण्ड नहीं हो सकता। किसी क्रिया में किसी व्यक्ति को कम और किसी को अधिक सुख मिलता है। फिर सब के सुख को जोड़ना भी कठिन है। सुख व्यक्तिगत अनुभव है इसके द्वारा आचरण की भलाई और बुराई का अन्दाज कैसे लगाया जा सकता है? स्पेन्सर महाशय के विचारानुसार आचरण की भलाई और बुराई प्रमाणरूप से दिखाई देनी चाहिए, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति किसी भी आचरण को देखकर यह कह सके, कि वह भला है अथवा बुरा। इसके लिये हमें प्राकृतिक परिणाम पर विचार करना होगा।

प्रकृतिवाद का नैतिक आदर्श—प्रकृतिवाद के अनुसार वह आचरण

भला है, जिससे मनुष्य को जीवन की सम्पूर्णता प्राप्त होती है। हरबर्ट स्पेन्सर ने "सम्पूर्ण जीवन"[1] को मनुष्य के आचरण का आदर्श निश्चित किया है। जीवन की सम्पूर्णता अपने आपको वातावरण के अनुसार बनाने से प्राप्त होती है। वातावरण के अनुसार आचरण करना ही भला है, और उसके प्रतिकूल आचरण बुरा है, क्योंकि इससे जीवन की सम्पूर्णता की प्राप्ति तो दूर रही, उसके अन्त हो जाने की ही सम्भावना है। जिस प्रकार हम चींटी के भोजन इकट्ठा करने के उद्योग को भला कहते हैं, क्योंकि इससे उसके प्राण की रक्षा होती है, उसी प्रकार हम मनुष्य के उस उद्योग को भला कहेंगे, जिससे उसके प्राण की रक्षा हो और जिससे वह अधिक-से-अधिक काम कर सके।

सम्पूर्णता का माप, जीवन की लम्बाई और चौड़ाई—जीवन की सम्पूर्णता दो प्रकार से मापी जाती है, एक जीवन की लम्बाई, और दूसरी उसकी चौड़ाई से। जीवन की लम्बाई आयु से जानी जाती है। अच्छा कार्य वह है, जिससे मनुष्य दीर्घजीवी हो। जिस प्रकार के आचरण से मनुष्य अल्पायु हो जाता है, वह आचरण बुरा है। नैतिकता के माप के लिये वैयक्तिक जीवन को ही नहीं बल्कि, पूरे समाज के जीवन को ध्यान में रखना चाहिए।

जीवन की चौड़ाई जीवनोपयोगी कार्यों की संख्या से मापी जाती है। कितने ही लोग सौ वर्ष तक जीते हैं, पर संसार में कोई महत्त्व का काम नहीं करते। उन्हें दुनियाँ के अधिक लोग जानते भी नहीं। कुछ लोग तीस पैंतीस वर्ष ही जीते हैं, पर वे बड़े-बड़े महत्त्व के कार्य कर जाते हैं। वे जितने काल तक जीते हैं, सदा किसी-न-किसी महान् कार्य में लगे रहते हैं। प्रकृतिवाद के अनुसार दूसरे प्रकार के लोग पहले प्रकार के लोगों से उच्चकोटि के हैं। नैतिक दृष्टि से उनका आचरण अच्छा माना जायगा। जो व्यक्ति अपने जीवन में जितना ही अधिक जीवनोपयोगी क्रियायें करता है, वह उतना ही उच्चकोटि का व्यक्ति है, उसका आचरण उतना ही अच्छा है।

सुखवाद का स्थान—किसी भी प्रकार के आचरण की नैतिकता उस आचरण में सुख की उत्पत्ति से ज्ञात होती है, और जीवन को विनाश करनेवाली क्रियायें दुखदाई होती हैं। जब हम दूध पीते हैं, तो सुख की अनुभूति

---

1 Complete Living.

करते हैं जब सड़े गले फल को खा लेते हैं, तो दुःख का अनुभव करते हैं। मित्रों से मिलना, मोज मे शामिल होना, अथवा विवाह करना सभी को अच्छा लगता है। अकेले रहना लड़ना झगड़ना और कष्ट सहना बुरा लगता है। पहले प्रकार की क्रियायें जीवनोपयोगी हैं और दूसरे प्रकार की जीवन विनाशक। इस प्रकार हम देखते हैं, कि जीवनोपयोगी कार्यों मे सुख और दुःख को आचरण की भलाई और बुराई का मापदण्ड नहीं बनाया जा सकता। कभी-कभी सुख देने वाले काम जीवन के लिये हितकर नहीं होते और कभी-कभी कष्टदायक काम जीवन के लिये उपयोगी होते हैं। विलासिता शराबखोरी आदि से सुख होता है पर इनसे जीवन का विनाश होता है। इसी तरह बीमारी की अवस्था में कड़वी दवा पीने से कष्ट होता है, पर यह कार्य जीवनोपयोगी है। सुख और जीवनोपयोगी क्रियाओं मे इस प्रकार का वैषम्य संसार की अपूर्णता के कारण पाया जाता है। स्पेन्सर महाशय एक ऐसी आदर्श स्थिति की कल्पना भी करते हैं, जब सभी जीवनोपयोगी क्रियायें सुखदाई और जीवन को हानि पहुँचाने वाली सभी क्रियायें दुःखदाई होंगी। हमारी वर्तमान अवस्था मे सुख को भले काम अथवा जीवनोपयोगी कार्यों का संकेत मात्र माना जा सकता है, सुख को आचरण की भलाई अथवा बुराई का माप नहीं माना जा सकता।

प्रकृतिवाद के मापदंड का उपयोग—स्पेन्सर के मापदंड के अनुसार झूठ बोलना चोरी करना व्यभिचार करना आदि काम इसलिये बुरे हैं कि इनसे मनुष्य के जीवन की सम्पूर्णता की प्राप्ति मे बाधा होती है। पहले तो उसके जीवन का अन्त शीघ्र हो जाने की सम्भावना रहती है, और दूसरे जीवन में इन कार्मों के कारण मनुष्य अपने आप को समाज से बहिष्कृत करा लेता है, और इसके कारण वह अपने जीवन को उतना विकसित नहीं कर पाता, जितना अन्यथा वह कर सकता है। सत्य भाषण न्यायोचित कार्य और संयम जीवन को आयु प्रदान करते हैं और उसे समाज के लिये अधिक उपयोगी बनाते हैं, इसीलिए ये काम भले काम हैं। स्पेन्सर महाशय तप और याग एकान्तवास तथा अविवाहित जीवन को भला जीवन नहीं कहेंगे क्योंकि इस प्रकार के कामों से व्यक्ति अपने आपको निकम्मा बनाता है, और जीवनोपयोगी क्रियाओं से अपने आपको वंचित करता है। जिस बात से मनुष्य की क्रिया

शीलता में बाधा पडती है, स्पेन्सर महाशय के अनुसार वह अनैतिक और त्याज्य है। वही काम भला है, जिससे मनुष्य की कार्यशीलता को प्रोत्साहन मिले।

प्रकृतिवाद की आलोचना

प्राकृतिक और नैतिक आचरण में भेद—प्राकृतिक आचरण को भला आचरण मानना प्रकृतिवाद का मूल सिद्धान्त है। जिस प्रकार निम्न वर्ग के प्राणियों के आचरण की अच्छाई और बुराई उनकी प्रकृति के अनुसार मापी जाती है, उसी प्रकार मनुष्य के आचरण को प्रकृति के अनुसार चलने से मापा गया है। वातावरण के अनुसार कार्यशीलता को भला और वातावरण के विरुद्ध चलने को प्रकृतिवाद में बुरा माना गया है। प्रकृतिवाद का यह मूल सिद्धान्त दोषपूर्ण है। यदि इस सिद्धान्त को हम मान लें, तो मनुष्य का नैसर्गिक आचरण आदर्श आचरण होगा। फिर किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा की आवश्यकता ही क्या रहेगी! प्रत्येक प्राणी वातावरण की अनुकूलता प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसके लिए नैतिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे दूसरे प्राणी जीवन के संग्राम में काम करते हैं, उसी प्रकार यदि मनुष्य भी काम करे, तो वह भी दूसरे प्राणियों के समान पशुवर्ग में होगा। मनुष्य विवेकशील प्राणी है, विवेक मनुष्य की विशेषता है, और इस विवेक का सबसे महत्व का कार्य धर्म और अधर्म के निर्णय में देखा जाता है। दूसरे प्राणियों में विवेक-शक्ति नहीं होती है, अतएव प्रकृति उनको जैसा काम करने के लिये प्रेरित करती है, वे वैसा ही काम करने लगते हैं। उनके जीवन में सुख-दुःख विनियमन का नियम काम करता है, अर्थात् सुखदायी कामों को वे करते हैं और दुःखदायी कामों से अपने आपको बचाते हैं। मनुष्य में इस प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल आचरण करने की क्षमता है। वह जिस काम को भला समझता है, उसे कर सकता है, चाहे उसमें उसे कितना ही कष्ट क्यों न हो और उसके प्राण का अन्त ही क्यों न हो जाय। वातावरण की अनुकूलता की प्राप्ति को मनुष्य का नैतिक आदर्श मान लेना, उसे विवेकशीलता से गिराना और पशुवत् बनाना है।

चरित्र विकास के प्रतिकूल—वातावरण की अनुकूलता की करना स्वाभाविक है। इसमें मनुष्य को अपने विवेक अथवा इच्छाशक्ति

करते हैं, जब सड़े गले फल को खा लेते हैं, तो दुःख का अनुभव करते हैं। मित्रों से मिलना भोज में शामिल होना, अथवा विवाह करना सभी को अच्छा लगता है। अकेले रहना, लड़ना-झगड़ना और कष्ट सहना बुरा लगता है। पहले प्रकार की क्रियायें जीवनोपयोगी हैं और दूसरे प्रकार की जीवन विनाशक। इस प्रकार हम देखते हैं, कि जीवनोपयोगी कार्यों में सुख और दुःख को आचरण की भलाई और बुराई का मापदण्ड नहीं बनाया जा सकता। कभी-कभी सुख देने वाले काम जीवन के लिये हितकर नहीं होते, और कभी-कभी कष्टदायक काम जीवन के लिए उपयोगी होते हैं। विलासिता शराबखोरी आदि से सुख होता है, पर इनसे जीवन का विनाश होता है। इसी तरह बीमारी की अवस्था में कड़वी दवा पीने से कष्ट होता है, पर यह कार्य जीवनोपयोगी है। सुख और जीवनोपयोगी क्रियाओं में इस प्रकार का वैषम्य संसार की अपूर्णता के कारण पाया जाता है। स्पेन्सर महाशय एक ऐसी आदर्श स्थिति की कल्पना भी करते हैं, जब सभी जीवनोपयोगी क्रियायें सुखदाई और जीवन को हानि पहुँचाने वाली सभी क्रियायें दुःखदाई होंगी। हमारी वर्तमान अवस्था में सुख को भले काम अथवा जीवनोपयोगी कार्यों का संकेत मात्र माना जा सकता है, सुख को आचरण की भलाई अथवा बुराई का माप नहीं माना जा सकता।

प्रकृतिवाद के मापदण्ड का उपयोग—स्पेन्सर के मापदण्ड के अनुसार झूठ बोलना चोरी करना व्यभिचार करना आदि काम इसलिये बुरे हैं कि इनसे मनुष्य के जीवन की सम्पूर्णता की प्राप्ति में बाधा होती है। पहले तो उसके जीवन का अन्त शीघ्र हो जाने की सम्भावना रहती है, और दूसरे जीवन में इन कामों के कारण मनुष्य अपने आप को समाज से बहिष्कृत करा लेता है, और इसके कारण वह अपने जीवन को उतना विकसित नहीं कर पाता, जितना अन्यथा वह कर सकता है। सत्य भाषण न्यायोचित कार्य और संयम जीवन को आयु प्रदान करते हैं, और उसे समाज के लिये अधिक उपयोगी बनाते हैं इसीलिए ये काम भले काम हैं। स्पेन्सर महाशय तप और त्याग एकान्तवास तथा अविवाहित जीवन को भला जीवन नहीं कहेंगे क्योंकि इस प्रकार के कामों से व्यक्ति अपने आपको निकम्मा बनाता है, और जीवनोपयोगी क्रियाओं से अपने आपको वंचित करता है। जिस बात से मनुष्य की क्रिया

कि जो व्यक्ति अपने जीवन भर में क्षणभर भी निकम्मा नहीं रहता, वह गुमराह हो। उसके काम से अन्त में ससार का कल्याण न होकर उसका विनाश हो। नेपोलियन और हिटलर के जीवन मे सदा क्रियाओं की वृद्धि देखी जाती थी। जितने काम इन लोगों ने किये, उतने उनके समकालीन किसी व्यक्ति ने नहीं किये। पर तिस भर भी उनके जीवन को हम सफल जीवन नहीं कहते। इसका कारण यह नहीं, कि उनके जीवन में क्रियाओं की कमी पाई जाती है, वरन् उनके काम का समाज के लिये अकल्याणकारी होना है। नेपोलियन और हिटलर ने अपने जीवन में एक प्रकार से प्रकृतिवाद के नियम को ही चरितार्थ किया है। वे बलवान होकर ससार पर शासन करना चाहते थे। यह एक स्वाभाविक इच्छा है, और प्रकृतिवाद के सिद्धान्त के अनुसार है। पर इसी इच्छा ने उनका विनाश कर डाला। प्रकृतिवाद के मानने से सभी लोगों की मति उसी प्रकार होगी, जिस प्रकार की मति उक्त दो तानाशाहों की थी, और फिर वे अपने आचरण में दूसरों के हित की चिन्ता न करके, अपने आपको ही सबसे उन्नतिशील बनाने की चेष्टा करेंगे। इस प्रकार प्रकृतिवाद का प्रचार मानव-समाज का विनाशक है। क्रियाओं की भलाई और बुराई का मापदण्ड हमें क्रियाओं के अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्व को मानना पड़ेगा। वे ही क्रियायें भली हैं, जो मनुष्य के निश्चित आदर्श के अनुसार हों। जिन क्रियाओं में लक्ष्य का ध्यान नहीं, वे भली नहीं कही जा सकतीं। ऐसी क्रियाओं से अपने आपको रोकना ही नैतिकता का पालन करना है। अस्तु, हर स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता, कि क्रियाओं को न करने वाला व्यक्ति क्रियाओं के करनेवाले व्यक्ति से निम्नकोटि का है। लोक कल्याण की क्रियाओं के करनेवाले व्यक्ति को ही हम ऐसी क्रियाओं के न करनेवाले व्यक्ति से भला कह सकते हैं।

आध्यात्मिक प्रयत्न की अवहेलना—कितने ही लोगों के जीवन में देखा जाता है, कि बाह्य क्रियायें बहुत कम होती हैं, पर उनका आन्तरिक जीवन बड़े ही उच्च कोटि का होता है। कितने ही दार्शनिकों के जीवन में कोई भी विशेष महत्त्व की घटना घटित नहीं होती। उनके विचार भी कभी-कभी दूसरे ही व्यक्ति लिखते हैं। पर तो भी हम उनके जीवन को उच्च स्तर का मानते हैं। बुद्ध भगवान् भिक्षुकों को न केवल अनेक बाह्य क्रियाओं से अपने आपको रोकने का

नहीं लेना पड़ता। मनुष्य में मानसिक दृढ़ता तभी आती है जब उसे वातावरण के प्रतिकूल आचारण करना पड़ता है। जिस मनुष्य का वातावरण के प्रतिकूल आचारण करने का जितना अधिक अभ्यास है उसकी इच्छाशक्ति और चरित्र उतना ही दृढ़ होते हैं। यदि पशु जीवन ही मानव जीवन का आदर्श बन जाय, तो मनुष्य और पशु में भेद ही क्या रहेगा? और जब यह भेद नहीं है, तो मनुष्य को कर्तव्य शास्त्र या नैतिकता के विचार की आवश्यकता क्या होगी?

पाशविक जीवन का नियम है कि उनमें जो शक्तिशाली होता है वह दूसरों को अपने नियन्त्रण में कर लेता है। यदि निर्बल को बली पशु मार डाले तो इसे बुरा नहीं समझा जाता, क्योंकि उसके लिए यह स्वाभाविक है। पशु अपने पुत्र अथवा बूढ़े माता-पिता की सेवा करते हुए नहीं देखे जाते, पर मनुष्य जीवन में निबलों को नष्ट करने की चेष्टा न करना अपने आश्रित सम्बन्धियों की सहायता और सेवा करना भला माना जाता है। इस प्रकार का आचरण प्राकृतिक आचरण नहीं, अपितु सांस्कृतिक विकास का परिणाम है। मनुष्य में अपने स्वार्थ के प्रतिकूल काम करने की योग्यता है। वह अपने स्वार्थ को अपने विवेक के नियन्त्रण में रख सकता है और जिस काम को वह भला समझता है उसके लिये अपना सर्वस्व त्याग करने के लिए तैयार हो जाता है। यह क्षमता पशुओं में नहीं है। उनमें विचार करने की शक्ति ही नहीं तब भले और बुरे का विवेक उनमें कैसे आ सकता है। पशु भोगेच्छु होता है और वह इसके परे नहीं जा सकता। मनुष्य भी भोगेच्छु होता है पर वह अपनी भोगेच्छाओं के परे जा सकता है। वह अपनी इच्छाओं को अपने विवेक के नियन्त्रण में रख सकता है। वह यथावसी स्थिति में निडर हो सकता है, और अपने काम और क्रोध के आवेगों को रोक सकता है। अतएव मानव समाज की सभ्यता पशु-समाज से नहीं ली जा सकती और मनुष्य के आचरण का आदर्श वह नहीं बनाया जा सकता, जो पशु के आचरण का है।

क्रियावाद और नैतिकता का ऐक्य—हरबर्ट स्पेन्सर महाशय के कथनानुसार वह जीवन भला है जिसमें जीवन को प्रकाशित करनेवाली अधिक-से अधिक क्रियायें होती हों। अर्थात् हरबर्ट स्पेन्सर महाशय क्रियाओं की भलाई और बुराई का माप क्रियाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। पर यह सम्भव है

हाथ धोना पड़े, तो भी उसे करना चाहिये। ससार मे उच्च कोटि के लोग वे नहीं होते, जो परिस्थिति के अनुसार अपने आपको मोडते रहते है, वरन् वे होते हैं, जो सत्य के लिये परिस्थितियों का सामना करते और अनेक प्रकार के कष्ट सहते तथा अपने प्राण तक विसर्जन करने को तैयार रहते हैं। भगवान बुद्ध, ईशा, सुकरात, लूथर, दयानन्द आदि को हम उनकी अवसरवादिता के कारण नहीं, वरन् सिद्धान्तवादिता के कारण स्मरण रखते हैं।

जीवन की चौड़ाई मापने में कठिनाई—स्पेन्सर महाशय ने सम्पूर्ण जीवन का जो माप-दण्ड निश्चित किया है, वह भ्रमात्मक है। जीवन की सम्पूर्णता उसकी लम्बाई और चौडाई से नापी गई है। जीवन की लम्बाई मापना तो सरल है, पर जीवन की चौडाई को मापना वैसा ही कठिन काम है, जैसा सुखों की अच्छाई को मापना। जान स्टूअर्ट मिल महाशय ने सुखों मे भेद माने हैं, और किसी काम की मौलिकता को जानने के लिए इतने को ही पर्याप्त नहीं माना कि वह अधिक सुख दे, अपितु उन्होंने यह भी बताया है कि सुख के प्रकार को जानकर इसे निश्चित किया जाय। पर सुखों की भलाई और बुरा॰ को निश्चित करना असभव है। इतना ही नहीं, जब हम सुखों के भले और बुरेपन को निश्चित करने लगते हैं, तो सुखवादी नहीं रहते। इसी प्रकार जीवन की चौडाई को मापना भी कठिन है, और उसके निश्चित करने के प्रयत्न में प्रकृतिवाद का सिद्धान्त ही विनष्ट हो जाता है। जीवनोपयोगी क्रियाओं से चौडाई की माप करने के लिये आदेश दिया गया है। पर हम कैसे जानेंगे कि कौन-सी क्रियायें अधिक जीवनोपयोगी हैं। जुलाहा कपडा बुनता है, किसान खेती करता है, कवि कविता करता है और दार्शनिक अपने दर्शन के विचार मे निमग्न रहता है। ऊपरी दृष्टि से क्या जुलाहे और किसान के काम कवि और दार्शनिक के काम से अधिक जीवनोपयोगी नह॰ है? पर हम प्राय कवि और दार्शनिक के कामों को ही अधिक कीमत देते हैं। इसका कारण क्या है? फिर जो काम एक व्यक्ति की दृष्टि से महत्व का है, वही काम दूसरे व्यक्ति की दृष्टि से महत्वहीन हो सकता है। ऐसी स्थिति में, इसका कैसे निश्चय किया जा सकता है, कि किस व्यक्ति के जीवन में कितनी अधिक मौलिकता अर्थात् चौडाई है।

यदि उक्त प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जाय, कि वह कार्य महत्व का है,

आदेश देते थे, वरन् वे आन्तरिक क्रियाओं को रोकने का भी निश्चय देते थे। जिस स्थिति में चित्त का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है उस स्थिति को मानव-जीवन की सर्वोच्च स्थिति माना गया है। यह स्थिति समाधि स्थिति कहलाती है। स्पन्सर महाशय के सिद्धान्तानुसार इस प्रकार की स्थिति के लिये अभ्यास करना अपने जीवन को व्यर्थ नाश करना है। पर हम जानते हैं, कि जिस मनुष्य में अपने आवेगों को रोकने की शक्ति नहीं है, वह न केवल अपने आपको है वरन् दूसरे लोगों को भी दुःखी बनाता है। ऐसी क्रियाओं के करने से जिनसे संसार का दुःख बढ़ता है कुछ नहीं करना ही अधिक भला है।

अवसरवादिता का प्रोत्साहन—प्रकृतिवाद मनुष्य को अवसरवादी बना देता है। प्रकृतिवाद के अनुसार वही सिद्धान्त भला है, जिसके अनुसार हम अपने आपको सबसे अधिक सफल कर सकें अर्थात् जिससे अपने स्वार्थ की सबसे अधिक सिद्धि हो। संसार के अधिक लोग इसी बुद्धि के होते हैं। वे रामपुरी में रामभक्त और कृष्णपुरी में कृष्णभक्त बन जाते हैं। जिस बात को समाज के सभी लोग अच्छा कहते हैं, वे भी उसी को अच्छा कहने लगते हैं। यदि समाज में सब लोग तम्बाकू पीते अथवा मद्यपान करते हैं, तो वे भी तम्बाकू पीने या मद्यपान करने लगते हैं। जब इसे समाज के लोग बुरा समझते हैं, तो वे भी उसे बुरा कहने लगते हैं।

फिर ऐसे लोग शक्तिशाली लोगों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कह सकते। वे प्रायः सभी अन्यायों को उचित समझते हैं। भारतवर्ष में ऐसे लोगों का बाहुल्य है। हमारे देश के अवसरवादी कलतक अंग्रेज सरकार के भक्त थे आज वे ही लोग कांग्रेस भक्त हो गये हैं, और गान्धीजी की अहिंसा और चर्खा का गुणगान करने लगे हैं। यही लोग कल साम्यवादी अथवा संघवादी बन सकते हैं। प्रकृतिवाद इस अवसरवाद की मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देता है। इस तरह वह मनुष्य के चरित्र को उन्नत न कर उसे नीचे गिराता है।

अवसरवादिता से चरित्र का बिगाड़—चरित्र की उन्नति परिस्थितियों का सामना करने से होती है। यदि समाज राष्ट्र अथवा अन्य अधिकारी भूल कर रहे हैं, तो उनकी भूलों को बताना उन्हें सन्मार्ग पर चलाने की चेष्टा करने में ही मनुष्य का आध्यात्मिक कल्याण है। इस प्रसङ्ग में अपने भावों से भी

सफलता पर। यदि कोई व्यक्ति जीवन में एक भी ऐसा काम करता है, जिसमें लोक-कल्याण के लिए उसे अपने प्राणों का त्याग करना पड़ता है, तो नैतिक दृष्टि से वह स्वार्थ के हेतु अनेक काम करने वाले व्यक्तियों से कहीं ऊँचा माना जावेगा। अभिमन्यु के एक ही काम ने उसे चिरस्मरणीय बना दिया। उसे हम नैतिक दृष्टि से ऊँचा व्यक्ति इसलिए नहीं मानते हैं, कि वह बहुत दिनों तक जीवित रहा अथवा उसने संसार में बहुत दिनो तक बहुत से काम किये। वरन् उसे उच्च कोटि का व्यक्ति इसलिये ही मानते हैं, कि वह जिसे अपना कर्त्तव्य समझता था, उसके लिये उसने अपने प्राण निछावर कर दिये। इस तरह हम देखते हैं कि न तो जीवन की लम्बाई और चौडाई और न बाह्य सफलता ही नैतिकता का माप-दण्ड बन सकता है। नैतिकता का माप-दण्ड आन्तरिक उन्नति ही हो सकती है। यह उन्नति किस प्रकार की हो, यह विचारणीय विषय है।

निट्शे का शक्तिवाद[1]

शक्तिवाद का ऐतिहासिक महत्त्व—शक्तिवाद के अनुसार प्रकृति शक्ति की उपासना सिखाती है। नीतिशास्त्र में शक्तिवाद के सिद्धान्त के प्रवर्तक जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक फ्रेडरिक निट्शे महाशय थे। इनके विचार ऐतिहासिक घटनाओं की दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। निट्शे महाशय वैज्ञानिक नहीं थे, वे प्रतिभावान साहित्यकार और कवि थे। जो कुछ वे लिखते थे, उसमें तार्किक युक्तियों की प्रबलता उतनी नहीं रहती जितनी प्रत्युत्पन्न-बुद्धि और कल्पना की रहती थी। परन्तु प्रबल कल्पना जितनी शक्तिशाली होती है, उतना शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक विचार नहीं होता। निट्शे महाशय के विचार अन्त• अनुभूति अथवा इलहाम के रूप में हैं। अत जो लोग अन्त• अनुभूतिवादी हैं और अपने आपको ईश्वर का विशेष व्यक्ति मानते हैं, वे उनसे बहुत प्रभावित हुए हैं।

ऐसे तो शक्तिवाद का सिद्धान्त तभी से चला आया है, जब से मानव-समाज बना। शक्तिशाली व्यक्ति जो कुछ कहता है, उसे सभी लोग ठीक

1 The will to power

जिससे अधिक लोगों की भलाई हो तो फिर हमें खोज करनी पड़ेगी, कि लोगों की वास्तविक भलाई किस बात में है। केवल जीना अथवा सदा क्रिया-मात्र करते रहना भला नहीं कहा जा सकता है। मानव-जीवन की भलाई को जानने के लिए उसकी विशेषता पर विचार करना होगा और उसी विशेषता के अनुसार उसकी भलाई निश्चित करनी होगी। मानव-जीवन की विशेषता क्रिया में नहीं विचार में है; और सम्भव है कि वे ही काम भले हों जिनसे मनुष्य की इस विशेषता की वृद्धि होती है। और प्रकृतिवाद ने बाहरी वृद्धि सफलता को नैतिकता का माप-दण्ड बनाया है। बाहरी सफलता परिस्थितियों पर निर्भर है। इससे नैतिकता मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति पर निर्भर न हो, किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर हो जाती है। पर इस प्रकार की नैतिकता के लिये किसी व्यक्ति को जिम्मेदार नहीं बनाया जा सकता। मनुष्य अपनी आन्तरिक उन्नति और सफलता के लिये ही जिम्मेदार हो सकता है और इसी से उसकी नैतिकता भी मापी जानी चाहिए। कितने ही लोग बड़े-बड़े कामों का आयोजन अपने मन में रखते हैं पर वे उन कामों के प्रारम्भ करने के पूर्व अथवा आरम्भ करते ही चल बसते हैं। क्या हम इन लोगों के जीवन को उन लोगों के जीवन से कम महत्व का समझेंगे, जो अपने स्वार्थ के लिए दुनियाँ भर को उथल पुथल कर डालते हैं? इमेनुअल कान्ट ने चौसठ वर्ष की अवस्था में 'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन' नामक पुस्तक प्रकाशित की। यह पुस्तक संसार के लिए जर्मनी की सब से बड़ी देन मानी जाती है। यदि कान्ट इस पुस्तक को न लिखता तो यूरोप का दार्शनिक विचार ही निम्न स्तर का रहता। संसार में हम कान्ट का नाम भी न सुनते। पर यदि कान्ट ६१ वर्ष की अवस्था ही में मर जाता तो वह संसार को यह पुस्तक न दे सकता। इस पुस्तक के लिये वह चालीस वर्ष तक सोचता रहा और जब उसे इसमें लिखे सिद्धान्तों पर पूरा भरोसा हो गया तभी उसने उन्हें पुस्तक रूप में लिखा। यदि हम उसकी बाहरी कृति से ही उसकी सफलता की माप करें तो हमें कहना पड़ेगा कि पुस्तक के लिखने के कारण ही उसका जीवन सफल है; और यदि वह उसे न लिखता तो वह असफल था।

यह दृष्टिकोण भौतिक है नैतिक नहीं। नैतिक दृष्टिकोण में मनुष्य के आन्तरिक भावनाओं और हेतुओं पर विचार किया जाता है न कि उसकी बाह्य

सफलता पर। यदि कोई व्यक्ति जीवन में एक भी ऐसा काम करता है, जिसमें लोक-कल्याण के लिए उसे अपने प्राणों का त्याग करना पड़ता है, तो नैतिक दृष्टि से वह स्वार्थ के हेतु अनेक काम करने वाले व्यक्तियों से कहीं ऊँचा माना जावेगा। अभिमन्यु के एक ही काम ने उसे चिरस्मरणीय बना दिया। उसे हम नैतिक दृष्टि से ऊँचा व्यक्ति इसलिए नहीं मानते हैं, कि वह बहुत दिनों तक जीवित रहा अथवा उसने संसार में बहुत दिनों तक बहुत से काम किये। वरन् उसे उच्च कोटि का व्यक्ति इसलिये ही मानते हैं, कि वह जिसे अपना कर्त्तव्य समझता था, उसके लिये उसने अपने प्राण निछावर कर दिये। इस तरह हम देखते हैं कि न तो जीवन की लम्बाई और चौड़ाई और न बाह्य सफलता ही नैतिकता का माप-दण्ड बन सकता है। नैतिकता का माप-दण्ड आन्तरिक उन्नति ही हो सकती है। यह उन्नति किस प्रकार की हो, यह विचारणीय विषय है।

निट्शे का शक्तिवाद[1]

शक्तिवाद का ऐतिहासिक महत्त्व—शक्तिवाद के अनुसार प्रकृति शक्ति की उपासना सिखाती है। नीतिशास्त्र में शक्तिवाद के सिद्धान्त के प्रवर्तक जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक फ्रेडरिक निट्शे महाशय थे। इनके विचार ऐतिहासिक घटनाओं की दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। निट्शे महाशय वैज्ञानिक नहीं थे, वे प्रतिभावान साहित्यकार और कवि थे। जो कुछ वे लिखते थे, उसमें तार्किक युक्तियों की प्रबलता उतनी नहीं रहती जितनी प्रत्युत्पन्न-बुद्धि और कल्पना की रहती थी। परन्तु प्रबल कल्पना जितनी शक्तिशाली होती है, उतना शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक विचार नहीं होता। निट्शे महाशय के विचार अन्त: अनुभूति अथवा इलहाम के रूप में हैं। अत: जो लोग अन्तः अनुभूतिवादी हैं और अपने आपको ईश्वर का विशेष व्यक्ति मानते हैं, वे उनसे बहुत प्रभावित हुए हैं।

ऐसे तो शक्तिवाद का सिद्धान्त तभी से चला आया है, जब से मानव-समाज बना। शक्तिशाली व्यक्ति जो कुछ कहता है, उसे सभी लोग ठीक

1 The will to power

मान लेते हैं। सभी लोग शक्तिवान व्यक्ति की 'हाँ' में हाँ मिलाते हैं। यदि वे ऐसा न करें तो शक्तिमान व्यक्ति उनका विरोध करने वाले लोगों को कुचल डाले। फिर शक्तिवान व्यक्ति दूसरे लोगों को अनेक प्रकार से पुरस्कृत भी कर सकता है। संसार के अधिक लोगों के आचरण के प्रेरक भय और प्रलोभन ही होते हैं। अतएव शक्तिमान व्यक्ति का विरोध कोई नहीं करता। प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक नामक पुस्तक में इस शक्तिवाद का खंडन किया है। शक्तिवाद को पूर्व पक्ष मान कर यह दर्शाया गया है, कि शक्तिवाद के आधार पर कोई समाज ठहर नहीं सकता, अतएव यह न्याय का सिद्धान्त नहीं है।

शक्तिवाद साधारण लोगों के सिद्धान्त के रूप में सदा चला आया है, पर निट्शे महाशय ने इसे दार्शनिक रूप देने का प्रयत्न किया। इनके विचारों का प्रचार जर्मनी में बहुत हुआ। इसके परिणाम-स्वरूप जर्मन राष्ट्र में संसार के साधारण नैतिक विचारों की अवहेलना करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई। जर्मनी का प्रत्येक नागरिक अपने आपको संसार का विशेष व्यक्ति मानने लगा और अपनी महत्ता को सिद्ध करने के लिये वह युद्ध के लिये उतारू हो गया।

शक्तिवाद के मुख्य तत्त्व—शक्तिवाद का कथन है कि शक्ति ही नीति है। स्वयं प्रकृति शक्ति की उपासिका है। प्रकृति में शक्ति का खेल मात्र देखा जाता है। प्राणियों के जीवन के विकास का आधार शक्ति प्रकाशन की इच्छा[1] है। जो व्यक्ति जितना अधिक शक्ति का प्रकाशन करता है वह उतना ही महान् है। ऐसा ही मनुष्य भला मनुष्य है।

डार्विन महाशय का कथन है कि सभी प्राणी अपने जीवन के लिए लड़ाई करते हैं। परन्तु जीने की इच्छा के अभाव में इस प्रकार की लड़ाई अर्थ हीन हो जाती है। केवल जीने के लिए कोई भी जीना नहीं चाहता। कोई भी व्यक्ति अपनी शक्ति के प्रकाशन के लिए ही जीना चाहता है। जबतक मनुष्य शक्ति का प्रकाशन नहीं करता तबतक उसके जीवन में किसी प्रकार का आनन्द नहीं रहता। जीने की इच्छा ही मनुष्य को प्राणी बना देती है। वह दया-रहित होकर दूसरों

1 Will to Power

से लड़ता है। निट्शे का कथन है, कि प्रकृति हमें लापरवाह और शक्तिवान होने के लिए आदेश देती है, वह केवल योद्धा को ही प्यार करती है* ।

निट्शे महाशय के अनुसार नैतिक जीवन का उद्देश्य मनुष्य को पूर्णता प्राप्त कराना है। पर प्रत्येक मनुष्य को पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। संसार में दो प्रकार के लोग हैं—एक सामान्य योग्यता वाले, और दूसरे विशेष योग्यता वाले। ये भेद जन्मजात होते हैं। सामान्य योग्यता वाले लोगों के लिए एक प्रकार का आचरण नैतिक होता है, और विशेष योग्यता वाले लोगों के लिए दूसरे प्रकार का विशेष योग्यता वाले व्यक्ति को निट्शे ने "सुपरमैन", दैवी पुरुष, कहा है। दैवी पुरुष की नैतिकता सामान्य पुरुषों की नैतिकता से भिन्न होती है। दैवी पुरुष जिन नैतिक मूल्यों की कीमत करता है, उनका ज्ञान सामान्य व्यक्तियों को नहीं रहता। सामान्य लोगों का विश्वास होता है, कि किसी विशेष प्रकार के आचरण हर समय के लिए सही अथवा गलत होते हैं, इस प्रकार के विचार को दैवी व्यक्ति नहीं मानता है। निट्शे महाशय का कथन है, कि किसी काम को अपने आप से उचित अथवा अनुचित मानना एक प्रकार की मूर्खता है। दूसरे को किसी प्रकार के कष्ट देने, उसे यन्त्रणा देने, उसका शोषण करने अथवा उसका विनाश करने में कोई स्वगत दोष नहीं है, क्योंकि जीवन इसी प्रकार का है। मनुष्य को जीने के लिए दूसरे को कष्ट और यन्त्रणा देना, उनका शोषण अथवा विनाश करना आवश्यक होता है, इसके बिना जीना सम्भव नहीं † ।

---

* "Careless, mocking, forceful—so does wisdom wish us, she is a woman, and never loves any one but a warrior—**zurathertur**

† The talk of intrinsic right and intrinsic wrong is absolutely nonsensical, intrinsically, an injury, an oppression, an exploitation, an annihilation can be nothing wrong, in as much as life is essentially some thing which functions by injuring, oppressing, exploiting and annihilating, and is absotulely inconceivable without such a character—Beyond Good and Evil

निट्शे महाशय का कथन है, कि सामान्य योग्यता के लोग नैतिकता में समानता के सिद्धान्त का प्रचार करते हैं। वे दैवी पुरुष से भी आशा करते हैं कि वह अपनी विशेषता छोड़ कर दूसरे लोगों के साथ समानता का व्यवहार करे। जब वह उनके इस प्रकार के परामर्श को नहीं मानता, तो वे उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करके उसे गिराने की चेष्टा करते हैं। दैवी पुरुष ऐसा खुले मन का रहता है, साधारण मनुष्य ठीक उसके विरुद्ध रहता है। शक्तिहीन मनुष्य शक्तिशाली मनुष्य से ईर्ष्या करता है। शक्तिहीन मनुष्य की नैतिकता गुलाम की नैतिकता होती है और शक्तिशाली की नैतिकता स्वामी की नैतिकता होती है। शक्तिहीन व्यक्ति छल कपट और षड्यन्त्रों से काम लेता है और शक्तिशाली पुरुष अपने आत्म-प्रकाशन के लिए स्वच्छ और खुले साधनों को काम में लाता है। गुलाम मनुष्य की नैतिकता में निषेधात्मक आदेशों की भरमार रहती है जो व्यक्ति इन निषेधात्मक आदेशों की परवाह करता है, वह संसार में कभी ऊँचा नहीं रहता।

दैवी पुरुष सामान्य लोगों के नैतिक नियमों को घृणा की दृष्टि से देखता है। जो काम वह करना चाहता है वही काम उसके लिये नैतिक है। वह नये मूल्यों का निर्माण करता है। वह पुराने मूल्यों को बदल कर उनके स्थान पर नये नैतिक मूल्यों की स्थापना करता है। सामान्य लोगों की नैतिकता के प्रति धर्मों के परे जाना उसका स्वाभाविक गुण है। शक्ति हीन लोग ऐसे व्यक्ति को दुराचारी कहते हैं। परन्तु वह वास्तव में उच्च कोटि की नैतिकता को मानता है। शक्ति हीन लोग सबों को गिराकर एक बराबर कर देना चाहते हैं, परन्तु शक्तिवान व्यक्ति उनके इस प्रयत्न को विफल कर देता है। वह देखता है कि जिस सिद्धान्त पर सामान्य लोगों के काम चलते हैं, वह मनुष्यत्व का विनाशक है। वह दूसरों के ऊपर पहले आक्रमण करता है इसलिए उसकी विजय होती है। शक्तिहीन व्यक्ति के विचार सदा उलझे रहते हैं परन्तु दैवी पुरुष के विचार सदा सुलझे रहते हैं। उसकी इच्छा शक्ति को पश्चात्ताप और आत्मग्लानि आदि की भावनायें कमजोर नहीं करतीं।

वर्तमान समय में हमारी जैसी सभ्यता है उसमें किसी दैवी पुरुष का आविर्भाव होना बड़ा कठिन है। वर्तमान सभ्यता में गुलाम मनोवृत्ति के लोग एक

दूसरे से मिलकर संख्या के बल से ही दैवी पुरुष पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। ईसाई धर्म सभी लोगों को समानता की शिक्षा देता है, अतएव यह धर्म गुलाम लोगों का सहायक है, और दैवी पुरुष के आविर्भाव को रोकता है। परन्तु भविष्य में आने वाली सभ्यता दैवी पुरुष के आगमन में सहायक होगी। दैवी पुरुष जब शक्ति प्राप्त कर लेंगे, तो वे मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधा डालने वाली संस्था, धर्म आदि वस्तुओं को नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे।

निट्शे महाशय का मत स्पेन्सर महाशय के मत से कई बातों में भिन्न है। स्पेन्सर महाशय के कथनानुसार जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने की चेष्टा करना सभी लोगों के लिए उचित है। इसके लिए मनुष्य को अपने सामने ऐसे आदर्शों को रखना चाहिए, जो उसे जीवन-संग्राम में सफल बनावें। निट्शे के नैतिक आदर्श सभी मनुष्यों के लिए न होकर केवल दैवी पुरुषों के लिये हैं। इस आदर्श के अनुसार दैवी पुरुष को अपने जीवन में सदा वीरता और शक्ति का प्रकाशन करते रहना चाहिए। इस प्रकार वह एक नये समाज का शिलान्यास करेगा, जो वर्तमान समाज से अधिक स्वस्थ और सुखी होगा। निट्शे महाशय के कथनानुसार प्रत्येक दैवी पुरुष अपने आध्यात्मिक विकास में निम्न-लिखित तीन प्रकार की अवस्थाओं को पार करता है।

(१) ऊँट की अवस्था (२) सिंह की अवस्था और (३) बच्चे की अवस्था। ऊँट की अवस्था में दैवी पुरुष दूसरों का अनुकरण करता है, और उनकी आज्ञा का पालन करता है, सिंह की अवस्था में वह अपनी शक्ति को पहचानता है, और उसे कैद करने वाली शृंखलाओं को तोड़ देता है। परन्तु वह कुछ नई सृष्टि नहीं करता। दैवी पुरुष के विकास की अन्तिम अवस्था बालक की अवस्था है। इस अवस्था में जब दैवी पुरुष पहुँच जाता है, तो वह अपने ही सुख के लिए अनेक प्रकार की रचनाएँ करता है।

शक्तिवाद की समालोचना

व्यापकता का अभाव—शक्तिवाद का सिद्धान्त कुछ विशेष व्यक्तियों के लिये है, जिन्हें निट्शे महाशय ने सुपरमैन अर्थात् दैवी पुरुष कहा है। परन्तु नैतिकता का सिद्धान्त व्यापक सिद्धान्त है। जिस सिद्धान्त को हम सभी लोगों

पर समानरूप से लागू नहीं कर सकते, वह नैतिकता का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। यदि नैतिकता के दो आदर्श मान लिए जायें—एक सामान्य व्यक्ति के लिए और दूसरा विशेष व्यक्ति के लिए, तो फिर प्रश्न आता है कि हम सर्व किस सिद्धान्त को मान कर चलें। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को विशेष व्यक्ति मानने लगेगा। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो अपने आप को गुलामों की कोटि में रखना पसन्द करेगा। फिर यदि सभी लोग अपने आप को विशेष पुरुष समझ लें, और इसके कारण समाज में प्रचलित सामान्य नैतिक नियमों की अवहेलना करने पर उतारू हो जायें तो वे न केवल समाज का ही वरन् अपना भी विनाश कर डालेंगे। कहा जाता है कि दो सिंह एक ही गुफा में नहीं रह सकते। प्रत्येक दैवी पुरुष अपने आप को सिंह समझता है। ज्यों ही कई ऐसे पुरुष एक साथ एक स्थान पर आयेंगे, त्यों ही वे एक दूसरे से लड़ने और एक दूसरे का विनाश के लिए उतारू हो जायगे। इस प्रकार निट्शे महाशय के नैतिक सिद्धान्त के अनुसार चलने से मानव समाज में सुख शान्ति की वृद्धि न होकर उसमें सदा लड़ाई की स्थिति ही बनी रहेगी।

प्रत्येक शक्तिशाली व्यक्ति अपने आप को सही मानता है, पर इसके कारण वह वास्तव में सही नहीं हो जाता। यदि शक्ति को ही सही मान लिया जाय, तो शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए कोई प्रतिबन्ध ही न रह जाय। इस तरह शक्तिवान् व्यक्ति में दम्भ बढ़ जाता है, और निबल में आत्महीनता की भावना आ जाती है। "शक्ति ही नीति है" के सिद्धान्त का अनुसरण करके जर्मन राष्ट्र ने संसार के सभी राष्ट्रों को अपना शत्रु बना लिया और इस प्रकार उसने न केवल दूसरों की क्षति की, वरन् अपने आप का भी सर्वनाश कर डाला।

'शक्ति ही नीति' का सिद्धान्त वास्तव में नैतिकता के सभी सिद्धान्तों का विनाशक है। शक्तिवान् व्यक्ति ऐसे ही नैतिक नियमों की अवहेलना करते हैं, परन्तु जब वे किसी नैतिक नियम के प्रतिकूल जाते हैं, तो उन्हें आत्मभर्त्सना होती है। किन्तु यदि वे नैतिक नियमों के प्रतिकूल चलकर अपने आपको ठीक मानने लगें तो वे संसार में अनैतिकता का प्रचार बड़े वेग के साथ कर डालेंगे। शक्ति

की नीति को माननेवाले लोग निर्बल लोगों के कष्ट को कष्ट ही नहीं मानते। अपने क्रूर कर्मों को रोकने के लिए उनके पास कोई भी नैतिक अस्त्र नहीं रहता। ऐसे लोग धर्म को भी व्यर्थ की वस्तु मानते हैं। परन्तु प्रकृति स्वय ऐसे लोगों को उन्नत नहीं करती। शक्ति को नीति माननेवाले लोग थोड़े समय के लिये प्रतिभा दिखाते हैं, और फिर अपना चमत्कार दिखाकर अल्प काल में ही नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न

१ प्रकृतिवाद के सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक कौन हैं? प्रकृतिवाद के विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं के भेद को समझाइये।

२. जडवादी प्रकृतिवाद के आधारको स्पष्टत समझाइये। प्राणियों के प्राकृतिक व्यवहार क्या मनुष्य की नैतिकता के आधार बन सकते हैं? आदर्श प्राकृतिक आचरण को हम कहाँ तक नैतिक आचरण कह सकते हैं?

३ स्पेन्सर महाशय के नैतिक विचारों में सुखवाद और प्रकृतिवाद का समन्वय कहाँ तक पाया जाता है? स्पेन्सर महाशय ने प्रकृतिवाद का समर्थन किन-किन युक्तियों से किया है?

४. स्पेन्सर महाशय के विचारानुसार सम्पूर्ण जीवन का माप क्या है? इसकी आलोचना कीजिये।

५ प्रकृतिवाद में मनुष्य के चरित्र के विकास के लिये कोई स्थान नहीं पाया जाता—यह कहना कहाँ तक सत्य है? चरित्र के निर्माण के लिये किन-किन तत्त्वों की आवश्यकता होती है?

६. प्रकृतिवाद में अवसरवादिता को प्रधानता दी जाती है—यह कहना कहाँ तक सत्य है? अवसरवादिता के मत के प्रचार का नैतिक परिणाम क्या हो सकता है?

७ "शक्ति ही नीति है"—इस सिद्धान्त की समालोचना कीजिये।

८. निट्शे महाशय के प्रकृतिवाद की तुलना स्पेन्सर के प्रकृतिवाद से कीजिये। समाज में निट्शे के विचारों के प्रचार से क्या परिणाम हो सकता है?

———

चौदहवाँ प्रकरण

आदर्शवाद

आदर्शवाद पुराना मत है। यह संसार के सभी सभ्य देशों में प्रचलित रहा है। यूरोप में आदर्शवाद पुराने समय में प्लेटो महाशय के विचारों में पाया जाता है। आधुनिक काल में यूरोप में आदर्शवाद के प्रवर्तक जर्मनी के दार्शनिक हीगेल फिक्टे शैलिंग महाशय थे। इनके अनुयायी इंगलिस्तान में ब्रेडले ग्रीन आदि महाशय हुए हैं। यहाँ इनके विचारों का उल्लेख किया जायगा।

प्लेटो का आदर्शवाद

प्लेटो के विचारों की पृष्ठभूमि—प्राचीन काल के यूनानियों ने कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ऊपर बड़ा गम्भीर विचार किया है। इनका विचार धार्मिक रूढ़ियों से स्वतन्त्र था। यूनान में स्वतन्त्र चिन्तन के प्रधान प्रवर्तक महात्मा सुकरात और उनके शिष्य थे। इन शिष्यों में प्रधान प्लेटो थे। महात्मा सुकरात ने अपने समय के प्रचलित भ्रामक विचारों का खोखलापन दर्शाया। वे सदा नवयुवकों से बहस करते रहते थे। उनको यह समझाने की चेष्टा करते थे, कि जिन बातों को तुम सोचते हो कि हम उन्हें भली प्रकार से जानते हैं उन्हें ही तुम भली प्रकार से नहीं जानते। समाज में प्रचलित भलाई और बुराई के विचार निराधार हैं। मनुष्य जब तक अपने विचारों को ठीक नहीं कर लेता तब तक न तो वह सद्गुणी हो सकता है, और न सुखी। उसने दर्शाया कि बहुत से लोगों को यह प्रमाद रहता है, कि वे सत्य को जानते हैं पर यदि उनसे उस सत्य के स्वरूप का निरूपण करने के लिए कहा जाय तो ज्ञात होगा कि उन्हें सत्य का ज्ञान नहीं है और वे अपनी इस अज्ञान के विषय में भी नहीं जानते। वे अज्ञानी होकर भी अपने आपको ज्ञानी मान बैठे हैं। इस प्रकार

सुकरात प्रत्येक ज्ञानवान समझे जानेवाले व्यक्ति को मूर्ख सिद्ध करके छोड़ता था।

सुकरात के इस काम से यूनान के प्रभावशाली लोग अप्रसन्न हो गये। वह यूनान के नवयुवकों को अपनी ही तरह बहस करना सिखाता था। फिर वे अपने बड़ों से बहस करते और उनका कहा नहीं मानते थे। जिन बातों को बड़े लोग ठीक मानते थे, ये नवयुवक उनके प्रति सन्देह करते थे। इस प्रकार सुकरात ने उस समय की प्रचलित रूढ़ियों को व्यर्थ मानने की मनोवृत्ति उत्पन्न कर दी। उसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ, कि रूढ़िवादियों ने सुकरात को राज्य के द्वारा समाज-द्रोही ठहराकर प्राणदण्ड दिलाया। सुकरात के प्रति ये अभियोग थे,कि वह पुराने देवताओं के प्रति अश्रद्धा का भाव उत्पन्न करता है, और नवयुवकों का दिमाग बिगाड़ देता है। वास्तव में अभियोग ठीक ही थे। महात्मा सुकरात नवयुवकों में स्वतत्र चिंतन की शक्ति को बढ़ाते थे। जब मनुष्य में विचार की स्वतन्त्रता आ जाती है, तो रूढ़िवादियों की प्रभुता के दिन अन्त हो जाते हैं। स्वतन्त्र विचार के उत्पन्न होने पर समाज में चारों ओर विप्लव होने लगता है। फिर समाज मे सभी प्रकार के नए विचार आते हैं। फिर धर्म, राजनीति, नैतिकता और समाज-व्यवस्था में परिवर्तन होने लगता है। इस प्रकार महात्मा सुकरात यूनान देश के विप्लवकारी विचारों के जन्मदाता थे।

महात्मा सुकरात ने जिस काम को प्रारम्भ किया, उसे बहुत कुछ उनके शिष्य प्लेटो महाशय ने पूरा किया। महात्मा सुकरात अपने जीवनकाल में सत्य की जिज्ञासा उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ न कर पाये। दर्शन के क्षेत्र में रचनात्मक कार्य प्लेटो ने ही किया। प्लेटो को अपने गुरु सुकरात के प्रति इतनी अटूट श्रद्धा थी, कि उसने जो कुछ लिखा उसे अपने गुरु सुकरात के मुँह से कहलवाया है। अतएव प्लेटो की रचनाओं को पढ़कर यह जानना कठिन होता है, कि कौन से विचार सुकरात के हैं, और कौन से प्लेटो के। प्लेटो महाशय के नैतिक विचार उनके प्रेटोगोरस, सिंपोजियम, रिपब्लिक, जार्जियास और फेडरस नामक ग्रन्थों मे पाए जाते हैं। इन सभी ग्रन्थों में प्रधान ग्रन्थ रिपब्लिक है।

भलाई का स्वरूप—प्लेटो महाशय ने उस समय के झूठे नैतिक विचारें

को पूर्व पक्ष बनाकर अपने ग्रन्थों में उनका खण्डन किया है। इस प्रकार उन्होंने रिपब्लिक में थ्रेसीमेकस से और थियेटिटस में कालीक्लीज से इसी सिद्धान्त को कहलवाया है। नैतिकता का प्रथम सिद्धान्त यही है, जिसको लौकिक अभ्युदय प्राप्त करनेवाले संसार के अधिक लोग आज भी काम में लाते हैं। इस झूठे सिद्धान्त के अनुसार वही वस्तु भली है, जो मनुष्य को प्रसन्न करे और ठीक वही है, जिसे बलवान व्यक्ति दूसरों से मनवा सकें। बलवान की इच्छा ही नैतिकता है। जो लोग बलवान होते हैं वे जन साधारण पर अपना शासन जमा लेते हैं। वे शासन प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार के साधनों को काम में लाते हैं। जब वे एक बार अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, तो ऐसे राज्य नियम बना लेते हैं, जिनसे उनकी सत्ता की रक्षा होती जाती है। प्रचार के द्वारा वे जनता को यह सिखाते हैं कि उनके बनाए नियमों का पालन करना ही जनता का कर्त्तव्य है। जो व्यक्ति उनके विरुद्ध आवाज उठाता है उसे दबा दिया जाता है। इस प्रकार सब जगह उन्हीं की तूती बोलती है। जिसके पास शक्ति है उसी की बात चलती है, शक्ति ही नैतिक औचित्य है और दुर्बलता ही पाप है।

इस मत का खण्डन करने के लिये प्लेटो को तत्त्व का निरूपण करना पड़ा। वास्तव में भली वस्तु किसी व्यक्ति की राय के ऊपर निर्भर नहीं करती। मनुष्य की राय बदलती रहती है, क्योंकि उसको तत्त्व का ज्ञान नहीं रहता। तत्त्व के स्वरूप निरूपण के बिना भलाई और बुराई के स्वरूप का निरूपण नहीं किया जा सकता। पर तत्त्व को कैसे जाना जाय? तत्त्व को इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। इन्द्रिय ज्ञान सदा भ्रामक होता है। एक ही बात विरोधी गुणों को भिन्न भिन्न अथवा एक ही समय में प्रदर्शित करती है। उदाहरणार्थ कुनैन अच्छी भी लगती है, और बुरी भी वही पानी कभी गरम और कभी ठंढा लगता है। एक ही वस्तु दूर से देखने पर छोटी और पास से देखने पर बड़ी दिखाई देती है पर एक ही वस्तु एक ही समय में दो भिन्न भिन्न गुणधारी नहीं हो सकता। अतएव इन्द्रिय ज्ञान भ्रामक है और इन्द्रियों के द्वारा तत्त्व ज्ञान होना सम्भव नहीं। तत्त्व को जानने के लिये विचार अथवा विवेक की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक विवेकशील है उसे उतना ही अधिक तत्त्व का ज्ञान होगा और सच्ची भलाई को वह उतना ही अधिक जानेगा।

तत्त्वदर्शी को पदार्थों के दिखावे से भ्रम में न पड़ना चाहिए, उसे प्रत्येक वस्तु के तात्विक रूप को जानने की चेष्टा करनी चाहिये। बलवान की इच्छा ही नैतिकता है, यह तत्वज्ञान नहीं, अविचारवान व्यक्तियों की राय-मात्र है, जो ऐन्द्रिक ज्ञान के आधार पर बनी हुई है। जो व्यक्ति भलाई के तात्त्विक रूप को जानने की चेष्टा करता है, वह ऐसी बात न करेगा।

भलाई की एकता—प्लेटो महाशय के विचारानुसार मनुष्य के सभी सद्गुणों का मूल श्रोत एक ही है। किसी मनुष्य के अनेक सद्गुण एक ही भलाई के विभिन्न रूप हैं। पवित्रता, न्याय-शीलता, विवेक-शीलता, आत्मसंयम और वीरता आदि सम्पूर्ण भलाई के विभिन्न हिस्से नहीं, वरन् विभिन्न परिस्थितियों में एक ही भलाई के प्रकाशन हैं। इस भलाई के तत्त्व को जानना मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। संसार में जिस भलाई को हम मानते हैं, वह उसकी छाया-मात्र है। तात्त्विक रूप से भलाई को जानने के लिये मनुष्य को बाह्य इन्द्रियों से सहायता न लेकर अपने ही भीतर ढूढना पड़ेगा।

सद्गुणों का आधार—प्लेटो की रिपब्लिक नामक पुस्तक में थ्रेसीमेकस ने सुकरात के यह सिद्धान्त सामने रक्खा कि संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं, एक चतुर, और दूसरे भले। भले मनुष्य भोले-भाले होते हैं, और चतुर मनुष्य बड़े सयाने होते हैं। चतुर मनुष्य भले मनुष्यों को सदा अपना लट्टुआ टट्टू बनाये रखते हैं। भले मनुष्य झूठ नहीं बोलते, दूसरों को धोखा नहीं देते और दूसरों को कष्ट देने में सदा हिचकते हैं। चतुर मनुष्य इसके प्रतिकूल होते हैं, वे झूठ बोलते हैं, दूसरों को धोखा और कष्ट भी देते हैं, परन्तु उनकी झूठ, धोखा और हिंसा पकड़ में नहीं आती। वे अनेक प्रकार के प्रचारों के द्वारा संसार में सच्चे, भले और परोपकारी बने रहते हैं। इस प्रकार चतुर मनुष्य सदा सुखी रहते हैं, और भले मनुष्य सदा दुखी।

इस सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए प्लेटो को मनुष्य के स्वभाव का निरूपण करना पड़ा। मनुष्य के सद्गुण उसकी विशेषता पर ही आधारित हो सकते हैं। किसी भी वस्तु का सद्गुण उसकी विशेष योग्यता के ऊपर निर्भर है। कोई वस्तु जब अपने जातीय धर्म का पालन अच्छी तरह से करती है, तभी हम

उसे अच्छी वस्तु कहते हैं। आँखों का काम है, देखना, अतएव जहाँ तक आँखों से भली प्रकार से देखा जा सकता है, वहाँ तक हम उसे अच्छी कहते हैं। हँसुआ का काम है पौधों को काटना अतएव जहाँ तक वह काटने का काम भली प्रकार से करता है वहाँ तक ही वह भला कहा जा सकता है। यदि हँसुआ और दूसरे काम करे, पर काटने के काम में न आवे; तो हम उसे अच्छा हँसुआ न कहेंगे। इसी प्रकार मनुष्य की जीवात्मा जब वही काम करती है, जिसके करने की विशेष योग्यता उसमें है तब वह सद्‌गुणी बनती है अर्थात् अच्छी कहलाती है। मनुष्य के सद्‌गुणों की कसौटी उसकी बाहरी सफलता नहीं वरन् उसकी आन्तरिक सफलता है। जहाँ तक मनुष्य अपनी आत्मा के गुणों को अधिक से-अधिक प्रकाशित करता है वहाँ तक वह जीवन में सफल है।

मनुष्य की आत्मा की तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं—इच्छा उद्वेग और ज्ञान। ये तीन प्रकार के काम भी करती हैं। इनके उचित रूप से प्रकाशित होने में सद्‌गुण है और अनुचित रूप से प्रकाशित होने में दुर्गुण। इच्छा के सदुपयोग से आत्म-संयम[1], उद्वेग से वीरता[2] और ज्ञान से विवेकशीलता[3] के सद्‌गुण उत्पन्न होते हैं। इन प्रधान सद्‌गुणों के अतिरिक्त न्यायप्रियता का सद्‌गुण भी है। जब मनुष्य की सभी शक्तियाँ ठिकाने से काम करती हैं, तो मनुष्य की आत्मा में न्याय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मनुष्य का सच्चा सुख आत्मा के स्वभाव को अधिक से अधिक प्रकाशित करने में है, न कि सांसारिक भोग्य सामग्री अथवा शक्ति प्राप्त करने में। भोग्य सामग्रियों से प्राप्त सुख मनुष्य की इन्द्रियों को तृप्त करता है उसकी आत्मा नहीं। ऐन्द्रिक सुख अस्थायी होता है और आत्मा स्थायी सुख को खोजा करती है। स्थायी सुख आत्मा के बनाये नियमों पर चलने से ही प्राप्त होता है। यह सुख आत्मा की विशेष शक्तियों के प्रकाशन से मिलता है। सच्चा सुख विलासिता में नहीं बल्कि आत्म निग्रह में मिलता है। आत्म निग्रह से आध्यात्मिक चिन्तन आता है, और उससे तत्व के दर्शन होते हैं। यह तत्व है क्या?

---

1 Temperence. 2. Courage. 3. Wisdom. 4. Justice.

पदार्थों का तात्त्विक रूप—जिस भलाई अथवा सद्गुण को हम मनुष्य-जीवन में देखते हैं, वह तात्त्विक भलाई अथवा सद्गुण की छाया-मात्र है। प्लेटो महाशय के अनुसार प्रत्येक वस्तु का एक सांसारिक रूप होता है, और दूसरा तात्त्विक रूप। किसी भी वस्तु का तात्त्विक रूप अमर है, पर उसका सांसारिक रूप बदलता रहता है। संसार के पदार्थों में प्राप्त सौन्दर्य सच्चे सौन्दर्य की नकल, आभास अथवा छाया-मात्र है, इसी तरह सांसारिक जीवन में प्राप्त भलाई और सद्गुण वास्तविक भलाई और सद्गुण के नकल, आभास तथा छाया मात्र हैं। हम तत्त्व को सीधे नहीं देख पाते। हम गुफे में जञ्जीरों से बँधे उन मनुष्यों के समान हैं, जो केवल बाहर की वस्तुओं की छाया-मात्र देख सकते हैं। ये पदार्थ पीछे से आनेवाली रोशनी से प्रकाशित होते हैं। ये परछाइयाँ सच्चे पदार्थों के सदृश होती हैं, परन्तु जाग्रत पुरुष परछाईं-मात्र को देखकर संतोष नहीं करेगा, वह वास्तविक पदार्थों को जानने की भी चेष्टा करेगा। संसार का भौतिक सुख, संसार में प्राप्त लौकिक सौन्दर्य, अथवा सत्य वास्तविक पदार्थ के संकेत मात्र हैं। इनको जानकर मनुष्य तात्त्विक पदार्थों को भी जानने की चेष्टा करता है। पर इनके जानने में उसकी इच्छायें और इन्द्रियाँ ही बाधक हो जाती हैं। जबतक मनुष्य बहिर्मुखी बना है, तबतक उसे किसी भी वस्तु के तात्विक रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। तात्विक ज्ञान को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अपनी इन्द्रियों के प्रलोभनों से अपने आपको रोकना और नित्य तत्त्व का चिन्तन करना आवश्यक है। यह तत्त्व विज्ञान की वस्तु है, यह इन्द्रिय ज्ञान से दूर है। यह नित्य है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि प्लेटो महाशय ने एक नहीं, वरन् अनेक तात्त्विक पदार्थ माने हैं। सब तात्विक पदार्थों में एकता लानेवाला पदार्थ ईश्वर कहा गया है। इसी को अन्तिम भलाई भी माना है, अर्थात् यह शिवरूप है। इसे जानना ही परम पुरुपार्थ है। इसका ज्ञान तब तक सम्भव नहीं, जब तक मनुष्य अपने पूरे जीवन में सद्गुणी नहीं बनता, अर्थात् वह सभी सद्गुणों को अपने आचरण में प्रदर्शित नहीं करता।

सुव्यवस्थित समाज की आवश्यकता—निश्रेय की प्राप्ति और सद्गुणों की वृद्धि के लिए न्यायप्रिय सुव्यवस्थित समाज की आवश्यकता होती है। सद्गुणी समाज में सद्गुणी व्यक्ति होते हैं, और सद्-

होने के लिये तद्गुणी समाज की आवश्यकता होती है। समाज व्यक्तियों का बना है। अतएव जबतक समाज में आत्म-संयमी, वीर विवेकी और न्यायप्रिय व्यक्ति न होंगे तबतक समाज इन गुणों को प्रदर्शित कैसे कर सकता है? पर व्यक्ति समाज के विचारों से प्रभावित होता है। उसे शिक्षा-दीक्षा भी समाज ही देता है। इस दृष्टि से भले व्यक्ति का बनना तबतक संभव नहीं जबतक समाज भला न हो।

सुव्यवस्थित समाज में तत्त्वदर्शी पुरुष का प्रधान स्थान होता है। उसके नियंत्रण में ही धन कमाने वाले व्यक्ति और समाज के सैनिक रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के स्वभाव में इच्छा और उद्वेगों का विवेक के नियन्त्रण में रहना आवश्यक है उसी प्रकार धनवानों और सैनिकों को, जो कि क्रमशः इच्छा और उद्वेग के भावों के प्रतीक हैं दार्शनिकों के नियंत्रण में रहना आवश्यक है। दार्शनिक पुरुष अपने जीवन में विवेक की प्रधानता को चरितार्थ करते हैं।

मनुष्यों में जन्मजात भेद होते हैं किसी मनुष्य में एक तत्त्व की अधिकता होती है और किसी में दूसरे की। किसी में धन कमाने की इच्छा प्रबल होती है, किसी में यश की तो किसी में ज्ञान की। सुव्यवस्थित समाज वह है, जिसमें पहले दो प्रकार के व्यक्ति तीसरे प्रकार के व्यक्ति के अधीन रहते हैं अर्थात् उनकी सलाह मान कर चलते है। धन कमानेवालों में से व्यापारी और किसान होते हैं यश कमाने वालों में सैनिक होते है और ज्ञान के इच्छुक समाज के निःस्वार्थ सेवक होते हैं। राज्य जब उसके निःस्वार्थ सेवकों के हाथ में रहता है, तभी वह उन्नतशील रहता है और जनता सुखी रहती है। जब वह दूसरे लोगों के हाथ में जाता है तो एक ओर उसका नैतिक पतन हो जाता है और दूसरी ओर सारी जनता का दुःख बढ़ जाता है।

समाज का आदर्श पुरुष भौतिक सुख का इच्छुक नहीं रहता। भौतिक सुख क्षण भंगुर है। अतएव वह उसे त्याग कर स्थायी आनन्द को खोजने की चेष्टा करता है। वह आनन्द पदार्थों के तत्त्व को जानने से प्राप्त होता है अतएव वह सदा तत्त्वज्ञान में ही रमण करता है।

आधुनिक आदर्शवाद[1]

आदर्शवाद का लक्ष्य—आदर्शवाद के अनुसार नैतिक आचरण का

1. Modern idealism

लक्ष्य जीवन के सर्वोच्च आदर्श की प्राप्ति है। यह आदर्श अपने बाहर किसी वस्तु की प्राप्ति में नहीं, वरन् अपने आप में ही है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन का ध्येय सम्पूर्ण आत्म-साक्षात्कार[1] करना है। यह आत्म-साक्षात्कार अपनी आध्यात्मिक शक्ति के सम्पूर्ण विकास में है। मनुष्य अनेक बाहरी वस्तुएँ प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह दूसरों की सेवा और समाज को ऊँचा उठाने की चेष्टा भी करता है। पर इस सेवा का वास्तविक अर्थ अपनी चेतना को उच्च स्तर का बनाने में है। मनुष्य के जीवन की मौलिकता उसके विचारों को भले बनाने में है। जो कुछ बाहरी भलाई वह कर सकता है, उसकी कीमत विचारो को भले बनाये जाने से ही आँकी जानी चाहिये।

आधुनिक आदर्शवाद के प्रवर्तक जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान हीगेल महाशय थे। इन्हीं के विचारों का अनुकरण इंग्लैण्ड मे टामस हिल ग्रीन महाशय ने किया और पीछे फ्रेडरिक हेनरी ब्रेडले ने भी किया। ये इंग्लैण्ड मे आदर्शवाद के प्रवर्तक है। ग्रीन महाशय के विचार उनकी पुस्तक "प्रोलेगेमोना टू एथिक्स" मे पाये जाते हैं और ब्रेडले महाशय के विचार "स्टडीज इन एथिक्स" में पाये जाते हैं।

आदर्शवाद का आधार—आदर्शवाद प्रकृतिवाद का विरोधी सिद्धान्त है। प्रकृतिवाद के अनुसार मनुष्य की कोई स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नहीं है। प्रकृति उसे जिस ओर ले जाती है, वह उसी ओर जाता है। मनुष्य प्रकृति को पहले से ही पाता है, उसके अनुसार अपना आचरण बनाने मे ही उसके जीवन की सफलता है। भला आचरण सफल आचरण है, अर्थात् वातावरण के अनुसार आचरण भला आचरण है। इस सिद्धान्त का खण्डन ग्रीन महाशय करते है। उनका कथन है कि मनुष्य स्वय ही अपने वातावरण को बनाता है। जिस ससार में मनुष्य रहता है, वह बाह्य प्रकृति-द्वारा ही निर्मित नहीं रहता, वरन् मनुष्य का विचार उसमें कार्य करता है। मनुष्य बाहर से कुछ निष्प्रकारक ज्ञान[2] ग्रहण करता है, इसमें प्रकार के भेद मनुष्य का मन ही उत्पन्न करता है। मनुष्य का मन एक काले तख्ते के समान नहीं है, जैसा कि साधारणतः उसे समझ लिया-

---

1 Complete self-realization 2 Indeterminate knowledge.

जाता है; वरन् वह एक कारीगर के समान है, जो केवल ईंट, रोड़ा आदि बाहर से प्राप्त करता है। इमारत की तैयारी कारीगर के बिना नहीं हो सकती उसी प्रकार संसार के विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान बिना मन की क्रिया के नहीं हो सकता। संसार को जैसा हम जानते हैं वैसा वह हमारे मन के द्वारा ही बनाया गया है।

इस विचार धारा को विज्ञानवाद कहा जाता है। सत्य विज्ञान अथवा मनुष्य के ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विचार या ज्ञान ही सत्य है। संसार के अनेक प्रकार के भेद ज्ञान के ही द्वारा बनाये गये हैं। अतएव मनुष्य के आदर्श भी उसी के बनाये हुए हैं। मनुष्य का स्वभाव ही आदर्शमय है। मनुष्य का मन एक ओर अनेक प्रकार के ज्ञानमय संसार का निर्माण करता है और दूसरी ओर वही मन क्रियामय संसार की रचना भी करता है। जिस प्रकार अपने ज्ञान में एकता प्राप्त करने के लिये मनुष्य का मन अनेक प्रकार के वैज्ञानिक नियमों का आविष्कार करता है, उसी प्रकार अपनी क्रियाओं में एकता प्राप्त करने के लिये वह अनेक आदर्शों के निर्माण के साथ-साथ एक निःश्रेय[1] की कल्पना करता है। जिस प्रकार अपने ज्ञान के बाहर संसार में किसी प्रकार की नियमितता अथवा क्रम-बद्धता नहीं है उसी प्रकार मनुष्य की समझ के बाहर आचरण की भलाई और बुराई निरर्थक है।

विज्ञानवाद के अनुसार किसी प्रकार की वैज्ञानिक उन्नति किसी बाह्य पदार्थ के बारे में ज्ञान प्राप्त करनेपर उतनी निर्भर नहीं करती जितनी अपने ही विषय में ज्ञानवृद्धि पर निर्भर करती है। पदार्थ-विज्ञान की वृद्धि विचारों का विकास मात्र है। इसी तरह किसी प्रकार के आचरण की उन्नति अपने आप की उन्नति ही है। आन्तरिक सफलता ही बाहरी सफलता के रूप में दिखलाई देती है।

आदर्शवाद का मापदण्ड—आदर्शवाद के अनुसार मनुष्य को उत्तम मन्तव्य[2] की ही नैतिकता का माप-दण्ड होना चाहिये। इस विचारधारा में मनुष्य के अनेक स्वत्व माने गये हैं। ये स्वत्व एकमात्र भ्रम से हैं। ये सभी विभिन्न

1 Summum Bonum. 2 Ideal ist.

प्रकार की इच्छाओं के बने हुए हैं। हमारी कुछ इच्छायें नीचे स्तर की होती है, और कुछ ऊँचे स्तर की। कुछ इच्छायें हमारी शारीरिक आवश्यकताओं अथवा भोगों से ही सम्बन्ध रखती है और कुछ हमारे मानसिक और आध्यात्मिक विकास से सम्बन्ध रखती हैं। जो मनुष्य जितने ही ऊँचे स्तर की इच्छाओं को तृप्त करने की चेष्टा करता है और अपनी अधिक ऊँची इच्छाओं की तृप्ति के लिये निम्नकोटि की इच्छाओं का जितना ही त्याग करता है, वह उतना ही ऊँचा है। उच्चकोटि की इच्छाओं को तृप्त करने से ही मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होता है और इसीसे उसको उच्च कोटि के स्वत्व का साक्षात्कार होता है।

मनुष्य के मन में सभी प्रकार की इच्छाएँ हैं--कुछ पाशविक हैं, और कुछ दैविक। पाशविक इच्छाओं को तृप्त करके ही मनुष्य आत्म-सतोष प्राप्त नहीं करता। पाशविक इच्छाओं को तृप्त करने का सुख क्षणिक होता है। मनुष्य चाहता है कि वह स्थायी सुख को प्राप्त करे। स्थायी सुख विवेकयुक्त आचरण से प्राप्त होता है। विवेक मनुष्य को अपने आपका दूसरे के साथ आत्मसात्[1] करने के लिये प्रेरणा देता है। अपने सुख से ही सन्तुष्ट न रहकर दूसरे लोगों को सुखी बनाने की चेष्टा करते रहने में ही मनुष्य को स्थायी सुख मिलता है। फिर मनुष्य का विवेक उसे प्रेरणा देता है कि वह आत्म-सयम प्राप्त करे।

जब हम आदर्शवाद की तुलना काट महाशय के सिद्धान्त से करते हैं, तो हम आदर्शवाद की मुख्य-मुख्य बातों को स्पष्टत समझ जाते हैं। काट महाशय सभी प्रकार की इच्छाओं को त्याज्य मानते थे। कान्ट महाशय नीचे और ऊँचे कोटि मे इच्छाओं का विभाजन नहीं करते थे। इसी तरह उनके अनुसार सभी आवेग ही त्याज्य हैं। आचरण में इच्छाओं और भावों को स्थान देने से आचरण अनैतिक हो जाता है। इच्छारहित अर्थात् निष्काम कार्य नैतिक है। इच्छाओं का विनाश नैतिक आचरण का ध्येय है। आदर्शवाद के अनुसार मनुष्य को किसी प्रकार की इच्छाओं का त्याग न करना चाहिये। प्रत्येक इच्छा को अपने जीवन में उचित स्थान देना चाहिये। जब तक मनुष्य की निम्न कोटि की इच्छाएँ तृप्त नहीं हो जातीं, तब तक उच्चकोटि की इच्छाओं

1. Identification

का विनाश नहीं होता। शारीरिक सुख की इच्छा का भी मानव जीवन में स्थान है। बाल्यकाल में शारीरिक सुख की इच्छा का प्राबल्य होना स्वाभाविक है। पर विकासोन्मुख जीवन शारीरिक सुख को ही ध्येय नहीं बना लेता। जीवन का लक्ष्य शारीरिक सुख का भोग न होकर विवेक के अनुसार जीवन को चलाना होना चाहिये। विवेक के अनुसार चलने से मनुष्य स्वतः ही शारीरिक सुख को जीवन में गौण स्थान देगा और सामाजिक भावना तथा आध्यात्मिक इच्छाओं की भूमि को प्रथम स्थान देगा।

कांट मर्यादित नैतिक जीवन में त्याग को प्रमुख स्थान देते थे। पर आदर्शवाद में त्याग का अपेक्षाकृत[1] मूल्य माना है। त्याग का मूल्य लाभ पर विचार करके आँका जाना चाहिये। उच्च जीवन में त्याग निम्न स्तर की वासनाओं का होता है पर इनके साथ साथ उच्च कोटि की भावनायें दृढ़ भी होती हैं। त्याग मनुष्य के स्वभाव का अंग है, यह विकास का लक्षण है। यदि हम निम्न कोटि के भोगों का त्याग न करें, तो उच्च कोटि के आनन्द की अनुभूति को भी प्राप्त न कर सकेंगे। त्याग यह दर्शाता है कि मनुष्य का जीवन ऊँचे स्तर पर उठ गया है। इसीलिये त्याग श्लाघ्य है। पर त्याग के लिये त्याग अथवा तपस्या के लिये तपस्या करना निन्द्य है। नैतिक जीवन का ध्येय मनुष्य को वैयक्तिक सुख के स्तर से ऊपर उठाकर सामाजिक सुख में भाग सिखाना है। आदर्शवाद का ध्येय मनुष्य को अपने आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने में सहायता देना है। यह आदर्श स्वत्व ऐसा है, जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य प्राणि मात्र से अपनी एकता की अनुभूति करने लगता है। यह आदर्श स्वत्व विवेकयुक्त है। अतएव इसमें वैयक्तिक इच्छाओं का दमन न होकर उनका विकास होता है। व्यक्ति अपने आपको खोता नहीं वरन् अपने-आपको एक महान् सत्ता के अंग के रूप में अनुभव करता है।

नैतिकता के सर्वोच्च आदर्श का ज्ञान किसी भी मनुष्य को नहीं है। जबतक मनुष्य इस आदर्श को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसे उसका ज्ञान होना संभव नहीं। पर इस आदर्श की उपस्थिति के विषय में कोई संदेह भी नहीं किया जा सकता।

---

1 Relative.

मनुष्य की आन्तरिक अनुभूति ही इस आदर्श की वास्तविकता को प्रकट करती है। प्रत्येक मनुष्य अपने-आप में अपने जीवन को उत्तरोत्तर भला बनाने की प्रेरणा पाता है। इस प्रकार की प्रेरणा ही यह सिद्ध करती है कि ऐसा भी कोई पद है, जिस पर पहुँचने पर मनुष्य अपने-आप में पूर्णता की अनुभूति करता है। हमारी नैतिक कमी की अनुभूति और अपने-आपको भले बनाने की इच्छा ही पूर्णता की वास्तविकता को प्रमाणित करती हैं। यह पूर्णता बाहर से नहीं आएगी। यह प्रत्येक मनुष्य में वर्तमान है। परन्तु उसे यह ज्ञात नहीं!

नैतिक आदर्श के दो लक्षण[1]—नैतिक आदर्श के प्रमुख विद्वान् ग्रीन महाशय ने मनुष्य की नैतिक उन्नति के दो लक्षण माने हैं—सामञ्जस्य[2] और व्यापकता[3]। जिस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य पारस्परिक विरोधी बातों को नहीं करता, वही नैतिक सिद्धान्त ऊँचा है। कोई दो सिद्धान्त देखने में आपस में विरोधी हों, परन्तु यदि वे मन के विकास की दो अवस्थाओं को प्रकाशित करते है, तो वे पारस्परिक विरोधी नहीं माने जायेंगे। मनुष्य को ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे उसे अपनी ही बातों का अपने-आप विरोध न करना पड़े। जबतक मनुष्य के आचरण मे लक्ष्य की एकता रहती है, तबतक इस प्रकार का विरोध उत्पन्न नहीं होता। लक्ष्य की एकता को सदा ध्यान में रखने पर विभिन्न प्रकार के आचरण मे सामञ्जस्य बना रहता है।

नैतिक आचरण का दूसरा लक्षण व्यापकता है। जिस व्यक्ति के आचरण का लक्ष्य जितना ही अधिक व्यापक है, वह उतना ही श्रेष्ठ व्यक्ति है। व्यक्तिगत लाभ की इच्छा से किये गये काम की अपेक्षा परिवार के हेतु किये गये कार्य अधिक नैतिक हैं। इसी तरह परिवार के लाभ के लक्ष्य से जाति के लाभ का लक्ष्य अधिक श्रेष्ठ है और इससे भी श्रेष्ठ देश और मानव-समाज के कल्याण का लक्ष्य है। अतएव जो व्यक्ति अपने आचरण का लक्ष्य मानव-समाज की भलाई करना रखता है, वह समाज का सर्वोत्तम व्यक्ति है।

मनुष्य के आदर्श स्वत्व मे सभी प्राणियों के हित का समावेश होता है।

---

1 Characteristics 2 Coherence 3 Comprehensiveness.

जिस मनुष्य का नैतिक आदर्श जितना संकीर्ण रहता है, उसे अपने-आपका विरोध करने का उतना ही अधिक अवसर भी मिलता है। अतएव जिस व्यक्ति के आचरण में नैतिकता के एक लक्षण की कमी पाई जाती है, उसके आचरण में दूसरे लक्षण की भी कमी पाई जाती है। जो आचरण जितना व्यापक होता है, उसमें अव्यापक आचरण की अपेक्षा उतना ही अधिक अपने से सामञ्जस्य पाया जाता है। संसार भर के कल्याण के हेतु जो लोग काम करते हैं उन्हें अपने आप का विरोध करने का भी कम अवसर मिलता है।

पूर्णता की कल्पना—आदर्शवादी चिन्तकों के अनुसार मनुष्य की पूर्णता सुख[1] की वृद्धि में नहीं वरन् सद्गुणों[2] की वृद्धि में है। आदर्शवादी अपने और दूसरों के सुख की वृद्धि की चेष्टा नहीं करते वरन् अपने को और दूसरों को सद्गुणी बनाने की चेष्टा करते हैं। उपयोगितावादियों[3] का मत है कि नैतिक आचरण वह है जिससे अधिक-से-अधिक लोगों को अधिक-से-अधिक सुख मिले। आदर्शवादी वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के सुखवाद का विरोध करते हैं। मनुष्य के आचरण का ध्येय सुख न होकर सद्गुण होना चाहिये। दूसरों का सच्चा कल्याण हम उनके सुख की वृद्धि करके नहीं वरन् उनमें सद्गुणों की वृद्धि करके करते हैं। सुख की लिप्सा को बढ़ाना न केवल व्यक्तिगत कल्याण की दृष्टि से बुरा है वरन् वह सामाजिक कल्याण की दृष्टि से भी बुरा है। सद्गुण विवेकयुक्त आचरण से बढ़ता है। अतएव मनुष्य में जितनी ही अधिक विवेक की वृद्धि होती है वह उतना ही अधिक अपने आचरण को नैतिक बनाता है।

आदर्शवाद में व्यक्ति और समाज—हीगेल महाशय के कथनानुसार व्यक्ति का समाज के लिए आत्म-समर्पण कर देने से ही नैतिक आदर्श की प्राप्ति होती है। नैतिकता का आदर्श व्यापक आदर्श है। अतएव मनुष्य जितना ही अपने आपको समाज की इच्छा के ऊपर छोड़ देता है वह उतने ही उच्च आदर्श की ओर जाता है। जहाँ कहीं व्यक्ति और राष्ट्र की इच्छाओं में विरोध हो वहाँ व्यक्ति को राष्ट्र की इच्छा की पूर्ति में लग जाना चाहिए। मनुष्य इस प्रकार

---

1 Pleasures. 2 Virtues. 3. Utilitarians.

अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को खोकर दूसरी व्यापक स्वतन्त्रता की अनुभूति करता है।

ग्रीन महाशय उक्त सिद्धान्त के विरोधी हैं। हीगेल के सिद्धान्त से देश के निरंकुश शासकों को लोगों की स्वतन्त्रता छीनने के लिए नैतिक आधार मिल जाता है। इससे उनकी निरकुशता और भी बढ़ जाती है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और मानव समाज के नैतिक विकास की दृष्टि से यह आवश्यक है कि समाज मनुष्य को अपनी शक्तियों का साक्षात्कार करने के लिए अधिक-से-अधिक अवसर दे, राज्य किसी भी व्यक्ति के आचरण में तबतक हस्तक्षेप न करे, जबतक उस व्यक्ति का आचरण दूसरे व्यक्तियों के लिए हानिकर न हो। ग्रीन का कथन है कि समाज के अस्तित्व का नैतिक आधार ही प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णता प्राप्त करने की स्वतन्त्रता देना है। नैतिक पूर्णता व्यक्तिगत वस्तु है, सामाजिक नहीं। कोई बिरला व्यक्ति ही नैतिकता के उस आदर्श को चरितार्थ करता है, जिसकी कल्पना आदर्शवादी करते हैं। नैतिक आदर्श वैयक्तिक आदर्श है। अतएव जब-तक इस आदर्श से वैयक्तिक पूर्णता की प्राप्ति में सहायता नहीं मिलती, तब तक वह व्यर्थ है। समाज स्वय कोई व्यक्ति नहीं है, और व्यक्तियों की पूर्णता के अतिरिक्त समाज की पूर्णता का भाव अर्थ-हीन होता है।

समाज के नैतिक विचारों मे उन्नति भी समाज के श्रेष्ठ लोगों के प्रयत्न से होती है। पहले-पहल समाज इन लोगों को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है अथवा उनका दमन करता है, पीछे वह उनका अनुकरण करता है। अतएव यदि कोई व्यक्ति समाज को प्रसन्न रखना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना ले, तो वह न तो अपने आप का कोई नैतिक विकास कर सकेगा और न समाज की उन्नति में ही किसी प्रकार की सहायता पहुँचा सकेगा। राजनैतिक दृष्टि से यह भले ही उचित हो कि व्यक्ति को अपने आप को समाज के अनुकूल बनाना चाहिए और उसकी प्रमुख सत्ता[1] का कहना मानना चाहिए। परन्तु नैतिक दृष्टि से उसे अपनी अन्तरात्मा[2] से बढ़कर किसी भी दूसरी सत्ता को न मानना चाहिए। अन्तरात्मा की आवाज को मानना उसका प्रथम कर्तव्य है। जो बात

---

1 Authority 2 Conscience

अन्तरात्मा करती है और जो विवेकयुक्त[1] है, वह अन्ता मैं न केवल करता ही, वरन् मनुष्य मात्र का काम करती है।

आदर्शवाद में अनिवार्य आज्ञा[2] का स्थान—आदर्शवाद अनिवार्य आज्ञा के सिद्धान्त में विश्वास करता है। परन्तु यह सिद्धान्त कांट के अनिवार्य आज्ञा के सिद्धान्त से कुछ भिन्न है। कांट के कथनानुसार नैतिकता का नियम ही अन्तरात्मा की प्रेरणा के रूप में आता है। यही प्रेरणा अनिवार्य आज्ञा बन जाती है। आदर्शवाद के कथनानुसार अन्तरात्मा किसी विशेष नियम के अनुसार चलने की प्रेरणा हमारे भीतर उत्पन्न नहीं करती वरन् वह प्रत्येक मनुष्य में अपने आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न करती है। यही प्रेरणा अन्तरात्मा की अनिवार्य आज्ञा है। प्रत्येक मनुष्य अपने आप को सदा पहले से उत्तम बनाने की प्रेरणा का अनुभव करता है। इस प्रेरणा को मानना ही उसका मुख्य कर्तव्य है। इस प्रेरणा के अनुसार चलने में उसके सामने जितनी कठिनाइयाँ आती हैं उनका स्वागत वह प्रसन्नतापूर्वक करता है।

कांट महाशय के विचारानुसार मनुष्य के आचरण का मापदण्ड सब समय के लिए निश्चित है। पर आदर्शवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के आचरण का मापदण्ड उसके मानसिक विकास की अवस्था पर निर्भर है। जितनी उदारता की आशा हम एक शिक्षक से करते हैं उतनी बाजार के एक साधारण व्यक्ति से नहीं करते। इसी प्रकार जितना आत्म-संयम एक भिक्षु के लिये अनिवार्य है उतना आत्म-संयम सामान्य गृहस्थ के लिये अनिवार्य नहीं है। मनुष्य के नैतिक आदर्श का विकास धीरे धीरे होता रहता है। अपने लौकिक जीवन में कोई भी मनुष्य यह नहीं कह सकता कि उसने नैतिकता के अन्तिम आदर्श की प्राप्ति कर ली है। जब कोई मनुष्य एक स्थान तक पहुँच जाता है तो वह आगे के स्थान को प्राप्त करने की प्रेरणा की अनुभूति अपने आप करने लगता है। इस प्रकार मनुष्य के कर्तव्यों का विकास होता रहता है। वे कर्तव्य उसके आदर्श के परिवर्तन के साथ प्रकट होते रहते हैं।

---

1 Rational. 2. Categorical Imperative.

आदर्शवाद की प्रगतिशीलता[1]—आदर्शवाद एक प्रगतिशील विचार है। यहाँ प्रगति का अर्थ किसी विशेष लक्ष्य की ओर जाना है। लक्ष्य परिवर्तित होता है, पर यह परिवर्तन अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में साधक होता है। प्रगति का अर्थ केवल नवीन पथ पर चलना ही नहीं है, इसका अर्थ अपने लक्ष्य की ओर जाना है। जैसे-जैसे मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे उसका लक्ष्य अधिक ऊँचा अथवा व्यापक बनता जाता है। जब मनुष्य का ज्ञान परिमित रहता है, तो उसका व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए प्रयत्न करना क्षम्य माना जाता है। परन्तु जब उसके ज्ञान की वृद्धि होती है, तो लोकोपकार में जीवन व्यतीत करना उसका कर्तव्य हो जाता है। नैतिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति है। पर यह आदर्श स्वत्व एकाएक प्राप्त नहीं हो जाता। इसके लिए सतत प्रयत्न करते रहना पड़ता है। जब तक मनुष्य अपने मानसिक विकास की नीची सीढ़ी को पार नहीं करता, तब तक ऊँचे लक्ष्य के लिये प्रयत्न करना उसके लिए अस्वाभाविक है। अतएव यह उसका कर्तव्य भी नहीं होता। पर जब वह एक विशेष स्थिति में पहुँच जाता है, तो फिर उसे नीची सीढ़ी के लोगों के समान आचरण करना अनुचित है। इस प्रकार वह नैतिकता के प्रतिकूल जाता है।

आदर्शवाद अधिकार भेद के अनुसार ही मनुष्य के कर्तव्य का निश्चय करता है। वह किसी अपरिवर्तनशील नियम को नैतिकता की कसौटी नहीं बनाता। इस दृष्टि से आदर्शवादी नैतिक मापदण्ड प्रगतिशील कहा जा सकता है। इसमें इच्छाओं का बहिष्कार नहीं, पर उनके विकास और प्रगतिपूर्ण शोध के लिये आदेश है।

प्रश्न

१ प्रकृतिवाद और आदर्शवाद के नैतिक सिद्धान्तों की तुलना कीजिये। आदर्शवाद के मुख्य तत्त्व क्या हैं?

२ प्लेटो महाशय के आदर्शवाद को स्पष्ट समझाइये। उनके अनुसार भलाई का स्वरूप क्या है?

---

1. Dynamic character

३ प्लेटो महाशय के अनुसार सद्गुण का आधार क्या है ? क्या मनुष्य में स्वभावतः ही सद्गुणों की ओर प्रवृत्ति होती है ?

४ प्लेटो महाशय ने मनुष्य के मुख्य सद्गुण कौन-कौन बताये हैं ? इनकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

५. मनुष्य के सद्गुणों के विकास में सुव्यवस्थित समाज की आवश्यकता को स्पष्टतः दर्शाइये। प्लेटो महाशय के कथनानुसार सुव्यवस्थित समाज कौन-सा है ?

६ आदर्शवाद के अनुसार मनुष्य के नैतिक आचरण का क्या लक्ष्य है ? आदर्शवादी आप्तवाक्य को स्पष्टतः समझाइये।

७ आदर्शवाद में तप और त्याग को मनुष्य के नैतिक आचरण में क्या स्थान दिया है ? क्या आदर्श तपस्वी को आदर्श नैतिक व्यक्ति माना जा सकता है ?

८. ग्रीन महाशय ने नैतिक आदर्श के लक्षण क्या माने हैं ? उन्हें स्पष्टतः समझाइये।

९. आदर्शवाद के अनुसार व्यक्ति और समाज का आपस में क्या सम्बन्ध होना चाहिये ? इस विषय में हीगेल और ग्रीन महाशय के विचारों की तुलना कीजिये और उनके विचारों की आलोचना भी कीजिये।

१ आदर्शवाद में अनिवार्य आज्ञा का क्या स्थान है ? आदर्शवाद की प्रगतिशीलता को स्पष्ट कीजिये।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

समत्ववाद[1]

यूरोपीय समत्ववाद के प्रवर्तक—यूरोप में समतावाद के प्रवर्तक अरस्तू महाशय थे। समतावाद को मध्यम मार्ग भी कहा जाता है। अनेक प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों की परीक्षा करने के बाद मनुष्य समत्ववाद के सिद्धान्त को ग्रहण करता है। मनुष्य की साधारण प्रवृत्ति एकान्तता अथवा अत्यन्तता की ओर जाने की होती है। जब मनुष्य भोग-विलास में लग जाता है, तो उसी को वह अपने जीवन का सर्वस्व मान लेता है। जिस जीवन में उसे ऐन्द्रियसुख प्राप्त नहीं होते, उसे वह व्यर्थ मानता है। जब इस प्रकार के जीवन में वह अतिक्रम कर लेता है, तो फिर उसके मन में इन्द्रिय-सुख के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। जिस व्यक्ति के मन में ऐन्द्रिकसुख के प्रति घृणा आ जाती है, वह इन्द्रिय-सुख के त्यागने में ही जीवन की मौलिकता देखने लगता है। फिर उसके मन में त्याग की धुन सवार हो जाती है। वह जितना ही अधिक सांसारिक सुख का त्याग कर सकता है और अपने शरीर को जितना ही अधिक कष्ट दे सकता है, उतना ही अधिक सन्तोष पाता है। फिर शारीरिक तप के जीवन को ही सर्वोच्च जीवन माना जाता है।

जिस समय यूनान में अरस्तू महाशय का जन्म हुआ, उस समय यूनान अपने वैभव की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। यूनान से बढ़कर संस्कृति यूरोप के किसी देश में न थी। एक ओर यूनान में धन-सम्पत्ति की वृद्धि थी और दूसरी ओर वहाँ पर त्यागी-तपस्वी महात्माओं का भी जन्म हुआ था। अरस्तू के पूर्व महात्मा सुकरात, प्लेटो, ऐंटेस्थनीज और डाइजनीज अपने विचारों का प्रचार कर चुके थे। इस समय यूनान में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित थीं

---

1. Standard as Golden Mean

एक विचार-धारा के अनुसार विषय सुख का वृद्धि का प्रोत्साहन किया जाता था और दूसरे विचार के अनुसार त्याग के जीवन को। विषय भोगी लोग त्याग और तपस्या के जीवन को कुत्ते का जीवन कहते थे। वे महात्मा सुकरात और डायजनीज जैसे महात्माओं की अनेक प्रकार से खिल्लियाँ उड़ाया करते थे। इसके विरुद्ध तपस्वी लोग अपने ही जीवन को सर्वोत्तम जीवन मानते थे और विषय भोग में लगे हुए जीवन को सुअर का जीवन मानते थे। दोनों ओर अतिक्रम की प्रवृत्ति पायी जाती थी। इसी समय अरस्तू का जन्म हुआ।

अरस्तू महाशय ने उक्त दो विरोधी विचारधाराओं में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की। उनकी शिक्षा का मुख्य सिद्धान्त यह था कि न तो इन्द्रिय सुख में सब समय रमण करते रहना भला है और न उनका सम्पूर्ण त्याग ही कर देना। दोनों से ही मनुष्य सुखी न होकर दुःखी ही होता है, और वह मानवत्व के लक्ष्य को प्राप्त न कर उससे गिरता है।

अरस्तू महाशय के अनुगामी अनेक विद्वान हुए। जब यूरोप में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ तो इस समत्ववाद के सिद्धान्त को यूरोप के लोग भूल गये। हजरत ईसा की मुख्य शिक्षा यह थी कि मनुष्य को शारीरिक सुखों का त्याग करना चाहिए। जो व्यक्ति जितना ही अधिक शारीरिक सुखों का त्याग कर सकता है, वह उतना ही महान है। स्वयं उन्होंने अपना शरीर क्रास (सूली पर) के ऊपर चढ़ कर छोड़ा और अपने शिष्यों के प्रति उनका आदेश था कि वे सूली पर चढ़ने के लिए सदा तैयार रहें। अतएव मध्यकाल में जब कि यूरोप में ईसाई धर्म का जोरों से प्रचार था तब लोगों ने शारीरिक क्लेश को अपने जीवन का आदर्श बना लिया था। जो व्यक्ति अपने शरीर को जितना ही अधिक क्लेश देता था वह उतना ही बड़ा संत समझा जाता था।

उक्त तपस्यावाद की प्रवृत्ति का अन्त आधुनिक युग के आने के साथ-साथ हुआ। वैज्ञानिक आविष्कारों की वृद्धि और नये देशों की खोज के साथ-साथ मनुष्यों में भोगेच्छाएं प्रबल हो गईं और अब वे सांसारिक भोगों को भोगना ही सर्वोत्तम वस्तु मानने लगे। जब भोग के विचारों का संघर्ष तप के विचारों के साथ हुआ, तो फिर से समत्ववाद के विचारों का प्रचार होने लगा। वर्तमान समय में समत्ववाद के विचारों का प्रचार दार्शनिक लोग उतना नहीं कर रहे हैं

जितना कि माहित्यिक लोग करते है। वर्तमानकाल के समतावाद के प्रचारकों मे माटेग, जार्ज इलियट, फाइट, और प्रोफेसर ह्वाइटहेड महाशय है।

समत्ववाद की विशेषताएँ—समत्ववाद को नीति-शास्त्र के आधुनिक विद्वान मानवतावाद[1] भी कहते है। मानवतावाद मे मनुष्य के स्वभाव के सभी अंगों पर ध्यान रखा जाता है। मानवतावाद के कथनानुसार नीतिशास्त्र के दूसरे मतों मे मनुष्य के स्वभाव के किसी विशेष अंग को महत्ता दे दी जाती है, और दूसरे अग की अवहेलना की जाती है। सुखवाद मनुष्य के रागद्वेषात्मक अग को अधिक महत्व देता है और विवेकवाद उसके चिन्तन करने के अग को अधिक महत्व देता है। सुखवाद मे मनुष्य के विवेकात्मक अंग की अवहेलना होती है और विवेकवाद मे उसके रागद्वेषात्मक पहलू की मानवता-वाद अपने नैतिक आदर्श में दोनों अगों को उचित स्थान देता है।

मानवतावाद सब प्रकार की धार्मिक मान्यताओं से मुक्त है। अन्त' अनुभूतिवाद[2] मे इस प्रकार की मान्यताओ का बाहुल्य पाया जाता है। मानवतावादमें ईश्वर की आज्ञा अथवा अन्तरात्मा की आवाज आदि बातो को स्थान नहीं है। यह शुद्ध विचार के ऊपर आधारित है।

नैतिक आचरण का लक्ष्य—अरस्तू महाशय के कथनानुसार नैतिक आचरण का लक्ष्य मनुष्य के सामान्य अनुभव के बाहर नहीं है। प्लेटो का कथन था कि जिस शिव भाव को मनुष्य को प्राप्त करना है, वह उसके सासारिक अनुभव मे नहीं पाया जाता। मनुष्य अपने सामान्य अनुभव में जिस कल्याण को देखता है, वह वास्तविक कल्याण की नकल अथवा छायामात्र है। अरस्तू महाशय अपने गुरु प्लेटो के समान आदर्शवादी नहीं थे, वे वास्तविकतावादी थे। उनका कथन है कि मनुष्य को अपने नैतिक आचरण का लक्ष्य किसी ऐसी वस्तु की प्राप्ति को बनाना चाहिए, जो उसकी पहुँच के भीतर हो। अपने स्वभाव की पूर्णता को प्राप्त करना ही नैतिक आचरण का लक्ष्य हो सकता है।

अब प्रश्न आता है कि मनुष्य अपने स्वभाव की पूर्णता को कैसे प्राप्त कर सकता है। इसके लिये मनुष्य के विशेष गुण को देखना होगा। मनुष्य का

---

1. Humanism. 2 Intuitionism.

विशेष गुण मनुष्य की व्याख्या से ही जाना जा सकता है। अरस्तू महाशय ने मनुष्य को "विचारवान प्राणी" कहा है। जब तक मनुष्य में विचार नहीं आता, तब तक उसे मनुष्य नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में वह केवल जानवर ही रहेगा। मनुष्य की पूर्णता उसके ऐसे गुण की वृद्धि में नहीं देखी जायगी जो दूसरे प्राणियों से भिन्न है। अतएव विचार की वृद्धि में ही मनुष्य की पूर्णता होती है।

विचार के दो अंग हैं—एक ओर विचार मनुष्य के सच्चे ज्ञान की वृद्धि करता है, और दूसरी ओर वह उसकी रागात्मक वृत्तियों पर नियन्त्रण प्राप्त करता है, अर्थात् वह मनुष्य के पाशविक स्वभाव को नियमित करता है। सदाचार का निर्णय करने वाला विचार विवेक कहलाता है।

आदर्श जीवन उस व्यक्ति का है, जो सदा ज्ञान-विज्ञान में अपने आप को लगाये रखता है। नित्यप्रति अपने को ज्ञान-विज्ञान में लगाए रखनेवाले व्यक्ति को सदा चिन्तन करने की आदत पड़ जाती है। फिर ज्ञान-विज्ञान स्वयं आनन्ददायक हो जाते हैं। अपने आप पर नियंत्रण रखना आदर्श जीवन के लिये आवश्यक है। परन्तु आदर्श जीवन में सुख का सर्वथा त्याग नहीं है। शारीरिक क्लेश का जीवन आत्म विजय की स्थिति को नहीं दर्शाता। आत्म विजय की स्थिति सहज स्थिति है। इस स्थिति में मनुष्य जो त्याग करता है और वह जो कुछ सहता है वे सहज भाव से होते हैं। उनसे मनुष्य को प्रसन्नता आती है।

मध्यम मार्ग का सिद्धान्त—अरस्तू महाशय की नैतिक शिक्षा का सबसे महत्त्व का अंग मध्यम-मार्ग का अनुसरण है। मनुष्य में अपने स्वभाव की स्फूर्तियों, सद्गुणों अथवा शक्ति की उत्पत्ति तभी होती है, जब वह मध्यममार्ग का पालन करते हुए किसी प्रकार का आचरण करता है। किसी भी प्रकार का नैतिक सद्गुण किसी प्रकार की कमी अथवा अतिक्रम से नष्ट हो जाता है।

जब कोई मनुष्य अपने जीवन में अधिक त्याग को दर्शाता है, तो वह उस त्याग से परेशान हो जाता है। जो व्यक्ति अपनी सामर्थ्य से अधिक दान देने की चेष्टा करता है, वह दान से भी ऊब जाता है। जो व्यक्ति किसी काम को करने के लिये इतना परिश्रम करता है कि वह उससे अत्यन्त थकित हो जाता है, तो वह अपने कार्य को भार-रूप में देखने लगता है। ऐसी मानसिक अवस्था में त्याग दान अथवा उद्योगशीलता के प्रति द्वेष भावना उत्पन्न हो जाती है।

इस द्वेष-भावना के कारण मनुष्य के मन में स्वभावतः त्याग, दान अथवा उद्योग-शीलता नहीं आती, वरन् वह उनके विरुद्ध हो जाता है। मनुष्य को फिर प्रयत्न-पूर्वक उक्त भले कामों को करना पड़ता है। किसी मनुष्य में किसी प्रकार के सद्गुण की जड़ तब तक नहीं जम सकती, जब तक वह उस सद्गुण-सम्बन्धी आचरण को प्रसन्नता से नहीं करता। जिस त्याग, दान अथवा उद्योग में आनन्द की अनुभूति नहीं होती, वे त्याग, दान और उद्योग मनुष्य के स्वभाव के अंग नहीं बनते, अर्थात् उनके अनुसार आचरण मनुष्य सहज रूप से नहीं करता और वे आदत का रूप धारण नहीं करते।

इस प्रकार देखा जाता है कि किसी प्रकार के भले आचरण में अतिक्रम करने से वह मनुष्य में सद्गुण की उत्पत्ति नहीं करता। किसी प्रकार के सद्गुण की उत्पत्ति अभ्यास का परिणाम है। सद्गुण मनुष्य के उस अभ्यास का नाम है, जो विवेक-युक्त है और जिसके अनुसार काम करते समय मनुष्य को आनन्द की अनुभूति होती है। सद्गुण के प्राप्त करने में मनुष्य को पहले-पहल अपनी इच्छा-शक्ति से काम लेना पड़ता है, अर्थात् पहले-पहल भला आचरण प्रयत्न-पूर्वक किया जाता है। फिर बार-बार भला आचरण करने से उस आचरण के संस्कार मनुष्य के मन में दृढ हो जाते हैं। इस प्रकार एक नये स्वभाव की सृष्टि हो जाती है। जब किसी मनुष्य का आचरण अभ्यास (आदत) का रूप धारण कर लेता है, तब वह आनन्ददायक बन जाता है। फिर भले आचरण को चरितार्थ करना सरल हो जाता है। इस प्रकार की आनन्ददायिनी भली आदत को ही सद्गुण कहते हैं। साधारणत' मनुष्य अपनी मूल-प्रवृत्तियों के अनुसार आचरण करने में आनन्द की अनुभूति करता है, परन्तु जब बार-बार विवेक-युक्त अर्थात् भले आचरण को करने के कारण उसमें भली आदतें बन जाती हैं, तो वह विवेक-युक्त आचरण में ही आनन्द की अनुभूति करने लगता है। फिर ऐसे व्यक्ति के लिये विवेक-युक्त आचरण उतना ही सुखदायी और सरल होता है, जितना कि साधारण मनुष्य के लिये नैसर्गिक (प्राकृतिक) आचरण। ऐसा व्यक्ति ही सद्गुणी व्यक्ति कहलाता है। इस सद्गुण की अवस्था को प्राप्त करने के लिये अपने स्वभाव पर धीरे-धीरे विजय प्राप्त की जाती है। किसी प्रकार के उतावलेपन से अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त नहीं होती, वरन् अतिक्रम के

परिणाम-स्वरूप मनुष्य के मन में ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है कि उसके सद्गुण थोड़े ही काल में दुर्गुणों के रूप में परिणत हो जाते हैं। अभिमान का एक परिणाम यह होता है कि अपने सद्गुणों को दूसरों के समक्ष प्रदर्शित करने का भाव मनुष्य में बढ़ जाता है। वह लोक प्रशंसा का लोलुप बन जाता है। ऐसी मानसिक अवस्था में वह किसी प्रकार के सद्गुण को तभी तक धारण किये रहता है, जब तक संसार के लोग उसके उन सद्गुणों की प्रशंसा करते रहते हैं। जब वह इस प्रशंसा में कमी देखता है, तो वह अपने सदाचार से निराश हो जाता है। ऐसे मनुष्य को फिर अपने भले काम के लिये अनेक प्रकार की आत्म भर्त्सना होने लगती है। यह आत्म भर्त्सना नैतिकता में उसे उतना ही नीचे गिरा देती है, जितना कि वह पहले नैतिकता में बढ़ा-चढ़ा दिखाई देता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी प्रकार का अतिक्रम मनुष्य की ठोस नैतिकता अथवा स्थायी सद्गुण का जनक नहीं है। इससे मनुष्य के अभिमान की वृद्धि होती है और उसका स्वभाव चंचल बनता है। उसका मन सदा डाँवाडोल की अवस्था में रहता है और उसमें इच्छा-शक्ति की दृढ़ता नहीं आती।

समतावाद और आदर्शवाद—यदि ऊपरी दृष्टि से देखा जाय, तो समतावाद और आदर्शवाद में बहुत विरोध दिखलाई देता है। आदर्शवाद मनुष्य को अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करने के लिये अधिक-से अधिक प्रेरणा देता है, और समतावाद अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करने के लिये उतनी ही प्रेरणा देता है, जितना कि मनुष्य सहज रूप से प्राप्त कर सकता है। सभी प्रकार का आदर्शवाद तप के जीवन को महत्त्व देता है। समतावाद तप के जीवन को उतना ही त्याज्य समझता है, जितना कि भोग के जीवन को। आदर्शवाद में आनन्द को उतना महत्त्व का स्थान नहीं दिया गया है जितना कि समतावाद में है। कान्ट के आध्यात्मवाद में जो कि एक प्रकार का आदर्शवाद है, सांसारिक सुख को मानव-जीवन की पूर्णता में कोई स्थान नहीं दिया गया है। जो व्यक्ति अपने आचरण में सुख की भावनाओं के प्रति जितना ही अधिक अवहेलना दिखलाता है और जो कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिये करता है, वह उतना ही महान् कहलाता है। समतावाद इस विचार का समर्थक नहीं है। यह मनुष्य के

चाहिए और उनके परामर्श के अनुसार अपना आचरण बनाना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि हम समाज के किस व्यक्ति को विवेकी समझें और किसे न समझें ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति अपने आचरण में किसी प्रकार की एकान्तता को नहीं दर्शाता, वही विवेकी है। परन्तु यह उत्तर संतोषप्रद नहीं है, अतएव नैतिकता के निर्णय के लिए हमे पुनः आदर्शवाद की शरण लेनी पडती है।

समतावाद की देन—हमने ऊपर समतावाद के सिद्धान्त की मुख्य बातों को बतलाया है और आदर्शवाद से उसकी तुलना भी की है। समतावाद मनुष्य को आदर्श की ओर ले जाता है, अतएव आदर्शवाद के अभाव में समतावाद अर्थहीन हो जाता है। मनुष्य का जीवन तभी सार्थक होता है, जब वह केवल जीवन के सुख के उपभोग के लिये नहीं, वरन् आन्तरिक पूर्णता अर्थात् किसी प्रकार के आदर्श की प्राप्ति के लिये जीता है। किसी प्रकार के आदर्श की प्राप्ति की चेष्टा में कष्ट उठाना, इन्द्रिय-निग्रह करना नितान्त आवश्यक होता है। अतएव किसी प्रकार के नैतिक विचार सांसारिक सुख के जीवन को नैतिक जीवन सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिये समतावाद को भी आदर्शवाद की ओर जाना पडता है।

परन्तु समतावाद मनुष्य को आदर्श-प्राप्ति का सुगम मार्ग बतलाता है। यदि हम समतावाद को व्यावहारिक आदर्शवाद कहें, तो अतिशयोक्ति न होगी। जिन महात्माओं ने मध्यममार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा है और भोग तथा तप दोनों प्रकार के अतिक्रम को बुरा बताया है, उन्होंने यह कदापि नहीं कहा है कि यदि किसी मनुष्य को सांसारिक भोगों के त्याग में ही आनन्द मिलता है और इससे यदि वह किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं करता है, तो उसे भोग के जीवन को स्वीकार करना ही चाहिये। त्याग का जीवन मनुष्य के आदर्श स्वत्व को भोग की अपेक्षा अधिक प्रदर्शित करता है। भगवान बुद्ध ने मध्यम मार्ग को नैतिक जीवन की कसौटी बनाया है और उन्होंने उसे ही सर्वोत्तम मार्ग बताया है। उनके इस कथन का इतना ही अर्थ है कि कोई भी मनुष्य अपने मन की अपरिपक्व अवस्था में सांसारिक जीवन और उसके भोगों का त्याग न करे। वह अपनी क्षमता के अनुसार ही किसी प्रकार के तप और त्याग का अभ्यास करे जिससे उसे इस प्रकार

ठीक मनुष्यों के प्रति ठीक उद्देश्य और ठीक तरह से प्रकाशित करना ही मध्यम मार्ग है, और यही सद्गुण लक्षण है।*

मध्यम मार्ग की परख—ऊपर मध्यम मार्ग के विषय में जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि मध्यम मार्ग को जान लेना सामान्य व्यक्ति के लिये इतना सरल काम नहीं है, जितना कि यह ऊपर से दिखाई देता है। पुरोहित किसान व्यापारी और सिपाही के मध्यम मार्ग भिन्न-भिन्न होने के कारण यह जानना बड़ा कठिन है कि किस व्यक्ति का मध्यम मार्ग क्या है? मध्यम मार्ग केवल मनुष्य के स्वभाव और कर्तव्य के अनुसार ही नहीं, बल्कि देश, काल और परिस्थिति के अनुसार भी बदलता रहता है। इससे उसकी खोज निकालना और भी कठिन होता है। ऐसी अवस्था में मध्यम मार्ग का निर्णय कैसे किया जाए?

इस प्रश्न के उत्तर में अरस्तू महाशय का कथन है कि मनुष्य को मध्यम मार्ग को खोजने के लिए समाज के विवेकशील लोगों के आचरण को देखना

---

* The golden mean of moral action is not to be thought of as midway of between two extremes. Its position in relation to the extreme will vary according to circumstances. More courage is requured of a soldier than of a shop keeper- the courage of the soldier will bear more resemblance than of the shopkeeper. Similarly the temperance of a priest or teacher ought to be some what closer to *in sensibility* while that of an artist or actor might permissively lean *a little* more to the side of licentiousness.

One can feel fear courage desire anger and pity as well as pleasure and pain generally either too much or too little, and in-either case wrongly but to have these *feelings* at the right time and on the right occasion and towards the *right persons* and with a right aim in view and in a right manner—this is *middle* way and the best, and this is the mark of virtue.

[illegible]

चाहिए और उनके परामर्श के अनुसार अपना आचरण बनाना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि हम समाज के किस व्यक्ति को विवेकी समझें और किसे न समझें? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति अपने आचरण में किसी प्रकार की एकान्तता को नहीं दर्शाता, वही विवेकी है। परन्तु यह उत्तर संतोषप्रद नहीं है, अतएव नैतिकता के निर्णय के लिए हमें पुनः आदर्शवाद की शरण लेनी पड़ती है।

समतावाद की देन—हमने ऊपर समतावाद के सिद्धान्त की मुख्य बातों को बतलाया है और आदर्शवाद से उसकी तुलना भी की है। समतावाद मनुष्य को आदर्श की ओर ले जाता है, अतएव आदर्शवाद के अभाव में समतावाद अर्थहीन हो जाता है। मनुष्य का जीवन तभी सार्थक होता है, जब वह केवल जीवन के सुख के उपभोग के लिये नहीं, वरन् आन्तरिक पूर्णता अर्थात् किसी प्रकार के आदर्श की प्राप्ति के लिये जीता है। किसी प्रकार के आदर्श की प्राप्ति की चेष्टा में कष्ट उठाना, इन्द्रिय-निग्रह करना नितान्त आवश्यक होता है। अतएव किसी प्रकार के नैतिक विचार सांसारिक सुख के जीवन को नैतिक जीवन सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिये समतावाद को भी आदर्शवाद की ओर जाना पड़ता है।

परन्तु समतावाद मनुष्य को आदर्श-प्राप्ति का सुगम मार्ग बतलाता है। यदि हम समतावाद को व्यावहारिक आदर्शवाद कहें, तो अतिशयोक्ति न होगी। जिन महात्माओं ने मध्यममार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा है और भोग तथा तप दोनों प्रकार के अतिक्रम को बुरा बताया है, उन्होंने यह कदापि नहीं कहा है कि यदि किसी मनुष्य को सांसारिक भोगों के त्याग में ही आनन्द मिलता है और इससे यदि वह किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं करता है, तो उसे भोग के जीवन को स्वीकार करना ही चाहिये। त्याग का जीवन मनुष्य के आदर्श स्वत्त्व को भोग की अपेक्षा अधिक प्रदर्शित करता है। भगवान बुद्ध ने मध्यम मार्ग को नैतिक जीवन की कसौटी बनाया है और उन्होंने उसे ही सर्वोत्तम मार्ग बताया है। उनके इस कथन का इतना ही अर्थ है कि कोई भी मनुष्य अपने मन की अपरिपक्व अवस्था में सांसारिक जीवन और उसके भोगों का त्याग न करे। वह अपनी क्षमता के अनुसार ही किसी प्रकार के तप और त्याग का अभ्यास करे जिससे उसे इस प्रकार

ठीक मनुष्यों के प्रति ठीक उद्देश्य और ठीक तरह से प्रकाशित करना ही मध्यम मार्ग है, और यही सद्गुण लक्षण है।*

मध्यम मार्ग की परख—ऊपर मध्यम मार्ग के विषय में जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि मध्यम मार्ग को जान लेना सामान्य व्यक्ति के लिये इतना सरल काम नहीं है, जितना कि वह ऊपर से दिखाई देता है। पुरोहित किसान, व्यापारी और सिपाही के मध्यम मार्ग भिन्न भिन्न होने के कारण यह जानना बड़ा कठिन है कि किस व्यक्ति का मध्यम मार्ग क्या है। मध्यम मार्ग केवल मनुष्य के स्वभाव और कर्तव्य के अनुसार ही नहीं बल्कि देश, काल और परिस्थिति के अनुसार भी बदलता रहता है। इससे उसको ठीक ठीक जानना और भी कठिन होता है। ऐसी अवस्था में मध्यम मार्ग का निर्णय कैसे किया जाए?

इस प्रश्न के उत्तर में अरस्तू महाशय का कथन है कि मनुष्य को मध्यम मार्ग को खोजने के लिए समाज के विवेकशील लोगों के आचरण को देखना

---

* The golden mean of moral action is not to be thought of as midway of between two extremes. Its position in relation to the extreme will vary according to circumstances. More courage is required of a soldier than of a shop keeper the courage of the soldier will bear more resemblance than of the shopkeeper Similarly the temperance of a priest or teacher oaght to be some what closer to in sensibility while that of an artist or actor might permissively lean a little more to the side of licentiousness

One can feel fear courage desire anger and pity as well as pleasure and pain generally either too much or too little, and in either case wrongly but to have these feelings at the right time and on the right occasion and towards the right persons and with a right aim in view and in a right manner—this is middle way and the best, and this is the mark of virtue.

Nichomachean Ethics Book 2nd Ch. 6th.

चाहिए और उनके परामर्श के अनुसार अपना आचरण बनाना चाहिए। अ ? प्रश्न यह है कि हम समाज के किस व्यक्ति को विवेकी समझें और किसे न समझें ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति अपने आचरण में किसी प्रकार की एकान्तता को नहीं दर्शाता, वही विवेकी है। परन्तु यह उत्तर संतोषप्रद नहीं है, अतएव नैतिकता के निर्णय के लिए हमें पुनः आदर्शवाद की शरण लेनी पड़ती है।

समतावाद की देन—हमने ऊपर समतावाद के सिद्धान्त की मुख्य बातों को बतलाया है और आदर्शवाद से उसकी तुलना भी की है। समतावाद मनुष्य को आदर्श की ओर ले जाता है, अतएव आदर्शवाद के अभाव में समतावाद अर्थहीन हो जाता है। मनुष्य का जीवन तभी सार्थक होता है, जब वह केवल जीवन के सुख के उपभोग के लिये नहीं, वरन् आन्तरिक पूर्णता अर्थात् किसी प्रकार के आदर्श की प्राप्ति के लिये जीता है। किसी प्रकार के आदर्श की प्राप्ति की चेष्टा में कष्ट उठाना, इन्द्रिय निग्रह करना नितान्त आवश्यक होता है। अतएव किसी प्रकार के नैतिक विचार सांसारिक सुख के जीवन को नैतिक जीवन सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिये समतावाद को भी आदर्शवाद की ओर जाना पड़ता है।

परन्तु समतावाद मनुष्य को आदर्श-प्राप्ति का सुगम मार्ग बतलाता है। यदि हम समतावाद को व्यावहारिक आदर्शवाद कहें, तो अतिशयोक्ति न होगी। जिन महात्माओं ने मध्यममार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा है और भोग तथा तप दोनों प्रकार के अतिक्रम को बुरा बताया है, उन्होंने यह कदापि नहीं कहा है कि यदि किसी मनुष्य को सांसारिक भोगों के त्याग में ही आनन्द मिलता है और इससे यदि वह किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं करता है, तो उसे भोग के जीवन को स्वीकार करना ही चाहिये। त्याग का जीवन मनुष्य के आदर्श स्वत्व को भोग की अपेक्षा अधिक प्रदर्शित करता है। भगवान बुद्ध ने मध्यम मार्ग को नैतिक जीवन की कसौटी बनाया है और उन्होंने उसे ही सर्वोत्तम मार्ग बताया है। उनके इस कथन का इतना ही अर्थ है कि कोई भी मनुष्य अपने मन की अपरिपक्व अवस्था में सांसारिक जीवन और उसके भोगों का त्याग न करे। वह अपनी क्षमता के अनुसार ही किसी प्रकार के तप और त्याग का अभ्यास करे जिससे उसे

के जीवन के प्रति विरक्ति उत्पन्न न हो। परन्तु जो लोग सांसारिक जीवन को समझ-बूझकर छोड़कर भिक्षु बन गये हैं, भगवान बुद्ध ने उन्हें पुनः गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करने का परामर्श नहीं दिया। उन्हें भिक्षु जीवन के कठोर नियमों के लिये प्रोत्साहित किया।

सत्पथ की खोज के लिये स्वयं भगवान बुद्ध ने महान् त्याग और तपस्या किये थे। जब कई वर्षों के सतत् परिश्रम के फलस्वरूप उन्होंने इस मार्ग को खोज लिया और इसे मध्यम मार्ग कहा, तो उन्होंने इन्द्रियों का अत्यधिक दमन करना छोड़ दिया किन्तु युवावस्था में होते हुए भी उन्होंने पुनः गार्हस्थ्य जीवन को स्वीकार नहीं किया। वे भिक्षु ही बने रहे। इससे यह स्पष्ट है कि मध्यम मार्ग केवल अत्यधिक तप और त्याग को उपादेय नहीं मानता है, परन्तु यह भोग के जीवन का समर्थक नहीं है। मध्यम मार्ग हमें विशेष आदर्शों की ओर ले जाता है। अतएव हम इसे आदर्शवाद का एक विशेष प्रकार का संस्करण कह सकते हैं। मध्यम मार्ग वास्तव में व्यावहारिक आदर्शवाद है।

प्रश्न

१ समत्ववाद के सिद्धान्त के मुख्य अंग क्या हैं? इस सम्बन्ध में अरस्तू महाशय के विचारों को स्पष्ट कीजिए।

२ अरस्तू महाशय के अनुसार नैतिक आचरण का लक्षण क्या है? उन्होंने सद्गुणी मनुष्य किसको कहा है? सद्गुण की प्राप्ति कैसे होती है?

३ समत्ववाद और आदर्शवाद की तुलना कीजिए। समत्ववाद के द्वारा मनुष्य की नैतिक प्रगति कैसे हो सकती है?

४ समत्ववाद में मध्यममार्ग की परख क्या है? यह मध्यममार्ग भिन्न भिन्न लोगों के लिये किस प्रकार बदलता है?

— — —

सोलहवाँ प्रकरण

मूल्यवाद[1]

मूल्य के मापदण्ड की विशेषता—मूल्य का मापदण्ड उस आचरण को भला आचरण मानता है, जो हमें किसी मूल्यवान पदार्थ की प्राप्ति की ओर ले जाता है। यह विचार बहुत पुराना विचार है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार निःश्रेय की प्राप्ति ही नैतिक आचरण का अन्तिम लक्ष्य है। निःश्रेय वह वस्तु है, जिससे अधिक मूल्यवान वस्तु और कुछ भी नहीं है। यह निश्रेय वस्तु क्या है? इसके विषय में भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं। परन्तु जो भी व्यक्ति मूल्य की प्राप्ति को नैतिकता का मापदण्ड मानता है, वह इतना तो अवश्य मानता है कि मूल्य कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है। यह वास्तविक जगत में रहनेवाला एक तत्त्व है। और इस तत्त्व को प्राप्त करना मनुष्य के पुरुषार्थ का सर्वोत्तम लक्ष्य है। इस माप-दण्ड के माननेवाले लोग किसी कार्य को न तो अपने आप में, भला और न बुरा ही समझते हैं। इसी प्रकार किसी विशेष नियम का पालन करना न बुरा, और न भला ही समझा जाता है। किसी कार्य की भलाई चतुराई इस बात पर निर्भर है कि उस अन्तिम मूल्य की प्राप्ति में वह मनुष्य की कहाँ तक सहायता करती है, जिसको प्राप्त करना उसके पुरुषार्थ का हेतु है। इसी प्रकार जो नियम हमें इस अन्तिम मूल्य की ओर ले जाते है, वही नियम हैं, और जो हमें इस मूल्य से वञ्चित करते हैं, वही नियम बुरे कहे जाएँगे।

मूल्य का अर्थ—जब "मूल्य" शब्द कहा जाता है, तब साधारतः हमारे मन में पैसे का ध्यान आ जाता है, और हम मूल्यवान वस्तु उस वस्तु को समझते हैं, जो मनुष्य की किसी-न-किसी इच्छा की तुष्टि करती है। इस तरह

---

1. Standard as value

हम रोटी या दिन भर के श्रम अथवा किसी मित्र के मूल्य की बात को समझते हैं। सभी वस्तुओं का मूल्य सभी लोग एक-सा नहीं लगाते। कुछ लोग किसी वस्तु का कम मूल्य करते हैं, और किसी का अधिक। इससे यह स्पष्ट है कि जो वस्तु उनमें किसी प्रकार का सन्तोष देती है, उसे प्राप्त करने में उन्हें आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार उस वस्तु की प्राप्ति से वे अपनी कमी को पूर्ण करते हैं।

मूल्यवान वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे जो मनुष्य को स्वयं सन्तोष दें जिनके प्राप्त करने से मनुष्य अपने आप में किसी प्रकार की कमी को पूरा होते हुए देखे और पूर्णता की अनुभूति करे, इन दो प्रकार की मूल्यवान वस्तुओं अथवा मूल्यों को दो भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता है। एक साधक मूल्य और दूसरा तात्विक मूल्य। कलम अथवा मकान में साधक मूल्य है और जीवन (जिसको कि पुष्ट करने के सब साधन हैं) साध्य मूल्य अथवा तात्विक मूल्य है। अब प्रश्न आता है कि संसार में ऐसी कौन-सी वस्तुएँ हैं, जो सच्चा तात्विक मूल्य रखती हैं।

काण्ट महाशय के कथनानुसार शुभ इच्छा ही तात्विक मूल्य रखनेवाली वस्तु है। संसार में जितनी दूसरी वस्तुएँ हैं, वे इस दृष्टि से मूल्यवान कही जा सकती हैं कि वे हमें इस अन्तिम मूल्य की ओर ले जाती हैं। शुभेच्छा और शुभ भावना के अतिरिक्त संसार में कोई दूसरी वस्तु तात्विक मूल्य नहीं रखती उसमें केवल साधन मूल्य हो सकता है। उदाहरणार्थ सुख को लीजिए। सुख में किसी प्रकार का मूल्य तभी रहता है, जब वह भली इच्छा की तृप्ति करता है। भली इच्छा अथवा भली भावना अपने आप में मूल्य रखती है और जिस वस्तु से उसका संसर्ग रहता है उसे भी मूल्यवान बना देती है।

सिजविक महाशय के कथनानुसार सुख ही वास्तव में मूल्यवान वस्तु है। उसी में तात्विक मूल्य है दूसरी सभी वस्तुओं में साधक मूल्य है। हम संसार की अन्य वस्तुओं को इसीलिए चाहते हैं कि वे हमारे सुख की वृद्धि कर दें। लोग घर बार, पैसा रुपया आदि और बाल-बच्चे इसीलिए चाहते हैं कि ये वस्तुएँ मनुष्य
न की वृद्धि करती हैं। सुख स्वयं मूल्य रखनेवाला पदार्थ है। दूसरे पदार्थ

सुख-प्राप्ति के साधन होने के कारण ही मूल्यवान हैं। कुछ दूसरे लोगों ने दूसरे ही पदार्थों को स्वत मूल्य रखनेवाला कहा है। किसी ने सौन्दर्य को तो किसी ने विवेक, प्रेम, सत्य, स्वतन्त्रता और जीवन आदि पदार्थों को तात्त्विक मूल्य रखनेवाले पदार्थ बताएँ हैं। इन विचारों से मूल्य शब्द का अर्थ निश्चित होता है। जिन वस्तुओं में तात्त्विक मूल्य होता है, वे अपने आप में मूल्य रखती हैं। वे किसी दूसरी मूल्यवान वस्तु की प्राप्ति में साधन मात्र नहीं होतीं।

जब हम मूल्य शब्द के अर्थ को निश्चित करते हैं, तो हमें दो बातों का पता चलता है—पहले तो यही कि प्रत्येक मूल्यवान वस्तु का प्राप्त करना मनुष्य को सतोष देता है, उसके मन में आनन्द उत्पन्न करता है, और उसकी प्राप्ति से उसे प्रसन्नता होती है। परन्तु इसका अर्थ यह न मान लेना चाहिए कि किसी वस्तु का मूल्य इसीलिए है क्योंकि वह सुख देती है, और सुख ही अन्तिम मूल्य की वस्तु है। मूल्यवान वस्तु के प्राप्त होने पर सुख अथवा प्रसन्नता होती है, इससे यह निष्कर्ष निकालना कि सुख ही तात्त्विक मूल्य की वस्तु है, युक्तिसगत नहीं है। किसी परीक्षार्थी को अपनी परीक्षा पास करने में सुख होता है और उसके मन में प्रसन्नता आती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुख की प्राप्ति करना ही परीक्षार्थी का अन्तिम उद्देश्य है, परीक्षा पास करना उसका साधन मात्र है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्णता विवेक युक्त विचार में ही चाहता है। जहाँ तक उसे यह पूर्णता प्राप्त होती है, वहाँतक वह सुखी होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य के प्रयत्न का लक्ष्य सुख प्राप्ति नहीं, वरन् पूर्णता की प्राप्ति है, और तात्त्विक मूल्य की वस्तु सुख नहीं, अपितु पूर्णता है। दूसरी बात उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह स्पष्ट होती है कि किसी व्यक्ति की प्रसन्नता पर ही किसी वस्तु का तात्त्विक मूल्य निर्भर नहीं करता। एक शराबी शराब पाकर खूब प्रसन्न होता है। यदि उसे आत्मोद्धार की एक पुस्तक दी जाए अथवा उसे कोई सुन्दर दृश्य दिखलाया जाय, तो उसे उतनी प्रसन्नता न होगी। इसका अर्थ कदापि यह न मान लेना चाहिये कि आत्मोद्धार अथवा सुन्दर दृश्य में शराब की अपेक्षा कम तात्त्विक मूल्य है। जब मूल्य शब्द का प्रयोग मानव-विचार मे किया जाता है, तो उसका अर्थ केवल मनुष्य के किसी समय सन्तोष देनेवाली वस्तु नहीं होता। ऐसी स्थिति में उस वस्तु को तात्त्विक दृष्टि से मूल्यवान् माना जाता है, जो मनुष्य की उस परिस्थिति में भली दिखलाई देती है,

जब कि उसका विवेक पूर्णता जाग्रत है। अतः इस तात्त्विक वस्तु की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि वह विवेकशील व्यक्ति की इच्छित वस्तु होती है। विवेक वैयक्तिक वस्तु नहीं बल्कि एक व्यापक भाव है। अतएव जिस वस्तु को एक विवेकशील व्यक्ति मूल्यवान मानता है, उसे सभी विवेकी पुरुष मूल्यवान मानते हैं।

मूल्यसे नैतिक भलाई एवं बुराई का भी सम्बन्ध है। मूल्य शब्द सापेक्षभाव को दर्शाता है। किसी वस्तु का अधिक मूल्य होता है और किसी का कम। इसी प्रकार कोई वस्तु कम अच्छी होती है और कोई अधिक। जिस प्रकार मूल्य के दो भेद होते हैं—अर्थात् साधक मूल्य और साध्य मूल्य उसी प्रकार अच्छाई (भलाई) दो प्रकार की होती है एक साधक अच्छाई और दूसरी साध्य अच्छाई। जब हम कहते हैं कि यह कलम अच्छी है, यह घर अच्छा है, तो हम साधक अच्छाई की ओर लक्ष्य रखते हैं। परन्तु जब हम कहते हैं कि हमको अपनी भलाई की बात सोचनी चाहिए तब हम साध्य भलाई अथवा तात्त्विक भलाई की ओर लक्ष्य रखते हैं। यह साध्य भलाई और साध्य मूल्य एक ही वस्तु है। जब किसी वस्तु को साधक-रूप में अच्छा समझा जाता है तब उसका अर्थ होता है कि यह किसी विशेष प्रयोजन के लिए अच्छी है। साध्य भलाई वह है, जिससे हमारे जीवन का अन्तिम प्रयोजन सिद्ध हो।

यह बतलाना अत्यन्त कठिन है कि यह अन्तिम भलाई क्या है? अन्तिम भलाई का बयान पूर्ण रूप से वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे यह भलाई प्राप्त हुई है। अतएव उसका ठीक ठीक वर्णन करना हमारे लिए अत्यन्त कठिन है। अन्तिम भलाई के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह एक ऐसा पदार्थ है जिसकी प्राप्ति से एक विवेकशील प्राणी को संतोष होता है। यह भलाई ठीक तरह से उसी व्यक्ति से जानी जा सकती है, जो पूर्णतः विवेकी में है। यह भलाई सभी की भलाई, अर्थात् सामान्य भलाई है। अतएव जब तक किसी व्यक्ति की दृष्टि सब सामान्य की दृष्टि नहीं हो जाती और जब तक वह अपना तादात्म्य सभी विवेकशील प्राणियों से नहीं कर लेता, तब तक वह इस भलाई को नहीं जान सकता।

अन्तिम भलाई और नैतिक भलाई—अन्तिम भलाई वह वस्तु है, जो

अपने आप मे भली है, जिसमें किसी के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार की भलाई की उपस्थिति की मान्यता नीति शास्त्र के लिये आवश्यक है। यदि ससार में कोई तात्विक भलाई न होती, तो मनुष्य का जीना ही व्यर्थ होता। किसी प्रकार के विचार अथवा आचरण के लिए अन्तिम भलाई की उपस्थिति में विश्वास अत्यन्त आवश्यक है।

परन्तु अन्तिम भलाई नैतिक भलाई नहीं है। अन्तिम भलाई वह वस्तु है, जो अपने आप मे भली है और जो विवेकशील व्यक्ति को पूर्ण सन्तोष देती है। ऐसी वस्तु का मिलना बड़ा ही कठिन है, क्योंकि ससार मे जितनी ही वस्तुएँ हैं। वे मनुष्य को पूर्ण सन्तोष नहीं देतीं। परन्तु ऐसी वस्तु की उपस्थिति मे अविश्वास भी नहीं किया जाता। नैतिक भलाई वह वस्तु है, जिसका साक्षात्कार करने के लिए मनुष्य स्वय प्रयत्न करता है। यह एक ऐसी भलाई है, जिसे मनुष्य स्वय बनाता है और जो मनुष्य के स्वतन्त्र चुनाव पर निर्भर है। अन्तिम भलाई पूर्णता की स्थिति है, जिसे मनुष्य अपने स्वतन्त्र विचार के द्वारा चुन कर प्राप्त करने की चेष्टा करता है। यदि मान लिया जाय कि ससार की सभी वस्तुएँ भली हैं और ससार की सभी परिस्थितियाँ अच्छी हैं, तो ऐसी स्थिति में नैतिक प्रयत्न के लिये कोई स्थान न रहेगा। फिर मनुष्य को मान लेना होगा कि जो कुछ होता है, सब भले के लिये होता है। ऐसी अवस्था में ससार में होने-वाली किसी घटना के प्रति उसे असतोष प्रगट न करना चाहिये। भारतवर्ष का वेदान्त-दर्शन मनुष्य को उसी ओर ले जाता है। बहुत से कवि भी ससार की ऐसी कल्पना करते है, जिसमे मनुष्य के प्रयत्न के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। वे सभी वस्तुओं को भली और कल्याणकारी देखते हैं।

नैतिकता का विचार जहाँ एक ओर अन्तिम भलाई अथवा पूर्णता की कल्पना करता है, वहाँ वह यह भी कल्पना करता है कि वर्तमान स्थिति सतोष-जनक नहीं है, उसमे बहुत सी कमियाँ हैं, जिन्हें हटाना हमारा कर्तव्य है। नैतिक प्रयत्न का ध्येय इन कमियों को नष्ट करना और ससार के सौन्दर्य को बढ़ाना है। हमको यह मान कर चलना पड़ता है कि मनुष्य के जीवन अथवा उसके ससार में पूर्णता नहीं है। तथा उसका ससार पूर्णतः सौन्दर्यमय नहीं है। मनुष्य के नैतिक जीवन का अर्थ यह है कि वह असुन्दर को छोड़कर सुन्दर पदार्थ को

मुनता है और उसको प्राप्त करने की चेष्टा करता है। पूर्ण भलाई एवं सौन्दर्य का नाम है और नैतिक भलाई वह है, जिसकी प्राप्ति में मनुष्य के स्वतंत्र चुनाव और प्रयत्न के लिये स्थान रहता है।

कांट महाशय के कथनानुसार संसार में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं, जो कि मनुष्य के चुनाव और उसके प्रयत्न के बिना भली हो। उनका कथन है कि मनुष्य की शुभ इच्छा ही एकमात्र भली वस्तु है। इस कथन से तात्पर्य यह निकलता है कि जो कुछ पदार्थ संसार में भला है वह केवल विचार और प्रयत्न पर निर्भर करता है, अर्थात् वास्तव में मनुष्य की भलाई चुनाव के विचार और उसके प्रयत्न की वस्तु है। परन्तु उसके कथन में यह बात नहीं है कि मनुष्य की शुभ इच्छा के अतिरिक्त कोई वस्तु भी है जो अपने आप में ही शुभ है। आदर्शवादी दार्शनिकों के अनुसार भलाई की स्वतंत्र स्थिति मानना आवश्यक है। केवल अपने प्रयत्न अथवा चुनाव मात्र को भला मानना प्रयत्न और चुनाव को ही अर्थहीन बना देना है। किसी वास्तविक भलाई के अभाव में चुनाव और प्रयत्न भले कैसे हो सकते हैं।

नैतिक भलाई और सामान्य भलाई

नैतिक भलाई सामान्य भलाई से भिन्न वस्तु है। जब हम कहते हैं कि यह गाय भली है या अच्छी है अथवा यह तस्वीर अच्छी है या यह गाना अच्छा है, तो उसका अर्थ इतना ही होता है कि ये वस्तुयें किसी व्यक्ति को कुछ संतोष देती हैं या उनकी कुछ कीमत है। परन्तु जब हम किसी बात को नैतिक दृष्टि से भली कहते हैं, तब हमारा अर्थ यह नहीं होता कि उनकी प्राप्ति से किसी व्यक्ति को सुख प्राप्त होता है। सांसारिक भली वस्तुएँ सुन्दर होती हैं। नैतिक भलाई चाहे वह सुन्दर हो अथवा सुन्दर अपने आप में भली होती है। उसके प्राप्त करने से विवेकशील व्यक्ति को संतोष होता है। यह सम्भव है कि जिन बातों को नैतिक दृष्टि से हम भली मानते हैं वे सुन्दर भी हों परन्तु उनका सुन्दर होना उनके भली होने का अधिक-से-अधिक एक लक्षण मात्र हो सकता है। परन्तु कभी-कभी नैतिक दृष्टि से भली समझी जानेवाली वस्तु मनुष्य को सुख न देकर अनेक प्रकार के कष्ट ही देती है। वह इन कष्टों को प्रसन्नता के साथ सहता है। अतएव जब किसी दम नैतिक दृष्टि से ठीक मानलें, अथवा जब किसी व्यक्ति के आचरण को

नैतिक दृष्टि से भला मान लें, तो हमें यह कदापि न सोचना चाहिये कि वह वस्तु अथवा वह आचरण केवल हमारे सुख को बढ़ानेवाला है।

भलाई[1] और उचित[2] में भेद

नैतिक विचार को ठीक तरह से चलाने के लिये यह आवश्यक है कि भलाई और औचित्य का भेद भले प्रकार से समझ लिया जाए। हम उचित कार्य उस कार्य को कहते हैं, जिसके द्वारा हम भलाई की प्राप्ति करते हैं। औचित्य और अनौचित्य साधन से सम्बन्ध रखते है, और भलाई तथा बुराई साध्य से। जब हम किसी कार्य को भला कहते है, तो हम उसका इतना ही अर्थ लेते है कि वह किसी भले लक्ष्य की प्राप्ति में साधक होता है। परन्तु हम अन्तिम भलाई को नहीं जानते, इसलिये किसी भी काम को पूर्णत' उचित भी नहीं कह सकते। जहा तक हम भलाई को जानते हैं, वहीं तक हम किसी काम को उचित कह सकते हैं। परन्तु हमारा व्यक्तिगत ज्ञान इस विषय में सब लोगों के ज्ञान से भिन्न हो सकता है, अतएव कभी कभी हम उस काम को उचित काम मानते हैं, जिसे दूसरे लोग भी उचित मानते हैं, पर कभी-कभी हमारा व्यक्तिगत मत दूसरे लोगों के मतों से भिन्न होता है। साधारणत. उचित काम उस काम को कहा जाता है, जो काम सभी लोगों के विचार से उचित समझा जाता है, अर्थात् जो काम उस समय में उपलब्ध ज्ञान के अनुसार सभी लोगों के द्वारा उचित समझा जाता है। सामान्य विचार भलाई की प्राप्ति में साधन होता है, परन्तु हम कभी-कभी किसी मनुष्य के ज्ञान के विशेष प्रकार की कमी अथवा उसकी विशेषता पर भी जोर देते है। इसके कारण जिस काम को दूसरे लोग उचित समझते हैं, उसे कोई विशेष व्यक्ति अनुचित समझ सकता है, और जिस काम को सर्वसाधारण अनुचित समझते हैं, उसको कोई व्यक्ति उचित समझ सकता है।

वैयक्तिक और वास्तविक औचित्य[3]

वैयक्तिक और वास्तविक औचित्य का अर्थ—व्यक्तिगत औचित्य उसे कहते हैं, जो काम करनेवाले व्यक्ति को काम करते समय ठीक जान पड़े, और वास्तविक औचित्य उसे कहते हैं, जो कि वास्तव में कल्याण अथवा भलाई की

1 Good. 2 Right. 3. Subjective and objective rightness,

प्राप्ति में साधक हो। ऊपर से देखने पर ये भेद बड़े स्पष्ट जान पड़ते हैं, परन्तु जब हम इन पर गहरा विचार करते हैं, तो इन दोनों प्रकार के औचित्यों में भेद करना बड़ा कठिन हो जाता है। फिर व्यक्तिगत दृष्टि से क्या उचित है, इसको मनुष्य स्वयं अपने आप नहीं जानता। वह ठीक से नहीं जानता कि जिस काम को वह कर रहा है वास्तव में वह उसके कल्याण के लिये है अथवा नहीं। इससे भी कठिन बात यह जानना होता है कि सारे संसार की दृष्टि में कौन-सा कार्य अच्छा है तथा जिस कार्य को करने का निश्चय किया गया है, वह संसार की भलाई का बढ़ावेगा अथवा नहीं। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत कल्याण के दृष्टिकोण से जिस कार्य को हम उचित समझते हैं, वह वैयक्तिक औचित्य कहा जाता है और संसार के कल्याण को दृष्टि में रखकर जिस काम को किया जाता है वह वास्तव में उचित कार्य है। अब हमें यह निश्चय करना है कि वैयक्तिक दृष्टि से उचित कार्य वास्तव में उचित होते हैं अथवा नहीं? दूसरे, क्या सभी कार्य वैयक्तिक दृष्टि से उचित होते हैं? और तीसरे क्या कार्य वास्तविक दृष्टि से उचित हैं? इन प्रश्नों पर विचार करने से हम नीति शास्त्र के बहुत से गम्भीर तथ्यों पर पहुँचते हैं।

क्या वैयक्तिक औचित्य और वास्तविक औचित्य एक ही हैं— प्रत्येक कार्य को हम तभी उचित समझ सकते हैं जब कि वह भलाई की ओर ले जावे। यह भलाई दो प्रकार की होती है। एक वह है जिसे स्वयं व्यक्ति भलाई समझता है और दूसरी वह जिसे सभी लोग भलाई समझते हैं। यहाँ यह न समझ लेना चाहिए कि जब कोई व्यक्ति किसी काम को उचित समझता है, तब वह सोचता है कि मेरी बुद्धि से एक बात भली है पर वास्तव में दूसरी बात भली है। यदि कोई व्यक्ति वास्तविक भलाई को अपनी व्यक्तिगत भलाई से भिन्न मानता है तो वह जो कार्य वैयक्तिक भलाई के लिये करता है, उसे किसी प्रकार से उचित कार्य नहीं माना जा सकता। उचित कार्य तो वही कार्य है जिसे व्यक्ति अपने विवेकानुसार समष्टिक भलाई के लिये करता है, केवल अपनी व्यक्तिगत भलाई के लिये नहीं।

अब प्रश्न आता है कि किसी विशेष मनुष्य के द्वारा समझी गई भलाई
[illegible] में भलाई होती है, जैसे जिस कार्य को व्यक्ति [illegible] के अनुसार

उचित जान कर करता है, क्या वह वास्तव में उचित होता है? भिन्न-भिन्न नीतिशास्त्रज्ञों ने इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं। आदर्शवादी नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार मनुष्य जो कार्य अपनी बुद्धि से भले प्रकार विचार करने के बाद उचित समझता है, वही वास्तव में भी उचित कार्य है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के कार्यों की भलाई और बुराई कार्य के बाहरी परिणामों से नहीं, वरन् उसके हेतुओं से मापी जानी चाहिये। इस मत के अनुसार किसी कार्य के भले अथवा बुरे परिणाम मनुष्य के हेतु पर निर्भर हैं। किसी कार्य का हेतु बुरा है, तो उसका परिणाम बुरा होता है और यदि किसी कार्य का हेतु अच्छा है, तो उसका परिणाम भी अच्छा होता है।

परन्तु इस विषय में हमारा व्यक्तिगत ज्ञान सब लोगों के ज्ञान से भिन्न हो सकता है। अतएव कभी-कभी हम उस काम को उचित मानते हैं, जिसे दूसरे लोग भी उचित मानते हैं और कभी-कभी हमारा व्यक्तिगत मत दूसरे लोगों के मत से भिन्न होता है। साधारण उचित काम उस काम को कहा जाता है, जो काम सभी लोगों के विचार में उचित समझा जाता है, अर्थात् जो काम उस समय में उपलब्ध ज्ञान के अनुसार सभी लोगों के द्वारा उचित समझा जाता है, अर्थात् भलाई की प्राप्ति में साधन होता है। परन्तु हम कभी कभी किसी मनुष्य के ज्ञान के विशेष प्रकार की कमी अथवा उसकी विशेषता पर भी ध्यान देते हैं। इसके कारण जिस काम को दूसरे लोग उचित समझते हैं, उसे कोई विशेष व्यक्ति अनुचित समझ सकता है और जिस काम को सर्व साधारण अनुचित समझते हैं, उसे कोई विशेष व्यक्ति उचित समझ सकता है।

व्यक्तिगत और वास्तविक औचित्य[1]

व्यक्तिगत औचित्य उसे कहते हैं, जो कि काम करने वाले व्यक्ति को काम करते समय ठीक जान पड़े, और वास्तविक औचित्य उसे कहते हैं, जो वास्तव में कल्याण अथवा भलाई की प्राप्ति में साधक हो। ऊपर से देखने में ये भेद बड़े स्पष्ट जान पड़ते हैं, परन्तु जब हम इन पर गहरा विचार करते हैं, तो इन दोनों प्रकार के औचित्यों में भेद करना बड़ा कठिन हो जाता है, फिर व्यक्तिगत दृष्टि से

1. Subjective and objective rightness.

क्या उचित है, इसको मनुष्य स्वयं अपने आप नहीं जानता। वह नहीं जानता कि जिस काम को वह कर रहा है, वास्तव में वह उसके कल्याण के लिये है अथवा नहीं। इस बात को जानना इससे भी कठिन होता है कि सारे संसार को दृष्टि में रखकर कौन-सा कार्य अच्छा है तथा जिस कार्य को करने का निश्चय किया गया है, वह संसार की भलाई को बढ़ायेगा अथवा नहीं। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत कल्याण के दृष्टिकोण से जिस कार्य को हम उचित समझते हैं उसे व्यक्तिगत औचित्य कह सकते हैं और संसार के कल्याण को दृष्टि में रखकर जिस काम को किया जाता है, वह वास्तव में उचित कार्य है।

अब हमें यह निश्चय करना है कि क्या वैयक्तिक दृष्टि से उचित कार्य वास्तव में उचित होते हैं अथवा नहीं। दूसरे क्या सभी कार्य व्यक्ति-गत दृष्टि से उचित होते हैं। और तीसरे क्या सभी कार्य वास्तविक दृष्टि से उचित हैं। इन प्रश्नों पर विचार करने से नीतिशास्त्र के बहुत से गंभीर तत्वों पर हम पहुँचते हैं।

क्या व्यक्तिगत औचित्य और वास्तविक औचित्य एक हैं।— प्रत्येक काम को हम तभी उचित समझ सकते हैं जब कि वह भलाई की ओर हमें ले जावे। यह भलाई दो प्रकार की होती है। एक वह है जिसे स्वयं व्यक्ति भलाई समझता है, और दूसरी वह जिसे सभी लोग भलाई समझते हैं। यहाँ भ्रम न समझ बैठना चाहिये कि जब व्यक्ति किसी कार्य को उचित समझता है, तब वह यह सोचता है कि मेरी बुद्धि से एक बात भली है, पर वास्तव में दूसरी बात भली है। यदि कोई व्यक्ति वास्तविक भलाई को अपनी व्यक्तिगत भलाई से भिन्न मानता हो, तो वह जो कार्य वैयक्तिक भलाई के लिये करता है उसे किसी प्रकार से उचित कार्य नहीं माना जा सकता। उचित कार्य तो वही कार्य है, जिसे व्यक्ति अपनी समझ में जो कुछ वास्तविक भलाई है उसकी प्राप्ति के लिये ही करे, केवल अपने व्यक्तिगत हित के लिये नहीं।

अब प्रश्न आता है कि किसी विशेष मनुष्य के द्वारा समझी गई भलाई वास्तव में भलाई होती है और जिस कार्य को कोई व्यक्ति अपनी समझ के अनुसार उचित जान कर करता है वह क्या वास्तव में भी उचित होता है। भिन्न भिन्न नीतिशास्त्रज्ञों ने इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं।

आदर्शवादी नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार मनुष्य जो कार्य अपनी बुद्धि से भले

प्रकार सोचकर उचित समझता है, वही वास्तव में भी उचित कार्य है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के कार्यों की भलाई और बुराई के माप कार्य को बाहरी परिणामों से नहीं, वरन् उनके हेतुओं से मापा जाना चाहिये। इस मत के कथनानुसार किसी कार्य के भले अथवा बुरे परिणाम मनुष्य के हेतु पर निर्भर करते हैं। यदि किसी कार्य का हेतु बुरा है तो उसका परिणाम भी बुरा होता है, और यदि किसी कार्य का हेतु अच्छा है, तो उसका परिणाम भी अच्छा होता है।

परन्तु, उक्त आदर्शवादी सिद्धान्त व्यावहारिक जगत मे ठीक नहीं उतरता। कभी-कभी किसी कार्य को करने में मनुष्य का हेतु सर्वोत्तम होता है, वह ससार के कल्याण के लिये ही कोई विशेष कार्य करता है, परन्तु अपना हेतु भला रखकर भी वह कभी भी बाहरी बुरे परिणाम पर पहुँच सकता है। मान लीजिए, हम किसी रोगी की सेवा कर रहे हैं। वह रोगी एक बन्द कमरे में है। उसे हम स्वच्छ वायु देने के लिए एक खुले कमरे में रखते हैं। इस कमरे मे उसे शीत लग जाती है, और इसके कारण उसे निमोनिया हो जाता है, जिसके कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ पर हमने अपने विचार से उचित कार्य ही किया, हमारा हेतु भला था, परन्तु परिणाम बुरा हो गया। अब क्या हम हेतु की भलाई के कारण इस परिणाम को भी भला परिणाम कहेंगे? किसी हेतु का परिणाम भला हो इसके लिये हेतु की पवित्रता मात्र ही अपेक्षित नहीं है। हेतु की पवित्रता के साथ वातावरण की अनुकूलता और उचित ज्ञान का होना आवश्यक है। इन दो के अभाव मे भले हेतु से किये गये कार्य भी कभी-कभी अशुभ परिणाम उत्पन्न कर देते हैं। काण्ट महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि 'कभी-कभी हमारे भले लक्ष्य की प्राप्ति में प्रकृति सौतेली माँ के समान कार्य करती है।" अपने ज्ञान की कमी भी हमें अपने भले लक्ष्य को प्राप्त करने में बाधा डाल देती है। इस तरह व्यक्तिगत दृष्टि से किए गए उचित कार्य भी कभी-कभी वास्तव में अनुचित सिद्ध हो जाते हैं।

क्या सभी कार्य व्यक्तिगत दृष्टि से सही होते हैं?—कुछ दार्शनिकों का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य वही कार्य करता है, जो उसे ठीक प्रतीत होता है। इस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से उचित कार्य ही करता है। चोर चोरी इसीलिए करता है, क्योंकि वह उसे उचित समझता है। शराबी शराब

इसी लिये पीता है, क्योंकि वह उसे उचित समझता है। इसी प्रकार दूसरों को पीड़ा और त्रास देनेवाले इन कार्यों को अपने मन में उचित सिद्ध करके ही करते हैं। यदि ये लोग जान लें कि ये कार्य वास्तव में उचित नहीं हैं अथवा वे उन्हें कल्याण की ओर नहीं ले जाते, तो वे ऐसे कार्य कभी न करेंगे। कोई भी मनुष्य स्वेच्छा से अपने कल्याण को नहीं खोना चाहता, अथवा कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा से अर्थात् जानबूझकर बुरा नहीं होता। जब कभी कोई व्यक्ति बुरा समझा जानेवाला काम करता है, तो इसमें दोष उसके अज्ञान का होता है। यदि उसे वास्तव में क्या भला है और क्या बुरा है, इसका ठीक ठीक ज्ञान हो जाये, तो वह भलाई को छोड़ कर बुराई की ओर कभी न जायगा। यह विचार महात्मा सुकरात का है और वे इसी विचार के आधार पर कहा करते थे कि ज्ञान ही सद्गुण है।

महात्मा सुकरात के उक्त कथन में बहुत कुछ सत्यता है। कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा से अपना अकल्याण नहीं चाहता अर्थात् वह बुराई को नहीं करना चाहता। साधारणतः वह किसी बुरी बात को इसीलिये करता है, क्योंकि वह जानता है कि इसमें उसका व्यक्तिगत हित है, और उसके स्वार्थ की सिद्धि होती है। वह दूसरे के लाभ अथवा हानि को भूल जाता है। उसका व्यक्तिगत स्वार्थ उसकी आँखों पर पर्दा डाल देता है। इस पर्दे के हटाये बिना वह अपनी भलाई अथवा कल्याण को कभी नहीं पहचान सकता। मनुष्य की वास्तविक भलाई वही है, जिसे उसका विवेक भला कहे। पर विवेक सर्व सामान्य अर्थात् व्यापक वस्तु है। विवेक मनुष्य को उसी वस्तु को व्यक्तिगत दृष्टि से भली बताता है, जो सभी के लिए भला है। इस तरह मनुष्य जब कभी कोई बुरा या अनुचित कार्य करता है, तो वह अपने विवेक के प्रतिकूल कार्य करता है। कभी कभी मनुष्य का विवेक यह बतलाता है उसके लिये क्या भला है पर मनुष्य उस भले की प्राप्ति के लिये अपने आप में प्रेरणा नहीं पाता। इसी प्रकार मनुष्य का विवेक उसे वास्तविक बुराई जिससे कि उसकी भी हानि होती है का ज्ञान कराता है। परन्तु वह अपने आपको इस बुराई से रोक नहीं सकता। इस मानसिक स्थिति की अनुभूति हमें अपने प्रतिदिन के अनुभव में होती रहती है। विरला ही मनुष्य इस दैवासुर संग्राम से मुक्त होता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि हमारे सभी कार्य व्यक्तिगत दृष्टि से उचित नहीं होते। हम बहुत से ऐसे कार्य भी कर बैठते हैं, जिन्हें हम स्वयं अनुचित समझते हैं। ऐसे ही कार्यों के लिये हमें आत्म-भर्त्सना और पश्चाताप होते हैं।

व्यक्तिगत उचित कार्य से हमें कदापि यह न समझ बैठना चाहिये कि वह हमारे व्यक्तिगत स्वार्थ का ही पोषण करता है और उसमें वास्तविक लोक-कल्याण का ध्यान नहीं रहता। यदि ऐसा कोई कार्य हम करते हैं, जिसके करने में लोक-कल्याण का अथवा समष्टि की भलाई का ध्यान हम नहीं रखते और केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के पोषण का ध्यान रखते हैं, तो वह कार्य नैतिक कार्य है ही नहीं। ऐसे कार्य को किसी भी दृष्टि से उचित कार्य नहीं कहा जा सकता। अतएव व्यक्तिगत उचित कार्य का भेद वास्तविक औचित्य से इसी दृष्टि से किया जा सकता है कि हम कहाँ तक अपने नैतिक विचार में स्वार्थ से परे जा सकते हैं, और अपने आप का व्यापक नैतिकभाव से एकत्व कहाँ तक कर सकते हैं, अर्थात् उसी बात को हम उचित सोच सकते हैं, जिसे कोई भी विवेकशील पुरुष उचित समझेगा।

क्या वास्तविकता के अनुसार सभी कार्य अपने आप में उचित होते हैं?—कितने ही दार्शनिकों का विचार है कि जो कुछ होता है, सब भले के लिये ही होता है। इमर्शन महाशय का कथन है कि दार्शनिक, कवि और संत के लिये सभी वस्तुएँ पवित्र हैं, सभी घटनाएँ भली, सभी दिन शुभ और सभी मनुष्य दैवी होते हैं।* जो व्यक्ति इन विचारों से पूरित हैं, उनके लिये कर्त्तव्य जैसी कोई वस्तु नहीं रह जाती। जब सभी घटनाएँ भली हैं, तो हमारे सभी काम भले काम ही हैं, वे किसी-न-किसी प्रकार संसार का कल्याण ही करेंगे। जब हमारा दृष्टिकोण ऐसा हो जाता है, तब फिर नैतिक प्रयत्न के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। मनुष्य नैतिक प्रयत्न करने वाला प्राणी है। वह विश्वास करता है कि सभी घटनाएँ भली नहीं हैं—कुछ भली हैं, और कुछ

---

*To the philosopher, to the poet and to the saint all things are friendly and sacred, all events profitable, all days holy, and all men divine,—"Essays of Emerson."

३ भलाई और उचित में क्या भेद है ? अन्तिम भलाई को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

४ यह कहना कहाँ तक सत्य है कि जो वैयक्तिक दृष्टि से उचित है वह वास्तविक-दृष्टि से भी उचित है ? दोनों प्रकार के उचितों के भेद और उनकी अन्तिम एकता को स्पष्ट कीजिए।

५. क्या सभी कार्य वैयक्तिक दृष्टि से सही होते हैं ? इस विचार पर नीतिशास्त्र के विभिन्न विद्वानों के मतों को बतलाइये।

६ क्या सभी कार्य अपने आप में वास्तविकता के अनुसार उचित होते हैं ? 'जो कुछ होता है वह भले के लिये होता है'—इस विचार की समालोचना कीजिए।

७ भलाई और बुराई के परे की स्थिति क्या है ? इस स्थिति की प्राप्ति में नैतिक आचरण का क्या स्थान है ?

सत्रहवाँ प्रकरण

नैतिक संस्थाएँ[1]

नैतिक संस्थाओं की उपयोगिता—मनुष्य के नैतिक विचारों को स्थायी बनाने के लिये नैतिक संस्थाओं की आवश्यकता होती है। जो कार्य मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में नैतिक विचार करते हैं, वही कार्य नैतिक संस्थाएँ समाज में करती हैं। नैतिक संस्थाएँ समाज को उस आदर्श की ओर ले जाती हैं, जिससे उसका कल्याण होता है। प्रत्येक समाज में अपने आप को ऊँचा बनाने की भावना होती है। यह ऊँचा बनाने की भावना नैतिक संस्थाओं का रूप धारण कर लेती है। फिर नैतिक संस्थाएँ सामाजिक संस्थाओं का रूप धारण कर लेती हैं।

नैतिक संस्थाओं और सामाजिक संस्थाओं में मुख्य भेद—दोनों संस्थाओं में भेद यह है कि जहाँ नैतिक संस्थाओं का विस्तार मनुष्य के विचारों में रहता है, वहाँ सामाजिक संस्थाओं का विस्तार बाहरी संगठन में रहता है। नैतिक संस्थाएँ न्याय, कानून, जनमत, मनुष्य के अधिकार और उसके कर्तव्य का रूप धारण करती हैं, और सामाजिक संस्थाएँ परिवार, कार्यालय, संघ, सम्मेलन, धर्म-संघ, राज्य और मित्रता का रूप धारण करती हैं। इन नैतिक और सामाजिक संस्थाओं के द्वारा मनुष्य में नैतिकता के भाव स्थिर होते हैं। प्रत्येक मनुष्य में कर्त्तव्य करने के लिये आन्तरिक प्रेरणा होती है, उसे यह प्रेरणा नैतिक तथा सामाजिक संस्थाएँ भी देती हैं। किसी समाज के व्यक्तियों का नैतिक विकास जैसा होता है, उस समाज की नैतिक और सामाजिक संस्थाएँ भी वैसी ही होती हैं। नैतिकता एक व्यापक अर्थात् सर्व-मान्य भाव है। किसी के व्यक्तिगत विचार को नैतिक विचार नहीं कहा

---

1 Moral institutions

जा सकता। उसके उसी विचार को नैतिक कहा जा सकता है, जिसमें वह समाज के दूसरे विवेकशील लोगों के विचारों का ध्यान रखता है। समाज के सभी विवेकशील व्यक्तियों के विचार ही नैतिक संस्थाओं का रूप धारण करते हैं। थोड़े में नैतिक संस्थाएँ समाज की साधारण संस्थाओं में आ जाती हैं। अतएव जब कोई व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को त्याग कर अथवा अपने व्यक्तिगत विचार को बदल कर किसी संस्था के नियम का पालन करता है, तो वह अपने व्यापक स्वत्व के नियम को ही मानता है। व्यापक स्वत्व की आज्ञा को मानना मनुष्य की नैतिकता के विकास को दर्शाता है। समाज की जो संस्थाएँ सही समझी जाती हैं, उनके अनुसार अपना आचरण बनाना अपने नैतिक जीवन को विकसित करना है।

सामाजिक संस्थाओं की नैतिकता—मनुष्य जहाँ रहता है वहाँ समाज बना कर ही रहता है। दूसरे प्राणी भी समाज में ही रहते हैं। किन्तु मनुष्य-समाज और अन्य प्राणियों के समाज में कुछ मौलिक भेद हैं। दूसरे प्राणियों का समाज का निर्माण प्रकृति ही करती है, पर मानव समाज का निर्माण मनुष्य स्वयं करता है। मनुष्य को अपनी बुद्धि से काम लेना पड़ता है। यह समाज मनुष्य के नैतिक विचार के ऊपर आधारित रहता है। अतएव किसी सामाजिक संस्था की आज्ञा मानना अपने नैतिक स्वत्व की आज्ञा मानना है। कभी-कभी मनुष्य के व्यक्तिगत नैतिक विचारों और सामाजिक नैतिक संस्थाओं अथवा सामाजिक संस्थाओं के नैतिक विचारों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था में कभी-कभी व्यक्ति के नैतिक विचार ऊँचे स्तर के होते हैं और कभी समाज के। जब कोई सामाजिक संस्था अनैतिक हो जाती है, तब उसकी क्रियाएँ संकीर्णतापूर्ण और विवेकहीन हो जाती हैं अर्थात् वह संस्था इस बात का विचार नहीं रखती कि दूसरी जगह अथवा दूसरे देश के लोग उसके कार्यों की कैसी आलोचना करेंगे। ऐसी संस्था का सुधार करने में कभी-कभी प्रबल नैतिक बुद्धि वाला व्यक्ति समर्थ होता है।

सामान्यतः साधारण व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण किसी सामाजिक संस्था के नियम के प्रतिकूल जाता है। चोरी, [illegible]चार आदि कार्य सामाजिक संस्थाओं के प्रतिकूल हैं। ऐसे कार्यों को कर[illegible]

है कि मैं समाज के व्यर्थ के बन्धनों को तोड रहा हूँ परन्तु इस प्रकार बन्धन-तोडने के प्रयास से उसे अपने उच्चतर स्वत्व की प्राप्ति नहीं होती। वह आत्म-भर्त्सना की अनुभूति करता है। जिस काम के लिये मनुष्य बाहरी दंड के अभाव मे आत्म-भर्त्सना की अनुभूति करता है, उसी काम के लिये समाज व्यक्ति को दंड देता है। इस प्रकार के दंड से व्यक्ति का नैतिक उत्थान होता।

सामाज में न्याय—न्याय सामाज की एक नैतिक संस्था है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह जिस समाज में रहता है उसमे न्याय की परम्परा हो। जहाँ "जिसकी लाठी उसकी भैंस" को परम्परा होती है, वहाँ मनुष्य अपने आध्यात्मिक जीवन का विकास भले प्रकार नहीं कर सकता। हमारे वर्तमान पूँजी-वादी समाज में सामाजिक न्याय की संस्था का प्रायः लोप-सा हो गया है। सामाजिक न्याय का लक्षण यह है कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-विकास की अधिक-से-अधिक सुविधा मिले। वर्तमान समाज में सभी शक्ति संसार के मुठ्ठी भर लोगो के हाथ में रहती है। मानव-जीवन को भौतिक सुख देनेवाले सभी पदार्थ उनके ही अधिकार में रहते है। सामान्य जनता को वे सुविधाएँ नहीं प्राप्त होतीं, जिनसे वे अपनी बौद्धिक या आध्यात्मिक उन्नति कर सकें। पूँजीवाद समाज में नब्बे प्रतिशत लोग गुलामों का जीवन व्यतीत करते रहते हैं। वे दिन भर परिश्रम करके भी पेट भर भोजन नहीं पाते। यह समाज की नैतिक परम्परा को स्थिति के प्रतिकूल है। जब सामाजिक शक्ति निकर्म्मे और आलसी लोगों के हाथों में रहती है, और जब परिश्रमी तथा योग्य व्यक्ति चारों ओर से दबाये और दास-रूप में रक्खे जाते है, तो समाज मे अन्याय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। समाज के विवेकशील लोग फिर इस प्रकार की स्थिति का अन्त करने की चेष्टा करते हैं। इसके कारण उन्हें अधिकार-सम्पन्न लोगों से अनेक प्रकार की ताडनाएँ मिलती हैं। पर समाज मे न्याय लाने के लिये और उसकी परम्परा को स्थायी रखने के लिये यह आवश्यक ही होता है। जो लोग समाज मे न्याय की परम्परा को स्थापित करने के लिये कष्ट सहते अथवा अपने प्राण खोते हैं, वे ही समाज के आदर्श व्यक्ति होते हैं। प्रत्येक समाज को हर समय ऐसे लोगों की आवश्यकता रहती है।

कानून और लोकमत—समाज में नैतिकता की रक्षा के लिये कानून और लोक मत की आवश्यकता होती है। जब समाज के लोग सुशिक्षित होते हैं, तो कानून की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती, जितनी कि अशिक्षित समाज में होती है। अशिक्षित समाज में पहले पहल किसी बुराई को कानून द्वारा ही रोका जा सकता है। फिर शिक्षा के द्वारा उस कानून की उपयोगिता लोगों को दिखाई जा सकती है। जब कानून से किसी बुराई का रोक हो जाता है, और जब कोई नई परम्परा चल जाती है, तब लोकमत उसके अनुकूल हो जाता है। फिर सामाजिक अभ्यास के कारण यह परम्परा सामाजिक संस्था का रूप धारण कर लेती है। उस समय कानून की आवश्यकता नहीं रह जाती। मनुष्य के आचरण को नैतिक बनाने के लिये जिस समाज में कानून की जितनी कम आवश्यकता है, नैतिक दृष्टि से वह समाज उतना ही ऊँचा है। कभी-कभी राज्य कोई विशेष नियम बना देता है, परन्तु लोकमत उसके अनुकूल न होने के कारण उस नियम की अवहेलना भी होती है। इसके कारण बहुत लोगों को दंड भी भोगना पड़ता है। ऐसी अवस्था में यह नियम समाज के लिये सुखकर न होकर दुःखकर बन जाता है। अतएव समाज-सुधार के किसी भी कानून के निर्माण के पूर्व और उसके पश्चात् लोकमत को उसके अनुकूल बनाना अत्यन्त आवश्यक है। स्वयं नियम का निर्माण भी इस अनुकूलता को प्राप्त करने का एक साधन है। जो बातें पहले लोग भय के कारण करते हैं वे ही बातें वे पीछे आदत के कारण करने लगते हैं; और अन्त में उन्हें कल्याणकारी समझ स्वतन्त्र इच्छा से भी उसका पालन करने लगते हैं। पहले नियम आता है फिर आदत आती है और अन्त में सद्गुण आता है। इस प्रकार समाज के नैतिक विकास के लिये नियम और लोकमत दोनों ही आवश्यक हैं।

अधिकार और कर्तव्य—लोकमत मनुष्य के अधिकार और कर्तव्य को निश्चित करता है। अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे के सापेक्ष हैं। प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य की उत्पत्ति होती है। यह कर्तव्य दो कारणों से आता है। प्रथम तो इसलिए कि यदि किसी मनुष्य को कोई अधिकार है तो दूसरे मनुष्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उस अधिकार को उस के लिये रहने दे, छीने नहीं। दूसरे अधिकार के साथ कर्तव्य का सम्बन्ध इस कारण से भी है कि

नैतिक दृष्टि से प्रत्येक अधिकार का उपयोग हम तभी कर सकते हैं, जब कि हम उस अधिकार को समाज के कल्याण के काम में लाएँ।

मनुष्य के अधिकार को जानना सरल होता है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष रहता है, परन्तु उसके कर्त्तव्य को जानना कठिन होता है, क्योंकि वह अप्रत्यक्ष होता है। अधिकारों को मनुष्य कानून के द्वारा प्राप्त कर लेता है, परन्तु कानून उसे अपने कर्त्तव्य के लिए बाध्य करने में इतना सफल नहीं होता। परन्तु जिस व्यक्ति की नैतिक बुद्धि जाग्रत है, वह अपने कर्त्तव्य को वैसे ही स्पष्ट देखता है, जैसे वह अपने अधिकार को देखता है। अपने कर्त्तव्य से गिरने पर मनुष्य कानून द्वारा दंडित नहीं होता, परन्तु मनुष्य की नैतिक बुद्धि अथवा आत्मा कर्त्तव्य च्युत होने पर उसे अवश्य दंड देती है। मनुष्य को अपनी प्रत्येक वस्तु को समाज की भलाई के लिए काम में लाना चाहिए। कानून की दृष्टि से वह अपनी कहलानेवाली वस्तु को इच्छानुसार काम में ला सकता है, किन्तु नैतिक दृष्टि से वह अपनी किसी भी वस्तु को इस प्रकार काम में नहीं ला सकता है। उसे सभी वस्तुओं का उपयोग सभी के कल्याण के लिए करना चाहिए। मनुष्य को कोई भी ऐसा अधिकार नहीं है, जिसे वह नैतिक दृष्टि से लोक-कल्याण के अतिरिक्त किसी दूसरी दृष्टि से रख सकता है। वास्तव में अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए मनुष्य को कोई अधिकार नहीं है। वह समाज का अङ्ग है और वह उसी अधिकार को अपना अधिकार कह सकता है, जिसे वह सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए काम में लाता है। अब हमें देखना है कि मनुष्य के अधिकार कौन-कौन से हैं?

मनुष्य के अधिकार

जीवन का अधिकार—जीवित रहने का अधिकार मनुष्य का प्रथम अधिकार है। मनुष्य के लिए किसी प्रकार की भलाई तभी हो सकती है, जब वह जीवित रहे। उसका नैतिक आदर्श वैयक्तिक है, अर्थात् यह आदर्श उसे आत्म-साक्षात् करने की प्रेरणा देता है। कभी-कभी मनुष्य को अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति के लिए अपने जीवन का बलिदान भी देना पड़ता है। मनुष्य के आदर्श स्वत्व में समाज की भलाई निहित है। अतएव समाज की भलाई के लिए जब कभी मनुष्य अपने प्राणों की आहुति दे देता है। तो वह अपने नैतिक अधिकार का

उत्तम उपयोग करता है। परन्तु समाज के लिए अपने प्राणों की आहुति देने की आवश्यकता बहुत कम पड़ती है। साधारणतः प्रत्येक मनुष्य को आत्म साक्षात्कार के लिये जीवित रहने की आवश्यकता होती है, अतएव यह आवश्यक है कि जीवन-रक्षा के अधिकार को एक मुख्य नैतिक अधिकार माना जाए।

कुछ बर्बर जाति के लोगों में इस अधिकार को प्रधानता नहीं दी जाती। इसलिए कभी-कभी छोटे बच्चों को देवी-देवताओं की मनौतियों पर चढ़ा दिया जाता है। लड़ाई समाप्त होने पर विजेता विजित लोगों की हत्या कर देता है। लड़ाई की अवस्था में तो समाज के साधारण लोगों की जान की भी परवाह नहीं की जाती। वे कीड़े-मकोड़े की तरह मारे जाते हैं परन्तु यह स्थिति एक असाधारण स्थिति है। इस स्थिति को समाज की नैतिक स्थिति नहीं कहा जा सकता है। जिस समाज में बार बार लड़ाइयाँ होती रहती हैं, वह समाज सभ्य समाज नहीं कहा जा सकता।

जीवित रहने के अधिकार की सार्थकता तभी है जब मनुष्य को वे साधन भी मिलें जिनसे वह अपने प्राणों की रक्षा कर सकता है। जो राज्य समाज के सामान्य लोगों की रोजी के विषय में उचित प्रबन्ध नहीं करता और उन्हें बेकारी से भूखों मरने देता है, वह इन भूखों मरनेवालों के जीवन के अधिकार को छीनता है। पूँजीवादी समाज में प्रायः यही होता है। इस तरह जीवित रहने के अधिकार के साथ-साथ रोजी प्राप्त करने का अधिकार भी आ जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रत्येक प्रकार का अधिकार अपना सहयोगी कर्तव्य भी लाता है। यदि किसी मनुष्य को स्वयं जीवित रहने का अधिकार है तो उसका यह भी कर्तव्य है कि वह दूसरे लोगों के जीवन की कीमत करे। जिस प्रकार वह अपने जीवन को मूल्यवान समझता है उसी प्रकार दूसरे के जीवन को भी मूल्यवान माने। जो व्यक्ति दूसरे के जीवन के अधिकार की कीमत नहीं करता और किसी की जान ले लेता है, वह अपने जीवित रहने का अधिकार भी खो देता है। इस प्रकार हत्यारे को फाँसी देना कानूनी और नैतिक दोनों दृष्टियों से उचित समझा जाता है।

स्वतंत्रता का अधिकार—जीवित रहने का अधिकार प्रथम अधिकार है, और दूसरा अधिकार मनुष्य की स्वतंत्रता का अधिकार है। मनुष्य के नैतिक

आदर्श की प्राप्ति उसके स्वतत्र इच्छा-शक्ति पर निर्भर है, अतएव अपनी इस आदर्श-प्राप्ति के लिये उसे अपनी इच्छा-शक्ति को स्वतन्त्र रूप से कम में लाने का अधिकार होना चाहिये। अविकसित समाज में इस अधिकार के ऊपर ध्यान नहीं दिया जाता है। पुराने समय में गुलाम लोग अपने मालिक के लिये जीवन भर काम करते रहते थे। गुलामों के मालिक अपने इच्छानुसार उन्हें जहाँ कहीं भी अथवा जिस किसी के हाथ बेंच देते थे। गुलामों के मालिक उनके साथ वैसा ही व्यवहार करते थे, जैसे हम लोग पशुओं के साथ करते है। गुलामों की स्वतत्र इच्छा-शक्ति का कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता था। आधुनिक काल में पुरानी गुलाम-प्रथा का अन्त तो हो गया, परन्तु अब एक नये प्रकार की गुलामी की सस्था की स्थापना हो गई है। इस गुलामी में मनुष्य को अपनी इच्छा-शक्ति से काम लेने का अवकाश ही नहीं दिया जाता। वह अपने मालिक के लिये मशीन के पुर्जों के समान सदा कार्य-रत रहता है। पूँजीपतियों के कारखानों मे काम करनेवालों की यही दशा है।

यह बात सत्य है कि किसी भी सभ्य समाज में किसी मनुष्य को सम्पूर्ण स्वतत्रता नहीं दी जा सकती। ऐसी स्वतन्त्रता न तो सम्भव है, और न नैतिक दृष्टि से उचित ही है। मनुष्य को उतनी ही दूर तक स्वतन्त्रता दी जा सकती है, जहाँ तक वह समाज-व्यवस्था को किसी प्रकार का विघ्न पहुँचाए बिना ही आत्मविकास का कार्य कर सके। मनुष्य का आत्मविकास तभी होता है, जब वह समाज के लिये हानिकारक कार्य न करके उसके विकास के लिये कार्य करता है।

स्वतत्रता के अधिकार के साथ-साथ स्वतन्त्रता के कर्त्तव्य भी आते है। मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग विवेकयुक्त कार्य में करना चाहिए। इससे उसे आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। वही मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता का सदुपयोग कर सकता है, जो विद्वान् और भला है। साधारण लोग स्वतन्त्रता का अर्थ स्वछन्दता मान बैठते है। जब तक समाज के लोगों को अपनी स्वतत्रता का सदुपयोग करना नहीं आता, तब तक वास्तविक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। अतएव जैसे-जैसे मनुष्यों मे ज्ञान की वृद्धि होती है और उनके आचरणों में पवित्रता आती है, वैसे-वैसे उनकी स्वतन्त्रता के अधिकार की वृद्धि भी होती है। इस तरह

हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता कोई खरीदने योग्य अथवा दान में मिलनेवाली वस्तु नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता स्वयं प्राप्त करनी पड़ती है। स्वतन्त्रता अपने ज्ञान की वृद्धि और चरित्र सुधार से प्राप्त की जाती है।

सम्पत्ति का अधिकार—जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को जीवन और स्वतंत्रता का अधिकार है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का सम्पत्ति का भी अधिकार है। सम्पत्ति के अभाव में स्वतंत्रता का अधिकार भी अर्थ-हीन हो जाता है। मनुष्य की स्वतंत्रता को सार्थक बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि उसे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये सब प्रकार की सुविधायें मिलें। इन सुविधाओं में सम्पत्ति के रखने की सुविधा भी है। जिस मनुष्य के पास सम्पत्ति नहीं है, अथवा जिसे उसके रखने का अधिकार नहीं है वह किसी प्रकार से आत्मविकास नहीं कर सकता है। भिखारी की स्वतंत्रता अर्थ-हीन है। अतएव प्रत्येक सभ्य समाज में न केवल सम्पत्तिवान लोगों के सम्पत्ति रखने के अधिकार की रक्षा की जाती है वरन् गरीबों के लिए सम्पत्ति-प्राप्ति के उपाय भी रचे जाते हैं। मानव-समाज में स्वतंत्र जीवन के लिये यह आवश्यक है कि समाज के प्रत्येक सदस्य के पास कुछ-न-कुछ सम्पत्ति हो। उसके नैतिक स्वत्व के साक्षात्कार के लिये यह सम्पत्ति अत्यन्त आवश्यक है।

सम्पत्ति के अधिकार के साथ-साथ सम्पत्ति के उचित उपयोग करने के कर्तव्य की बात भी आती है। जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को समाज के कल्याण के काम में लाता है वास्तव में उसे ही सम्पत्ति रखने का अधिकार है। जिस समाज में सम्पत्ति का उचित उपयोग नहीं किया जाता उसको सम्पत्ति रखने का नैतिक अधिकार भी नहीं रहता। प्राचीनकाल में समाज की एक ऐसी स्थिति भी थी जब किसी भी व्यक्ति को अपने लिए अलग सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं था। पूरे गिरोह की सम्पत्ति एक साथ रहती थी। जब समाज सभ्य हो जाता है, तभी किसी व्यक्ति को सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया जाना उचित है। सम्पत्ति रखने के अधिकार के दिये जाने के बाद ही उसके उपयोग का प्रश्न आता है।

नीतिशास्त्र के कुछ विद्वानों का मत है कि आदर्श समाज वह समाज है, जिसमें किसी व्यक्ति की अपनी सम्पत्ति न हो वरन् पूरे समाज की सम्पत्ति एक साथ हो। यूनान देश के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो

मनाशय के विचार इसी प्रकार के थे। उनका कथन था कि आदर्श समाज में लोग समाज में अपने आप का इतना एकत्व कर देंगे कि वे समाज की उन्नति में, अपनी उन्नति, अथवा उसकी गरीबी और अमीरी में अपनी गरीबी और अमीरी देखेंगे। परन्तु यदि हम मानव स्वभाव को सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तो इस प्रकार के आदर्श को न केवल कोरी कल्पना ही वरन् इसे मनुष्य के नैतिक स्वत्व के विकास में बाधक भी पावेंगे। मनुष्य का नैतिक विकास तभी सम्भव है, जब वह व्यक्तिगत रूप से उसके लिये प्रयत्न करे। मनुष्य अकस्मात् अपने आपको समाज के प्रति अर्पित नहीं कर सकता। जैसे जैसे उसके ज्ञान की वृद्धि होती है और उसका विवेक जाग्रत होता है, तैसे-तैसे समाज के वह कल्याण में अपना कल्याण देखने लगता है। यदि कोई संस्था किसी व्यक्ति को बाध्य करके कोई कार्य करावे, तो इस प्रकार के काम से उसकी नैतिकता का विकास न हो कर उसमें ह्रास ही होगा। जब समाज के कुछ लोग उसके कल्याण की दृष्टि से देश की सम्पत्ति का सामाजीकरण करते हैं, तो इसमें वे उनके नैतिक विकास में सुविधा नहीं देते, वरन् बाधा डालते हैं। सम्पत्ति के चले जाने पर मनुष्य को अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति से काम लेने का अवसर नहीं मिलता है, और जहाँ इस प्रकार के अवसर की कमी हो जाती है, वहाँ नैतिकता का विकास नहीं होता।

समझौते का अधिकार—मनुष्य का चौथा नैतिक अधिकार दूसरे मनुष्य से समझौते के अनुसार काम कराने का है। अवनत समाजों में समझौते के अनुसार काम करने की प्रथा नहीं रहती है। प्रत्येक व्यक्ति के काम से दूसरे व्यक्ति का सम्बन्ध सदा निश्चित रहता है। यदि कोई व्यक्ति छोटी जाति में उत्पन्न हो गया, तो वह दूसरे लोगों के द्वारा उन वादों की पूर्त्ति के लिए बाध्य नहीं कराया जा सकता, जो ऊँचे वर्ग के लोगों से किए जाते हों। जैसे जैसे सभ्यता का विकास होता है, तैसे तैसे मनुष्य समाज में अपना स्थान स्वतन्त्र समझौते के अनुसार निश्चित करता है। प्रत्येक मनुष्य को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वह जैसे चाहे वैसे दूसरे के साथ व्यक्तित समझौता करे।

समझौते के अधिकार के साथ-साथ समझौते को पूरा करने का कर्त्तव्य भी आता है। किसी व्यक्ति को ऐसे समझौते न करना चाहिए, जिन्हें वह सामान्यतः पूरा नहीं कर सकता, अथवा जो उसके विवेक के प्रतिकूल हैं। उदाहरणार्थ,

कोई व्यक्ति अपनी गुलामी के लिए समझौता नहीं कर सकता। समझौता वैसा ही किया जाना चाहिये, जो मनुष्य के नैतिक विकास के मार्ग में बाधक न हो। जूआ खेलने का समझौता करना अनैतिक और मनुष्य की कर्तव्य-बुद्धि के विरुद्ध है।

शिक्षा का अधिकार—जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को जीवन और सम्पत्ति आदि का अधिकार है, उसी प्रकार उसे शिक्षा का भी नैतिक अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है, और यह उसका कर्तव्य भी है। यहाँ अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे से इतने अधिक मिले हुए हैं, कि यह नहीं कहा जा सकता कि शिक्षा में अधिकार की प्रधानता है, अथवा कर्तव्य की। शिक्षा के अधिकार में कर्तव्य के बिना मनुष्य अपने आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। अतएव सभ्य समाज में इस अधिकार की मान्यता रहती है, परन्तु अभी तक इस अधिकार को सभी लोगों ने नहीं माना है। सभ्य समाज शिक्षा के अधिकार को वहाँ तक नहीं मानता जहाँ तक वह व्यक्ति को अपने सम्पूर्ण नैतिक विकास के लिए अवसर भी नहीं देता।

प्लेटो महाशय ने मनुष्य की शिक्षा के अधिकार को बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। उनके कथनानुसार सबसे अच्छा राज्य वह है जिसमें नागरिकों की शिक्षा का सबसे अच्छा प्रबन्ध हो। राज्य नागरिकों से अनेक प्रकार के कर लेता है। इस कर के बदले में वह उनकी जान माल की रक्षा करता है। बहुत से राज्य अपने नागरिकों के लिए इतना ही करके सन्तोष कर लेते हैं। वे नागरिकों की शारीरिक मानसिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति की परवाह नहीं करते। यदि हम प्लेटो महाशय की दृष्टि से देखें, तो इस प्रकार के राज्य को निकृष्ट समझेंगे। आधुनिक सभ्य राज्य अपना यह कर्तव्य समझता है कि वह अपने प्रत्येक नागरिक को सुशिक्षित बनाये। बहुत से देशों में जनता के लिए प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य है और राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है कि वह अपने बच्चों को यह शिक्षा दिला सके।

प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह अपने आपको सुशिक्षित बनाए। जो नागरिक अपने आपको सुशिक्षित नहीं बनाते हैं वे [illegible]

शिक्षित बन जाता है, तो वह अपने आप में अनेक प्रकार के सद्‌गुण उत्पन्न कर लेता है। वह जनता की कुछ सेवा करना चाहे अथवा नहीं, पर अपनी उपस्थिति मात्र से वह दूसरे लोगों की सेवा करता है। उसे ऊँचे उठा देख कर समाज के दूसरे लोग स्वय को ऊँचा उठाने की चेष्टा करते हैं। उसकी सफलता दूसरों को प्रोत्साहित करती है।

शिक्षित व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि उन्होंने समाज से जो शिक्षा प्राप्त की है, उससे दूसरों को भी लाभ उठाने दें। प्रत्येक शिक्षित नागरिक को चाहिये कि दूसरों की शिक्षा के लिए वह जान-बूझकर कुछ-न-कुछ यत्न करता रहे। नैतिकता की दृष्टि से यह बड़े महत्व का कार्य है कि जिस प्रकाश से हम प्रकाशित हुए हैं, उसे दूसरों के लिए भी सुलभ बना दें।

अधिकार और कर्त्तव्य की एकता—अधिकार और कर्त्तव्य का अन्तिम उद्देश्य एक ही है। प्रत्येक अधिकार-प्राप्ति का अन्तिम लक्ष्य अपने आप को इस प्रकार बनाना है, जिससे व्यक्ति समाज का सबसे अधिक कल्याण कर सके, अर्थात् अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति कर सके। अधिकार हमें अपने आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने के साधन देता है। इन साधनों के अभाव में आदर्श स्वत्व की प्राप्ति असम्भव है। हमारे कर्त्तव्य का भी अन्तिम लक्ष्य यही है। प्रत्येक कर्त्तव्य हमें प्रेरणा देता है कि हम अपने अधिकार के द्वारा प्राप्त किये गये साधन को भले प्रकार काम में लावें, अर्थात् स्वत्व को प्राप्त करें। इस तरह अधिकार और कर्त्तव्य दोनों ही मानव-समाज में नैतिकता का विकास करते हैं। मनुष्य मे नैतिकता का विकास सामाजिक सस्थाओं के द्वारा होता है। मानव-समाज की ये सामान्य सस्थाएँ कुटुम्ब, कारखाने, नागरिक सघ, धर्म सस्था, राज्य और मित्रता हैं। अब हमें देखना है कि इन भिन्न-भिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाओं के द्वारा मनुष्य अपने सामाजिक स्वत्व को कैसे प्राप्त करता है और मनुष्य के नैतिक विकास में इन सस्थाओं की क्या उपयोगिता है।

सामाजिक सस्थाओं की नैतिक उपयोगिता

कुटुम्ब—मानव-समाज की सबसे व्यापक संस्था कुटुम्ब है। साधारणत. कुटुम्ब के बिना किसी मनुष्य का जीवित रहना सम्भव नहीं है। ससार के

अधिक लोग जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त कुटुम्ब में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ लोग दुर्भाग्यवश अथवा किसी विशेष आदर्श को लेकर कुटुम्ब को छोड़ देते हैं। कुछ लोग अपने बाल-बच्चों की मृत्यु के पश्चात् अकेले रह जाते हैं और कुछ प्रौढ़ावस्था में विवाह नहीं करते अथवा विवाहित होनेपर भी साधु संन्यासी अथवा भिक्षुक बन जाते हैं। परन्तु समाज में ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम होती है। फिर ऐसे लोग बहुत थोड़े ही ऐसे होते हैं जो कुटुम्ब में नहीं हैं, वरन् किसी अनाथालय में पाले जाते हैं। इन बालकों को नैतिक विकास का वह अवसर नहीं प्राप्त होता, जो सामान्य बालकों को होता है। इसी प्रकार जिन लोगों के कुटुम्ब का विनाश किसी दुर्घटना के कारण हो जाता है वे भी अभागे ही हैं। इन्हें भी अपने नैतिक विकास का वैसा अवसर नहीं मिलता जैसा कि समाज के साधारण नागरिकों को मिलता है। कुटुम्ब के बाहर रह कर साधु संन्यासियों का कितना नैतिक विकास होता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जो साधु संन्यासी सारे संसार को ही अपना कुटुम्ब मान लेते हैं, उनके नैतिक विकास के बारे में तो दो मत हो ही नहीं सकते। नैतिकता की दृष्टि से वे उच्च कोटि के व्यक्ति हैं परन्तु बहुत से साधु इस आदर्श तक नहीं पहुँच पाते और इससे एक ओर तो वे नैतिकता के सद्गुणों को अपने आप में विकसित नहीं कर पाते और दूसरी ओर अपने चित्त को सदा दुःखी बनाए रहते हैं।

कुटुम्ब का आधार मनुष्य का स्वाभाविक प्रेम है। कुटुम्ब का प्रथम उद्देश्य बच्चों का पालन और उनकी उत्पत्ति करना है। कुटुम्ब का दूसरा उद्देश्य सर्वोत्तम प्रेम भाव की वृद्धि है। बच्चों का लालन पालन जितने भली प्रकार से कुटुम्ब में होता है, उतना और कहीं नहीं हो सकता। कुछ साम्यवादी सिद्धान्त के प्रचारक विद्वानों का मत है कि बच्चों का लालन-पालन कुटुम्ब की अपेक्षा राज्य अच्छी तरह कर सकता है। जब किसी देश में कल कारखाने अधिक बढ़ जाते हैं और जब माता-पिता को अधिक समय कल-कारखानों में ही व्यतीत करना पड़ता है तो वे अपने बच्चों का भली प्रकार से लालन-पालन नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में उनके लालन-पालन का भार राज्य को लेना पड़ता है। राज्य कुछ दाइयों को रखता है जिनका यह कर्तव्य होता है कि वे एक पूरे घर के

बच्चो की देख भाल करें और उनमे रहनेवाले बच्चों की देखरेख करें। हमारे विचार से इस प्रकार की व्यवस्था अस्वाभाविक व्यवस्था है। कोई भी स्त्री, चाहे वह बच्चों के लालन-पालन मे कितनी ही कुशल क्यों न हो, बच्चों का उस प्रकार पालन-पोषण नहीं कर सकती, जिस प्रकार माता-पिता करते हैं। फिर जब एक ही स्त्री अनेक बच्चों की देखरेख करती है, तो उसका ध्यान बँट जाता है और बालक को उससे माता जैसा प्यार नहीं प्राप्त होता।

कौटुम्बिक जीवन का दूसरा उद्देश्य मनुष्य के प्रेम का विकास है। एक ही कुटुम्ब म बालक जब बहुत दिनों तक रहता है, उसी मे पलता, बडा होता और फिर उसी में अपनी गृहस्थी बना लेता है, तो कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति उसके लिए महत्त्व रखता है। कुटुम्ब के विभिन्न व्यक्तियों के आपस के व्यवहार उनके मन में ऐसे संस्कार छोड जाते है, जिससे कि वे एक दूसरे के लिए प्रेम और ममत्व का अनुभव करें। मनुष्य के सामाजिक भावों के विकास के लिए कुटुम्ब ही प्रथम साधन है। नैतिकता के विकास के लिए भी कुटुम्ब की अत्यन्त आवश्यकता है।

कुटुम्ब एक स्वतत्र सस्था है। इसके सचालन का सम्पूर्ण भार माता-पिता पर रहता है। पितृ-प्रधान[1] कुटुम्बों मे पिता का स्थान मुख्य रहता है और मातृ-प्रधान[2] कुटुम्बों में माता का। अत. परिवार में माता-पिता जैसे चाहें अपने बच्चों का लालन-पालन करते हैं और पति-पत्नी के आपस के सम्बन्ध भी स्वेच्छानुसार बनते हैं। परन्तु कौटुम्बिक स्वतन्त्रता सपूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है। कितने ही माता-पिता अपने बच्चों को शिक्षित बनाने के लिए उत्सुक नहीं रहते। वे बच्चों की कमाई के लिए लालायित रहते हैं। अशिक्षित माता-पिता छोटे-छोटे बालकों को भी कारखानों में कार्य करने के लिए भेज देते हैं। इससे उनकी भारी हानि होती है। बालकों को शिक्षित बनाने के लिए और उनसे कल कारखानों मे काम कराने से रोकने के लिए राज्य को प्रयत्न करना पडता है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य के अन्दर रहने वाले किसी नागरिक का जीवन नष्ट न होने दे। वह परिवार को उतनी स्वतन्त्रता दे, जिससे कि परिवार के प्रत्येक सदस्य का अधिक-से-अधिक नैतिक विकास हो। कितने ही अशिक्षित परिवारों में स्त्रियों के ऊपर भारी अत्याचार होते हैं। उन्हें पशुओं-सा कार्य करना पडता है, और किसी काम

1 Patriarchal. 2 Matriarchal.

अधिक लोग जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त कुटुम्ब में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ लोग दुर्भाग्यवश अथवा किसी विशेष आदर्श को लेकर कुटुम्ब को छोड़ देते हैं। कुछ लोग अपने बाल-बच्चों की मृत्यु के पश्चात् अकेले रह जाते हैं और कुछ लोग प्रौढ़ावस्था में विवाह नहीं करते अथवा विवाहित होने पर भी साधु संन्यासी अथवा भिक्षुक बन जाते हैं। परन्तु समाज में ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम होती है। फिर ऐसे लोग बहुत थोड़े ही ऐसे होते हैं जो कुटुम्ब में नहीं हैं वरन् किसी अनाथालय में पाले जाते हैं। इन बालकों का नैतिक विकास का वह अवसर नहीं प्राप्त होता जो सामान्य बालकों को होता है। इसी प्रकार जिन लोगों के कुटुम्ब का विनाश किसी दुर्घटना के कारण हो जाता है वे भी अभागे ही हैं। इन्हें भी अपने नैतिक विकास का वैसा अवसर नहीं मिलता जैसा कि समाज के साधारण नागरिकों को मिलता है। कुटुम्ब के बाहर रह कर साधु संन्यासियों का कितना नैतिक विकास होता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जो साधु संन्यासी सारे संसार को ही अपना कुटुम्ब मान लेते हैं उनके नैतिक विकास के बारे में तो दो मत हो ही नहीं सकते। नैतिकता की दृष्टि से वे उच्च कोटि के व्यक्ति हैं परन्तु बहुत से साधु इस आदर्श तक नहीं पहुँच पाते और इससे एक ओर तो वे नैतिकता के सद्गुणों को अपने आप में विकसित नहीं कर पाते और दूसरी ओर अपने चित्त को सदा दुःखी बनाए रहते हैं।

कुटुम्ब का आधार मनुष्य का स्वाभाविक प्रेम है। कुटुम्ब का प्रथम उद्देश्य बच्चों का पालन और उनकी उन्नति करना है। कुटुम्ब का दूसरा उद्देश्य सर्वोत्तम प्रेम भाव की वृद्धि है। बच्चों का लालन-पालन जितने भली प्रकार से कुटुम्ब में होता है, उतना और कहीं नहीं हो सकता। कुछ साम्यवादी सिद्धान्त के प्रचारक विद्वानों का मत है कि बच्चों का लालन-पालन कुटुम्ब की अपेक्षा राज्य अच्छी तरह कर सकता है। जब किसी देश में कल कारखाने अधिक बढ़ जाते हैं और जब माता-पिता को अधिक समय कल कारखानों में ही व्यतीत करना पड़ता है तो वे अपने बच्चों का भली प्रकार से लालन-पालन नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में उनके पालन-पोषण का भार राज्य को लेना पड़ता है। राज्य कुछ दाइयों को रखता है जिनका यह काम होता है कि वे एक पूरे घर के

खाने का मालिक अपने नौकरों का ध्यान रखता है, और नौकर भी उसी प्रकार अपने मालिक की परवाह इसलिए करता है कि उसे उससे पैसा मिलता है।

नौकर और कारखाने के मालिक के बीच इस प्रकार के सम्बन्ध उन दोनों की नैतिक हानि करते हैं। यदि नौकर और मालिक के बीच सद्भाव और सहानुभूति का सम्बन्ध हो, तो अत्यन्त भला हो। ऐसा सदभाव उत्पन्न करने के लिये आपस के सहयोग के जितने तरीके होते हैं, उन सबों को काम मे लाना चाहिये। कई मिल-मालिक अपने नौकरों को न केवल वेतन देते है, वरन् उनके मनोरंजन के लिये अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद की सुविधाएँ भी देते हैं। किसी मजदूर पर किसी प्रकार की आपत्ति आने पर वे उसे सहायता देते है। व्यापार में अधिक लाभ पर वे बोनस के रूप में अपने नौकरों को अधिक पैसा दे देते हैं। इससे मालिक और मजदूरों में सद्भावना रहती है। इससे दोनों की आर्थिक और लौकिक उन्नति तो होती ही है, उनका नैतिक विकास भी होता है। अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार के कारखानों को नैतिकता की दृष्टि से प्रोत्साहन देना चाहिये। इतना तो निश्चय है कि राज्य को सभी प्रकार के कारखानों को एक-सा प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये। जहाँ तक किसी कारखाने से ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे कि मानव-जीवन सुखी और उन्नतिशील होता है और जहाँ तक किसी कारखाने से मनुष्यों को हानि नहीं होती, वहाँ तक प्रत्येक कारखाना प्रोत्साहन पाने का पात्र है। फिर नैतिक दृष्टि से उन्हीं कारखानों की वृद्धि रोकना उचित है, जिनमे मनुष्यों का नैतिक पतन होता है। ये कारखाने ऐसे होते है, जो प्राय विलासिता की सामग्री उत्पन्न करते है, अथवा जिनम मनुष्य को अपनी जान निरर्थक जोखिम में डालनी पड़ती है। जब तक किसी कारखाने से मानव-समाज का लाभ उससे होनेवाली हानि से अधिक नहीं है, तब तक ऐसे कारखानों को प्रोत्साहन देना नैतिक दृष्टि से अनुचित है।

वर्तमान काल मे, जब कि प्रत्येक व्यक्ति को कारखाने खोलने की स्वतन्त्रता है और जो वस्तु वे उत्पन्न करना चाहते है उसके लिये उन्हे स्वतन्त्रता प्राप्त है, तब यह आवश्यक है कि राज्य इस बात को सदा देखता रहे कि कोई कारखाने का मालिक अपने इस अधिकार का दुरुपयोग तो नहीं कर रहा है। राज्य का यह

में भूल हो जाने अथवा स्त्री दुखी हो जाने से पशुओं जैसी दशा भी आ जाती है अर्थात् उन्हें पशुओं सी यातना मिलती है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह स्त्रियों पर होने वाले इस अत्याचार को रोके। इसके लिए राज्य को उचित नियम बनाना होगा। व्यक्ति को वहीं तक स्वतंत्रता देना उचित है जहाँ तक वह उसके नैतिक विकास में सहायक होती है। जब किसी प्रकार की स्वतंत्रता मनुष्य के नैतिक विकास में बाधक होती है, तो ऐसी स्वतंत्रता को सीमित कर देना आवश्यक है। स्त्री और पुरुष दोनों में समानता का व्यवहार होना चाहिए। जहाँ प्रेम के अभाव के कारण ऐसा नहीं है वहाँ राज्य को नियम बनाने पड़ते हैं कि स्त्रियों पर किसी प्रकार का अत्याचार न हो। साधारणतः लोकमत को इसके लिए जाग्रत करना पड़ता है। जब लोकमत जाग्रत हो जाता है तब नियमों को बनाने की आवश्यकता नहीं रहती।

कारखाने—कारखाने भी मनुष्य के नैतिक विकास के साधन होते हैं। इनके द्वारा मनुष्य अपनी जीविका कमाता है। कारखानों का आधार कुटुम्ब के आधार से भिन्न है। कुटुम्ब पारस्परिक प्रेम पर निर्भर है, और कारखाने आपस के समझौते पर। कुटुम्ब में समानता के व्यवहार होते हैं, किन्तु कारखाने में स्वामी और सेवक का व्यवहार होता है। कौटुम्बिक सम्बन्ध में जो समानता रहती है, उसका हेतु बड़ों के द्वारा छोटों की देख-रेख रहती है, परन्तु कारखाने में किसी बाहरी स्वार्थ की प्राप्ति के हेतु एक दूसरे की अधीनता में काम करते हैं। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि राज्य कारखानों के सम्बन्ध में उतनी स्वतंत्रता न दे जितनी कि वह कौटुम्बिक सम्बन्धों में देती है। राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे नियमों को बनाए, जिससे कारखाने के मालिक अपने मजदूरों को बिलकुल अपना गुलाम न बना लें। आधुनिक काल में जैसे जैसे पूँजीवाद की वृद्धि होती जा रही है वैसे-वैसे कारखानों का मालिक अपने मजदूरों के प्रति उदारता का व्यवहार कम करता जा रहा है। पुराने समय में किसी कारखाने का मालिक अपने कारखाने में कार्य करने वाले व्यक्तियों के साथ अपने पुत्र जैसा व्यवहार करता था। वह उनके दुःख-सुख में सहानुभूति प्रकट करता था और उनकी सहायता करता था। वर्तमान समय में इस रीति का अन्त हो गया। अब केवल पैसे कमाने के लिए ही कार-

के विचार उदार होते है । धर्म-पुस्तकें जहाँ एक ओर धनी लोगों को निर्धनों के प्रति दया-भाव दिखाने की प्रेरणा देती हैं, वहाँ दूसरी ओर वे संसार के निर्धन लोगो को यह आश्वासन देती है कि उनका जीवन निरर्थक नहीं है । वे अपने जीवन को तुच्छ न समझें, धन ही संसार की सबसे मूल्यवान वस्तु नहीं है । धन के अतिरिक्त दूसरी वस्तुएँ भी हैं, जिनका मूल्य धन से कहीं अधिक है । ये मूल्यवान वस्तुएँ धनी मनुष्य की अपेक्षा निर्धन मनुष्य को अधिक सरलता से मिलती है । मनुष्य एक ओर भौतिक संसार में जो खोता है, वह उसे दूसरी ओर आध्यात्मिक संसार में पा लेता है ।

गरीबों के इस प्रकार के विचार धनी लोगो के प्रति उनकी ईर्ष्या की आग को शान्त कर देते है। धर्म-संस्थाओं के अभाव में यह आग एक भीषण विभीषिका का रूप धारण कर ले सकती है, और उसके कारण सम्पूर्ण समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जा सकता है । जिस देश मे धर्म-संस्थाएँ नहीं हैं, उस देश में मनुष्यो के पारस्परिक द्वेष को रोकने वाली कोई वस्तु नहीं है। धर्म-संस्था-रहित समाज सदा अशान्त रहता है ।

धर्म-संस्थाएँ मनुष्य की अनैतिक वासनाओं को नियन्त्रण मे लाती हैं। धर्म संस्थाओं में अन्याय और पाप के विरुद्ध जो बातें कही जाती हैं, उससे अत्याचारी और पापी मनुष्यों को आन्तरिक भय होता है। धर्म-संस्थाओं के विचार मनुष्य की नैतिक बुद्धि को जाग्रत करते हैं । जब कोई मनुष्य अपनी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल कार्य करता है, तो उसकी नैतिक बुद्धि अथवा अन्तरात्मा संताप उत्पन्न करती है, अर्थात् उसे पाप के बाद पश्चाताप होता है । इस प्रकार मनुष्य की अनैतिक भावनाएँ नियन्त्रण मे रहती है ।

पुराने समय मे समाज के धर्म-गुरु, पंडित, पुरोहित, पादरी आदि का समाज मे वही स्थान था, जो किसी सुव्यवस्थित घर मे पिता का होता है । वे समाज के सभी लोगों के लिए उनके शुभ-कार्यों मे पथ-प्रदर्शक होते थे । किसी प्रकार का मानसिक क्लेश होने पर वे आन्तरिक यन्त्रणा पानेवाले व्यक्ति को सान्त्वना देते थे । वे समाज के लोगों को नैतिक भूल करने से सिर्फ रोकते ही न थे, वरन् यदि उनसे कोई नैतिक भूल हो जाती, तो उस भूल के प्रायश्चित् का मार्ग

नैतिक कर्तव्य है कि वह यह देखे कि पूँजीपति लोग अपने नौकरों का शोषण तो नहीं करते; और यदि वे ऐसा करते हैं, तो इसे रोकने के लिये राज्य को नियम बनाना आवश्यक होता है। जब ऐसा नहीं होता और जब राज्य कुछ पूँजीपतियों के हाथों की कठपुतली बन जाता है तब समाज में बड़ी बड़ी राज्य-क्रान्तियाँ होती हैं जिनके परिणाम-स्वरूप मनुष्य के कारखाने खोलने की स्वतंत्रता छीन ली जाती है। फिर राज्य ही सभी कारखानों का संचालन करता है। ऐसी अवस्था में यह नैतिक दृष्टि से उचित भी है। वर्तमान काल की प्रगति शील विचार धारा राज्य-द्वारा कारखानों के संचालन की व्यवस्था का समर्थन करती है।

नागरिक संघ—जिस प्रकार पहले दो प्रकार की सामाजिक संस्थाएँ मनुष्य के नैतिक विकास के लिये आवश्यक हैं उसी प्रकार नागरिक संघ भी मनुष्य के नैतिक विकास के लिये आवश्यक है। नागरिक संघ कई प्रकार के होते हैं। कितने ही नागरिक संघों का कार्य विशेष वर्ग के लोगों के विचारों का आदान-प्रदान और एकता रखना होता है। कुछ व्यापार से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ नागरिक संघ नगर के सभी लोगों की उन आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं जिन्हें सरकार पूरा नहीं कर सकती। इस प्रकार के संघ बड़े शहरों में होते हैं। नागरिक संघों के हाथ में स्वास्थ्य रक्षा की बातें जनता की शिक्षा की बातें पुस्तकालय आदि भोजन की सामग्री की सुरक्षा बनाये रखना और जनता के लिये भोजन के प्रबन्ध के कार्य रहते हैं। जो राष्ट्र जितना सभ्य होता है, उसमें उतने ही सुव्यवस्थित नागरिक-संघ होते हैं। इन नागरिक संघों के द्वारा मनुष्य अपने नैतिक उत्तरदायित्व को उठाना सीखता है। इनसे एक ओर तो अशिक्षित लोगों का लाभ होता है और दूसरी ओर शिक्षित और सम्पन्न लोगों का नैतिक लाभ होता है।

धर्म संस्थाएँ—धर्म-संस्थाएँ समाज के नैतिक उपकार करने के साधन हैं। मनुष्य की नैतिकता को दृढ़ बनाने का काम पुराने समय में धर्म-संस्थाओं ने जितना किया उतना और किसी संस्था ने नहीं किया। धर्म-संस्थाएँ धनी और सम्पन्न लोगों को यह प्रेरणा देती थीं कि वे निर्धन और असहाय लोगों की सहायता करें। धर्म पुस्तकों में इस प्रकार के काम की महत्ता दर्शायी जाती है। ये धर्म-ग्रन्थ सामान्य जनता पढ़ा करती है और उसके कारण समाज के लोगों

का पिण्ड छूटे। समाज के विवेकशील व्यक्तियों के लिये यह घृणास्पद् वस्तु बन गई है।

धर्म-संस्थाओं के विरुद्ध आधुनिक काल में यह बात आती है कि वे अब गरीबों की रक्षा न करके धनियों द्वारा उनके शोषण का समर्थन करती है। साम्यवादियों के कथनानुसार समाज के धनी लोग इन संस्थाओ के पंडे-पुजारियों को खरीद् लेते हैं। ये लोग धनियों के टुकड़े खाते हुए समाज के गरीब लोगों को ऐसा परामर्श देते है, जिससे कि वे धनिकों के अत्याचार के प्रति विद्रोह न करें। सामान्य जनता के लिए धर्म अफीम का काम करता है। सामान्य जनता जब अफीम के नशे मे रहती है, तब धनी लोगों-द्वारा निर्धन लोगों का शोषण कार्य सरल हो जाता है।

वर्तमान धर्म-संस्थाओं के विषय मे ये सब बाते अवश्य कही जा सकती है, परन्तु जब तक इन संस्थाओं के बदले किसी दूसरे प्रकार की संस्थाएँ समाज म नहीं है, तब तक समाज को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिये इन संस्थाओ की उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है। धर्म-संस्थाओं का भ्रष्ट हो जाना दु:ख की बात है। धर्म-संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का नैतिक सुधार है। ये संस्थाएँ लौकिक मूल्यों के अतिरिक्त दूसरे मूल्यों की ओर मनुष्य की दृष्टि ले जाती है, परन्तु यदि इन संस्थाओं मे भी लौकिकता आ जाए, तो इनसे समाज का कल्याण होना कैसे सम्भव है? यदि शक्कर अपनी मिठास छोड दे, तो उसे किस पदार्थ से मीठा बनाया जा सकता है? हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि वर्तमान धर्म-संस्थाएँ अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर रही हैं, अर्थात् यदि वे मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास मे सहायक नहीं हो रही हैं, तो हमे समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए दूसरे प्रकार की धर्म-संस्थाओं की स्थापना करनी होगी। धर्म-संस्थाएँ ऐसी होंगी, जिनके द्वारा मनुष्य नैतिक आचरण करना सीखेगा और केवल बहिर्मुखी न होकर अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने की चेष्टा करेगा। वर्तमान काल मे न तो पुरानी धार्मिक-संस्थाओं के प्रति सभ्य समाज की कोई वास्तविक श्रद्धा ही है, और न ऐसी नई संस्थाओं का निर्माण हुआ ही है, जिससे मानव-समाज का वास्तविक आध्यात्मिक विकास हो। यह स्थिति एक बडी भयावह स्थिति है। ऐसी स्थिति में समाज के विनाश को रोकने के लिए कोई भी प्रबल

भी बताते थे। इस प्रकार प्राचीन धर्म गुरु समाज में नैतिक साम्य की स्थिति को बनाये रखते थे।

पुराने समय में धर्म-संस्थाएँ समाज में जो महत्त्व का कार्य करती थीं और उनका कार्य क्षेत्र जितना व्यापक था, वर्तमान समय में हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। विवाह-शादी जन्म मरण त्योहार उत्सव पुत्र का माता-पिता से सम्बन्ध और माता-पिता का पुत्र से सम्बन्ध पति-पत्नी के सम्बन्ध, पड़ोसी सम्बन्ध आदि सब बातें धर्म-संस्थाओं के द्वारा नियंत्रित रहती थीं। वर्तमान काल में धर्म संस्थाओं का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं है जितना पहले था। फिर भी पुराने ढंग पर चलने वाले देशों में धर्म संस्थाएँ समाज में बड़े महत्त्व का कार्य करती हैं।

वर्तमान काल में धर्म-संस्थाओं को प्रगतिशील विचार के लोग हेय दृष्टि से देखने लगे हैं। वे इन संस्थाओं को समाज की प्रगति में बाधक समझते हैं। धर्म-संस्थाओं के इस प्रकार हेय दृष्टि से देखे जाने के मुख्य दो कारण हैं—(१) विभिन्न धर्मों का आपस में संघर्ष और (२) धर्म को पूँजी-पतियों द्वारा धन कमाने का साधन बनाना। वर्तमान काल में संसार में अनेक प्रकार के धर्म अथवा धर्म-मत प्रचलित हैं। इन धर्म-मतों के कई सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी हैं। प्रत्येक धर्म के लोग दूसरे धर्म के लोगों को अपना शत्रु मानते हैं और उन्हें नष्ट करने की चेष्टा करते हैं। प्रत्येक धर्म कहता है कि हमारा मत ही सच्चा है और दूसरे लोग झूठे हैं। धर्म के अन्ध-अनुयायियों में मानवता की वे बातें नहीं रह जातीं जो कि मनुष्य के नैतिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इस प्रकार ये धर्म संघर्ष मानव स्वभाव को ऊँचा न उठाकर उसे और नीचा गिराते हैं। जो काम मनुष्य साधारणतः मानवता की दृष्टि से नहीं करेगा वही वह धर्मान्धता की धुन में आकर कर डालता है। कितने ही कट्टर धर्म पंथी अपने धर्म की रक्षा के लिए दूसरे धर्म के लोगों पर जंगली पशुओं से भी अधिक बुरा व्यवहार करते हैं। लूट, मारी हत्या स्त्रियों का अपहरण बच्चों पर अत्याचार इत्यादि सभी दानवी कार्य धर्म के नाम पर होते रहते हैं और धर्म-संस्थाएँ इनका समर्थन करती हैं। धर्म-संस्थाओं की ये करतूतें देखकर समाज के विचारवान व्यक्तियों का मन इन संस्थाओं से ऊब गया है। वे चाहते हैं कि इनसे किसी प्रकार मानव-समाज

का रहता है। अतएव राज्य अपने नागरिकों को जैसा बनाना चाहता है, वैसा बनाता है। यदि राज्य से नागरिकों की नैतिक क्षति हो सकती है, तो उससे उनका नैतिक विकास भी हो सकता है।

प्रश्न

१ समाज की नैतिक संस्थायें कौन कौन सी है? सामाजिक संस्थाओं से इनका क्या भेद है?

२ सामाजिक संस्थाओं की नैतिकता को समझाइये। समाज में नैतिकता कैसे स्थापित की जाती है।

३ मनुष्य के अधिकारों का नैतिक आधार क्या है? मनुष्य के मुख्य नैतिक आधारों का वर्गीकरण कीजिए।

४ मनुष्य के अधिकार-सम्बन्धी विचारों में विकास किस प्रकार हुआ। प्रत्येक मनुष्य को सम्पत्ति का अधिकार है—एक मिल-मजदूर के लिए इस कथन का क्या अर्थ है?

५ मनुष्य की सामाजिक संस्थायें कौन-कौन-सी है। कुटुम्ब की नैतिक उपयोगिता को समझाइये।

६ मनुष्य के नैतिक विकास में समाज की धार्मिक संस्थायें कहाँ तक उपयोगी सिद्ध हुई है? उनकी वर्त्तमान उपयोगिता क्या है? धार्मिक संस्थाओं को उपयोगी कैसे बनाया जा सकता है?

साधन नहीं है। संसार के प्रमुख विद्वान अब इस अभाव की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। यदि उनका परिश्रम सफल हुआ, तो समाज का भारी उपकार होगा।

राज्य—मनुष्य के नैतिक विकास के लिए जिस प्रकार उपयुक्त चार प्रकारों की संस्थाओं की आवश्यकता है, उसी प्रकार राज्य की भी आवश्यकता है। प्राचीन काल में राज्य का कार्य-क्षेत्र इतना अधिक नहीं था जितना वर्तमान काल में है। प्राचीन काल में राज्य का मुख्य कर्तव्य समाज के लोगों के जान-माल की रक्षा करना था। यदि किसी एक राष्ट्र पर दूसरा राष्ट्र आक्रमण करता है तो उस राष्ट्र की सरकार का यह कर्तव्य होता है कि वह राष्ट्र के लोगों का संगठन करके आक्रमणकारी के विरुद्ध लड़े और राज्य के भीतर रहने वाले लोगों की क्षति किसी प्रकार न होने दे। वर्तमान काल में राज्य का इतना काम तो है ही, इसके अतिरिक्त भी राज्य दूसरे अनेक कार्य करता है। नागरिकों को सुशिक्षित बनाना, समाज की कुप्रथाओं को नष्ट करना, यातायात के साधनों को सुगम करना, व्यापार के लिए सुविधाएँ प्रदान करना, बेकारों को काम देना, कुटुम्ब के आपस के सम्बन्ध के विषय में नियम बनाना—ये सभी काम आधुनिक काल में राज्य करने लगा है। अतएव यदि किसी देश की राज्य-व्यवस्था ठीक है, तो उसके नागरिकों का समुचित नैतिक विकास होता है, और यदि यह प्रणाली दोषपूर्ण है तो नागरिकों का नैतिक पतन निश्चित है। जिस संस्था का कार्यक्षेत्र जितना अधिक होता है, उसका नैतिक उत्तरदायित्व भी उतना ही अधिक होता है, वह संस्था समाज का उतना ही अधिक कल्याण अथवा हानि कर सकती है।

प्राचीन काल में नागरिकों की शिक्षा का कार्य राज्य के हाथ में नहीं था। यह कार्य प्रायः समाज की धर्म-संस्थाओं के हाथ में था। परन्तु वर्तमान काल में नागरिकों की शिक्षा का उत्तरदायित्व सरकार के हाथ में आ गया है। मनुष्य के नैतिक विकास का प्रमुख साधन शिक्षा ही है। प्राचीन काल में शिक्षा के साधन भी इतने अधिक नहीं थे जितने कि वर्तमान काल में हैं। वाचनालय, पत्र-पत्रिकाएँ, अखबार, सिनेमा, रेडियो आदि के द्वारा वर्तमानकाल में नागरिकों को जो शिक्षा दी जा सकती है उसकी कल्पना भी प्राचीन काल के लोग नहीं कर सकते थे। वर्तमान काल में केवल स्कूल ही नागरिकों के शिक्षालय नहीं हैं, वरन् सारा समाज ही शिक्षालय बन गया है और इस पर पूर्ण नियंत्रण राज्य के अधिकारियों

को पालना माता-पिता का कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य की पूर्ति इसलिए नहीं की जाती कि उसके साथ-साथ कोई अधिकार जुड़ा हुआ है, वरन् बालकों का पालन इसलिए माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे वैसा किए बिना सुखी नहीं रह सकते और न अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति ही कर सकते हैं।

मनुष्य के सामान्य कर्त्तव्य

यहाँ मनुष्य के कुछ सामान्य कर्त्तव्यों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। नीति-शास्त्र के विभिन्न मतों के विद्वान् इन कर्त्तव्यों का लेखा भिन्न-भिन्न प्रकार से देते हैं। इनमें से कुछ कर्त्तव्य नीचे दिये जाते हैं—

जीवन का आदर—मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह दूसरे के प्राणों का हरण न करे। इस कर्त्तव्य को भगवान् बुद्ध ने अहिंसा के कर्त्तव्य के नाम से बताया और ईसाई मत में भी इसे ईसा के इस आदेश में दर्शाया है कि दूसरे की जान मत लो। पिछले प्रकरण में जान-रक्षा के अधिकार की चर्चा की गई है। इस अधिकार के साथ-साथ यह कर्त्तव्य भी आता है कि दूसरे लोगों की जान की रक्षा भी उसी प्रकार की जाय, जिस प्रकार हम अपनी जान की रक्षा चाहते हैं। इस कर्त्तव्य को भारतीय नीतिशास्त्र में अहिंसा का कर्त्तव्य कहा गया है। मनु भगवान् ने इसे धर्म के दस लक्षणों में से एक बताया है। बुद्ध भगवान् ने इसे पञ्चशील के अन्तर्गत माना है। इसी प्रकार पश्चिमी विद्वानों ने भी अहिंसा को नैतिक आचरण में बड़ा ही महत्व का स्थान दिया है।

परन्तु अहिंसा का अर्थ इतना ही न समझना चाहिए कि हम केवल दूसरे की जान न लें। इसका व्यापक अर्थ यह है कि जान-बूझकर ऐसा कोई भी काम न किया जाय, जिससे अपने या किसी दूसरे व्यक्ति को किसी प्रकार की शारीरिक क्षति हो। हर्बर्ट स्पेंसर महाशय ने दूसरे की प्राण-रक्षा के नकारात्मक पक्ष की अपेक्षा सकारात्मक पक्ष पर ही अधिक जोर दिया है, अर्थात् हमें अपनी और दूसरे की जान की रक्षा के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

स्वतन्त्रता का आदर—हमारा दूसरा नैतिक कर्त्तव्य दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का आदर करना है। किसी व्यक्ति के जीवन के स्वतन्त्र विकास में और

अठारहवाँ प्रकरण

मनुष्य के ऋण[1] और कर्तव्य[2]

कर्तव्य का स्वरूप—कर्तव्य शास्त्र का एक मुख्य कार्य यह है कि वह नैतिकता के अन्तिम लक्ष्य को निश्चित करके मनुष्य के सर्वमान्य अथवा विशेष कर्तव्यों को बतलाये। संसार की सभी सभ्य कही जानेवाली जातियों में मनुष्य के कर्तव्यों का लेखा रहता है। यहूदी और ईसाई संस्कृति के लोगों ने मनुष्य के कर्तव्यों का वर्णन दस आज्ञाओं के रूप में प्रस्तुत किया है। ये दस आज्ञाएँ मनुष्य को समाज में रहने के लिए उचित शील का ज्ञान कराती हैं और उसे शीलवान बनने के लिए प्रेरित करती हैं। इसी प्रकार भारतीय विद्वानों ने मनुष्य के दस धर्म बताये हैं, जिनका उल्लेख मनुस्मृति में पाया जाता है। इन दस धर्मों से नैतिकता का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट होता है परन्तु इन कर्तव्यों अथवा धर्म का समावेश नैतिक आदर्श में होता है। नीति शास्त्र का मुख्य कार्य मनुष्य के किसी विशेष कर्तव्य को बताना नहीं वरन् उसे एक ऐसे नियम को बताना है जिसके द्वारा मनुष्य अपने आप ही यह पहचान सके कि उसका कर्तव्य और अकर्तव्य क्या है।

मनुष्य के कर्तव्य पहले तो उसके अधिकारों के कारण उत्पन्न होते हैं। जहाँ मनुष्य को किसी प्रकार का अधिकार है, वहाँ उसके लिए कर्तव्य भी है। प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य लगा हुआ है परन्तु कर्तव्य का क्षेत्र अधिकार के क्षेत्र से बहुत विस्तृत है। समाज में अनेक प्रकार की संस्थाएँ हैं और मनुष्य समाज के दूसरे अनेक मनुष्यों से विभिन्न प्रकार का सम्बन्ध रखता है। ये संस्थाएँ तथा उनके सदस्य उसके जीवन को सुखी बनाने में सहायक होते हैं। अतएव इन संस्थाओं के और अपने सम्बन्धियों के प्रति मनुष्य का कर्तव्य है। अपने बड़ों

---

1 Obligations 2. Duties

स्वयं काम नहीं करते हैं, तो हम अपने आप जीवित रहकर समाज के ऊपर भार बने है। हम अपने व्यय के लिए जो धन चाहते हैं, वह दूसरों के परिश्रम से कमाया हुआ रहता है। इस धन को खर्च करके हम सामाजिक चोरी करते हैं।*

सामाजिक व्यवस्था के लिये आदर—सामाजिक व्यवस्था के लिये आदर के कर्त्तव्य में अनेक कर्त्तव्यों का समावेश होता है। सामाजिक व्यवस्था कुटुम्ब, वर्ण, राज्य, आदि संस्थाओं की बनी रहती है। इन सभी के नियमों का पालन करना सामाजिक व्यवस्था के प्रति कर्त्तव्य-पालन करना है। कभी-कभी हम जानते है कि घर के बड़े लोग किसी बात मे भूल कर रहे है, तिस पर भी जब तक कोई भारी अनर्थ की आशंका न हो, जब तक हम उनकी आज्ञाओं का पालन करते है और उनके कामों मे सहायता देते है। इसी तरह राज्याधिकारी भूलें करते हैं, परन्तु फिर भी हम राज्य के विरूद्ध विद्रोह न करके उनके नियमों का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। एक सिपाही जब युद्ध-क्षेत्र मे लड़ता रहता है, तब यह उसका कर्त्तव्य होता है कि वह अपने सेनापति की आज्ञा माने। यदि वह यह जानता भी हो कि सेनापति सेना का सचालन ठीक नहीं कर रहा है, फिर भी उसके लिये सेनापति की आज्ञा मानना उचित है। उसकी आज्ञा के विरुद्ध जाना न केवल सैनिक अपराध है, वरन् वह नैतिक अपराध भी है। जब कोई व्यक्ति किसी संस्था-विशेष का सदस्य होता है, तब उसका यह कर्त्तव्य

---

* गीता मे कृष्ण भगवान् ने कहा—

> यज्ञ शिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
> नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोन्य कुरुसत्तम ॥४–३१ ॥

भावार्थ यह है कि यज्ञ से बचे हुए पदार्थ को जो उपभोग करते है, वे परमानन्द को प्राप्त करते हैं। इसके प्रतिकूल जो लोग बिना यज्ञ के सांसारिक पदार्थों का उपभोग करते हैं, वे न इस लोक मे सुखी रहते हैं, न परलोक मे।

यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ त्याग, परिश्रम आदि है। जो मनुष्य बिना परिश्रम के खाता है, वह वास्तव में चोर ही है।

बाधा नहीं डालनी चाहिए। हमें दूसरों के लिए वही काम करना चाहिए, जो उनके जीवन के विकास में सहायक हो। छोटे बालक अथवा बुद्धिहीन लोग अपने जीवन का विकास बड़ों की सहायता के बिना नहीं कर सकते अतएव उनको उतनी ही स्वतन्त्रता दी जा सकती है जितनी कि वे काम में ला सकते हैं, परन्तु सुशिक्षित प्रौढ़ व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में बाधा डालना नैतिक अन्याय है। हमें प्रत्येक व्यक्ति को एक मनुष्य के रूप में जानना चाहिए, न कि किसी जड़ पदार्थ के रूप में। यह कर्त्तव्य हमें दूसरों का दास बनाने उन पर अत्याचार करने अथवा उनका शोषण करने से रोकता है। यह कर्त्तव्य पहले कर्त्तव्य से मिला-जुला है। वास्तव मे यह अहिंसा के व्यापक अर्थ में समाविष्ट होता है।

चरित्र का आदर—प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने चरित्र को बनाये और दूसरों को चरित्र बनाने में सहायता दे। वह ऐसी कोई बात न करे जिससे अपने अथवा दूसरों के चरित्र का ह्रास हो। यह एक ऐसा व्यापक कर्त्तव्य है जिसके अन्तर्गत बहुत से कर्त्तव्य आ जाते हैं। यह भावात्मक कर्त्तव्य है। हमें न केवल कोई ऐसा काम करने से अपने आपको रोकना ही चाहिए जिससे दूसरे की हानि हो वरन् हमें ऐसे काम भी करना चाहिए जिससे दूसरों का भौतिक आध्यात्मिक लाभ हो।

सम्पत्ति का आदर—सम्पत्ति का आदर 'चोरी न करो' इस धार्मिक आदेश के रूप में आता है। इस आदेश का समावेश एक प्रकार से पूर्व कथित आदर्शों में आ जाता है। यह कर्त्तव्य अहिंसा के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत है। यह हमें दूसरे लोगों के जीविकोपार्जन के साधन के विनाश से रोकता है। दूसरे के धन अथवा मान का हरण करना उसको क्षति पहुँचाना है। उक्त कर्त्तव्य न केवल हमे दूसरे के धन चुराने से रोकता है, बरन् यह हमें अपने उपार्जित धन के सदुपयोग करने को भी बाध्य करता है। हमें अपनी सम्पत्ति को अपनी न समझना चाहिए, बल्कि उसे समाज की समझना चाहिए। हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम अपने ही घर में रखते हुए अन्न को सड़ने दें, अथवा पेटी मे वस्त्र बक्सों मे कीड़े लगने दें। इन पदार्थों को हमें अपने अथवा दूसरे के उपयोग में लाना चाहिए। इस दृष्टि से अपना समय आलस्य में बिताना भी सम्पत्ति के आदर करने के कर्त्तव्य की अवहेलना करना है। यदि हम

हैं। ससार के चालाक मनुष्य इस प्रकार का झूठ बोलते हैं कि उनका झूठ पकड मे नहीं आता। वे वाणी से झूठ नहीं बोलते, वरन् अपने कार्यों मे झूठ को अभिव्यक्त करते है।

मान लीजिए कि आप किसी व्यक्ति का इस प्रकार स्वागत करते हैं कि जिससे उसके मन मे आप से बहुत-सा धन प्राप्त करने की आशा उत्पन्न हो जाती है। आप उससे इसी आशा में बहुत-सा काम करा लेते हैं। जब आपका काम पूरा हो जाता है, तब आप उसकी आशाओं को पूर्ति नहीं करते। आपके इस व्यवहार को मिथ्याचार कहा जायेगा। इस प्रकार का मिथ्याचार ससार के पढ़े लिखे और शिष्ट लोगों में बहुत अधिक प्रचलित रहता है। यह व्यवहार अनैतिक व्यवहार है। सदाचरण का अर्थ है कि मनुष्य वही कहे, जो वह करना चाहता है और जो कुछ वह एक बार कह दे, उसी के अनुसार अपना आचरण भी बनावे।

प्रगति के लिये आदर[1]—प्रगति के लिये आदर का कर्त्तव्य वही है, जो ईश्वर क प्रेम का कर्त्तव्य है। प्राचीन समय मे धर्म यह शिक्षा देता था कि ईश्वर से प्रेम करो। आधुनिक समय के नीति शास्त्रज्ञ ईश्वर के प्रति प्रेम के कर्त्तव्य के बदले मनुष्यमात्र की उन्नति के लिये सतत् प्रयत्न करते रहने की बात बतलाते हैं। आधुनिक काल का विचार है कि जो ससार के प्राणियों को प्रेम करता है, वह ईश्वर से प्रेम करता है, और जो उनकी सेवा करता है, वह ईश्वर की सेवा करता है। प्रेम का व्यावहारिक स्वरूप दूसरों की उन्नति चाहना और उसके लिए सतत् प्रयत्न करते रहना है। जो मनुष्य ससार के कल्याण के लिए जितनी अधिक चेष्टा करता रहता है, वह उतना ही उन्नति के कर्त्तव्य का पालन करता है और वह ईश्वर के प्रति उतना ही वास्तविक प्रेम दिखलाता है।

कर्तव्य वार्तिक[2]

ऊपर मनुष्य के कुछ कर्त्तव्य बतलाए गए है। इनके अतिरिक्त दूसरे कर्त्तव्य भी किए जा सकते है, अर्थात् कर्त्तव्यों की सख्या घटाई वा बढ़ाई भी जा सकती है। एक एक कर्त्तव्य के अन्तर्गत अनेक दूसरे कर्त्तव्य कहे जा सकते है। अब प्रश्न यह है कि जब दो प्रकार के कर्त्तव्यों में आपस म विरोध हो, तो

1. Respect for progress 2 Casuistry

होता है कि वह उस संस्था के नियमों का पालन करे और उसके उच्च अधिकारियों की आज्ञा का पालन करे। यदि इस संस्था का कोई अधिकारी अयोग्य है, तो उसके प्रतिकूल उसका विद्रोह करना नैतिक पाप नहीं माना जायगा। जब तक वह संस्था का मानी मानता है और उसका सदस्य बना हुआ है तब तक उसे संस्था के उच्चाधिकारियों की आज्ञा में ही रहना चाहिये।

राजनीति के क्षेत्र में देखा जाता है कि किसी दल में सम्मिलित होने के पश्चात् मनुष्य अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को दल के लिए समर्पित कर देता है। दल की कुछ बातें उसे भली लगती हैं और कुछ नहीं। कुछ को वह उचित समझता है और कुछ को अनुचित; किन्तु जब तक वह उस दल का सदस्य बना हुआ है तब तक उसे अपने दल के नियम के अनुसार काम करना और उसके लक्ष्य की प्राप्ति में पूर्ण सहयोग देना होगा। समाज-व्यवस्था इसी प्रकार दृढ़ रहती है।

सत्य के प्रति आदर[1]—संसार के सभी नीति शास्त्रों ने सत्य को धर्म का एक प्रधान लक्षण माना है। बाइबिल में कहा गया है कि तुम झूठ मत बोलो यह ईसाई धर्म की आज्ञा है। इस आज्ञा के दो प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। प्रथम तो प्रत्येक मनुष्य को अपने वचन के अनुसार कार्य करना चाहिये दूसरे उसे अपनी वाणी में वही कहना चाहिए, जो उसकी वास्तविक इच्छा है। पहले प्रकार के कुछ सत्य का पालन तो हम कर लेते हैं, किन्तु दूसरे प्रकार के सत्य का पालन नहीं करते। पहले प्रकार का सत्य किसी प्रकार के समझौते में देखा जाता है। जो व्यक्ति अपने वचन के अनुसार कार्य करता है वह पहले प्रकार के सत्य का पालन करता है और जो व्यक्ति दूसरे को किसी प्रकार से धोखा नहीं देना चाहता वह दूसरे प्रकार के सत्य का पालन करता है।

मनुष्य दो प्रकार से मिथ्या आचरण कर सकता है—एक किसी काम को कह कर उसको पूरा न करके और दूसरा अपने स्वभाव अथवा आचरण से दूसरों के मन में कुछ ऐसी आशायें उत्पन्न करके जिन्हें वह पूरा नहीं करना चाहता है। दूसरे प्रकार के आचरण में शब्दों का झूठ नहीं है, परन्तु वास्तविक झूठ है। इस प्रकार हम वाणी का झूठ और कार्य का झूठ—दो प्रकार का पाते

1 Respect for truth

की चेष्टा करती है कि किस परस्थिति में हम किस नियम की अवहेलना कर सकते हैं। इस प्रकार की कर्त्तव्यवार्तिकाओं को बनाने का प्रयत्न सबसे अधिक ईसाई धर्म के जैसूट मत के लोगों ने किया था। इसका विरोध फ्रान्स के प्रसिद्ध विद्वान् पैसिकल महाशय ने किया है। उनका कथन था कि पहले तो आचरण के लिए नियम बनाना ही ठीक नहीं है। मनुष्य की अन्तरध्वनि ही उसे भले-बुरे का निर्णय देने के लिए पर्याप्त है। फिर यदि मनुष्य आचरण के लिए नियम बनाए भी, तो क्षम्य माना जा सकता है, परन्तु जब वह इन नियमों को तोड़ने के नियम बनाने लगता है, तो वह एक अक्षम्य कार्य करता है। इस प्रकार के नियमों को बनाने से कर्त्तव्य की समस्या उलझ जाती है, सुलझती नहीं। कर्त्तव्यवार्तिका से कर्त्तव्यों की संख्या अत्यधिक बढ़ जाती है और वे एक दूसरे से इतने अधिक उलझ जाते हैं कि फिर किसी नियम का पालन करना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार की कर्त्तव्यवार्तिकाओं का दुरुपयोग होता है। कुशल बुद्धि के लोग इनके द्वारा अपने किसी भी अनैतिक कार्य को नैतिक सिद्ध करने की चेष्टा में लग जाते हैं।

कर्त्तव्य के नियमों से जब दो धर्म-आज्ञाओं का संघर्ष हो, तो नये नियमों को बनाना उचित नहीं है। ऐसी अवस्था मे हमे सभी नियमों के ऊपर के नियम की शरण लेनी चाहिए और देखना चाहिए कि कौन-सा छोटा नियम बड़े नियम को अधिक प्रकाशित करता है।

कर्त्तव्यवार्तिका की उपयोगिता के विषय में जिस प्रकार १६ वीं शताब्दी के नीति-शास्त्रज्ञों में मतभेद था, उसी प्रकार २० वीं शताब्दी के नीति-शास्त्रज्ञों में भी मतभेद है। रशधाल, मूर और लेअर्ड महाशय कर्त्तव्यवार्तिका के समर्थक हैं। ब्रैडले, मैकेंजी और म्योरहैड इसके विरोधी हैं। ब्रैडले महाशय का कथन है कि जिस प्रकार तार्किक विचार की वृद्धि तार्किक नियमों को बनाने से नहीं होती, उसी प्रकार नैतिक विचार की वृद्धि नैतिक नियमों को बनाने से नहीं होती। दोनों प्रकार के विचारों की वृद्धि अपने-अपने मापदंड की खोज करने से होती है। जब तार्किक विचार कला बन जाता है, तब उसका ह्रास होता है, उसी प्रकार जब नैतिक विचार कला का रूप धारण कर लेता है, तब नैतिक [illegible] का भी ह्रास हो जाता है। मैकेंजी महाशय ब्रैडले महाशय के कथन के

मनुष्य को किस कर्तव्य को मानना चाहिए। मान लीजिए, कि सत्य बोलने के और किसी के जीवन की रक्षा के कर्तव्य में विरोध होता है। कोई मनुष्य क्रोध में आकर घातक हथियार लिये एक दूसरे मनुष्य का पीछा कर रहा है। दूसरा मनुष्य जान बचाने के लिये कहीं छिप जाता है। हम उसके छिपे हुए स्थान को जानते हैं। अब यदि हत्या की इच्छा रखनेवाला मनुष्य हमसे पूछता है कि उसका शत्रु कहाँ छिपा है, तो हम धर्मसंकट में पड़ जाते हैं। यदि हम सत्य बोलने के कर्तव्य का पालन करते हैं तब जीवन-रक्षा के कर्तव्य-पालन की अवहेलना होती है, और यदि हम जीवन-रक्षा के कर्तव्य का पालन करते हैं, तो सत्य बोलने के कर्तव्य की अवहेलना होती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को क्या करना चाहिये? जो शास्त्र इन धर्म-संकटों के प्रश्नों को हल करने की चेष्टा करता है और इसके लिये अनेक प्रकार के कर्तव्यों के भाष्य[1] उपस्थित करता है तथा नियम एवं उपनियम बनाता है, उसे कर्तव्यवार्तिका कहा जाता है।[2]

जीवन में हमारे विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों में विरोध उपस्थित होना अनिवार्य है। जीवन एक जटिल समस्या है। इसको सुचारुरूप से चलाना सरल काम नहीं है। जो नियम जीवन को सरल बनाने के लिए बनाए जाते हैं उनमें किसी परिस्थिति में आपस में संघर्ष या विरोध अवश्य हो जाता है। कोई-न-कोई ऐसी परिस्थिति अवश्य आ जाती है, जब हमें उपर्युक्त प्रत्येक नैतिक कर्तव्य के प्रतिकूल आचरण करना पड़ता है। सामान्य व्यक्तियों में इतनी बुद्धि नहीं रहती कि वे इस बात का निर्णय करें कि हम किस परिस्थिति में कर्तव्य के किस नियम को तोड़ सकते हैं, अतएव कर्तव्यवार्तिका की आवश्यकता होती है। कर्तव्यवार्तिका नियमों को तोड़ने के लिए नियम बनाती है, अर्थात् वह यह बतान

---

1 Interpretation

* Casuistry consists in the effort to interpret the precise meaning of the commandments and to explain which is to give away when a conflict arises. —Mackenzie A Mannual of Ethics

2 Casuistry seeks to draw out rules for breaking rules. —Mackenzie—A Mannual of Ethics P 318

की चेष्टा करती है कि किस परस्थिति में हम किस नियम की अवहेलना कर सकते हैं। इस प्रकार की कर्त्तव्यवार्तिकाओं को बनाने का प्रयत्न सबसे अधिक ईसाई धर्म के जैसूट मत के लोगों ने किया था। इसका विरोध फ्रान्स के प्रसिद्ध विद्वान् पैसिकल महाशय ने किया है। उनका कथन था कि पहले तो आचरण के लिए नियम बनाना ही ठीक नहीं है। मनुष्य की अन्तरध्वनि ही उसे भले-बुरे का निर्णय देने के लिए पर्याप्त है। फिर यदि मनुष्य आचरण के लिए नियम बनाए भी, तो क्षम्य माना जा सकता है, परन्तु जब वह इन नियमों को तोड़ने के नियम बनाने लगता है, तो वह एक अक्षम्य कार्य करता है। इस प्रकार के नियमों को बनाने से कर्त्तव्य की समस्या उलझ जाती है, सुलझती नहीं। कर्त्तव्यवार्तिका से कर्त्तव्यों की सख्या अत्यधिक बढ़ जाती है और वे एक दूसरे से इतने अधिक उलझ जाते हैं कि फिर किसी नियम का पालन करना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार की कर्त्तव्यवार्तिकाओं का दुरुपयोग होता है। कुशल बुद्धि के लोग इनके द्वारा अपने किसी भी अनैतिक कार्य को नैतिक सिद्ध करने की चेष्टा में लग जाते हैं।

कर्त्तव्य के नियमों से जब दो धर्म-आज्ञाओं का सघर्ष हो, तो नये नियमों को बनाना उचित नहीं है। ऐसी अवस्था में हमें सभी नियमों के ऊपर के नियम की शरण लेनी चाहिए और देखना चाहिए कि कौन-सा छोटा नियम बड़े नियम को अधिक प्रकाशित करता है।

कर्त्तव्यवार्तिका की उपयोगिता के विषय में जिस प्रकार १६ वीं शताब्दी के नीति-शास्त्रज्ञों में मतभेद था, उसी प्रकार २० वीं शताब्दी के नीति-शास्त्रज्ञों में भी मतभेद है। रशधाल, मूर और लेअर्ड महाशय कर्त्तव्यवार्तिका के समर्थक हैं। ब्रैडले, मैकेंजी और म्योरहैड इसके विरोधी हैं। ब्रैडले महाशय का कथन है कि जिस प्रकार तार्किक विचार की वृद्धि तार्किक नियमों को बनाने से नहीं होती, उसी प्रकार नैतिक विचार की वृद्धि नैतिक नियमों को बनाने से नहीं होती। दोनों प्रकार के विचारों की वृद्धि अपने-अपने मापदंड की खोज करने से होती है। जब तार्किक विचार कला बन जाता है, तब उसका ह्रास होता है, उसी प्रकार जब नैतिक विचार कला का रूप धारण कर लेता है, तब नैतिक विचार का भी ह्रास हो जाता है। मैकेंजी महाशय ब्रैडले महाशय के कथन के

समर्थक हैं। उनका कथन है कि तर्क शास्त्र और नीति शास्त्र को कर्ता नहीं मानना चाहिए। जिस प्रकार सौन्दर्य शास्त्र किसी कवि, चित्रकार अथवा संगीतज्ञ को यह नहीं बतलाता है कि वह अपना कार्य कैसे करे, वरन् वह उसकी रुचि और बुद्धि के अनुसार उसे अपने काम करने देता है, उसी प्रकार तर्कशास्त्री अथवा नीतिशास्त्रज्ञ किसी व्यक्ति को यह नहीं बताता कि वह कब किस नियम का पालन करे और कब किस नियम की तोड़े। नीतिशास्त्रज्ञ का कर्तव्य इतना ही है कि वह नैतिकता के उच्चतम सिद्धान्त का पता दे और फिर वह प्रत्येक व्यक्ति पर यह छोड़ दे कि वह अपने समझ के अनुसार उस सिद्धान्त से भिन्न-भिन्न नियमों का निकाले और उसे अपने आचरण को ठीक बनाने में सहायक दे।

समाज का संचालन सुचारु रूप से करने के लिए राज्य कुछ नियम एवं कानून बनाता है, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप से चलाने के लिए कुछ नियम बना लेता है, परन्तु इस प्रकार के नियमों का बनाना एक व्यावहारिक बात है। उसके लिए मनुष्य अपने अनुभव और योग्यता से काम लेता है। ये नियम कुछ व्यापक सिद्धान्तों के ऊपर निर्धारित होते हैं। राजनैतिक व्यापक सिद्धान्त के आधार पर समाज और राष्ट्र के सचालन के लिए व्यापक नियम बनते हैं, और नीति शास्त्र के व्यापक सिद्धान्तों के आधार पर मानव जीवन के संचालन के लिए नियम बनाये जाते हैं। सिद्धान्तों को निश्चित करना शास्त्रज्ञों का कर्तव्य है और नियमों को बनाना व्यवहार कुशल व्यक्ति का कर्तव्य है।

हमारे जीवन में ऐसी अनेक समस्याएँ आती रहती हैं जिनके निर्णय के लिए हमें नैतिक नियमों की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु केवल नैतिक नियमों का ज्ञान इन प्रश्नों को हल करने के लिए पर्याप्त नहीं होता है। मैं अविवाहित रहूँ या विवाह कर लूँ, मैं वकील बनूँ या डाक्टर, कितना धन दान में दूँ, मैं कविता पढ़ने में कितना समय दूँ इत्यादि प्रश्न ऐसे हैं, जिनका हल करने के लिए हमें न केवल नैतिक नियमों की आवश्यकता होती है, वरन् जीवन के अनुभव और दूसरे प्रकार के विज्ञानों की भी आवश्यकता होती है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन सभी प्रश्नों को हल करने के लिए नैतिकता के मापदंड को ध्यान में रखना पड़ता है।

कुछ प्रश्न ऐसे अवश्य है, जिन्हे केवल नैतिकता को ध्यान मे रखकर ही हल किया जा सकता है। मुझे किसी अवसर पर झूठ बोलना चाहिए या नहीं, समाज की रूढियों की अवहेलना करनी चाहिए या नहीं और किसी अनुचित राज्य-नियम को तोडना चाहिए अथवा नहीं, ये प्रश्न केवल नैतिक प्रश्न हैं। इन प्रश्नों को हल करने के लिए कुछ लोगों के कथनानुसार कर्त्तव्यवार्तिकाओ की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, रशधाल महाशय का कथन है कि किसी व्यक्ति को ऐसा सत्य न कहना चाहिए, जिससे उसके धर्म-विश्वासों पर आघात पहुँचे। मनुष्य का धर्म-विश्वास उसको शान्ति प्रदान करता है, अतएव यदि किसी सत्य कथन मे उसके धर्म-विश्वास पर आघात पहुँचता है, तो उसे उस सत्य को नहीं कहना ही अधिक अच्छा है। स्वयं रशधाल महाशय एक पादरी थे। बाइबिल मे लिखा है कि ईसामसीह बिना किसी मानवीय प्रेम के कुमारी के गर्भ में आये थे। इस कथन का सत्यता में स्वयं रशधाल महाशय विश्वास नहीं करते थे। उनका विचार था कि जिस प्रकार ससार के अन्य लोग उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार ईसामसीह का भी जन्म हुआ था। परन्तु उन्होंने कभी भी अपने इस विश्वास को अपने गिरजाघर मे उपदेश सुनने वाली जनता के समक्ष नहीं कहा। वे उनके सामने बाइबिल की उसी बात को दुहराते रहते थे, जिसे वे स्वय असत्य समझते थे। इस प्रकार उनकी कर्त्तव्यवार्तिका उनके अपने आचरण में सहायता देती थी।

मैकेंजी महाशय का कथन है कि इस प्रकार की कर्तव्यवार्तिकाएँ व्यर्थ हैं। कर्तव्यवार्तिकाओं को नैतिकता में स्थान देना नीति-शास्त्र को कानून की पोथी बना देना है। कानून की पोथियों में अनेक नियम और उपनियम होते हैं। कौन-सा नियम किस परिस्थिति में लागू होता है, इस पर वकील बहस करते है। इस बहस में बुद्धि की चतुराई और स्मरण शक्ति की प्रवीणता का काम अधिक रहता है। यदि किसी वादी (मोवक्किल) को अच्छा वकील मिल गया, तो वह किसी भी अपराध को क्षम्य सिद्ध कर सकता है। नैतिकता को यदि कानूनी दृष्टि से देखा जाय, तो वह चतुर मनुष्य की बपौती बन जायेगी। फिर जो व्यक्ति जितने अधिक नियमों को याद कर लेगा, वह उतना ही अधिक अपने आचरण को नैतिक सिद्ध कर लेगा। परन्तु नैतिकता को ...

बनाना है। जब तक हमारे पास कोई ऐसा उच्च सिद्धान्त नहीं है, जिसके द्वारा हम हर समय अपने आचरण के औचित्य अथवा अनौचित्य को जान लें और दो विरोधी कर्तव्यों में विरोध उत्पन्न होने पर शीघ्रता से किसी विशेष निर्णय पर पहुँच जायँ, तब तक हमें नैतिकता के ज्ञान से कोई लाभ न होगा। कर्तव्य तालिकाएँ नैतिकता को पंडितों की वस्तु बना देती है। समाज में इनका प्रचार नैतिक आचरण की वृद्धि न कर उसके उसका ह्रास करता है।

सर्वोच्च सिद्धान्त—ऊपर कहा जा चुका है कि जब कभी दो कर्तव्यों में विरोध की स्थिति उत्पन्न हो तो हमें किसी विशेष प्रकार के कर्तव्यों के नियमों और उपनियमों की खोज न करनी चाहिए, वरन् किसी आधारभूत मुख्य नियम की खोज करनी चाहिए। यह मुख्य नियम अथवा सिद्धान्त क्या है? यह मुख्य सिद्धान्त इतना ही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेकात्मक स्वत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। उसे उन मूल्यों को प्राप्त करना चाहिए, जो विवेकी स्वत्व से पहचाने जाते हैं। यह नैतिकता की व्यापक आज्ञा है। यह आज्ञा अस्पष्ट-सी दिखाई देती है अतएव कुछ व्यावहारिक नियमों को बनाना आवश्यक होता है। ये नियम हमें अपने प्रतिदिन के आचरण में सहायता करते हैं, परन्तु जब इन नियमों में आपस में विरोध होता है और जब हम किसी धर्म-संकट में पड़ जाते हैं और यह नहीं समझ पाते कि हमें क्या करना चाहिए, तो हमें मुख्य आज्ञा के ऊपर भरोसा करना चाहिए। साथ ही हमें यह जानने की भी चेष्टा करनी चाहिए कि जो आचरण हम कर रहे हैं, उससे हम अपने विवेकी और व्यापक स्वत्व की प्राप्ति करते हैं या उसके प्रतिकूल जाते हैं। यदि हमारा आचरण हमें अविवेकी और संकीर्ण बनाता है तथा यदि हम संसार के विवेकमय मूल्यों से वंचित रह जाते हैं, तो वह आचरण निन्द्य है अन्यथा वह भला है। साधारणतः ऐसा व्यक्ति जो अपने आचरण को साक्षीभाव से देख सकता है, किसी भी धर्म-संकट की स्थिति में अपने कर्तव्य का निर्णय शीघ्रता से कर लेता है। अतएव धर्म-संकट की स्थिति में नैतिक निर्णयों को शीघ्र प्राप्त करने के लिए नियम और उपनियमों को बनाने की आवश्यकता नहीं है वरन् अपने आपको अधिकाधिक विवेकशील बनाने की आवश्यकता है, जिससे कि हम अपने ही आचरण को साक्षीभाव से देख सकें और उस पर अनुद्विग्न मन से निर्णय कर सकें।

शिष्टाचार के नियमों[1] का नैतिकता में स्थान—प्रत्येक समाज मे ऐसे अनेक नियम प्रचलित होते हैं, जिन्हें शिष्टाचार समझा जाता है। जब कोई हमारे घर पर आता है, तो प्रथम हम उसको नमस्कार करते हैं, फिर बैठका मे बैठाते है और उसकी कुशलात पूछते हैं और फिर पान, इत्यादि देते हैं। दक्षिण भारत में नियम है कि जब किसी व्यक्ति से बिदाई लेनी होती है, तो उसे पान दे दिया जाता है। किसी व्यक्ति को पान दिखाने का अर्थ अब यह समझा जाता है कि अब उसे अपनी बातें समाप्त कर चला जाना चाहिए। जो व्यक्ति इस पान दिखाने के बाद भी ठहर जाता है, वह अशिष्ट समझा जाता है। इसी प्रकार जो लोग अपने अतिथि का स्वागत पान-तम्बाकू आदि से नहीं करते, वे अशिष्ट समझे जाते हैं। आधुनिक सभ्यता के लोगों में पान का प्रचार कम होता जा रहा है। अब अतिथि को सिगरेट, चाय आदि अधिक दिया जाता है।

यूरोप में भी अनेक शिष्ट व्यवहार के नियम हैं। इनमें से कुछ मनुष्य के लिए उपयोगी हैं, और कुछ आवश्यक हैं। कपड़े पहनने के ढग बँधे हुए हैं। भोजन करते समय किसी प्रकार का खड़खड़ाहट आदि शब्द करना अशिष्ट समझा जाता है। किसी विशेष अवसर पर विशेष प्रकार के वस्त्र न धारण करना अशिष्टता समझा जाता है। सुबह, दोपहर, शाम एव बिदाई के समय नमस्कार के ढग विभिन्न हैं। इसी प्रकार बातचीत करते समय 'सर' और'मैडम' शब्द का प्रयोग करना आवश्यक समझा जाता है। भोजन करते समय जो व्यक्ति जितना कम माँगता है और देते समय लेना स्वीकार करता है, वह शिष्ट माना जाता है।

अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार के शिष्टाचार के नियमों का पालन करना कहाँ तक उचित है, और जो व्यक्ति समाज के शिष्टाचार के सभी नियमों का पालन नहीं करता, उसे कहाँ तक नैतिक व्यक्ति मान सकते हैं। एक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् अपने कानों में ठेठा लगाये रहता था, जिससे कि वह दूसरों से अपनी व्यर्थ की प्रशसा न सुने और जिससे उसका समय व्यर्थ के शिष्टाचार में

---

1 Conventional rules.

भाग न ली। कारखानमल महाशय अपने अतिथि के आगत-स्वागत में अधिक समय नहीं नष्ट करते थे। जॉनसन लौकिक व्यवहार में फूहड़ था। वह जहाँ चाय के लिए आमंत्रित होता था, वहाँ वह एक दर्जन प्याली चाय पीता था। इन सभी लोगों के बहुत कुछ व्यवहार, समाज में प्रचलित शिष्टाचार के नियमों के विरुद्ध थे परन्तु ये अपने समय के देश के महान् व्यक्ति माने गये हैं और इनमें से प्रत्येक ने राष्ट्र को अपनी कृतियों-द्वारा नैतिक शिक्षा दी है। इससे यह स्पष्ट है कि समाज के प्रत्येक शिष्टाचार के नियम का पालन करना नैतिक जीवन के लिये आवश्यक नहीं है। इतना ही नहीं, समाज के कुछ शिष्टाचार के नियम सभी नैतिकता के प्रतिकूल भी होते हैं। कई प्रकार के हँसी-मज़ाक में भाग लेना कहीं कहीं शिष्टाचार समझा जाता है, परन्तु यह नैतिक नहीं है।

साधारणतः समाज में प्रचलित शिष्टाचार के नियम नैतिकता के अनुकूल ही होते हैं। इन नियमों के पालन करने से मनुष्य में आत्मसंयम का भाव और दूसरे को प्रसन्न रखने की इच्छा प्रबल होती है। इस प्रकार के नियमों से समाज सुदृढ़ होता है। समाज में प्रचलित शिष्टाचार के जो नियम नैतिकता के मूल सिद्धान्त के प्रतिकूल न हों उनका पालन करना ही अच्छा है। जिस रीति-नीति या व्यवहार को समाज के सभी लोग मानते हैं उनके अनुसार चलकर हम समाज को सुदृढ़ बनाते हैं उसके प्रतिकूल चलने से समाज में उच्छृंखलता उत्पन्न होती है। मान लें हमें कोई व्यक्ति किसी विशेष उत्सव के समय आमंत्रित करता है किन्तु हम उसका निमंत्रण स्वीकार नहीं करते अथवा उसे स्वीकार करके भी निश्चित समय पर नहीं पहुँचते अथवा उत्सव में पहुँचने पर भी अन्यमनस्क रहते हैं। ये सभी प्रकार के व्यवहार अनुचित हैं। इनको पालन करने के लिये कोई नैतिक नियम नहीं है, किन्तु यदि समाज के सभी लोग इस प्रकार का आचरण करने लगें तो समाज संगठन ही शिथिल हो जाय। इनके भीतर एक व्यापक नैतिकता का नियम कार्य करता है। वह नियम है— प्रत्येक व्यक्ति को अपने समाज को सुदृढ़ बनाना चाहिए।

जो व्यक्ति समाज के प्रचलित शिष्टाचार के नियमों की अवहेलना नहीं करता उसमें अन्य नैतिक नियमों के अनुसार अपने आचरण को बनाने की

योग्यता आ जाती है। अतएव, जब तक किसी महत्त्वपूर्ण नैतिक सिद्धान्त की अवहेलना हमें न करनी पड़े, तब तक समाज मे प्रचलित रूढ़ियों के अनुसार ही आचरण करना उचित है। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि हम व्यापक नैतिक सिद्धान्त के प्रतिकूल किसी रूढि के वश मे होकर आचरण करे। जिस प्रकार समाज की रूढ़ियों के विरुद्ध सदा आचरण करना अनुचित है, उसी प्रकार उनका अन्धानुकरण करना भी अनुचित है। मनुष्य का सदैव अपने विवेक से काम लेना चाहिये। जहाँ पर किसी व्यापक नैतिक नियम और समाज के प्रतिदिन के नियम म सघर्ष हो, वहाँ व्यापक नैतिक नियम को मानना ही उचित है।

आवश्यक कर्तव्य और मनोनीत कर्तव्य[1]—कुछ नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार कुछ कर्तव्य ऐसे हैं, जिनको पूरा करना हमारे लिए ऋण चुकाने के समान आवश्यक होता है। ये कर्तव्य ऋण-रूप है। इन कर्तव्यों के नियम निश्चित रहते है। उदाहरणार्थ, अपने वचन को भग न करने अथवा दूसरे की वस्तु को न चुराने के नियम। इन नियमों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। इनके अतिरिक्त कुछ कर्तव्य ऐसे हैं, जिन्हें निश्चित नियमों मे प्रकाशित नहीं किया जा सकता, और जिनका करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। यदि इन कर्तव्यो को कोई मनुष्य पूरा करता है, तो हम उसकी सराहना अवश्य करते हैं, किन्तु यदि वह उन कर्तव्यों का पालन न करे, तब हम उसकी भर्त्सना भी नहीं करते। अपने घर पर आये आगन्तुक से मधुर वचन बोलना सभी का कर्तव्य है। जो आगन्तुक से कठोर भाषण करता है, वह हमारी भर्त्सना का पात्र होता है। अब यदि कोई व्यक्ति मधुर भाषण के साथ-साथ उसे जलपान भी कराता है, तो हम ऐसे व्यक्ति की प्रशसा अवश्य करते हैं, परन्तु हम यह आशा नहीं करते कि सभी लोग उसी प्रकार का आचरण करें। यह मनुष्य के स्वभाव का एक प्रशसनीय गुण है, इतना हम अवश्य मानते हैं। यह उसके स्वेच्छित कर्तव्य का उदाहरण है।

---

1 Duties of perfect obligation and duties of imperfect obligation

कांट महाशय ने मनुष्य के कर्तव्यों को निश्चित ऋण[1] रूपी कर्तव्यों और अनिश्चित ऋण रूपी कर्तव्यों[2] में विभाजित किया है। निश्चित ऋण-रूपी कर्तव्य वह है, जो अनिवार्य आज्ञा[3] के रूप में मनुष्य के सामने आता है। ये कर्तव्य अधिकतर निषेधात्मक होते हैं, अर्थात् वे हमको किसी विशेष प्रकार के अनुचित कार्य से रोकते हैं। दूसरी ओर के कर्तव्य विधेयात्मक हैं। निषेधात्मक कर्तव्य सर्वकालीन और सर्वदेशीय होते हैं और विधेयात्मक इसके विपरीत होते हैं, अर्थात् वे देश काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं अतएव इन्हें निश्चित नहीं कहा जा सकता है।

मैकेंजी महाशय ने मनुष्य के कर्तव्यों को तीन भागों में विभाजित किया है :—

(१) ऐसे कर्तव्य जिन्हें राज्य के नियम का रूप दिया जाता है और जिनकी अवहेलना दण्डनीय है।

(२) वे कर्तव्य जिन्हें राज्य के नियमों का रूप नहीं दिया जा सकता, परन्तु जिसका पालन करना प्रत्येक नागरिक को सीमा देना है।

(३) वे कर्तव्य जिनके पालन करने की आशा सभी लोगों से नहीं की जा सकती।

इन तीनों प्रकार के कर्तव्यों की कोई सीमा रेखा नहीं है। कभी एक प्रकार का कर्तव्य दूसरे प्रकार का कर्तव्य बन जाता है। पशुओं को न मारना कुछ देशों में तीसरे प्रकार का कर्तव्य माना जाता है। इसी प्रकार शराब न पीने का उदाहरण है। जो कर्तव्य एक समय अनिश्चित कर्तव्य के रूप में माना जाता है वही कर्तव्य दूसरे समय निश्चित कर्तव्य माना जा सकता है। पशुओं की रक्षा करना अशोककालीन भारत में निश्चित कर्तव्य माना जाता था और उनका वध करना दण्डनीय अपराध था परन्तु दूसरे समय अथवा दूसरे काल में इस कर्तव्य को निश्चित ऋण का कर्तव्य नहीं माना गया है।

---

1 Perfect oblig tion 2. Imperfect obligation.
3 Categcrical imperative.

मनुष्य के कर्तव्य की तालिका सभी काल के लिये कभी भी निश्चित नहीं की जा सकती है। अपने समय के लिए जो कार्य करना आवश्यक है, उन्हें समाज के अगुआ लोग निश्चित ऋण-रूपी कर्तव्य के रूप में जनता के समक्ष रखते हैं। इसी प्रकार बाइबिल की दस आज्ञाएँ है, मनु के दस धर्म भी इसी प्रकार के हैं। इन कर्तव्यों में से कुछ कर्तव्यों पर किसी काल में कम अथवा अधिक जोर दिया जाता है। समाज के नेता लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार कभी-कभी नए कर्तव्यों को ही महत्त्व का स्थान देते हैं, तब निश्चित ऋण के कर्तव्यों की संख्या कुछ बढ़ जाती है।

मनुष्य के विशेष कर्तव्य—मनुष्य के सामान्य कर्त्तव्य नैतिकता के नियमों से निश्चित होते हैं, परन्तु उसे अपनी स्थिति में क्या करना चाहिये, इसका निर्णय उसे स्वय करना पड़ता है। अपनी स्थिति को मनुष्य स्वय ही समझ सकता है। दूसरा कोई व्यक्ति इसे नहीं समझ सकता जिस प्रकार वह स्वय समझता है। अतएव किसी विशेष परिस्थिति में प्रत्येक मनुष्य का क्या कर्तव्य है इसका निर्णय दूसरा व्यक्ति उसके लिये नहीं कर सकता।

मनुष्य की परिस्थिति दो प्रकार की होती है—एक मानसिक और दूसरी वातावरण की। अपने कर्तव्य को निश्चित करने के लिये उसे दोनों की ओर ध्यान देना पड़ता है। अपने स्थान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए कर्तव्य निश्चित करता है। ये कर्त्तव्य अपना काम ठीक करने में उसे सहायता देते हैं। जब कोई व्यक्ति अपनी विशेष परिस्थिति और अपने स्वभाव को ध्यान में न रखकर कर्तव्य का निर्णय करना चाहता है, तो वह किसी भी निश्चय पर नहीं पहुँचता है। अपने कर्तव्य का निर्णय करने के लिए सबसे अच्छा सिद्धान्त यही है कि जो काम सबसे निकट है, उसी को हमें करना चाहिये। उक्त सिद्धान्त को महात्मा टाल्सटायल ने अपनी "तीन प्रश्न" नामक निम्नलिखित कहानी में बड़े अच्छे ढग से बताया है—किसी समय एक राजा के मन में निम्नलिखित तीन प्रश्न आये—

(१) सब से अधिक महत्व का कार्य कौन है?
(२) परामर्श लेने के लिए सब से अधिक महत्व का व्यक्ति कौन है?

(३) निश्चित कार्य को प्रारम्भ करने का सब से महत्व का समय कौन सा है ?

इन प्रश्नों का ठीक उत्तर जानने के लिये उसने अपने राज्य के सभी लोगों से जिज्ञासा की। किसी ने एक काम को ठीक बताया और किसी ने दूसरे को। इसी प्रकार दूसरे प्रश्न के उत्तर भी अनेक मिले। राजा इन उत्तरों से संतुष्ट न हुआ। उसकी जिज्ञासा की मनोवृत्ति बनी रही। उसने सुन रक्खा था कि एक साधु हमारे राज्य में राजधानी से कुछ दूर एक जंगल में अकेला रहता है। वह केवल साधारण देहातियों से ही मिलता है। राजा ने निश्चय किया कि वह अपने प्रश्नों का ठीक उत्तर पाने के लिये उसी साधु के पास जाये। अतएव वह अपने साथ विश्वसनीय गुप्तचर लेकर साधारण नागरिक के भेष में उस ओर चला। जब वह उस साधु की कुटिया के पास पहुँचा तो उसने गुप्तचरों को आसपास के जंगल में छोड़ दिया और स्वयं अकेला ही साधु के पास पहुंचा। इस समय दिन ढल चुका था। उसने उस साधु को खेत में कुदाल चलाते हुए देखा और फिर वहीं चुपचाप खड़ा होकर उसका काम देखने लगा। कुछ देर बाद जब साधु ने अपनी दृष्टि ऊपर उठाई और राजा की ओर देखा तो राजा ने अपने तीनों प्रश्न साधु के सम्मुख रक्खा। साधु ने उन तीनों प्रश्नों को सुन लिया किन्तु उनका उत्तर दिये बिना ही फिर अपने कार्य में लग गया। वह एक और घंटा तक खेत कोड़ता रहा। उसने फिर से जब अपनी दृष्टि उठाई, तो राजा ने अपने प्रश्नों को दोहराया। साधु ने इशारे से राजा को बुलाया और उसके हाथ में अपनी कुदाल पकड़ा दी। साधु थक चुका था और हाँफ रहा था। राजा ने साधु की यह दशा देखकर खेत कोड़ना प्रारम्भ कर दिया और एक घंटा तक मन लगा कर काम करता रहा। संध्या होने पर उसने काम बन्द किया और फिर से प्रश्नों के उत्तर साधु से पूछे।

इसी बीच साधु ने एक व्यक्ति को कुटिया की ओर दौड़ कर आते हुए देखा। वह अपना पेट पकड़े हुए था। साधु ने राजा से कहा कि चलो देखो यह कौन आ रहा है ? साधु तेजी के साथ उस आगन्तुक की ओर बढ़ा। साथ ही राजा ने भी उसका अनुसरण किया। वह आगन्तुक इन दोनों के पहुँचने के पूर्व ही भूमि पर गिर चुका था। उसके कपड़े रक्त से लथ-पथ हो रहे थे। उसके पेट से

लोहू निकल रहा था और वह बेहोश हो चुका था। साधु ने उसके बहते हुए रक्त को रोका और उसके घाव की मलहम-पट्टी की। कुछ देर बाद वह व्यक्ति होश में आया और उसने पानी माँगा। साधु ने राजा से निकट के तालाब से एक बर्तन में पानी लाने के लिये कहा। वह साधु की आज्ञानुसार तुरन्त दौड़ कर पानी ले आया। फिर दोनों आगन्तुक को उठा कर कुटिया में ले गये।

अब तक रात काफी बीत चुकी थी। राजा बिलकुल थक गया था। वह अपने प्रश्नों को भूल गया और सो गया। साधु भी सो गया। प्रातःकाल जब राजा उठा, तो उसने घायल व्यक्ति को जगा हुआ पाया। राजा के जागते ही उस व्यक्ति ने बड़े दैन्य-भाव से राजा से क्षमा माँगनी प्रारम्भ की। राजा उसकी क्षमा-याचना को सुनकर विस्मय में पड़ गया। उसने राजा को अपना परिचय दिया और कहा कि मैं आपका घोर शत्रु हूँ। मेरे भाई को जब आपने फाँसी की सजा दी थी, तभी मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया था कि मैं इसका बदला अवश्य लूँगा। बदला लेने का अवसर मैं ढूँढ ही रहा था। मुझे मालूम हुआ था कि आप इस समय साधु के पास एक साधारण मनुष्य के भेष में आये हुए हैं। अतः मैं आपको मार डालने की नियत से झाड़ी में छुप गया था। इसी बीच आपके गुप्तचरों ने मुझे देख लिया और उन्होंने ही मेरे ऊपर हथियार चला दिए। मैं अपने प्राणों की रक्षा के लिये साधु की कुटिया की ओर दौड़ा, क्योंकि मैं जानता था कि वे गुप्तचर इस कुटिया तक न आयेंगे, क्योंकि उन्हें यहाँ आने की आज्ञा नहीं है। आपने मेरी सेवा-सुश्रूषा करके मेरे प्राण बचा दिये, आपने मुझे प्राण-दान दिया, इसका मैं ऋणी हूँ। आपके प्रति मेरा पुराना द्वेष-भाव सब नष्ट हो गया और अब मैं जीवन भर आप का सेवक बनकर रहूँगा।"

घायल व्यक्ति की ये बातें सुनकर राजा स्तब्ध सा हो गया। कुछ देर बाद उसने घर की ओर वापस लौटने का विचार किया। अब फिर उसने अपने तीन प्रश्नों के उत्तर उक्त साधु से माँगे। साधु ने उत्तर दिया, "क्या आपको अभी तक अपने प्रश्नों के उत्तर नहीं मिले ?" उसने आगे चलकर कहा—"आपके प्रश्नों के उत्तर तो कार्यों-द्वारा पहले ही दिये जा चुके हैं। सबसे महत्त्व का काम वह है, जो हमारे सामने है। सबसे महत्त्व का व्यक्ति वह है, जो हमारे पास है और सबसे महत्त्व का समय अभी है। यदि आप मेरे पास आकर

मुझ पर सहानुभूति दिखाकर मुझे सहायता न देते और मुझ पर कुछ देर जल्दी से वापस चले जाते तो आज आपके प्राण न बचते। यह व्यक्ति आप को मारने के लिए छिपा हुआ था। यह आपको अकेला पाकर अवश्य मार डालता। अतएव जब आप मेरे पास आये थे, तो सबसे महत्त्व का काम मुझे सहायता देना था। फिर जब यह घायल व्यक्ति दौड़ा हुआ आया तो सबसे महत्त्व का काम उसकी सहायता करना था। यदि उसकी सहायता न की जाती, तो यह आपसे मैत्रीभावना स्थापित किये बिना ही मर जाता। उसकी सहायता करने से ही यह घोर शत्रु आपका मित्र बन गया है। अतएव जो व्यक्ति हमारे सामने है उसकी सहायता करना ही जीवन में सबसे महत्त्व का कर्तव्य है। जीवन अस्थायी वस्तु है। कोई नहीं जानता कि उसे कोई दूसरा भला काम करने का अवसर मिलेगा अथवा नहीं।

इसी तरह जो व्यक्ति हमारे पास है, वही महत्त्व का व्यक्ति है और उसी की सलाह मानना और उसी की सलाह लेना हमारा कर्तव्य है। हम नहीं जानते कि हम किसी दूसरे व्यक्ति से मिल पायेंगे या नहीं।

सबसे महत्त्व का समय वर्तमान समय है क्योंकि वर्तमान काल ही हमारे हाथ में है। यही निश्चित काल है। भविष्य के विषय में बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ करना और वर्तमान काल में कुछ न करना कर्तव्यहीनता की मनोवृत्ति को दर्शाता है।

उपर्युक्त 'कथानक' इस बात को स्पष्ट करता है कि हमें अपने वर्तमान समय के कर्तव्य को निश्चित करने के लिए अपनी वर्तमान परिस्थिति और योग्यता को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। जब कोई मनुष्य किसी एक प्रकार के जीवन को स्वीकार कर लेता है, तो उस जीवन के सहज कर्तव्य अपने आप ही उसके सामने आने लगते हैं। इन कर्तव्यों को करने से उसके जीवन का विकास होता है। किसी मनुष्य के कर्तव्य को निश्चित करने के लिए नैतिक नियमों को जानने की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितना कि हम किस प्रकार का चरित्र बनाना चाहते हैं, इसे जानने की आवश्यकता है। सुविकसित चरित्र-वाला व्यक्ति, चाहे उसे किसी भी परिस्थिति में क्यों न रखा जाये, अपने

कर्तव्य को निश्चित कर लेता है और उस कर्तव्य के नियमों को जान लेता है।

मैकेंजी महाशय का कथन है कि जिस व्यक्ति को किसी काम मे पूरी लगन होती है, उसके लिए कर्तव्य के नियमों को जानने की आवश्यकता नहीं रहती। है वह कर्तव्य के नियम जाने बिना ही अपने कर्तव्य को ठीक से करता चला जाता। जब किसी मनुष्य की किसी काम में करने के रुचि में कमी होती है, अथवा अपनी रुचि के अनुकूल उसे काम करना पड़ता है, तभी उसे कर्तव्य के नियमों की आवश्यकता पड़ती है। जिस विद्यार्थी का मन स्वय पढाई में लगता है, उसे पढाई के नियमों को जानने की आवश्यकता नहीं होती। उसकी रुचि ही उसकी पढाई के कार्य मे पथ-प्रदर्शन करती है। जिस व्यक्ति की सहज रुचि पढाई मे नहीं है और जो थोडा ही समय पढ़ाई के लिए दे सकता है, उसी के लिए पढ़ाई के नियम बनाने की आवश्यकता होती है।

कर्तव्य के नियम बनाने का उद्देश्य अपनी रुचि को विशेष ओर मोडना होता है। ये नियम हम से ऐसे काम करा लेते हैं, जो हमें पहले कठिन दिखाई देते है या अप्रिय लगते है। जब हम किसी कठिन काम को कर्तव्य समझ कर करने लगते हैं, और उसके करने में अभ्यस्त हो जाते हैं, तो वह कार्य सरल और रुचिकर हो जाता है। जब कोई काम रुचिकर हो जाता है, तब कर्तव्य सम्बन्धी नियम अनावश्यक हो जाते हैं।

नैतिक आचरण के नियम—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि नैतिक आचरण के नियम को निश्चित करना सरल नहीं है। नैतिक आचरण के नियम गणित के नियम के समान हर समय के लिए निश्चित नहीं किये जा सकते। व्यावहारिक जीवन में मनुष्य को प्रति दिन सोचकर यह निश्चित करना पडता है कि उसे आज क्या करना चाहिए। नीति-शास्त्र का कोई भी विद्वान् उसे यह नहीं बता सकता कि उसका आज का कर्तव्य क्या है। इसे मनुष्य को अपनी परिस्थिति के अनुसार स्वय निश्चित करना होगा। नीति-शास्त्र का विद्वान् सामान्य मनुष्य को केवल इतना ही बता सकता है कि उसे अपने काम को किस भाव से करना चाहिए। नीति-शास्त्र का विद्वान् केवल

यह बता सकता है कि कर्तव्य के सामान्य नियम क्या हैं और मनुष्य के जीवन में उनका क्या स्थान है। परन्तु किसी व्यक्ति विशेष के जीवन में उन नियमों का कैसे लगाया जाय इसे कर्तव्य शास्त्र नहीं बताता। जीवन परिवर्तनशील है इसे हर समय के लिये तथा किसी नियम के लिए किसी नियम के भीतर नहीं जकड़ा जा सकता है।

उपर्युक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि मानव-जीवन में नीति शास्त्र का फिर कोई स्थान ही नहीं है। नीति शास्त्र मनुष्य को मानव जीवन के सर्वोच्च आदर्श को दिखाने की चेष्टा करता है और उसकी प्राप्ति के लिये योग्य उपाय दर्शाता है। इन्हें जानकर प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन को सफल एवं सार्थक बना सकता है। यह सत्य है कि प्रतिभावान् व्यक्ति नीति-शास्त्र के ज्ञान के बिना ही भले और बुरे आचरण का ज्ञान कर लेता है और इस ज्ञान के बिना ही वह सदाचारी बन जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि नीति शास्त्र एक निरर्थक वस्तु है। दर्शन का अध्ययन मनुष्य को उसके विचारों एवं कर्मों से अवगत कराता है। जिस प्रकार एक कवि कविता बनाकर हमारे समक्ष उपस्थित सौन्दर्य का ज्ञान हमें कराता है उसी प्रकार एक नीति शास्त्रज्ञ भी हमें नीति शास्त्र के विचार के द्वारा जो आचरण मनुष्य करता है उसी की भलाई अथवा बुराई का ज्ञान कराता है। इस प्रकार नीति शास्त्र हमें अपने जीवन के संचालन के लिये विशेष नियमों को न देकर भी हमारे लिये उपयोगी सिद्ध होता है। इसके द्वारा हम यह जान सकते हैं कि हमारा जीवन किस ओर जा रहा है। यदि नीति शास्त्र हमें अपरिवर्तनशील कठोर नियमों को दे दे तो वह हमारे जीवन को प्रगतिशील न बनाकर विशेष प्रकार की शृंखलाओं में जकड़ देगा। ऐसा होने से जीवन के निर्जीव बन जाने की ही सम्भावना है। जब मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति और अपने-अपने कर्तव्यों को हल करने की चेष्टा करता है तभी उसका जीवन प्रगतिशील होता है। अतएव जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिये प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपने लिए उचित एवं अनुचित का निश्चय स्वयं करे। नीति शास्त्र के अध्ययन का ध्येय एक निश्चित आदर्श को अपने मन में स्थिर करना है। इस आदर्श के अनुसार

जीवन की क्रियाओं के सुसचालन के लिए मनुष्य कुछ सामान्य नियम बनाता है और फिर वह नियमों को अपनी विशेष परिस्थिति के अनुसार अपनी समस्याओं को हल करने मे लगाता है।

प्रश्न

१ मनुष्य के ऋण और कर्त्तव्य में क्या सम्बन्ध है? मनुष्य के सामान्य कर्तव्य क्या-क्या है?

२. "मनुष्य को सामाजिक व्यवस्था का आदर करना चाहिए" इस विचार के अर्थ को स्पष्ट कीजिये।

३. कर्त्तव्यवार्त्तिकाओं की नैतिकता में क्या उपयोगिता है? क्या कर्तव्यवार्ति-काओं के अनुसार चलकर मनुष्य आदर्श स्वत्व की प्राप्ति कर सकता है? नैतिकता का सर्वोच्च सिद्धान्त क्या है? इसको ध्यान में रखते हुए शिष्टाचार के नियमों की नैतिक उपयोगिता को बताइये।

४ आवश्यक और मनोनीत कर्तव्यों में क्या भेद है? इस प्रसग मे मेकेञ्जी महाशय के विचारों को स्पष्ट कीजिये।

५ मनुष्य के विशेष कर्तव्य कैसे निश्चित किये जाते हैं? यदि हमें आज का कर्तव्य निश्चित करना है तो कैसे करेंगे।

उन्नीसवाँ प्रकरण

नैतिकता की सत्ता[1]

नैतिकता की सत्ता का प्रश्न—कर्तव्य-विज्ञान पर चिन्तन करने-वाले भिन्न भिन्न प्रकार की विचारधाराओं के विद्वानों ने नैतिक आदर्श की सत्ता के विषय में विभिन्न प्रकार के विचार प्रगट किये हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार नैतिकता की सत्ता का आधार ईश्वर का नियम है। ईश्वर के नियम के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य को दण्ड अवश्य मिलता है इसलिए मनुष्य को नैतिकता का पालन करना चाहिए। दूसरे लोगों के अनुसार नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य प्रकृति द्वारा दण्ड पाता है। अतएव प्रकृति विरुद्ध आचरण करना अनुचित है। कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार नैतिकता के विरुद्ध आचरण करना कम सुख और अधिक दुःख की उत्पत्ति करता है। अतएव मनुष्य को अपने तथा समाज के सुख-दुःख पर विचार करके सदाचार से रहना चाहिए। कुछ दूसरे विद्वानों के मतानुसार नैतिक नियम की मान्यता मनुष्य की अन्तरात्मा से ही आती है। मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा की पुकार के विरुद्ध काम इसलिए नहीं करना चाहिए कि अन्तरात्मा से निकट और कोई सत्ता नहीं है, और इसके नियम को मानना अपने-आप के नियम को ही मानना है। कुछ दूसरे विद्वान अन्तरात्मा की जगह विवेक को सर्वोच्च स्थान देते हैं। विवेक न केवल नैतिकता में सही और गलत को बताता है वरन् विवेक में ही वह शक्ति है जो हमें गलत मार्ग को छोड़कर सही मार्ग का अवलम्बन करने के लिए बाध्य करती है। विवेक से ऊँची नैतिकता में कोई सत्ता नहीं मानी जा सकती।

---

1 Moral Authority

ससार का महान पुरुष वह है, जो बाहरी सत्ता के नियम को सर्वोच्च न मानकर अपने विवेक के नियम को ही सर्वोच्च मानता है।

विभिन्न प्रकार की सत्ताओं के प्रकार—कर्तव्य-विज्ञान के विद्वानों ने तीन प्रकार की सत्ताएँ मानी हैं—वस्तु-स्थिति पर जोर देनेवाली, आवश्यकताओं पर जोर देनेवाली और विधि-निषेधों पर जोर देनेवाली। ससार के प्राकृतिक नियम वस्तु-स्थिति पर जोर देते हैं। उनकी सत्ता वस्तु-स्थिति पर निर्भर है। यदि हम अपने हाथ को आग मे डालें, तो वह जल जाएगा, यह प्रकृति का नियम है। अतएव इससे हमारे आचरण का एक नियम यह निकलता है कि हमे आग को न छूना चाहिये। इसी प्रकार प्रकृति का नियम है कि बलवान् व्यक्ति निर्बल को दबा देता है। इस प्राकृतिक नियम के आधार पर यह नैतिक नियम बनाया जा सकता है कि हमे बलवान से लड़ाई न करनी चाहिए।

दूसरे प्रकार की सत्ता वह है, जिसमे बाध्यता पर अधिक जोर डाला जाता है। राज्य के नियमों का पालन करना हमारे लिए आवश्यक है। यदि हम राज्य-नियम को न मानें तो हमें दण्ड भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार समाज में लोकाचार के अनेक नियमों का पालन हमे करना पड़ता है। यदि हम इन नियमों को न मानें, तो हमें समाज का तिरस्कार सहना पड़ेगा।

तीसरे प्रकार की सत्ता में विधि-निषेध पर जोर दिया जाता है। यहाँ किसी काम को इसलिये करना पड़ता है, कि उस काम का करना उसके लिए उचित है। इसकी तुलना में पहले दो प्रकार की सत्ताएँ बाह्य सत्ताएँ हैं। अन्तिम सत्ता आन्तरिक सत्ता है। पहले तो नैतिकता में किसी प्रकार की बाध्यता के लिए स्थान ही नहीं है, और यदि इसके लिए कोई स्थान है, तो वह अपने आप-द्वारा बाध्यता के लिए हो। अतएव वस्तु-स्थिति और आवश्यकता की बाध्यता को नैतिकता में कोई स्थान ही नहीं। वहाँ यदि किसी प्रकार की बाध्यता के लिए स्थान है, तो वह आन्तरिक बाध्यता के लिए ही। प्रकृति के अनुकूल आचरण करने और उसकी सत्ता को प्रमुख स्थान देने से नैतिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है। प्राकृतिक नियम नैतिक नियम नहीं है। वस्तु-स्थिति के अनुसार आचरण करना स्वाभाविक है। उसमें औचित्य और अनौचित्य का विचार ही क्या? कभी-कभी प्राकृतिक नियम के अनुसार आचरण करने में मनुष्य की नैतिकता

२०

देखी जाती है; और कभी-कभी इसके प्रतिकूल आचरण में। इसी तरह राज्य नियमों का मानना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। किन्तु इस आवश्यकता के कारण नैतिकता की माँग पूरी नहीं होती। लौकिक चतुराई ही हमें राज्य के नियमों का मानने के लिए बाध्य करती है। पर लौकिक चतुराई नैतिकता नहीं है। नैतिकता उससे ऊँची और विलक्षण वस्तु है। नैतिकता में आन्तरिक प्रेरणा का प्रधान स्थान है। इस आन्तरिक प्रेरणा के प्रतिकूल आचरण करना ही अनैतिक आचरण है। किसी भी बाहरी नियम को वहीं तक मानना उचित है जहाँ तक वह हमारे आन्तरिक मन की प्रेरणा के अनुसार हो।

नैतिक सत्ता के तीन प्रकार—नैतिकता की जो विभिन्न कसौटियाँ मानी गई हैं उनके अनुसार ही इसकी सत्ता का निरूपण किया गया है। नीति शास्त्र के कुछ विद्वानों के अनुसार नैतिकता किसी बाहरी नियम के पालन में है, और कुछ के अनुसार आन्तरिक नियम के पालन में। एक तीसरे मत के अनुसार नैतिकता का ध्येय किसी नियम का पालन करना नहीं, वरन् किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति है। पहली विचार धारा में तीन प्रकार के नियम माने गये हैं—ईश्वरीय नियम, प्राकृतिक नियम और राजकीय अथवा सामाजिक नियम। दूसरी विचार धारा के अन्तर्गत अन्तरात्मा और विवेक के नियम आते हैं। तीसरी विचार धारा में सुख, पूर्णता अथवा निःश्रेय का आदर्श माना गया है। साधारणतः नैतिकता की सत्ता पर विचार नैतिकता के विभिन्न प्रकार की कसौटी के अनुसार ही है। परन्तु इनमें भेद भी है अर्थात् नैतिकता की कसौटी की कल्पना एक प्रकार की है और नैतिकता के लिए बाध्य करने-वाली सत्ता की कल्पना दूसरे प्रकार की। उदाहरणार्थ परार्थ-सुखवाद की कसौटी को लीजिए। इसके अनुसार नैतिकता का आधार मनुष्य के मनोवैज्ञानिक स्वभाव के ऊपर निर्भर है; और नैतिकता विशेष प्रकार के लक्ष्य की प्राप्ति में मानी गई है, जिसकी प्रेरणा वास्तव में मनुष्य के मन से ही होनी चाहिए। किन्तु इस विचार धारा ने नैतिकता की सत्ता अर्थात् उसकी बाध्यता को बाहरी वस्तु माना गया है।

जहाँ तक नैतिकता की सत्ता का किसी विशेष प्रकार के बाहरी नियम के ऊपर निर्भर होने का प्रश्न आता है वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि यह निर्भरता वास्तव में नैतिकता के प्रतिकूल है। किसी प्रकार के बाहरी नियम पर,

चाहे वह समाज, प्रकृति अथवा ईश्वर का ही नियम हो, नैतिकता को आश्रित करना उसे अर्थहीन बनाना है। नैतिकता आध्यात्मिक विकास का साधन है और यह आध्यात्मिक विकास मनुष्य में बिना स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की वृद्धि के सम्भव ही नहीं। जो व्यक्ति किसी प्रकार की बाहरी सत्ता के भय के कारण ही नैतिक आचरण करता है, उसका नैतिक आचरण दिखावा मात्र होता है। इस प्रकार के नैतिक आचरण से उसके चरित्र में कोई भी उन्नति नहीं होती। चरित्र की उन्नति विवेक और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा नियन्त्रित क्रियाओं से ही होती है। अतएव हम थोड़े में यह कह सकते हैं कि बाहरी सत्ता के भय के कारण मनुष्य में जो नैतिकता आती है वह नैतिकता नहीं है, और उस सत्ता को भी हम नैतिक सत्ता नहीं कह सकते, जो बाध्य करके भय के द्वारा किसी व्यक्ति से नैतिक आचरण कराती है।

नैतिक आचरण के प्रेरक[1]—नैतिकता की सत्ता के प्रश्न के साथ-साथ नैतिक आचरण के प्रेरकों और बन्धनों का प्रश्न आता है। एक बार जब नैतिकता का निरूपण हो चुका, तो प्रश्न उठता है कि मनुष्य को नैतिक आचरण के लिये बाध्य कौन करेगा और यदि वह अनैतिक आचरण करे, तो उसे इस प्रकार के आचरण से रोकने के लिए कौन-सी नैतिक शक्ति है। इस विषय में परार्थ सुखवादियों के विचार स्पष्ट हैं। परार्थ सुखवादियों ने अधिक-से-अधिक संख्या में अधिक से-अधिक सुख को नैतिकता का आदर्श निश्चित किया है। किन्तु यह स्पष्ट है कि स्वभावतः ही मनुष्य दूसरे के सुख की परवाह न कर अपने ही सुख की अधिक परवाह करेगा। अतएव यदि हमें उससे नैतिक आचरण करवाना है, तो इसके लिए हम विशेष प्रेरकों से काम लेना पड़ेगा। बेन्थम महाशय का कथन है कि मनुष्य के नैतिक आचरण का अन्तिम लक्ष्य सबका सुख अवश्य है, किन्तु किसी व्यक्ति के काम के प्रेरक उसके वैयक्तिक सुख की आशाएँ ही होती हैं। अतएव राज्य के नियम बनाने वाले का सबके सुख को ध्यान में रखना होगा और उसे देखना होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपना आचरण इसी आदर्श के अनुसार बनाता है या नहीं। किन्तु नैतिक आचरण की प्रेरणा एक

---

1 Sanctions

ही बात से उत्पन्न हो सकती हैं वह है सुख की चाह और दुःख से भय। बेन्थम महाशय ने फिर उक्त सब प्रकार के दुःख—सुखों पर विचार किया है, जो कि मनुष्य को नैतिक आचरण करने के लिए बाध्य करते हैं और जिनका उपयोग करना इस दृष्टि से उचित माना गया है।

बेन्थम ने नैतिक आचरण के चार प्रकार के प्रेरक माने हैं—भौतिक,[1] राजनैतिक[2] नैतिक[3] और धार्मिक[4]। भौतिक प्रेरक वे हैं, जिनके कारण कोई व्यक्ति प्राकृतिक सुख अथवा दुःख के कारण उचित आचरण करता है। ये प्रेरक (उत्तेजक) किसी व्यक्ति अथवा समाज की इच्छा के ऊपर निर्भर नहीं करते। जब कोई मनुष्य नशाखोर अथवा व्यभिचारी हो जाता है तो स्वयं प्रकृति ही उसे दण्ड देती है। अतएव यहाँ प्रकृति ही व्यक्ति को नैतिक आचरण करने के लिए बाध्य कर और अनैतिकता से रोकती है। यदि कोई व्यक्ति राज दण्ड के कारण अपने आप को अनैतिक आचरण से रोकता है और राज्य से पुरस्कार पाने के विचार से अपने आप में नैतिक आचरण लाता है तो उसे हम राजनैतिक उत्तेजकों से सदाचार के लिए प्रेरित मानेंगे। यदि समाज की निन्दा और उसकी स्तुति की इच्छा के भय से कोई व्यक्ति सदाचरण करता है तो यह नैतिक उत्तेजकों के अनुसार चलता है। ये नैतिक उत्तेजक जाति बहिष्कार और बोलचाल बन्द किये जाने के रूप में आते हैं। धार्मिक उत्तेजक स्वर्ग और नरक में पुरस्कार अथवा दण्ड पाने के विचार हैं। जब मनुष्य अपने धर्म गुरु की इच्छा के प्रतिकूल आचरण करता है तो उसे नरक में यन्त्रणा पाने का भय उत्पन्न हो जाता है। समाज के अधिकांश लोगों को नैतिक बनाये रखने में स्वर्ग और नरक के विचार ही प्रधान उत्तेजक होते हैं।

मनुष्य के विभिन्न प्रकार के आचरणों में विभिन्न प्रकार के उत्तेजक कम अथवा अधिक मात्रा में काम करते हैं। परन्तु प्रायः सभी प्रकार के उत्तेजक थोड़ी अथवा अधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं। किसी कार्य के करने में अधिक प्रेरणा भौतिक उत्तेजक से मिलती है तो किसी में राजनैतिक सामाजिक (नैतिक) अथवा धार्मिक उत्तेजकों से।

---

1 Physical. 2 Political. 3 Moral. 4. Religious

जन स्टुअर्ट मिल महाशय ने नैतिक आचरण में उपर्युक्त सभी प्रकार के उत्तेजकों को उपयोगिता मानी है। वे बेन्थम के परार्थ सुखवाद के समर्थक थे। पर उन्होंने इन सब उत्तेजकों को बाहरी उत्तेजक माना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक और उत्तेजक माना है। वह है अन्तरात्मा की आवाज। उन्होंने इसे आन्तरिक उत्तेजक कहा है। आन्तरिक उत्तेजक हमारे नैतिक स्थायी भावों के अनुसार काम करने के सुख और उनके प्रतिकूल आचरण करने की अनुभूति में है। मिल का कथन है कि दूसरे सभी उत्तेजक भौतिक उत्तेजक हैं, केवल अन्तर्प्रेरणा ही मानसिक उत्तेजक है। अतएव यह सबसे महत्त्वशाली है। स्वयं बेन्थम महाशय ने भी अपने बताये हुए सभी उत्तेजकों को भौतिक अथवा बाह्य उत्तेजक माना है। सभी उत्तेजक सुख और दुःख के रूप में कार्यकर्त्ता के समक्ष आते हैं। चाहे प्राकृतिक शक्ति हो चाहे न्यायाधीश अथवा जन साधारण की अथवा ईश्वर की ही क्यों न हो, ये सभी प्रकार की शक्तियाँ बाहर से मनुष्य के ऊपर कार्य करती हैं और दुःख सुख के रूप में ही उत्तेजक बनती है। आन्तरिक उत्तेजक मानसिक होते हैं और मनुष्य को भले काम करने के लिए भीतर से बाध्य करते हैं।

मिल ने विभिन्न उत्तेजकों का विभाजन बाह्य और आन्तरिक उत्तेजकों में किया है, किन्तु उसने जो आन्तरिक उत्तेजक बताया है, वह किसी विशेष नियम के पालन में सुख अथवा दुःख की अनुभूति ही है। उन्होंने आन्तरिक प्रेरणा का जो स्वरूप बताया है, वह एक प्रकार की बाहरी प्रेरणामात्र है। इस प्रकार के प्रेरक को आन्तरिक नहीं माना जा सकता। जब तक हम आन्तरिक प्रेरक को अपने आन्तरिक स्वभाव की ही प्रेरणा नहीं मानते, तब तक उसकी सत्ता को हम नैतिक-सत्ता नहीं मानते, तब तक भय अथवा किसी प्रकार के प्रलोभन-वश जो कार्य होता है, वह नैतिक नहीं होता। जिस सत्ता के कारण ऐसा कार्य होता है, वह नैतिक सत्ता नहीं है। अतएव यह कहा जा सकता है कि मिल और बेन्थम महाशय के बताए हुए नैतिकता के विभिन्न उत्तेजकों का सच्ची नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अन्तर्प्रेरक की सत्ता[1]—मिल महाशय ने अन्तर्प्रेरक की सत्ता को माना

1. The Authority of the conscience

है। किन्तु इस अन्तर्प्रेरक को अनैतिक आचरण करने पर कष्ट एक प्रकार का देनेवाला मान लिया गया है। अन्तर्दर्शनवादी अन्तर्प्रेरक को कष्ट देनेवाला नहीं मानते। परन्तु इस पर भी वे इसको एक प्रबल सत्ता मानते हैं। बटलर महाशय का कथन है कि यदि हम अन्तर्प्रेरक में इस अधिकार की कल्पना न करें कि वह हमारी अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों के ऊपर नियन्त्रण कर सकता है तो ऐसी शक्ति व्यर्थ होगी। यदि इस सत्ता को मनुष्य के कर्मों के नियन्त्रण की पूर्ण शक्ति और अधिकार हो तो संसार में कोई काम बुरा ही न हो। प्रत्येक मनुष्य को अपने अन्तर्प्रेरक की आज्ञा को मानना चाहिये। अन्तर्प्रेरक का नियम अपने आप का ही नियम है। अतएव अन्तर्प्रेरक के आज्ञानुसार चलना अपने ही आज्ञानुसार चलना है; अन्तर्प्रेरक का बन्धन अपने-आप का ही बन्धन है। इस भाँति अन्तर्प्रेरक हमें न केवल नीति-पथ दर्शाता है, वरन् हमें उस पथ पर चलने के लिये हमें बाध्य भी करता है।*

बटलर महाशय नैतिकता की वास्तविक सत्ता की ओर हमारा ध्यान ले गये हैं। वह अन्तर्प्रेरक की सत्ता है। परन्तु जबतक अन्तर्प्रेरक के स्वरूप का ठीक निरूपण नहीं होता तब तक इसी को नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता मानना भ्रामक होगा। नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता का विवेक युक्त होना आवश्यक है। अतएव जबतक विवेक और अन्तर्प्रेरक का एकत्व न मान लिया जाय तबतक अन्तर्प्रेरक में ही सर्वोच्च सत्ता मानना उचित नहीं। वास्तव में मनुष्य का विवेक केवल उसके नैतिक आदर्श का निर्माता और कर्तव्य का पथ-प्रदर्शक ही नहीं वरन् वह नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता भी है।

विवेक की सत्ता[1]—कान्ट महाशय और आदर्शवादियों ने विवेक की

---

* Your obligation is to obey this law it being the law of your nature That your conscience approves of it and attests to such a course of action is itself alone an obligation. Conscience does n t only offe itself to show us the way we should walk in but it likewise carries its own authority that it is our natural guide "

1 Authority of reason.

सत्ता को ही सर्वोच्च सत्ता माना है। इसी को सूकरात, प्लेटो और अरस्तू ने भी सर्वोच्च सत्ता माना है। आधुनिक काल में भी कर्तव्य-शास्त्र के गम्भीर लेखक इसी को सर्वोच्च सत्ता मानते हैं। प्रकृतिवादी इसे सर्वोच्च सत्ता नहीं मानते। वास्तव में उनके कथनानुसार नैतिकता की सत्ता को मानना ही अनावश्यक है, क्योंकि प्रकृति बाध्य करके सबसे नैतिक आचरण करा ही लेती है।

मनुष्य का सबसे ऊँचा स्वत्व विवेकमय है। अतएव जब मनुष्य विवेकानुसार आचरण करता है, तो वह सर्वोच्च स्वत्व को मानता है। विवेक के अनुशासन में रहना अपने सर्वोच्च स्वत्व के अनुशासन में रहना है, और इसी में नैतिकता का सर्वोच्च अधिकार है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि जो लोग तर्क-बुद्धि के परे किसी विशेष स्वत्व के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, उनके लिए इसी स्वत्व की सत्ता को सर्वोच्च मानना स्वाभाविक है।

नैतिक आदर्श की सर्वोत्कृष्टता[1]—नैतिकता का सर्वोच्च आदर्श किसी विशेष नियम को मानना नहीं, वरन् एक निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति की चेष्टा करना है। यह लक्ष्य अपने आप को, अपने आचरण को, विवेकयुक्त बनाने का लक्ष्य है। मनुष्य का विवेक कहता है कि वह अपने आपको जितना ऊँचा उठा सकता है, उतना ऊँचा उठावे और जितना भला बना सकता है, उतना भला बनावे। किसी एक विशेष नियम के पालन करने से मनुष्य अपने नैतिक होने का आत्म-सन्तोष भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु नैतिक नियम का पालन मात्र ही नैतिकता की सर्वोच्च वस्तु नहीं है। सबसे ऊँचा नैतिक जीवन उस मनुष्य का कहा जाता है, जो किसी नैतिक आदर्श को मानकर चलता है और विभिन्न प्रकार के नियमों की परवाह नहीं करता। जिस नियम का पालन करना उसके लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होता है, उसे वह पालता है और जो नियम उसके सुनिश्चित लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक होता है, उसे वह नहीं मानता। वह अपने आदर्श अथवा लक्ष्य का ही बन्धन मानता है, न कि किसी नियम का।

आधुनिक काल में हमारे देश में हिंसा और अहिंसा के विषय में बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ है। प्रश्न यह है कि हमें शत्रु से लड़ने के लिए शस्त्र का उपयोग

1 Absoluteness of the moral Standard

करना चाहिए या नहीं। अब इस विषय में कितने ही नियम क्यों न बनाए जायँ वे कभी भी सन्तोषजनक नहीं हो सकते। यदि हमने नैतिकता का आदर्श यह मान लिया है कि हम अपने आचरण से संसार के लोगों की सबसे अधिक भलाई करनी है, तो विशेष समय की हिंसा अथवा अहिंसा का प्रश्न सरलता से सुलभ जाता है। फिर वही अहिंसा उचित है जिससे अधिक प्राणियों का कल्याण हो और जिस अहिंसा से समाज के चोर डाकुओं को प्रोत्साहन मिले वह त्याज्य है। इस प्रकार का आचरण अपने विवेकशील स्वत्व के अनुसार आचरण होगा।

अब प्रश्न यह आता है कि यदि हम नैतिक आचरण के कुछ नियम न बनावें और उसे आचरणकर्त्ता की बुद्धि पर ही यह छोड़ दें कि वह अपने लिए अपने आदर्शानुसार उचित नियम बना ले तो, सम्भव है कि हम नैतिक जीवन को शिथिल कर देंगे। इसी विचार से प्रेरित होकर कर्त्तव्य शास्त्र के कइ-एक विद्वानों ने आचरण के कुछ नियमों को निश्चित करने पर जोर डाला है। पर इस प्रकार आचरण के नियमों को निश्चित कर लेना नैतिक विचार के विकास को नहीं दर्शाता। सभ्यता की निम्नकोटि के लोगों में नैतिकता के नियम बड़े कठोर होते हैं, परन्तु नैतिकता के आदर्श का ज्ञान न रहने के कारण इन नियमों का पालन करते हुए भी कभी-कभी वे वास्तविक नैतिकता के प्रतिकूल आचरण कर बैठे हैं। उनके नैतिक नियमों के पालन की कठोरता ही समाज को हानि पहुंचाती है, और इस प्रकार वे नियम उनके आध्यात्मिक जीवन के विकास में सहायक न होकर उनमें रुकावट ही डालते हैं।

मनुष्य का उत्तरदायित्व जितना ही अधिक और उसके कार्यों का क्षेत्र जितना ही विस्तीर्ण होता जाता है उसके नैतिक आचरण में एक ओर उतनी ही दृढ़ता और दूसरी ओर उसके नियमों में उतनी ही अनिश्चितता भी आती है। सेना के सिपाही की देश भक्ति इसी में देखी जाती है कि वह सेना के कुछ बँधे नियमों का पालन भली भाँति करे। पर देश के नेता के लिए ऐसे कुछ नियम नहीं बने रहते। उसकी देश-भक्ति इसी में देखी जाती है कि वह देश के लिए ऐसा काम करे जो उसे सबसे अधिक लाभकारी हो। वह काम क्या होगा और उसे कौन से नियम पालन करने होंगे—इसका उसे स्वयं निश्चय करना पड़ता

है। जो बातें देश-भक्ति के आदर्श के विषय मे सही हैं, वे ही बातें नैतिकता के आदर्श के विषय मे भी सही है। नैतिकता की दृढता की कसौटी नियमों की कट्टरता नहीं है। नैतिकता की दृढ़ता मनुष्य की उस भावना मे है जिसके अनुसार वह अपने आप को सर्वोच्च बनाना चाहता है। अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए उपयुक्त नियम अथवा मार्ग मनुष्य स्वय ही बनाता या उनमे 'परिवर्तन करता है।

प्रश्न

१ नैतिक बनने की प्रेरणा मनुष्य मे कैसे आती है? बाहरी सत्ता उसे कहाँ तक नैतिक बना सकती है?

२. मनुष्य को नैतिक बनाने मे विभिन्न प्रकार की नैतिक सत्ताओ की उपयोगिता को स्पष्ट कीजिये।

३ नैतिक आचरण के प्रेरक कौन-कौन हैं? इस विषय में बेन्थम महाशय के विचारों की आलोचना करते हुए उन्हें स्पष्ट कीजिये।

४ अन्तरात्मा की सत्ता और विवेक की सत्ता की तुलनात्मक विवेचना कीजिये। नैतिक आदर्श की उपस्थिति ही नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता है—इस सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिये।

बीसवाँ प्रकरण

सद्गुण और उनका उपार्जन

सद्गुण की व्याख्या¹—चरित्र के सद्गुण मनुष्य के धर्म कहलाते हैं। वे मानव जीवन को सार्थक बनाते हैं। भारतीय दर्शनों में धर्म' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। धर्म शब्द के अर्थ मजहब' कर्तव्य विशेषगुण' प्रकृति अथवा समाज को चलाने वाले नियम' इत्यादि माने गये हैं। यहाँ पर हम धर्म शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में कर रहे हैं। पाश्चात्य कर्तव्य शास्त्र में धर्म शब्द के अर्थ चरित्र के वे सद्गुण हैं जिनके कारण मनुष्य अपने आपको और समाज को सुखी बनाता है। अंग्रेजी में इसका पर्यायवाची शब्द वरच्यू' है। अंग्रेजी वरच्यू शब्द लैटिन वीर शब्द से निकला है जिसका अर्थ वही है जो संस्कृत वीर' शब्द का है। वीर पुरुष साहसी और शक्तिशाली होता है। संसार के सभी काम शक्ति से चलते हैं। इस दृष्टि से वीरता अथवा धर्म संसार का सञ्चालक है क्योंकि संसार को धारण करनेवाला धर्म ही है। मनुष्य के व्यक्तित्व को सँभालनेवाला तत्त्व धर्म है। इस सँभालनेवाले तत्त्व के अनेक रूप हैं जिन्हें हम चरित्र के सद्गुण कहते हैं। जिस प्रकार हम बाह्य जगत् का कोई अनुशासन मानते हैं उसी प्रकार हमें अपने आन्तरिक जगत् का भी एक अनुशासक मानना पड़ता है। इस अनुशासक के कुछ नियम हैं। इन नियमों का पालन करना कर्तव्य माना जाता है। बाह्य जगत् के नियम प्राकृतिक नियम और आन्तरिक जगत् के नियम नैतिक नियम कहे जाते हैं। कर्तव्य शास्त्र इन नैतिक नियमों की व्याख्या करता है। इन नैतिक नियमों के पालन में ही कर्तव्य परायणता मानी जाती है। कर्तव्य के पालन करने से

---

1 Cardinal Virtues.

मनुष्य के मन मे विशेष प्रकार के संस्कार उत्पन्न होते हैं। बार-बार कर्तव्य के पालन से ये संस्कार दृढ हो जाते हैं। मनुष्य की भली आदतों के कारण ये संस्कार ही हैं। ये भली आदतें ही चरित्र के सद्गुण अथवा धर्म कहे जाते हैं।

प्रत्येक आदत एक क्रियात्मक मनोवृत्ति है। जिस मनुष्य का अभ्यास जिस प्रकार का होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति भी उसी प्रकार की हो जाती है। आदतें दो प्रकार की होती हैं, एक वे जो जानबूझ कर प्रयत्न-द्वारा अपने-आप में डाली जाती हैं, और दूसरी वे जो अपने आप पड़ जाती हैं। चरित्र के सद्गुण अथवा धर्म वे आदतें हैं जिसे मनुष्य जान-बूझकर अर्थात् विवेक की जाग्रतावस्था में ग्रहण करता है। जो आदतें अनायास पड़ जाती हैं अथवा अज्ञानावस्था मे आ जाती हैं, अथवा जो बाध्य होकर डाली जाती हैं उनका नाम चरित्र के सद्गुण नहीं कहा जाता है। वे धर्म नहीं हैं। किसी प्रकार की आदत के डालने में मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति को जहाँ तक काम मे लाता है और इस आदत के द्वारा वह जहाँ तक इस इच्छाशक्ति को बली बनाता है, वहाँ तक उस आदत को हम सद्गुण या धर्म कहते हैं। धार्मिक होने का अर्थ यही है कि हमारा चरित्र ऐसा बना है कि संसार के सत्यपथ पर चलने का अभ्यास हममे दृढ हो गया है। जब सदाचारी व्यक्ति किसी धर्म-संकट मे पड जाता है, तो वह प्रेय-मार्ग को ग्रहण न कर श्रेय मार्ग को ग्रहण करता है।

सद्गुणी के जीवन मे कुछ कठोरता पाई जाती है। इसमे त्याग और तपस्या की आवश्यकता होती है। चरित्र का प्रत्येक सद्गुण आत्मनियन्त्रण के द्वारा प्राप्त होता है। अरस्तू महाशय के कथनानुसार सद्गुण का एक लक्षण अतिक्रम का अभाव है। किसी प्रकार का अतिक्रम चरित्र का सद्गुण नहीं, बल्कि दुर्गुण माना गया है। इस प्रकार घोर तपस्या अथवा पूर्णतया निर्भीक रहने की आदत चरित्र के सद्गुण नहीं हैं। इनमे मनुष्य और समाज को लाभ न होकर हानि ही होती है। अतिक्रम से एक ओर मानसिक उथल-पुथल पैदा होती है तथा मनुष्य का जीवन शान्तिमय न होकर अपूर्ण हो जाता है और दूसरी ओर अनेक प्रकार के सामाजिक झंझट उठ खड़े होते हैं। किसी प्रकार के अतिक्रम से मनुष्य का अहंकार बढता है, जो अनेक प्रकार के अनर्थों का कारण होता है। अतएव अरस्तू महाशय ने मध्यममार्ग को ही नैतिक दृष्टि

न भेद मार्ग माना है और ऐसी भ्रान्त को सद्गुण कहा है, जिसके द्वारा मध्य-मध्यमार्ग का अनुसरण हो। जिस प्रकार भोग-विलास का अतिक्रम चरित्र का दुर्गुण है, उसी प्रकार घोर तपस्या भी चरित्र का दुर्गुण है। अरस्तू महाशय के कथनानुसार सद्गुण का एक लक्षण प्रसन्नता की उत्पत्ति है। किसी प्रकार के अतिक्रम से प्रसन्नता का नाश होता है। अतएव अतिक्रम का होना चरित्र के दोष को दर्शाता है। अतिक्रम मनुष्य की इच्छा शक्ति की दृढ़ता का नहीं वरन् उसकी निर्बलता अथवा हठीलेपन का सूचक है*।

जैसा कि पिछले एक प्रकरण में कहा जा चुका है कि मध्यममार्ग सभी व्यक्तियों के लिए एक ही नहीं होता। व्यक्तिगत भेद और परिस्थितिभेद के अनुसार यह भिन्न भिन्न होता है। जितने त्याग और तपस्या की आशा एक भिक्षु से की जाती है उतने की आशा एक गृहस्थ से नहीं की जाती। ऐसी मधुक न करना समय-समय पर मौन रहना एक बार भोजन करना आदि अभ्यास भिक्षु के लिए चरित्र के सद्गुण हैं पर ये सद्गुण किसी-किसी परिस्थिति में दूसरे व्यक्तियों के चरित्र में दुर्गुण का रूप धारण कर लेते हैं। जितनी बहादुरी की आशा एक एक सैनिक से करते हैं उतनी एक वाणिज्य-व्यवसायी से नहीं करते। जब कोई व्यक्ति अपनी परिस्थिति को समझकर उसके उपयुक्त अभ्यास नहीं डालता तो वह चरित्र में सद्गुण को न उत्पन्न कर दुर्गुण को ही उत्पन्न करता है। उचित मात्रा में किसी प्रकार के त्याग तपस्या साहस उदारता आदि इत्यादि चरित्र के शुभ लक्षण हैं। उचित मात्रा क्या है इसका निर्णय समाज के कल्याण अथवा मनुष्य के सामाजिक जीवन के लाभ को देखकर

---

*अरस्तू के मध्यम मार्ग के सिद्धान्त में हम बुद्ध भगवान् के मध्यम प्रतिपदा का आभास पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है मानो दो भिन्न-भिन्न भाषाओं में दो व्यक्तियों ने एक ही बात कही है। बुद्ध भगवान् ने एक ओर विषय-लोलुपता के जीवन की निन्दा की है और दूसरी ओर घोर तपस्या के जीवन की भी उन्होंने दोनों प्रकार के जीवन का अनुभव किया और दोनों को ही दुःख और अशान्ति का वृद्धि करनेवाला पाया। समता के भाव के बिना मनुष्य के मन में न तो शान्ति आती है और न उसे लम्बा लाभ ही होता है।

करना चाहिए। अरस्तू महाशय के कथनानुसार मध्यममार्ग मनुष्य की बुद्धि की कुशलता और उसकी सूक्ष्म-दृष्टि पर निर्भर है। समाज के महान् पुरुषों के चरित्र इस निर्णय मे सहायक होते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सद्गुण के तीन प्रधान लक्षण हैं—

(१) विवेकशीलता अर्थात् स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का कार्य,
(२) प्रसन्नता, और
(३) अतिक्रम का अभाव।

सद्गुण में देश काल का स्थान—मनुष्य के सद्गुण देश और काल के ऊपर निर्भर है। मनुष्य के चरित्र के एक प्रकार के गुण एक देश अथवा एक काल में बहुत भले माने जाते हैं, और दूसरे देश तथा दूसरे काल में उतने भले नहीं माने जाते हैं। भिन्न-भिन्न समय के लोगों के सद्गुण-सम्बन्धी विचार भिन्न-भिन्न होते हैं। जिन लोगों को दूसरे लोगों से लड़ने की आवश्यकता हर समय पड़ती रहती है, युद्ध में वीरता को उनके लिए एक बड़ा सद्गुण माना जाता है। शान्तिप्रिय देशों अथवा शांति की अवस्था में शम और आत्म-निग्रह को अधिक बड़ा गुण माना जाता है। मुस्लिम देशों मे आत्म-निग्रह अथवा शम और संतोष को उस दृष्टि से नहीं देखा जाता, जिस दृष्टि से इन गुणों को भारतवर्ष में देखा जाता है। सतीत्व के भाव को हमारे देश मे जिस प्रकार का महत्व दिया जाता है, वैसा महत्व दूसरे देशों मे नहीं दिया जाता। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वर्तमान समय के सद्गुण और पुराने समय के सद्गुणों में कोई साम्य है ही नहीं, अथवा एक देश और दूसरे देश के सद्गुणों मे साम्य नहीं है। प्राचीनकाल मे रण-भूमि में प्रदर्शित की गई वीरता की प्रशंसा की जाती थी और वर्तमानकाल में समाज की रूढ़ियों के विरोध करने में साहस की प्रशंसा की जाती है। अब वैयक्तिक जीवन की पवित्रता को उतना महत्व नहीं दिया जाता, जितना सामाजिक जीवन की पवित्रता को दिया जाता है। समाज में चरित्र के उन गुणों की प्रशंसा सदा की जाती है, जो समाज को स्थिर बनाये रखते हैं। प्रत्येक सुगठित समाज मे बहादुरी, उदारता, आत्म-संयम और विवेकशीलता की आवश्यकता पड़ती

है। इन गुणों के बिना कोई समाज चल नहीं सकता। अतएव किसी-न-किसी रूप में इन सभी गुणों की वृद्धि की जाती है।

सद्गुणों में व्यक्तिगत भेद—चरित्र के सद्गुण सभी लोगों में एक से नहीं होते। इनमें व्यक्तिगत भेद होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के व्यवसायों के अनुसार उनके कर्तव्यों में भेद होते हैं उसी प्रकार उनके चरित्र के सद्गुणों में भी भेद होते हैं। एक बुद्धिजीवी अथवा वणिक से उतनी शूर-वीरता की आशा नहीं की जाती जितनी कि एक सैनिक से की जाती है। इनसे क्षमा और दानशीलता की अधिक आशा की जाती है। अरस्तू महाशय ने सद्गुण को बीच का मार्ग कहा है। किन्तु भिन्न भिन्न व्यक्तियों के लिए बीच का मार्ग भिन्न-भिन्न होता है। अपने जीवन के व्यवसायों और अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार मनुष्य को भिन्न भिन्न मात्रा में किसी सद्गुण की वृद्धि करनी पड़ती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने मनुष्यों के धर्मों को उनके गुण और कर्मों के ऊपर आधारित बताया है और प्रत्येक व्यक्ति को स्वभाव के अनुसार आचरण करने का आदेश दिया है। *

स्वार्थ-सद्गुण और परार्थ सद्गुण—नीतिशास्त्र के पाश्चात्य पंडितों ने मनुष्य के सद्गुणों को स्वार्थ और परार्थ दो भागों में विभाजित किया है। स्वार्थ सद्गुण वे हैं जो वैयक्तिक उन्नति के काम में आते हैं और परार्थ-सद्गुण वे हैं जो समाज की सेवा करने अथवा समाज को उन्नत बनाने के काम में आते हैं। इन्द्रिय निग्रह, सन्तोष, मितभाषण, विवेक, धीरता आदि सद्गुण अधिकतर अपने आप से ही सम्बन्ध रखते और मनुष्य के जीवन को उन्नतिशील बनाते हैं। इसके प्रतिकूल दानशीलता न्यायप्रियता और

---

* भगवान् कृष्ण कहते हैं—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।"

यहाँ स्वधर्म का अर्थ किसी मत मतान्तर से नहीं वरन् मनुष्य के कर्तव्य अथवा चरित्र के सद्गुणों से है। जो मनुष्य अपने गुण-कर्म के प्रतिकूल किसी काम को करता है अथवा किसी गुण का अभ्यास करता है वह अपने जीवन को क्लेशमय बनाने की तैयारी करता है।

शूर वीरता सामाजिक सद्गुण है। इनके द्वारा मनुष्य अपने सामाजिक जीवन को सफल बनाता और समाज का कल्याण करता है। अतएव ये गुण परार्थ सद्गुण कहे जाते है।

स्वार्थ और परार्थ सद्गुणों का भेद वास्तव मे कोई मौलिक भेद नहीं है। यह केवल ऊपरी भेद है। वास्तव मे जिन सद्गुणो से मनुष्यों का वैयक्तिक जीवन सफल होता है, उन्हीं सद्गुणों से उसका सामाजिक जीवन भी सफल होता है और जिन सद्गुणो से कोई व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से उन्नतिशील होता है, उन्हीं सद्गुणों से सम्पूर्ण समाज भी उन्नत होता है। समाज-सम्बन्धी सद्गुण भी व्यक्ति का उसी प्रकार लाभ करते हैं, जिस प्रकार वे समाज का लाभ करते है। उदारता और न्याय-प्रियता दूसरों का लाभ करते हैं, किन्तु अपने मन मे उदारता का भाव रखने से मनुष्य अपनी प्रसन्नता को बढाता है और अपनी न्याय-प्रियता से वह अपनी इच्छा-शक्ति को दृढ बनाता है। इस प्रकार उक्त दोनो गुण सामाजिक और वैयक्तिक दृष्टि से, अर्थात् दोनों प्रकारों से उपादेय हैं।

प्रधान सद्गुण—प्रधान सद्गुण सम्बन्धी विचार भिन्न-भिन्न देशों मे भिन्न-भिन्न है। जिन गुणों को पुराने समय के यूनानी लोग प्रधान सद्गुण मानते थे, उन्हे मध्यकालीन यूरोप के ईसाई लोग प्रधान सद्गुण नहीं मानते थे। यूनानी मत और ईसाई मत में कुछ भेद अवश्य रह आया है, पर भेद होते हुए भी दोनों में कुछ समानता है। यूनानी विचार-धारा के अनुसार मुख्य सद्गुण चार हैं—आत्म-सयम[1], शौर्य[2], विवेकशीलता[3] और न्याय-प्रियता[4]। इन गुणों की रूप-रेखा हम प्लेटो महाशय की 'रिपब्लिक नामक पुस्तक मे पाते है। सयम का अर्थ अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण है। शौर्य का अर्थ लड़ाई में बहादुरी है। विवेकशीलता अपने जीवन को समझ बूझकर चलाने में है और न्यायप्रियता दूसरे को उसके उचित अधिकार के अनुसार काम करने देने मे है। ईसाई धर्म मे दूसरे ही प्रकार के सद्गुणों पर जोर डाला गया है। उसमे आशा[5], श्रद्धा[6], उदारता[7], चरित्र की पवित्रता[8] और आत्म-समर्पण[9] महान् सद्गुण बताए गये हैं। यूनानी लोगों ने अपने नैतिक विचारों में ईश्वर और

1 Temperance 2 Courage 3 Wisdom 4. Justice 5 Hope 6 Faith. 7 Charity. 8 Purity 9 Self-abnegation

धर्म को स्थान नहीं दिया है। जिस व्यक्ति में चरित्र के सभी प्रकार के सद्गुण हैं किन्तु आत्मसमर्पण करने का भाव नहीं है वह ईसाई दृष्टि से सद्गुणी ही नहीं कहा जायगा। महात्मा कबीर ने चरित्र के गुणों को शून्य के रूप में और ईश्वरोपासना को अंक के रूप में माना है। अंक के अभाव में शून्य अर्थहीन है और उसकी उपस्थिति में शून्यसार्थक हो जाता है। इसी तरह मनुष्य के चरित्र के सभी सद्गुण तभी सार्थक होते हैं जब वे ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण करने के पश्चात् होते हैं। आत्म-समर्पण की मनोवृत्ति के अभाव में मनुष्य के सद्गुण उसके कोरे अभिमान को बढ़ाते और उसे विनाश की ओर ले जाते हैं। कबीर का जो मत है वही मत ईसाई धर्म के एक महान् सन्त सेन्ट अगस्टाइन का भी है। ०

इस प्रसंग में सेन्ट आगस्टाइन महाशय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

० For though the soul may seem to rule the body admirably and the reason the vices if the soul and reason do not themselves obey God, as God has commanded them to serve Him they have no proper authority over the body and the vices. For what kind of mistress of the body and the vices can that mind be which is ignorant of the true God and which instead of being subject to His authority is prostituted to the corrupting influences of the most vicious demons ? It is for this reason that the virtues which it seems to possess itself and by which it restrains the body and the vices that it m y obtain and keep what it desires are rather vices than virtues so long as there is n reference to God in the matter For although some suppose that virtues which have a referen e only to themselves and are desired only on their own account are yet true and genuine virtues, the fact is that even then they ar inflated with prid and are therefore to be reckoned vices rather than vir tues. For as that which gives lif to the flesh is not derived

समय के अनुसार सद्गुण-सम्बन्धी विचारों का परिवर्तन होता जाता था। एक ही नाम से पुकारे जानेवाले सद्गुण यूनानी काल मे एक अर्थ रखते थे और वर्तमान काल मे दूसरा अर्थ रखते हैं। उदाहरणार्थ शौर्य (बहादुरी) को लीजिये। यूनानी काल मे रण मे जो वीरता दिखाई जाती थी, उसीको शौर्य कहा जाता था, पर वर्तमान काल में समाज की कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाने मे जो हिम्मत की आवश्यकता होती है, उसे भी शौर्य कहते हैं। अपने विरोधियों की आलोचना सहते हुए न्यायपक्ष पर डटे रहना उतना ही कठिन है, जितना किसी प्रबल शत्रु का रण में विरोध करना। आत्म-सयम शब्द के अर्थ में भी इसी प्रकार परिवर्तन हुआ है। किसी प्रबल प्रलोभन से चलायमान न होने की मनोभावना को आत्म-सयम कहा जाता है, परन्तु लगन के साथ काम करने में भी आत्म-सयम की आवश्यकता होती है। अतएव अब आत्म सयम के अन्तर्गत मनोयोग से अपने काम में लगे रहने का भाव भी आ जाता है। इसी प्रकार न्यायपराणता के अन्तर्गत दूसरों के प्रति उदारता दिखाने का भाव भी आ जाता है। सामान्यतः न्यायपरायणता दूसरों के प्रति अपने ऋण को ठीक से चुकाने का अर्थ रखती है। जिस व्यक्ति ने हमारे प्रति भला किया है, उसके प्रति हमे भी भला करना चाहिए, यही न्यायपरायणता है। न्यायपरायणता में साधारणतः उदारता का भाव नहीं आता। पर विचारों के विकास के साथ-साथ अब यह भाव भी आता जा रहा है। विवेकशीलता का पुराना अर्थ समाज मे कुशलता पूर्वक आचरण करना था। अदूरदर्शिता को अविवेकशीलता कहा जाता था। पर अब विवेकशीलता का अर्थ अपने आपको उचित आदर्श की प्राप्ति मे लगाना भी माना जाता है।

यूरोप में जिन सद्गुणों को ऊँचा माना गया है, उन्हें भारतवर्ष में वैसा ही ऊँचा नहीं माना गया। अतएव यूरोपीय विचार-धारा को समझने समय

---

fron flesh, but is above it, so that which gives blessed life to man is not derived from man but is something about him, and what I say of man is true of every celestial power and virtue whatsoever— Saint Augustine. The City of God Bk. XIV Sec 25.

बड़ों के सद्‌गुण-द्योतक शब्दों को जानना आवश्यक है। किसी विशेष शब्द के द्वारा यूरोप में होता है जिस भाव का समावेश होता है; उस भाव का समावेश उसके पर्यायवाची हिन्दी अथवा संस्कृत शब्द में नहीं होता। किसी राष्ट्र की संस्कृति का विकास उसकी भाषा के विकास के साथ साथ होता है। अतएव सांस्कृतिक भावों के द्योतक शब्दों को जाने बिना किसी समाज की संस्कृति को समझना कठिन है।

सद्‌गुणों की एकता—चरित्र के अनेक सद्‌गुण माने गये हैं। इनमें देश-काल का भी भेद होता है। पर यदि हम तात्त्विक दृष्टि से देखें तो चरित्र के सभी सद्‌गुणों में एकता रहती है। एक सद्‌गुण की वृद्धि से मनुष्य के दूसरे सद्‌गुणों की भी वृद्धि होती है और एक के ह्रास से दूसरों का ह्रास होता है। अतएव यह यूनानी कहावत सार्थक है कि जिस व्यक्ति में एक सद्‌गुण पाया जाता है, उसमें दूसरे सद्‌गुण भी पाये जाते हैं। ऐसा कोई सद्‌गुण नहीं, जिसको प्राप्त करने के लिये विवेक की आवश्यकता न हो। अतएव सुकरात महाशय ने विवेक को प्रधान सद्‌गुण माना है। विवेकयुक्त साहस ही साहस माना जाता है। विवेक के प्रतिकूल जो साहस दिखाया जाता है उसे हठ कहा जाता है। हमारा विवेक हमें साहसी आत्म-संयमी और न्यायप्रिय बनाता है। अतएव विवेक-द्वारा सभी सद्‌गुणों में एकता आती है। अब यदि हम आत्म-संयम की दृष्टि से देखें तो भी हमें चरित्र के सभी सद्‌गुणों में एकता दिखाई देगी। जिस व्यक्ति को अपने ऊपर काबू नहीं है, वह न तो विवेकी है और न साहसी या न्याय-परायण ही। आत्म-संयम से विचारों में स्पष्टता और दृढ़ता आती है उत्साह की वृद्धि होती है और मनुष्य न्याय-प्रिय बनता है। विचार और आत्म-संयम का अभ्यास सभी सद्‌गुणों के मूल हैं। इनके बिना कोई सद्‌गुण संभव नहीं। विचार और आत्म-संयम भी एक दूसरे पर आश्रित हैं।

चरित्र निर्माण के साधन

निर्देश और उदाहरण का प्रभाव—नीति-शास्त्र के अध्ययन का प्रधान उद्देश्य अपने चरित्र को नैतिक बनाना है। बालकों का चरित्र नैतिक कैसे बनाया जाता है इसे हम शिक्षा मनोविज्ञान से सीखते हैं। बालकों के चरित्र के निर्माण का जो ढंग है, वही ढंग प्रत्येक आप के चरित्र-निर्माण का भी है।

चरित्र के निर्माण में ऊँचे आदर्शों और अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान आवश्यक है। परन्तु इनके अतिरिक्त और भी भली आदतों के बनने की आवश्यकता होती है। ये भली आदतें दूसरे लोगों के सन्निर्देश और आचरण के प्रभाव से बनती हैं। हम जिस प्रकार के वातावरण में रहते और दूसरे भले लोगों को जैसा आचरण करते देखते हैं, उसी प्रकार का आचरण करने की प्रवृत्ति हमारे मन में भी उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य अपने आप को भला बनाना चाहता है। परन्तु यदि उसमें इच्छा-शक्ति का बल नहीं है, तो केवल भले आदर्शों के ज्ञान से ही वह भला नहीं बन जाता। नैतिकता पर विचार न करके आचरण करनेवाले व्यक्ति को नैतिक ज्ञान से लाभ न होकर कभी-कभी हानि ही होती है। इच्छा-शक्ति की निर्बलता की अवस्था में जब किसी मनुष्य को नैतिक ज्ञान दिया जाता है, तब इसमें उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उसका बाह्य मन तो आदर्शवादी बन जाता है, किन्तु अन्तर मन पाशविक अवस्था में ही रहता है। इसके परिणाम-स्वरूप उसके मन के दोनों भागों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है, जिससे उसकी मानसिक शक्ति का अपव्यय होता है। इससे उसकी इच्छा-शक्ति और भी निर्बल हो जाती है और वह अपनी इच्छा के प्रतिकूल अपने आपको अपराध की ओर जाते हुये पाता है।

यदि ऐसे व्यक्ति को नैतिक उपदेश न देकर सहज भाव से सदाचरण के लिये निर्देश दिये जायें, यदि उसकी प्रशंसा करके उसके आत्म विश्वास को बढ़ाया जाय, तो उसका अधिक कल्याण होगा। अपने आप को दिये गये कल्याणकारी आत्म-निर्देश भी हमें अधिक उन्नत बना सकते हैं। अंग्रेजी में एक कहावत है कि सफलता के समान सफलता देनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जो मनुष्य अपने विचारों को रचनात्मक बना लेता है, वह अपने आप में नैतिक सुधार करने में समर्थ होता है।

भले लोगों का आचरण भी हमें चरित्र-निर्माण में प्रोत्साहन देता है। दूसरे लोग जैसा काम करते हैं, वैसा ही काम करने की प्रवृत्ति हम में भी उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक बुरा अथवा भला आचरण संक्रामक होता है। जब किसी व्यक्ति का आचरण विशेष प्रकार का होता है, तो दूसरे लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। फिर उसकी विभिन्न क्रियाएँ दूसरे लोगों के मन में उसी

के समान आचरण करने के लिए प्रेरणा उत्पन्न करने लगती है। अतएव किसी विशेष व्यक्ति के आचरण में दूसरे लोगों को प्रभावित करने की शक्ति सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक होती है। यदि इस विशेष व्यक्ति का चरित्र बहुत सुन्दर हुआ, तो उसके आस-पास रहनेवाले सभी लोगों का चरित्र अपने आप ही सुन्दर हो जाता है।

एक बार सेण्ट फ्रैन्सिस नामक ईसाई महात्मा ने अपने एक मित्र से कहा "चलो, आज हम इस नगर के लोगों को कुछ धर्मोपदेश दे आयें।" उनकी यह बात सुनकर उनके शिष्य उनके साथ हो लिये। प्रातःकाल वे अपने मठ से निकले और पूरे दिन उस नगर में घूमते रहे। यहाँ तक कि एक भी गली ऐसी न रही जहाँ वे न गये हों। जब दिन ढलने लगा तब वे मठ की ओर लौटने लगे। इसी बीच एक शिष्य ने सेण्ट फ्रैंसिस से पूछा— "पिता! हम धर्मोपदेश देना कब प्रारम्भ करेंगे?" इस पर सेण्ट फ्रैंसिस ने कहा— "हम लोग अभी तक क्या कर रहे थे? हम इस नगर के एक-एक गली में गये। इस नगर के लोगों के लिये यह धर्मोपदेश था। उन लोगों ने हमें देखा, हमारे उपदेशों के बारे में कुछ ने आपस में चर्चा की और वे त्याग के जीवन की महत्ता को अपने हृदय में दृढ़ कर सके। भले मार्ग पर चलने में अब उन्हें उतनी कठिनाई न होगी, जितनी पहले होती थी। क्या यह धर्मोपदेश नहीं है?"

उपर्युक्त सन्त का आचरण चरित्र-निर्माण में उदाहरण की महत्ता को दर्शाता है। वास्तव में हम केवल किसी विशेष व्यक्ति के आचरण से ही नहीं, वरन् अपने सम्पर्क में आनेवाले सभी लोगों के आचरणों से प्रभावित होते हैं। अतएव किसी विशेष व्यक्ति के आचरण को सुधारने के लिये सम्पूर्ण वातावरण को सुधारना पड़ता है।

व्यापक उद्देश्य की उपस्थिति—अपने आपको किसी एक महत्त्व के लक्ष्य की प्राप्ति में लगा देना चरित्र-निर्माण का दूसरा उपाय है। जब तक कोई मनुष्य किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति में अपने आपको नहीं लगा देता तब तक उसमें चरित्र के वे सद्गुण नहीं आते जो उसके जीवन को आदर्श जीवन बनाने के लिये आवश्यक हैं। किसी महान् उद्देश्य में लगने पर उसे उसी उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु दूसरे लोगों के साथ काम करना पड़ता है और यह दूसरों के

साथ काम करना मनुष्य के चरित्र का वास्तविक निर्माण करना है। किसी मनुष्य का उद्देश्य विज्ञान का अध्ययन, किसी का समाज की सेवा, और किसी का उद्देश्य कविता अथवा कला की वृद्धि अथवा धर्म का प्रचार आदि हो सकता है। मनुष्य का उद्देश्य चाहे जो कुछ हो, पर जब तक वह इस प्रकार का नहीं हो जाता कि उद्देश्य के लिये वह अपने आपको भूल जाये, तब तक उसका चरित्र सुगठित नहीं होता। किसी सद्गुण के विकास के लिये यह आवश्यक है कि हम दूसरों से मिलकर किसी ऐसे उद्देश्य के लिये प्रयत्न करें, जो सच्चा और तात्विक है।

अभ्यास को महत्ता—चरित्र का प्रत्येक सद्गुण अभ्यास से आता है। ऐसा कोई सद्गुण नहीं, जिसे मनुष्य अभ्यास के द्वारा प्राप्त न कर ले। मनोविज्ञान की पुस्तकों में चरित्र के सद्गुणों को प्राप्त करने के उपाय बताये जाते है। भली आदतें ही चरित्र के सद्गुण और बुरी आदतें चरित्र के दुर्गुण कहे जाते हैं। आदत डालने के जो नियम हैं, वे ही सद्गुण-प्राप्ति के नियम हैं। किसी सद्गुण को प्राप्त करने के लिये हमें पहले उस पर पर्याप्त विचार, फिर नित्य-प्रति अभ्यास करना पड़ता है। जिस व्यक्ति का सकल्प जितना दृढ होता है, किसी सद्गुण को प्राप्त करने मे वह उतना ही अधिक समर्थ होता है। अभ्यास को लगातार जारी रखना आवश्यक है। प्रारभ मे ही अभ्यास मे ढिलाई डाल देने पर आदत नही बनती, और इस प्रकार कोई भी सद्गुण नहीं होता।

तप और त्याग—चरित्र निर्माण के लिए तप और त्याग भी आवश्यक होते हैं। अपनी प्राकृतिक इच्छाओं के वश में होकर हम अपने आप को किसी एक ओर जितना ही मोड देते है, उतना ही हमें स्वय को दूसरी ओर मोड़ने की आवश्यकता होती है, जिससे कि हम स्वाभाविक साम्य को प्राप्त कर सकें। इस प्रकार जिस मनुष्य को विलासिता की लत लग गई है, मानसिक साम्य प्राप्त करने के लिए उसे तप के जीवन की आवश्यकता होती है। अतएव जो व्यक्ति जितना ही आराम का जीवन व्यतीत कर रहा है, उसे अपने चरित्र निर्माण के लिए उतना ही कठोर जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

तप के जीवन की एक और उपयोगिता है। तप में मनुष्य को अपने आप को नियन्त्रित करना पड़ता है। अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए उसे यत्न करना पड़ता है। इससे उसकी इच्छा-शक्ति

बलवती होती है। जो व्यक्ति अपने आप से लड़कर अपने पाशविक स्वभाव पर जितना ही अधिकार करता है, वह अपनी इच्छा-शक्ति को उतनी ही अधिक बलवती बनाता है। परन्तु आत्मदमन तभी उपयोगी होता है जब वह मनुष्य के जीवन में सहज रूप से उपस्थित हो जाता है। जब जान-बूझकर इस प्रकार के आत्मदमन को लाया जाता है, अर्थात् जब मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वभाव पर नियंत्रण करने के लिए ही कोई कठोर तप करने लगता है तब उसमें असाधारण अभिमान उत्पन्न हो जाता है। आत्म-विजय की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति के मन में अभिमान का उत्पन्न होना मानसिक साम्य के बिगड़ने की स्थिति को बताता है। इस मानसिक रोग की अवस्था कहा जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की भोगेच्छाएँ अपनी तृप्ति का गुप्त मार्ग खोज निकालती हैं।

आत्म निरीक्षण—चरित्र निर्माण के लिए आत्मनिरीक्षण करते रहना कुछ दूर तक आवश्यक होता है। इससे मनुष्य अपने को बहुत दूर तक नैतिक भूलों से बचाता रहता है। परन्तु अपनी त्रुटियों की आलोचना सदा ही करते रहना और उसके लिये आत्म भर्त्सना करते रहना एक प्रकार का मानसिक रोग है। इससे मनुष्य की इच्छा शक्ति बलवती न होकर क्षीण हो जाती है और मनुष्य का चरित्र विघटित होने लगता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति से बचने का एक उपाय यह है कि हम अपने को सदा ही रचनात्मक कार्य में लगाए रखें। किसी दुर्बलता से बचने का सब उत्तम उपाय उस दुर्बलता पर ध्यान न लगा कर उसके विरोधी सद्गुणों के अभ्यास में अपना ध्यान लगाना है। मनुष्य का ध्यान जिस ओर केन्द्रित रहता है वह अपने आपको अनायास उसी ओर जाते हुए पाता है। यदि कोई मनुष्य किसी बुराई के लिए अपनी भर्त्सना करता रहता है तो वह देखेगा कि वह आगे न बढ़कर पीछे की ओर ही ढकेला जाता है। आत्म-भर्त्सना का भाव न आने दे उसमें भले ही वह दुर्गुण जिसके लिए वह आत्म भर्त्सना करता है, परन्तु इस प्रकार उसमें कोई ऐसे सद्गुण दृढ़ न होंगे जिससे कि उसका चरित्र दृढ़ बने। चरित्र की दृढ़ता अपने ध्यान को किसी रचनात्मक सद्गुण के ऊपर केन्द्रित करने से हो जाती है। एमसन महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि भले लोग अपनी भूलों का प्रायश्चित्त नये भले

काम करने के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार से नहीं करते।* वे पुरानी भूलों के लिए सदा आत्म-भर्त्सना नहीं करते।

उपर्युक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य को अपनी दुर्बलताओं को जानने की चेष्टा तथा आत्मनिरीक्षण ही न करना चाहिए। अपने आपको सुधारने और दृढ़ चरित्र-गठन के लिए अपनी दुर्बलताओं को पहचानना नितांत आवश्यक है। परन्तु जो व्यक्ति इतने से ही संतोष कर लेता है, वह अपने आपको धोखा देता है। वह सदा आत्म-भर्त्सना की अनुभूति करता रहता है। ठोस चरित्र का निर्माण आलोचनात्मक विचारों से नहीं, वरन् रचनात्मक विचारों से होता है। इसके लिए मनुष्य को ऐसा आचरण करना चाहिए, जिससे उसे आत्म-प्रसाद और आत्म संतोष की अनुभूति हो।

आत्म-निरीक्षण से चरित्र का कोई भी सद्गुण प्राप्त किया जा सकता है। पर इस अभ्यास को जारी रखने के लिये मनुष्य में इच्छा की प्रबलता का होना आवश्यक है। मनुष्य जिस लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, उसे वह अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। इच्छा की प्रबलता ही उसकी लगन का आधार होती है। इच्छा की यह प्रबलता किसी पदार्थ के ऊपर बारबार विचार करने से आती है।

चरित्र का कोई भी सद्गुण एकाएक प्राप्त नहीं होता। चरित्र के सद्गुणों को प्राप्त करना अपने प्राकृतिक स्वभाव के प्रतिकूल जाना है। जब कोई व्यक्ति किसी एक गुण की वृद्धि एकाएक कर लेता है, तो उसकी प्राकृतिक इच्छाओं का प्रबल दमन हो जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप उसके मन में अनेक प्रकार की प्रतिक्रियायें उत्पन्न हो जाती हैं और उसका सद्गुण ही उसकी मानसिक अशान्ति का कारण बन जाता है।

आत्म-संयम—चरित्र के सभी गुणों के लिये आत्म-संयम की आवश्यकता है। यह दूसरों के कल्याण और आत्म-कल्याण के लिये आवश्यक है।

---

* "New Actions are the only appologies and explanations of the old which the noble can bear to receive or offer"—

Emerson—Complete Works

जिस व्यक्ति को समाज का कोई काम करना है, उसे आत्म-संयम की आवश्यकता तो है ही पर जो अपना जीवन सुखी बनाना चाहता है उसे भी आत्म संयम की आवश्यकता है।

आत्म संयम के विपरीत विषय-लोलुपता है। विषय-लोलुपता से वैयक्तिक हानि है। जिस मनुष्य में आत्म संयम का अभाव है और विषय-लोलुपता की वृद्धि होती है, वह विषय-भोग से भी सुख प्राप्त नहीं कर पाता। विषयों के भोग करने की शक्ति उसमें नहीं रह जाती है। सब प्रकार के भोग अपने समक्ष रखकर भी वह उनसे सुख प्राप्त नहीं कर सकता। इससे यह प्रकट है कि सुख विषयों में नहीं बल्कि हमारी मानसिक शक्ति में ही है। जो व्यक्ति जितना ही विषयोन्मुख होता है वह उतना ही शक्ति-हीन होता है और उसमें विषय-सुख भोगने की उतनी ही कमी होती है। मन को बार-बार सुख में ले जाने से और एक हानि होती है। इस प्रकार मनुष्य की इच्छा शक्ति निर्बल हो जाती है। इच्छा-शक्ति के निर्बल हो जाने पर मनुष्य वासनाओं का दास बन जाता है। इस प्रकार की मानसिक गुलामी से मनुष्य सदा दुखी बना रहता है।

अब प्रश्न आता है कि आत्म नियन्त्रण कैसे प्राप्त किया जाय। इस प्रसंग में रूस के प्रसिद्ध लेखक और समाज-सुधारक महात्मा टाल्सटाय का निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय है— आत्म-नियंत्रण को प्राप्त करने के लिये पहले उन बुराइयों को जीतना चाहिये जो स्थूल रूप से दिखाई देती हैं। पीछे सूक्ष्म बुराइयों को वश में किया जा सकता है। बकवाद करना, निंदा करना किसी के बारे में अशुभ सोचना, ईर्ष्या करना आदि सूक्ष्म बुराइयाँ हैं। चोरी, व्यभिचार, आलस्य, चटोर वृत्ति, पेटूपन में स्थूल रूप से परिश की बुराइयाँ हैं। पहले हमें स्थूल बुराइयों को छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये पीछे सूक्ष्म बुराइयाँ धीरे धीरे छूटेंगी। महात्मा टाल्सटाय ने आत्म-नियंत्रण को प्राप्त करने के लिये पहला कदम उपवास का रखना बताया है। मनुष्य की जिह्वा को वश में करने का साधन उपवास है यह चटोरपन और पेटूपन की आदत का विनाशक है। वर्तमान सभ्यता चटोरेपन की सभ्यता है। इससे जिह्वा का नियंत्रण शिथिल होता है। हमारे प्रत्येक मंगल-कार्य में खाने का ही प्रथम ध्यान रहता है। किसी के मिलने-जुलने में शादी-विवाह में

भजन-कीर्तन में, गाने-रोने में—सभी जगह भोजन का स्थान अवश्य रहता है। मंदिरों मे प्रसाद के लिये जितने लोग जाते हैं, उतने हरिकीर्तन के लिये नहीं जाते। जहाँ प्रसाद की कमी हो जाती है, वहाँ दर्शकों की भीड भी कम हो जाती है। इस प्रकार हमारे सभी कार्यों के द्वारा जिह्वा का नियन्त्रण शिथिल होता है।

फिर भोजनों मे भी नये-नये आविष्कार होते जाते है। धनी लोग दिन में कभी चार बार और कभी छह बार खाते हैं। प्रत्येक समय कुछ नये खाद्य-पदार्थ की चाह रहती है। बहुत से धनी लोगों के रसोइये दिन भर कुछ-न-कुछ रसोई तैयार ही करते रहते हैं। फिर खाने के पदार्थों में जितना ही परिवर्तन किया जाता है, मन उनसे उतना ही असतुष्ट होता जाता है।

इस प्रकार की ग्वन्नू-बीमारी की उचित चिकित्सा उपवास ही है। यदि प्रत्येक धनी व्यक्ति महीने में दो बार उपवास करे, तो एक ओर उसे भूख अधिक लगेगी जिसके कारण उसे नित्य प्रति खाने को नई-नई वस्तुओं को खोजने की आवश्यकता न हो, और दूसरी ओर समाज में रसोइए कहलाने वाले लोगों का समय बच जाएगा। इससे उनके स्वास्थ्य में भी पर्याप्त सुधार हो जाएगा। उपवास का लक्ष्य केवल किसी एक दिन बिना भोजन के रह जाना नहीं, वरन् बार-बार भोजन करने की आदत और चटोरापन को छोड देना है। इससे अनेक प्रकार के लाभ हैं।

जो व्यक्ति पेटूपन को छोड देता है, उसमे आलस्य भी नहीं ठहरता। जब आलस्य की आदत छूट जाती है, तो मनुष्य में कामुकता भी कम हो जाती है। जो जिह्वा के लालच को वश में कर लेता है, वह कामुकता के प्रलोभन को भी जीत लेता है। इसी प्रकार उसमे धीरे-धीरे अपनी वाणी और विचारों पर नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। अतएव जो व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण प्राप्त करना चाहता है, उसे नियन्त्रण भोजन से प्रारभ करना चाहिये। किसी प्रकार के अतिक्रम के प्रायश्चित-रूप उपवास भी लाभकारी होना है।

जब आत्म-नियंत्रण प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति सुख को एकाएक त्याग करके कठोर तपस्या का जीवन व्यतीत करने लगते हैं, तब इस प्रकार की तपस्या के जीवन में आत्मसयम की वृद्धि नहीं, अपितु रोगों की उत्पत्ति होती है। एकान्तता से मनुष्य एक प्रकार के सद्गुण को भले ही प्राप्त कर ले, पर उसमें दूसरे दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। दुर्वासा ऋषि भारी तपस्वी थे, पर उनमें

जिस व्यक्ति को समाज का कोई कार्य करना है, उसे आत्म-संयम की आवश्यकता है ही पर जो अपना जीवन सुखी बनाना चाहता है उसे भी आत्म-संयम की आवश्यकता है।

आत्म संयम के विपरीत विषय-लोलुपता है। विषय-लोलुपता से वैयक्तिक हानि है। जिस मनुष्य में आत्म संयम का अभाव है और विषय-लोलुपता की वृद्धि होती है वह विषय-भोग से भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। विषयों के भोग करने की शक्ति उसमें नहीं रह जाती है। इस प्रकार के भोग्य अपने समक्ष रखकर भी वह उनसे सुख प्राप्त नहीं कर सकता। इससे यह स्पष्ट है कि सुख विषयों में नहीं, बल्कि हमारी मानसिक शक्ति में ही है। जो व्यक्ति जितना ही विषयोन्मुख होता है वह उतना ही शक्ति-हीन होता है और उसमें विषय-सुख भोगने की उतनी ही कमी होती है। मन को बार-बार सुख में ले जाने से और एक हानि होती है। इस प्रकार मनुष्य की इच्छा शक्ति निर्बल हो जाती है। इच्छा शक्ति के निर्बल हो जाने पर मनुष्य वासनाओं का दास बन जाता है। इस प्रकार की मानसिक गुलामी से मनुष्य सदा दुःखी बना रहता है।

अब प्रश्न आता है कि आत्म नियन्त्रण कैसे प्राप्त किया जाय। इस प्रसंग में रूस के प्रसिद्ध लेखक और समाज-सुधारक महात्मा टाल्स्टाय का निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय है—"आत्म नियंत्रण को प्राप्त करने के लिये पहले उन बुराइयों को जीतना चाहिये जो स्थूल रूप से दिखाई देती हैं। पीछे सूक्ष्म बुराइयों को वश में किया जा सकता है। बकवाद करना निंदा करना, किसी के बारे में अशुभ सोचना ईर्ष्या करना आदि सूक्ष्म बुराइयाँ हैं। चोरी, व्यभिचार आलस्य चटोर वृत्ति पेटूपन ये स्थूल रूप से चरित्र की बुराइयाँ हैं। पहले हमें स्थूल बुराइयों को छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये पीछे सूक्ष्म बुराइयाँ धीरे धीरे छूटेंगी। महात्मा टाल्स्टाय ने आत्म-नियन्त्रण को प्राप्त करने के लिये पहला कदम उपवास का रखना बताया है। मनुष्य की जिह्वा को वश में करने का साधन उपवास है यह चटोरपन और पेटूपन की आदत का विनाशक है। वर्तमान सभ्यता चटोरेपन की सभ्यता है। इससे जिह्वा का नियंत्रण शिथिल होता है। हमारे प्रत्येक मंगल-कार्य में खाने का ही प्रथम स्थान रहता है। किसी के मिलने-जुलने में शादी-विवाह में,

भजन-कीर्तन में, गाने-रोने में—सभी जगह भोजन का स्थान अवश्य रहता है। मंदिरों में प्रसाद के लिये जितने लोग जाते हैं, उतने हरिकीर्तन के लिये नहीं जाते। वहाँ प्रसाद की कमी हो जाती है, वहाँ दर्शकों की भीड़ भी कम हो जाती है। इस प्रकार हमारे सभी कार्यों के द्वारा जिह्वा का नियन्त्रण शिथिल होता है।

फिर भोजनों में भी नये-नये आविष्कार होते जाते हैं। धनी लोग दिन में कभी चार बार और कभी छह बार खाते हैं। प्रत्येक समय कुछ नये खाद्य-पदार्थ की चाह रहती है। बहुत से धनी लोगों के रसोइये दिन भर कुछ-न-कुछ रसोई तैयार ही करते रहते हैं। फिर खाने के पदार्थों में जितना ही परिवर्तन किया जाता है, मन उनसे उतना ही असंतुष्ट होता जाता है।

इस प्रकार की स्वभ्‌-बीमारी की उचित चिकित्सा उपवास ही है। यदि प्रत्येक धनी व्यक्ति महीने में दो बार उपवास करे, तो एक ओर उसे भूख अधिक लगेगी जिसके कारण उसे नित्य प्रति खाने की नई-नई वस्तुओं को खोजने की आवश्यकता न हो, और दूसरी ओर समाज में रसोइए कहलाने वाले लोगों का समय बच जाएगा। इससे उनके स्वास्थ्य में भी पर्याप्त सुधार हो जाएगा। उपवास का लक्ष्य केवल किसी एक दिन बिना भोजन के रह जाना नहीं, वरन् बार-बार भोजन करने की आदत और चटोरापन को छोड़ देना है। इससे अनेक प्रकार के लाभ हैं।

जो व्यक्ति पेटूपन को छोड़ देता है, उसमें आलस्य भी नहीं ठहरता। जब आलस्य की आदत छूट जाती है, तो मनुष्य में कामुकता भी कम हो जाती है। जो जिह्वा के लालच को वश में कर लेता है, वह कामुकता के प्रलोभन को भी जीत लेता है। इसी प्रकार उसमें धीरे-धीरे अपनी वाणी और विचारों पर नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। अतएव जो व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण प्राप्त करना चाहता है, उसे नियन्त्रण भोजन से प्रारम्भ करना चाहिये। किसी प्रकार के अतिक्रम के प्रायश्चित-रूप उपवास भी लाभकारी होता है।

जब आत्म-नियन्त्रण प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति सुख को एकाएक त्याग करके कठोर तपस्या का जीवन व्यतीत करने लगते हैं, तब इस प्रकार की तपस्या के जीवन में आत्मसंयम की वृद्धि नहीं, अपितु रोगों की उत्पत्ति होती है। एकान्तता से मनुष्य एक प्रकार के सद्गुण को भले ही प्राप्त कर ले, पर उसमें दूसरे दुर्गुण-उत्पन्न हो जाते हैं। दुर्वासा ऋषि भारी तपस्वी थे, पर उनमें

क्रोध की मात्रा भी अधिक थी। वे रामचंद्र को भी भस्म करने को तैयार हो गये थे। इसी प्रकार विश्वामित्र में तपस्या का बल था; किन्तु उनमें भारी अभिमान भी था। इनसे अधिक आत्म निर्भरता राजा जनक और रामचंद्र में पाया जाता है। गृहस्थ जीवन में जितना आत्म निर्भरता होने की संभावना है, भिक्षु जीवन में उतनी नहीं। सच्चे आत्म निर्भरता की परीक्षा विषमों की उपस्थिति में अपने आपको वश में करके रखने में है। क्रोध का वातावरण होने पर शान्त मन रहना जितना श्रेयस्कर है, उतना क्रोध के वातावरण के अभाव में क्रोध के अनुभव न करने में नहीं है।

सरलता—व्यवहार की सरलता और सचाई एक ऐसा सद्‌गुण है, जो वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण की दृष्टि से लाभकारी है। इसे प्राप्त करना भी हमारे चरित्र के निर्माण के लिये लाभकारी है। जिस व्यक्ति के व्यवहार में सचाई और सरलता नहीं रहती उसका मन सदा दुःखी रहता है। उसपर न तो दूसरे लोग विश्वास करते हैं और न वह दूसरे लोगों पर विश्वास करता है। वह सदा संदेहयुक्त मनोवृत्ति का बना रहता है। अपने व्यवहार में सचाई न रखने से समाज का हित नहीं होता। व्यवहार की सचाई चित्त की सचाई से आती है। प्रत्येक मनुष्य को वही कहना चाहिये जो उसका अर्थ हो वह शब्दों को अपने भाव छिपाने के काम में न लावे। पर शब्दों की अतिशयता अनयमूलक होती है। कितने ही अवसर पर अपने विचारों को दूसरों के समक्ष प्रकाशित न करने में ही अपना और दूसरों का कल्याण होता है। मनुष्य को सदा प्रिय और लाभकारी सत्य ही बोलना चाहिये। व्यर्थ की सत्यवादिता चरित्र का सद्‌गुण नहीं अपितु उसका दुर्गुण है।

प्रश्न

१ नीतिशास्त्र के अनुसार मनुष्य के सद्‌गुण क्या हैं? इस प्रसंग में यूनानी विचार-धारा को स्पष्ट कीजिये।

२ सद्‌गुण में देश काल का क्या स्थान है? क्या सद्‌गुणों में व्यक्तिगत भेद का होना सम्भव है?

३. स्वार्थ सद्गुण और परार्थ सद्गुण के भेद को स्पष्ट कीजिये। यूनानी और ईसाई मत के अनुसार मनुष्य के प्रधान सद्गुण कौन कौन से हैं? आधुनिक काल में उक्त विचार-धाराओं में क्या विकास हुआ है?
४ जिस मनुष्य में एक सद्गुण है, उसमें सभी सद्गुण हैं—इस विचार की मौलिकता को स्पष्ट कीजिये और यह बताइये कि सद्गुणों में कहाँ तक एकता है?
५. चरित्र-निर्माण के साधन कौन कौन से हैं? चरित्र-निर्माण में उदाहरण का क्या महत्त्व है?
६. चरित्र-निर्माण में तप और त्याग का क्या स्थान है? क्या हम त्यागी मनुष्य को चरित्रवान व्यक्ति कह सकते हैं?
७ आत्म संयम की प्राप्ति मनुष्य कैसे कर सकता है? इस सम्बन्ध में टाल्स-टाय महाशय के विचारों को स्पष्ट करके उनकी मौलिकता को दर्शाइये।

———

इक्कीसवाँ प्रकरण

व्यक्ति का नैतिक विकास

नैतिक विकास का अर्थ

मनुष्य के नैतिक विकास का अर्थ क्या है, इस प्रश्न के विषय में भिन्न भिन्न विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार अपने आपको समाज के प्रति समर्पित करने में मनुष्य का नैतिक विकास होता है और दूसरों के अनुसार मनुष्य को अपना कर्तव्य स्वतः निश्चित करना चाहिए। समाज के नैतिक नियम कभी ठीक होते हैं, और कभी वे ठीक नहीं भी होते। हमें समाज के उन्हीं नैतिक नियमों को मानना चाहिए, जो हमारी अन्तरात्मा तथा विवेक के प्रतिकूल नहीं हैं। समाज भी अपने नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति व्यक्ति के द्वारा ही करता है। व्यक्ति न केवल समाज के उच्च-से-उच्च आदर्शों का चरितार्थ करके उसे जीवित रखता है, वरन् वह अपने नैतिक जीवन को सामाजिक आदर्श से ऊँचा उठाकर समाज का सुधार भी करता है। वह समाज का नैतिक विकास करता है। अतएव अपने नैतिक विकास के लिए किसी भी व्यक्ति को समाज के ऊपर निर्भर न होकर अपनी बुद्धि से ही काम लेना चाहिए। कभी उसे समाज के अनुसार काम करना पड़ेगा और कभी समाज के प्रतिकूल भी।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् एफ० एच० ब्रेडले महाशय का कथन है कि जो व्यक्ति अपने आपको संसार के दूसरे लोगों से बेहतर बनाने की इच्छा करता है वह वास्तव में अनैतिकता की ओर जाता है।* ब्रेडले महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का जितना ही अधिक समाज

---

* To wish to be better than the world is to be already on Th way t immorality —F H Bradley

के व्यक्तित्व से ऐक्य कर देता है, वह उतना ही अधिक नैतिक है, और जो अपने आपको किसी विशेष प्रकार का व्यक्ति मानकर समाज के लोगों से भिन्न प्रकार का आचरण करता है, वह अपना पतन ही करता है। उसे यह अभिमान हो जाने की सभावना रहती है कि मै दूसरे लोगों से अधिक अच्छा हूँ इसके कारण भूल करने पर वह दूसरे लोगों से शिक्षा ग्रहण नहीं करता, उनकी बात नहीं सुनता और अपने हठ में ही लगा रहता है। उसकी हठ की मनोवृत्ति के कारण उससे कठिन भूलें भी होती हैं। जो व्यक्ति उसका विरोध करता है, वह उसका विनाश करने के अथवा उसे दूसरे लोगों की दृष्टि मे गिराने के लिए तुल जाता है। इस प्रकार वह दूसरे व्यक्ति को नीचा सिद्ध करने की चेष्टा करता है। पर इस प्रकार की चेष्टा करना ही अनैतिक आचरण है। जब कोई व्यक्ति अपने आपको असाधारण व्यक्ति—सत, महात्मा, साधु आदि मानने लगता है, तो उससे भारी नैतिक भूलें अवश्य होती है। उसके अभिमान को नष्ट करने के लिये ऐसी भूलों का होना आवश्यक भी है।

परन्तु अपने आपको समाज का विशेष व्यक्ति मानना जिस प्रकार नैतिक भूल है, उसी प्रकार समाज की अविवेक-युक्त प्रथाओं अथवा विचारों का समर्थन करना भी नैतिक भूल है। समय-समय पर हमे समाज की प्रचलित रूढियों और विचारों का विरोध करना पडता है। इस विरोध के लिये समाज के प्रमुख लोग हमसे अप्रसन्न हो जाते हैं, और दण्ड देने की भी ठान लेते हैं। पर यदि उन लोगों के दण्ड के भय से हम अपने सत्य और विवेक पर आधारित निश्चयो को बदल दें, तो हमारा नैतिक विकास होना सभव नहीं। अपने आपको समाज का विशेष व्यक्ति सिद्ध करने के लिये समाज की रूढियों का विरोध करना एक बात है, और समाज के वास्तविक कल्याण हेतु उसकी रूढियो को बदलने की चेष्टा करना दूसरी बात है। अमेरिका में गुलामों से काम लेने की प्रथा प्रचलित थी। वहाँ के धनी लोग अफ्रीका से निग्रोओं को भगाकर अपने खेतों में जबरदस्ती काम कराते थे। इसे वे बिल्कुल नैतिक आचरण मानते थे। काम में किसी प्रकार की त्रुटि दिखाने पर गुलाम लोग पीटे जाते थे। उन्हे खाने, पीने, सोने और विवाह-शादी की कोई भी विशेष सुविधा नहीं दी जाती था। वे जानवरों जैसे रखे जाते थे। इन लोगों की यह दशा देखकर वहाँ के

कुछ सहृदय व्यक्तियों ने अपने मन में इस प्रथा को अन्त करने की ठान ली। जिन लोगों ने इसका आन्दोलन उठाया, उन्हें आरम्भ में जनता का विरोध सहना पड़ा और इस विरोध के कारण उन्हें अनेक प्रकार की यंत्रणायें सहनी पड़ीं। परन्तु अन्त में वे सफल हुए। यदि वे समाज में प्रचलित विचारों के अनुसार ही अपने विचारों को बना लेते तो अमेरिका में गुलामों से काम लेने की प्रथा का अन्त न होता। इसी प्रकार लूथर, सुकरात आदि महापुरुषों ने जिन विचारों को उचित समझा, उन्हीं के अनुसार उन्होंने अपने आचरणों को बनाया और ऐसे ही विचारों का उन्होंने समाज में प्रचार किया।

पर समाज के इन विशेष व्यक्तियों के लिये जिस नियम का पालन करना ठीक है उस नियम का पालन करना समाज के साधारण व्यक्तियों के लिये ठीक नहीं है। समाज के कई लोग सामाजिक नियमों अथवा रूढ़ियों का विरोध समाज के कल्याण के लिये नहीं वरन् अपने किसी प्रकार की भोगेच्छाओं को तृप्त करने के लिये करते हैं। जब किसी सामाजिक नियम अथवा रूढ़ियों का उल्लंघन किसी स्वार्थवश किया जाता है और जब इस प्रकार का उल्लंघन मनुष्य को पाशविकता के स्तर से ऊँचा न उठाकर नीचे गिराता है, तब वह अनैतिकता कहा जायगा। अपने आपको विशेष प्रकार का व्यक्ति सिद्ध करने के हेतु ही कभी-कभी कोई व्यक्ति किसी सामाजिक प्रथा नियम अथवा संस्था का विरोध करता है पर उसे अपने इस वास्तविक हेतु का ज्ञान नहीं रहता। वह अपने विचारों को उच्च कोटि के नैतिक विचार मानकर ही उक्त काम करता है। उसकी ज्ञात भावनायें बहुत ही ऊँची होती हैं, पर उसकी अज्ञात भावनायें नीचे स्तर की होती हैं। अतएव ऐसी स्थिति में यह निश्चय करना कठिन होता है कि नैतिक सुधार की चिन्ता करने वाले व्यक्ति का वास्तविक हेतु ऊँचा है अथवा निम्न स्तर का। इसी कारण हमें ब्रेडले महाशय की शिक्षा पर ध्यान देना चाहिए। विशेष प्रकार का व्यक्ति न बनकर हमें सामान्य व्यक्ति बन रहने की चेष्टा ही करनी चाहिए। यदि हम संसार में अपने नैतिक विचारों के लिए क्रान्ति मचाये बिना ही समाज का कल्याण कर सकें तो सर्वोत्तम है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने आचरण में पहले उतनी नैतिकता को चरितार्थ करे जितनी कि समाज में प्रचलित है। फिर वह उससे आगे बढ़ने की

चेष्टा करे। आगे बढ़ते समय उसे खूब समझ-बूझ लेना चाहिए कि उसका आगे बढ़ना सभी प्रकार से उचित है अथवा नहीं। यदि किसी समाज में कोई ऐसी प्रथा प्रचलित है, जो संसार के दूसरे समाजों में नहीं पाई जाती और जिससे समाज की वास्तविक क्षति हो रही है, तो उसे इस प्रथा का विरोध करना ही उचित है। इसमें ही उसका नैतिक विकास है। संकुचित नियम को छोड़कर व्यापक नियम के पालने से व्यक्ति का नैतिक विकास होता है, चाहे वह अपने देश का हो अथवा दूसरे देश का।

किसी व्यक्ति का नैतिक विकास एकाएक नहीं होता। एकाएक समाज का विरोध करना भी अनर्थकारी है। अतएव मनुष्य को अपने स्वभाव का ज्ञान बढ़ाते हुए धीरे-धीरे नैतिक उन्नति में आगे बढ़ना चाहिए। जो व्यक्ति अपने आचरण में किसी प्रकार की एकान्तता अथवा अतिक्रम दिखाते हैं, वे नैतिकता से आगे न बढ़कर पीछे ही चले जाते हैं। उनके उतावलेपन से न उनका कल्याण होता है, और न समाज का।

नैतिक विकास के उपकरण[1]

वैयक्तिक और सामाजिक विचारों का साम्य—व्यक्ति का नैतिक विकास सभी बातों में मध्यम मार्ग के अनुसरण से होता है। एक ओर मनुष्य के व्यक्तिगत विचार होते हैं, और दूसरी ओर समाज के विचार होते हैं। इन दोनों प्रकार के विचारों में जब संघर्ष होता है, तो व्यक्ति को चाहिए कि वह आवेग में आकर समाज के विचारों का विरोध न करने लग जाय। जो व्यक्ति ऐसा व्यवहार करता है, उसकी भली बातों को भी समाज नहीं मानता और उसे पीछे पछताना पड़ता है। यदि वह समाज का सुधारक है, तो उसे समाज को उतना ही आगे ले जाने की चेष्टा करना चाहिए, जितना कि समाज जा सकता है। यदि समाज को एकाएक आगे बढ़ाने की चेष्टा की गई, तो प्रतिगामिनी क्रियायें आरम्भ हो जाती हैं। इससे समाज आगे न बढ़कर पीछे ही चला जाता है।

पर समाज के विचार हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व के प्रतीक होते हैं। कभी मनुष्य

---

1 Conditions of Moral evolutions

के कुछ विचार आगे बढ़े रहते हैं परन्तु उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व पिछड़ा हुआ ही रहता है। ऐसी अवस्था में जब कोई व्यक्ति भारी त्याग और उत्साह का कार्य कर डालता है और जब समाज उसका आदर न करके उसके प्रतिकूल जाता है, तो उसके मन में आत्मभर्त्सना की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह अपने आपसे और समाज से निराश हो जाता है। ऐसा व्यक्ति फिर मृत्यु का आवाहन करने लगता है। अतएव हमें उतना ही ऊँचा उठने की चेष्टा करनी चाहिए जितनी ऊँचाई पर हम सदैव रह सकें।

मान लीजिए कि भारतवर्ष में विधवा के पुनर्विवाह की प्रथा को तोड़ने के लिए हम अपने सम्बन्धी का पुनर्विवाह कर डालते हैं। पर पीछे समाज हमारा बहिष्कार करता है और इसके कारण हमें आत्म-भर्त्सना होती है तो ऐसी अवस्था में हमारा कार्य हमारा नैतिक उत्थान न करके नैतिक पतन करता है। मनुष्य का नैतिक उत्थान उसके उसी कार्य से होता है, जिसके करने के पश्चात् उसे आत्म सन्तोष होता है और जिसे करने के लिए उसे कितने ही कष्टों को क्यों न सहना पड़े वह उसे सहर्ष सहता है। समाज में सदा अनेक प्रकार के अनाचार, परस्पर लूट खसोट आदि होते रहते हैं। इनका अन्त करना उचित है। पर हमें इनके अन्त करने में वहीं तक भाग लेना चाहिए, जहाँ तक हम इस काम को पूरा करने के लिए अपने आप को समर्थ देखते हैं। इस प्रकार मध्यम मार्ग का अनुसरण मनुष्य का नैतिक विकास करता है।

सत्संग का प्रभाव—मनुष्य का नैतिक विकास सत्संग से होता है। भले लोगों का आचरण साधारण व्यक्ति के आचरणों को प्रभावित करता है। मनुष्य अपना समय भले लोगों की संगत में जितना ही देता है उसके आचरण के सुधारने की सम्भावना उतनी ही अधिक है। समाज के सुधारक भी व्यक्ति के चरित्र को सुधारने में भारी कार्य करते हैं। वे व्यक्ति के सामने ऊँचे ऊँचे आदर्श रखते हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्तव्य का स्मरण सदा कराते रहते हैं। प्रत्येक सजीव समाज में इस प्रकार के समाज-सुधारक रहते हैं। व्यक्ति को इन सुधारकों से अपने सुधार के लिए आदेश और निर्देश मिलते रहते हैं।

किसी विशेष घटना का प्रभाव—कभी-कभी मनुष्य के जीवन में कोई विशेष घटना घटित हो जाती है। यह घटना ऊपरी दृष्टि से भले ही महत्त्वहीन

हो, पर मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन के लिए यह बड़े महत्त्व की होती है। कभी-कभी ऐसी घटनाएँ उसकी सारी जीवन-धारा को बदल देती हैं। जब एक डाकू किसी सन्त को मारना चाहता है और सन्त उससे विशेष उदारता का व्यवहार करता है, तो कभी-कभी ऐसे डाकू का हृदय परिवर्तित हो जाता है और वह अपने दुराचरण को छोड़ सदाचारी महात्मा बन जाता है।

मनुष्य के जीवन में एकाएक परिवर्तन[1] प्राय: नैतिकता के विरुद्ध आचरण के अतिक्रम से होता है। जब मनुष्य किसी प्रकार के व्यभिचार में अतिक्रम कर बैठता है, तो उसे आत्म-भर्त्सना होने लगती है। इसके परिणाम-स्वरूप वह काम-वासना को अपना शत्रु मानने लगता है। वह पहले जितना विषय-भोगी था, पीछे वह उतना ही तपस्वी बन जाता है। तपस्या की यह मनोवृत्ति जब फिर साम्य-भाव को आ जाती है, तो व्यक्ति का स्थायी नैतिक सुधार होता है।

जागरूकता—अपने आचरण और विचारों के प्रति सदा जागरूक रहना मनुष्य के नैतिक विकास में महत्व का स्थान रखता है। जो व्यक्ति अपने आपको भला बनाना चाहता है, वह अपने काम के उचितानुचित पर विचार करके उसे करता है। जो व्यक्ति सदा काम की धुन में लगा रहता और उसके औचित्य पर विचार नहीं करता, वह अपने आपको किसी प्रकार के प्रवाह में बहा हुआ पाता है। अतएव अपने कामों को नैतिक बनाने और अपने जीवन में नैतिक विकास लाने के लिए काम के साथ-साथ उस काम की आलोचना करते रहना आवश्यक है।

जागरूक मनुष्य न केवल अपने बाहरी कामों का विचार करता है, वरन् वह उन कामों के हेतुओं पर भी विचार करता है। उसकी यह इच्छा रहती है कि उसके काम भले हों और वे ऊँचे-से-ऊँचे हेतुओं से किये गये हों। जब मनुष्य अपने कामों तथा विचारों को इस प्रकार देखता रहता है, तो उसे जागरूक मनुष्य कहते हैं। बुद्ध भगवान् ने जागरूकता को मनुष्य के नैतिक विकास में महत्व की वस्तु मानी है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक टामस हिल ग्रीन महाशय ने भी इसे महत्व का स्थान दिया है।

---

1. Moral Conversion.

आत्म परीक्षा—प्रत्येक मनुष्य को समय-समय पर आत्म-परीक्षा की आवश्यकता पड़ती है। हृदय-परिवर्तन करनेवाली विशेष घटना के घटित होते समय आत्म-परीक्षा का कार्य विशेष रूप से होता है। पर यों भी मनुष्य समय-समय पर आत्म-परीक्षा की आवश्यकता देखता है। ऐसी अवस्था में वह अपने पुराने कर्मों की आलोचना करता है। वह यह जानना चाहता है कि अपने पुराने आचरण में उसने अपने सिद्धान्तों को चरितार्थ किया है, अथवा नहीं। इस प्रकार की आत्म-परीक्षाजनित किसी विशेष परिस्थिति में वह न केवल अतीत काल के बाहरी कर्मों की आलोचना करता है वरन् उन हेतुओं तथा सिद्धान्तों की भी आलोचना करता है जो उन कामों के प्रेरक अथवा पथ-प्रदर्शक थे। यदि इनमें कुछ दोष हुए तो वह उसे सुधारने की चेष्टा भी करता है। कभी-कभी मनुष्य अपने आचरण में भूल भी करता है अर्थात् उसका आचरण उसके द्वारा स्थिर किये गये नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार नहीं होता। कभी कभी वह सिद्धान्तों को निश्चित करने में ही भूल करता है अर्थात् उसके सिद्धान्त निम्नकोटि के होते हैं, और कभी-कभी वह अपने हेतुओं के विषय में नैतिक भूल करता है अर्थात् वह जिन हेतुओं को सच्चे हेतु मानता है वे वास्तव में नीचे हेतु होते हैं। आत्म-परीक्षा से मनुष्य को इन सब बातों का पता चल जाता है और फिर वह अपने नैतिक सुधार करने में समर्थ होता है।

परन्तु निरन्तर आत्म परीक्षा करते रहना सरल मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है। इससे मनुष्य के विचार नकारात्मक बन जाते हैं। अपनी बुराइयों पर ही विचार करते रहने से उसमें उत्साह न आकर निरुत्साह आ जाता है। निरन्तर आत्म-परीक्षा से मनुष्य में आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति अति प्रबल हो जाती है। फिर मनुष्य अपने आपको कोसने में ही अपना सारा समय बिता देता है। यह अवस्था एक प्रकार का मानसिक रोग है। इसके अधिक बढ़ जाने से मनुष्य में निकम्मा पन आ जाता है। जब तक मनुष्य अपनी कमजोरियों को पार कर सकने की सामर्थ्य अपने आप में नहीं देखता तब तक आत्म-निरीक्षण व्यर्थ सिद्ध होता है। इस प्रकार के निरीक्षण से कभी-कभी मनुष्य का आत्म-विश्वास ही चला जाता है। जब किसी मनुष्य का आत्म-विश्वास चला जाता है, तो वह नैतिक सुधार से विमुख होने की चेष्टा करने लगता है। आत्म-विश्वास प्रयत्नशीलता का जनक

है और इस विश्वास का अभाव निकम्मेपन और आत्म-वञ्चना की मनोवृत्ति का। अति आत्म-निरीक्षण से मनुष्य दु:खी होकर अपने आपको भूल जाने की चेष्टा करने लगता है। अतएव आत्म-निरीक्षण उतना ही अच्छा है, जितने मे मनुष्य के मन में रचनात्मक विचारों की वृद्धि हो, अर्थात् जितने से वह अपनी कमजोरियों को तो जाने, परन्तु इसके कारण आत्म सुधार की हिम्मत को न हारे। अति आत्म-निरीक्षण के विषय में ही यह कहा जा सकता है कि जहाँ अज्ञान ही कल्याणकारी है, वहाँ ज्ञान प्राप्त करना मूर्खता है।

निरन्तर आत्म-निरीक्षण करनेवाले कितने ही व्यक्ति अपने आप में अनेक प्रकार के कल्पित दोषों को देखते रहते है। उनका आत्म-निरीक्षण उन्हें अपनी दृष्टि में सदा नीचे बने रहने के लिये बाध्य करता है। वे कितने ही स्वाभाविक क्रियाओं के लिये भी अपने आपको कोसने लगते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति कल्पित शारीरिक रोगों से पीडित व्यक्तियों की मनोवृत्ति के सदृश है। हेपोकेन्ड्रिया की अवस्था मे कितने ही लोगों को पेट के दर्द एव क्षय आदि रोगों का सदेह सदा बना रहता है और वे हर समय डाक्टर से अपनी परीक्षा कराते रहते हैं तथा स्वास्थ्य सुधार के लिए अनेक प्रकार की सलाहें लेते रहते हैं। पर रोग के विषय में उनकी चिन्ता अविछिन्न ही उनके रोग को स्थायी बनाये रखती है। कितने ही वास्तविक शारीरिक रोग भी इसी कारण स्थायी बने रहते हैं क्यों कि उनके विषय मे मनुष्य सदा चिन्तित रहता है। इसी प्रकार जो मनुष्य सदा अपने नैतिक दोषों के विषय में ही सोचते रहता और अपने ध्यान को किसी रचनात्मक कार्य में नहीं लगाता है, उसका नैतिक दोष नष्ट न होकर और भी स्थायी हो जाता है। इस प्रकार कितने ही व्यक्ति अपनी कुवृत्तियों को जानते हैं, उनके विषय में वे सदा विचार और आत्म-भर्त्सना भी करते रहते हैं, पर उनसे मुक्त नहीं हो पाते। अत्यधिक आत्म-परीक्षा और अपने सुधार के विषय में अत्यधिक चिन्ता करने का यही फल होता है।

आत्म परीक्षा के अतिक्रम से अपने आपको बचाने के लिये मित्र के समक्ष अपनी कमजोरियों को कहना और उन कमजोरियों से मुक्त होने के लिये उसकी सलाह लेना अच्छा है। जिस प्रकार कुशल डाक्टर दूसरे रोगियों की चिकित्सा तो ठीक से कर [illegible] जब वह स्वय बीमार पडता है, तो उसे अपने दूसरे

मित्र डाक्टरों की सलाह लेनी पड़ती है। उसी प्रकार मनुष्य कितना ही विचारवान क्यों न हो, पर स्वयं किसी प्रकार के नैतिक विचार की उलझन में पड़ जाने पर वह अपने मित्र की सलाह से लाभ उठाता है। इस प्रकार की सलाह लेना उसके लिए आवश्यक होता है। मित्र एक ओर उसे उसके सच्चे गुण और दोषों को बताता है और दूसरी ओर वह उसे अपने दोषों को छोड़ने के लिये प्रोत्साहित भी करता है।

आदर्श की उपस्थिति—मनुष्य के जीवन के नैतिक विकास के लिये केवल मान्य सिद्धान्तों और आत्म निरीक्षण की ही नहीं वरन् योग्य आदर्श की भी आवश्यकता होती है। किसी आदर्श पुरुष की भक्ति और उसके चरित्र और गुणों के विचार मनुष्य के आन्तरिक मन को प्रभावित करते हैं। जो मनुष्य जिस व्यक्ति के विषय में सदा चिन्तन करता है उसी व्यक्ति के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। इस तादात्म्य के हो जाने पर मनुष्य सहज भाव से ही उसी प्रकार का आचरण करने लगता है जिस प्रकार आदर्श पुरुष करते हैं। सिद्धान्तवादी पुरुष जो काम प्रयत्न पूर्वक कर्तव्य के रूप में करता है, अपने आदर्श के रंग में रंजित पुरुष वही काम अनायास आनन्द से करता है। संसार के सभी देशों में ऐसे आदर्श पुरुषों की गाथायें प्रचलित रहती हैं। कितने ही सभ्य देशों मे उन आदर्श पुरुषों को अवतार के रूप में माना जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना आदर्श पुरुष अपने आप चुनना पड़ता है। किसी का आदर्श पुरुष कृष्ण है तो किसी का बुद्ध अथवा ईसा। कभी-कभी वे आदर्श पुरुष हमारे वर्तमान काल मे ही रहते हैं। उनकी आत्म कथाओं और चरित्र के बारे मे चिन्तन करने से भी मनुष्य का नैतिक विकास होता है। कवि और उपन्यासकार भी कभी-कभी अपनी कृतियों में किसी महान् पुरुष के रूप में एक विशेष आदर्श का चित्रण करते है। मनुष्य के नैतिक विकास पर इनका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

एकान्त सेवन—मनुष्य के नैतिक विकास के लिये कुछ समय तक एकान्त सेवन अच्छा होता है। साधारणतः हम दुनियाँ के कामों में व्यस्त रहते और दूसरे लोगों के विचारों से प्रभावित होते रहते हैं। यदि हमारा जीवन सदा इसी प्रकार का रहा और हमने [illegible] थोड़ा बहुत अवसर

समय नहीं दिया, तो अचानक कोई नैतिक भूल हो जाने की आशंका रहती है। मनुष्य जिस काम में लगा रहता है, उसी की उन्नति मे उसका ध्यान रहता है। जब तक मनुष्य अपने ध्यान को किसी विशेष दिशा की ओर नहीं मोडता, तब तक उस ओर उसकी उन्नति नहीं होती। अतएव आत्मोन्नति के लिये अपने ध्यान को कुछ समय के लिये सासारिक झंझटों मे अलग कर उसे आध्यात्मिक चिन्तन में लगाना आवश्यक है। इसके लिये मनुष्य को प्रति-दिन एकान्त सेवन करना चाहिये। एकान्त के समय मनुष्य को अपने जीवन के सिद्धान्तों और आचरणों पर विचार करने का अवसर मिलता है।

कितने ही लोग अपने सारे जीवन को एकान्त सेवन और आध्यात्मिक चिन्तन मे व्यतीत कर देते है। वे ससार को छोडकर कभी-कभी साधु हो जाते और अपना सारा जीवन किसी मठ अथवा जगल मे व्यतीत करते हैं। इस प्रकार के जीवन मे वह समता नहीं रहती, जो साधारण गृहस्थ-जीवन मे रहती है। ऐसे लोग केवल चिन्तन करते हैं, पर अपने चिन्तन की सत्यता का अनुभव करने का अवसर उन्हे नहीं मिलता। अतएव उनका ज्ञान अधूरा ही रह जाता है। जो लोग पहले गार्हस्थ्य जीवन में होकर फिर सन्यास लेते हैं, वे प्रारभ से ही घर छोड़ने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक लाभ उठाते हैं। उनके चिन्तन के पीछे अनुभव रहता है। अतएव उनके विचारों में एकान्तता के आने की सभावना नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति प्रत्येक समाज के लिये आवश्यक होते हैं। ये लोग समाज के साधारण लोगों के बदले चिन्तन करते, और अपने चिन्तन से समाज को लाभान्वित करते हैं।

कभी-कभी कोई व्यक्ति अपना घर-द्वार छोड़े बिना ही किसी विशेष काम में लगे रहने के कारण एकान्त-सेवी हो जाता है। वह ससार मे उतना ही आता है, जितना जीवन-यापन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे लोग समाज की निधि होते हैं। ससार के महान दार्शनिक, सन्त और कवियों का जीवन इसी प्रकार का होता है। वे दुनियाँ की भीड से अलग रहकर अपनी साधना में लगे रहते हैं। जब तक कोई व्यक्ति अपनी शक्ति को ससार के साधारण कार्यों में व्यर्थ खर्च होने से नहीं बचाता, वह तब तक कोई भी विशेष

कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतएव अपने जीवन के प्रतिक्षण को महत्त्व का समझनेवाला व्यक्ति अपनी शक्ति को व्यर्थ की बकवाद और जीवन चलाने भर के साधारण कामों में खर्च न कर उसे अपने महान लक्ष्य में लगाये रहता है। ऐसा व्यक्ति गृह-त्याग किये बिना ही एकान्त-सेवी बन जाता है। समाज को ऐसे व्यक्तियों की सदा आवश्यकता रहती है। इनके बिना दर्शन कला और कविता की वृद्धि हो ही नहीं सकती है। राष्ट्र का सांस्कृतिक विकास ऐसे ही लोगों की देन है।

तपस्या करना[1]—अपनी इन्द्रियों को वश में करके रखना नैतिक जीवन ही के विकास का एक आवश्यक साधन है। शारीरिक और मानसिक दोनों तप मनुष्य के नैतिक विकास के साधन हैं। इन्द्रियों को वश में करने के प्रयत्न से मनुष्य की इच्छा शक्ति बलवती होती है। जब मनुष्य की इच्छा शक्ति बलवती हो जाती है, तो वह जिस काम को करना चाहता है, उसे वह बड़ी सरलता से कर डालता है। कठिनाइयों के सामने आने से वह उनसे भयभीत नहीं होता।

परन्तु सिर्फ तपस्या के लिये तपस्या करने लग जाना अथवा अपनी इन्द्रियों को नाश देने के लिये अपने आपको सुखाना नैतिक उत्थान का मार्ग नहीं है। इन्द्रियों पर कठोर नियंत्रण रखना वहीं तक ठीक है, जहाँ तक वे किसी भले काम के करने में बाधा डालती हैं। मनुष्य को अपने मन को भी निर्बल बनाने का आयोजन न कर लेना चाहिये। कई दिनों के उपवास करना अपने मन में कठोरता लाने के लिये ही शीतोष्ण को सहना तथा अनेक प्रकार की आत्म यंत्रणा भोगना मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिये लाभप्रद नहीं है। नीति-शास्त्र के प्रमुख विचारकों ने इस प्रकार के जीवन को अनर्थमूलक बताया है। इससे मन निर्बल हो जाता है और उसमें सोचने की शक्ति नहीं रह जाती है। वह जिस ओर मुँह उठाता उसी ओर काम करता रहता है और अपने काम के बुरे परिणाम को देखते हुए भी हठ-वश उसे नहीं छोड़ता।

अत्यधिक तपस्या से मनुष्य में अभिमान की वृद्धि होती है। इसीलिये

---

1 Asceticism.

यह त्याज्य है। तपस्या के अतिक्रम से मनुष्य की वे ही इच्छायें प्रबल हो जाती हैं, जिन्हें दमित करने की चेष्टा वह करता है। अपने आप पर घोर नियन्त्रण रखने वाले एकान्त सेवी व्यक्ति कभी-कभी मानसिक रोग से भी ग्रस्त हो जाते हैं। उन्हें वे ही इच्छायें त्रास देने लगती हैं, जिनके ऊपर विजय प्राप्त करने के लिये वे सतत चेष्टा करते रहते हैं। अतएव अपने विचारों को रचनात्मक बनाना और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जितने त्याग और तपस्या की आवश्यकता है, उतने ही त्याग और तपस्या करना अपने नैतिक विकास के लिए श्रेयस्कर है। इस प्रसंग में अपनी "मेनुअल आफ एथिक्स" नामक पुस्तक में दिया हुआ श्री जान एस० मेकेन्जी महाशय का निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय है:—

"अपने जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य को प्राप्त करने के हेतु अपनी इच्छाओं को दबाना उत्तम है। परन्तु तपस्वी इच्छाओं के मन को ही अपना लक्ष्य बना लेता है और इस प्रकार इच्छाओं को दबाने का प्रयत्न स्वभावत ही विफल होता है। इससे मनुष्य का चित्त इच्छाओं के विषयों के ऊपर एकाग्र हो जाता है और इससे वह उनका वैसा ही गुलाम हो जाता है, जैसा कि उन इच्छाओं की तृप्ति में लगा हुआ व्यक्ति। अतएव अपने आपको किसी योग्य उद्देश्य की प्राप्ति में लगाये रखना अपनी इच्छाओं से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है। लिपे-पुते खाली घर में ही भूत का वास होता है, सब प्रकार से भरे-पूरे घर में भूत (शैतान) नहीं आता।"*

---

* It is important to repress our lower desires, in order that we may be able to devote ourselves, without let or impediment, to the highest ends of life But the ascetic regards the suppression of desire as the end in itself And the effort thus to suppress all natural desires frequently defeats its own aim It concentrates attention on the objects of desire, and in a sense makes a man the slave of his desires as truly as in the case of him who yields to them The best way to free ourselves from our lower desires is, as we have already indicated, to interest ourselves

आदर्श जीवन के लक्षण

नैतिक जीवन के विकास के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे आदर्श जीवन की रूप-रेखा स्पष्ट हो जाती है। यहाँ पर हम आदर्श जीवन के ऐसे लक्षणों की चर्चा करेंगे जिन्हें नीति शास्त्र के प्रमुख विद्वानों ने निश्चित किया है।

चिन्तन शीलता—आदर्श जीवन विवेक मय जीवन है। अपने जीवन को विवेक युक्त बनाने के लिये मनुष्य को नित्यप्रति चिन्तन करने की आवश्यकता है। बिना विचार किये मनुष्य कोई स्थिर नैतिक सिद्धान्त पर नहीं पहुँचता और अपने जीवन को वह संसार के भाव-प्रवाह में बहते रहने देता है। संसार में सच्ची सफलता सिद्धान्तों की सफलता है। दूसरे प्रकार की सफलता अस्थायी होती है। संसार का वैभव वह दिखाऊ धन है, जो चार दिनों के बाद नष्ट हो जाता है। उच्च जीवन उसी व्यक्ति का है, जो अपने सिद्धान्तों के लिये सर्वस्व त्याग करने के लिये भी तत्पर रहता है।

परन्तु नैतिक सिद्धान्त मनुष्य में अनायास नहीं आ जाते। इसके लिये मनुष्य को ज्ञानोपार्जन करना है और अपने जीवन को चिन्तनशील बनाना पड़ता है। किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त को प्राप्त कर लेना अन्वेषण का कार्य है। जिस प्रकार वैज्ञानिक अन्वेषण के लिये मनुष्य को कई दिनों तक विचार करने की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार नैतिक सिद्धान्त के अन्वेषण के लिए भी कई दिनों के विचार की आवश्यकता होती है। फिर सिद्धान्त को ठीक से बरतने के लिये भी सतत् चिन्तन की आवश्यकता होती है। चिन्तन के समय हम अपने सिद्धान्तों की कमियों को भी नाप लेते हैं।

क्रियाशीलता—ऊपर हमने नित्य चिन्तन की महत्ता को बताया है। परन्तु केवल चिन्तन का जीवन भी सर्वश्रेष्ठ जीवन नहीं है। चिन्तन के समय हम

---

in something better It is only into a mind swept and garnished that the devils can enter When it is well furnished and occupied they can find no room—Mackenzie, A Manual of Ethics p. 358.

जिन सिद्धान्तों को प्राप्त करते हैं, उनकी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए व्यावहारिक जगत में आना भी आवश्यक है। नैतिक जीवन ही व्यावहारिक जीवन है। जगल में बैठकर हम जिस आदर्शवादिता का निरूपण कर सकते हैं, उस आदर्शवादिता की सत्यता लौकिक जीवन की कसौटी पर परखी जाती है। कितने ही आदर्शवादी व्यक्ति लौकिक जीवन मे पड जाने पर अपनी आदर्शवादिता को खो देते हैं। इससे उनका अध पतन एकाएक हो जाता है। सिद्धान्तों को अपने लौकिक जीवन मे अव्यवहार्य पाकर जो व्यक्ति उनमे उचित परिवर्तन कर लेते हैं, वे सफल जीवन के व्यक्ति कहे जा सकते हैं। ऐसे ही लोगों का जीवन आदर्श जीवन माना जाएगा।

मध्यम मार्ग का अनुसरण—आदर्श जीवन वास्तव में वह जीवन है, जिसमें न तो लौकिक व्यवहार अथवा क्रिया का अतिक्रम है, और न चिन्तनशीलता का ही। जो मनुष्य चिन्तन और क्रिया में साम्य रखता है, वही आदर्श व्यक्ति है। चिन्तन के अभाव मे जीवन की नाव के अनिश्चित लक्ष्य की ओर बह जाने का भय रहता है। पर यदि मनुष्य ससार से अलग रहकर सदा चिन्तन ही करे, तो उसे अपने अवगुणों का पता ही न लगेगा। मनुष्य को अपने गुण, और अवगुणों का पता तभी चलता है, जब वह ससार के कामों में हाथ बटाता और अनेक लोगों के सम्पर्क मे आता है। जब मनुष्य ससार मे आता है, तो उससे अनेक प्रकार की भूलें होती हैं। इनके लिये उसे पश्चाताप अथवा आत्मवेदना होती है। इस प्रकार की वेदनाओं को बार बार सहकर मनुष्य अपने आपको सुधारने मे समर्थ होता है। जब मनुष्य अपने आपको सासारिक कामों से अलग कर लेता है, तो वह अपनी कमजोरियों को जानने के अवसर को ही खो देता है। फिर उसकी आन्तरिक कमजोरियाँ उसके मन में उसी रूप में बनी रह कर उसे दुःख देती रहती है। अतएव बाह्य ससार मे काम किये और लोगों से अपना सम्पर्क बढाये बिना मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती। आदर्श जीवन में क्रिया और ज्ञान का साम्य रहता है। यही वह मध्यममार्ग है, जिसका प्रवर्तन कृष्ण, बुद्ध और अरस्तू महाशय ने किया है। *

---

* इस प्रसंग में श्रीमैकेन्जी [illegible] का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

आदर्श जीवन के लक्षण

नैतिक जीवन के विकास के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे आदर्श जीवन की रूप रेखा स्पष्ट हो जाती है। यहाँ पर हम आदर्श जीवन के ऐसे लक्षणों की चर्चा करेंगे, जिन्हें नीति-शास्त्र के प्रमुख विद्वानों ने निश्चित किया है।

चिन्तन शीलता—आदर्श जीवन विवेक मय जीवन है। अपने जीवन को विवेक युक्त बनाने के लिये मनुष्य को नित्यप्रति चिन्तन करने की आवश्यकता है। बिना विचार किये मनुष्य कोई स्थिर नैतिक सिद्धान्त पर नहीं पहुँचता और अपने जीवन को वह संसार के भाव-प्रवाह में बहते रहने देता है। संसार में सच्ची सफलता सिद्धान्तों की सफलता है। दूसरे प्रकार की सफलता क्षणस्थायी होती है। संसार का वैभव वह दिखाऊ धन है जो चार दिनों के बाद नष्ट हो जाता है। उच्च जीवन उसी व्यक्ति का है, जो अपने सिद्धान्तों के लिये सर्वस्व त्याग करने के लिये भी तत्पर रहता है।

परन्तु नैतिक सिद्धान्त मनुष्य में अनायास नहीं आ जाते। इसके लिये मनुष्य को ज्ञानोपार्जन करना है और अपने जीवन को चिन्तनशील बनाना पड़ता है। किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त को प्राप्त कर लेना अन्वेषण का कार्य है। जिस प्रकार वैज्ञानिक अन्वेषण के लिये मनुष्य को कई दिनों तक विचार करने की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार नैतिक सिद्धान्त के अन्वेषण के लिए भी कई दिनों के विचार की आवश्यकता होती है। फिर सिद्धान्त को ठीक से बरतने के लिये भी सतत् चिन्तन की आवश्यकता होती है। चिन्तन के समय हम अपने सिद्धान्तों की कमियों को भी नाप लेते हैं।

क्रियाशीलता—ऊपर हमने नित्य चिन्तन की महत्ता को दर्शाया है। परन्तु केवल चिन्तन का जीवन भी सर्वश्रेष्ठ जीवन नहीं है। चिन्तन के समय हम

---

in something better It is only into a mind swept and garnished that the devils can enter When it is well furnished and occupied they can find no room.—Mackenzie, A Manual of Ethics p. 358.

जो मनुष्य दूसरे लोगों के हित में अपने आपको जितना ही खो देता है, वह अपने आपको उतना ही अधिक पा लेता है। जिसे सदा अपने आपको सुधारने की इतनी चिन्ता लगी रहती है कि उसके कारण वह समाज की आवश्यकताओं के ऊपर कोई ध्यान नहीं देता, उसका नैतिक विकास होना कैसे सभव है?

आदर्श जीवनवाला व्यक्ति समाज-सुधारक होता है। प्रत्येक भला व्यक्ति एक तरह से समाज का सुधार करता है। उसके आचरण और विचारो का सहज प्रभाव दूसरे लोगों पर पडता है और इसके कारण उनके मन में आत्म-सुधार की प्रेरणा उत्पन्न होती है। कभी-कभी वह उन्हें उचित सलाह भी देता है। इस प्रकार सदाचारी मनुष्य दूसरों के सुधार का विशेषरूप से प्रयत्न किये बिना ही उनका सुधार कर डालता है। इमरसन महाशय के इस कथन मे मौलिक सत्य है कि हम अपने सद्गुण अथवा दुर्गण का प्रकाशन केवल बाहरी क्रियाओं से ही नहीं करते, बल्कि ये सद्गुण अथवा दुर्गण प्रतिक्षण अपनी विशेष सुगन्ध या दुर्गन्ध को छोडते रहते हैं।* समाज के लोग इनसे सदा प्रभावित होते रहते हैं। अतएव समाज में रहकर अपने आपको ऊँचा बनाने की चेष्टा करना ही समाज की सबसे अधिक मौलिक सेवा है। जो मनुष्य इस प्रकार से अपने आपको ऊँचा बनाता है, वह समाज के लोगों को भी ऊँचा बना देता है। जब मनुष्य अपने आपको लौकिक विभूतियों के उपार्जन में न खोकर और आस-पास के विचारों से विचलित न होकर आत्म-कल्याण में लग जाता है तथा अपने इस परिश्रम के फल को ससार के अन्य लोगों के हित के लिये त्याग देता है, तभी वह अपने जीवन को आदर्श जीवन बनाता है। ससार के सर्वोच्च व्यक्ति वे ही हैं, जो अपने आध्यात्मिक प्रयोगों का फल समाज को सदा सहज भाव से देते रहते हैं। प्रयोग के करने के लिये मनुष्य को एकान्त चाहिये, पर केवल प्रयोग ही जीवन का उद्देश्य न बन जाए। प्रयोग तभी सार्थक होता है, जब उससे ससार का लाभ होता है। इस तरह जैसे-जैसे समाज ऊँचा उठता है, वैसे वैसे व्यक्ति भी अपने

---

* Men imagine that they communicate their virtue or vice only by overt actions and do not see that virtue or vice emits a breath every moment—**Essay on character**

आदर्श व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध

आदर्श व्यक्ति समाज में रहकर समाज के लोगों से सहानुभूति दिखाते हुए उन्हें अपने नैतिक विचारों और आचरण से ऊँचा उठाने की सतत् चेष्टा करता रहता है। उसका मस्तिष्क स्वतन्त्र विचार के जगत में विचरण करता है, परन्तु उसका हृदय संसार के सामान्य लोगों में रहता है। वह उनकी त्रुटियों को जानता है, पर उन त्रुटियों के कारण उनसे घृणा नहीं करता और न वह उनसे अलग रहने का प्रयत्न ही करता है। पतित लोगों की मनोवृत्ति से छूत लग जाने का भय उसे नहीं रहता अपने सम्पर्क से वह अनायास उन्हें सुधार देता है। †

एकान्तवास से मनुष्य अपना कल्याण भले ही कर ले पर उसके जीवन से समाज को कोई लाभ नहीं होता। फिर वह नैतिक जीवन कैसा, जिससे किसी का उपकार भी न हो। मनुष्य का नैतिक आदर्श सहृदयता की प्राप्ति है।

Action and reflection are the gymnastics and music of moral culture. In retirement we criticise the acts of life in life we criticise the ideas of retirement—A manual of Ethics. p. 360

क्रिया और विचार नैतिक जीवन के व्यायाम और संगीत हैं। एकान्त के समय जीवन के कार्यों की आलोचना की जाती है और एकान्त में प्राप्त सिद्धान्तों की परख जीवन में होती है।

† इस प्रसंग में इमरसन महाशय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—
Solltude is fatal, society vulgar We must keep our head in the one and ha ds in the other The conditions are met when we maintain independence of thought and yet do not lose sympathy Essay on Society and Solltude

एकान्त घातक है और समाज अशिष्ट। हमें अपना मस्तिष्क एक मे और हाथों को दूसरे में रखना चाहिए। अर्थात् हमारे विचार तो एकान्त में उत्पन्न हों, परन्तु हमारी क्रियाओं का क्षेत्र समाज ही हो। जब हम अपने विचारों को स्वतन्त्र रखते हैं और अपने संग के लोगों के प्रति सहानुभूति नहीं खोते, तो हम आदर्श जीवन को चरितार्थ करते हैं।

इक्कीसवाँ प्रकरण

नैतिक रोग और उनके उपचार[1]

नैतिक रोग का स्वरूप

नैतिक रोग का अर्थ—जब कोई मनुष्य अपने नैतिक आदर्श से गिर जाता और निम्न स्तर के जीवन मे रहने लगता है, तो उसकी मानसिक अवस्था को नैतिक दृष्टि से दोष-युक्त माना जाता है। यह नैतिक बुराई[2] है। यदि सदाचार का जीवन नैतिक स्वास्थ्य है, तो दुराचार का जीवन नैतिक रोग। जब किसी मनुष्य मे अपने आपको सम्हालने की सामर्थ्य रहती है, जब उसके कार्य सुचारु रूप से चलते है और जब वह नित्यप्रति अपने शारीरिक बल मे उन्नति करता है, तो उसे हम शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ मनुष्य कहते हैं। उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने नैतिक जीवन को सुचारु रूप से चलाता है, जिसके जीवन मे आदर्शों की उपस्थिति है और उनकी ओर वह प्रति-दिन के अभ्यास से बढता जाता है, उसे नैतिक दृष्टि से स्वस्थ कहा जाता है। इसके प्रतिकूल शारीरिक अथवा मानसिक परिस्थिति को रोग की स्थिति कहा जाता है। रोग की स्थिति में मनुष्य का आचरण दूपित हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके कार्य न तो अपना ही लाभ करते, और न दूसरों का ही। नैतिकता की दृष्टि से अपना वास्तविक लाभ दूसरों का लाभ करके ही होता है। जब मनुष्य अनैतिक आचरण करता है, तो इससे सिर्फ दूसरों की ही नहीं, स्वय उसकी भी क्षति होती है। वह अपने आपको दण्ड का भागी बनाता है।

नैतिक बुराई का कारण

नैतिक रोगों के दो रूप—जिस प्रकार शारीरिक अथवा मानसिक रोगों

---

1 Moral pathology 2 Moral evil

आप ही ऊँचा उठता जाता है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे से गुथे हुए हैं। एक के उत्थान से दूसरे का उत्थान होता है, और एक के पतन से दूसरे का पतन।

प्रश्न

१ मनुष्य के नैतिक विकास का अर्थ क्या है? यह नैतिक विकास कैसे होता है?

२ मनुष्य के नैतिक विकास में सत्संग और विरोध गठना का क्या स्थान है? क्या मनुष्य के नैतिक विकास को वातावरण का परिणाम कहा जा सकता है?

३ मनुष्य के नैतिक विकास में आत्म-परीक्षा और एकान्त-सेवन की उपयोगिता को स्पष्ट कीजिए।

४ 'जिसे पुते खाली घर में भूत का निवास होता है, सब प्रकार से भरे-पूरे घर में भूत (शैतान) नहीं आता" इस कथन का क्या अर्थ है? यह कथन हमें कहाँ तक अपने नैतिक विकास के लिए उचित मार्ग बताता है?

५. आदर्श जीवन में चिन्तनशीलता और क्रियाशीलता का क्या स्थान है? क्या दार्शनिक जीवन को हम आदर्श जीवन मान सकते हैं?

६ "क्रिया और विचार नैतिक जीवन के व्यायाम और संगीत हैं—" इस विचार की मौलिकता को दर्शाइये। आदर्श जीवन में व्यक्ति का समाज से कैसा सम्बन्ध रहता है?

परिणाम आनन्दमय और दुसरे का दुःखमय जीवन है।

चरित्र के दोषों के कारण—मनुष्य मे चरित्र के दोषों के दो प्रधान कारण होते हैं—एक शिक्षा की कमी, और दूसरा आत्म-सुधार के सतत् प्रयत्न का अभाव। शिक्षा की कमी के कारण मनुष्य को ऊँचे आदर्श का ज्ञान ही नहीं हो पाता और न उसमे भली आदतें ही पड़ती हैं। बालक को पहले पहल उसके अविभावक और शिक्षक ही उसे चरित्र बनाने मे सहायक होते हैं। वे उसे उचित आदर्शों का ज्ञान और अपने आप मे सद्‌गुणों को दृढ करने के लिये अभ्यास भी कराते है। पीछे स्वय बालक ही इस गुण की महत्ता को समझकर उनको बढाने लगता है। भली शिक्षा के अभाव में बालक में अनेक बुरी आदतें पड जातीं और उसके विचार कलुषित हो जाते हैं। फिर वह अपनी नैतिक उन्नति करने में अपने को असमर्थ पाता है।

पर चरित्र-निर्माण मे केवल वातावरण और शिक्षा से कार्य नहीं होता। अपने चरित्र के निर्माण के लिये मनुष्य को स्वतः प्रयत्न करना पडता है। शिक्षा का कार्य इतना ही है कि वह व्यक्ति मे अपने आपको ऊँचा उठाने की प्रेरणा उत्पन्न करे। जब मनुष्य में आत्म-सुधार की प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है, तो शिक्षा का कार्य समाप्त हो जाता है। फिर मनुष्य अपना सुधार अथवा बिगाड अपने आप ही करता है। शिक्षा के द्वारा ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे कि मनुष्य चरित्र के गुण अथवा दोषों को प्राप्त करे, पर वे वस्तुयें अपने प्रयत्न से ही प्राप्त होती हैं। सतत् प्रयत्न से चरित्र के गुण स्थिर रहते हैं। प्रयत्न के अभाव मे अनेक प्रकार की चारित्रिक बुराइयाँ अपने आप ही चली आती हैं। जब मनुष्य अपने आपको ऊँचा उठाने की चेष्टा को बन्द कर देता है, तो प्राकृतिक नियम के अनुसार वह स्वभावत नीचे गिरने लगता है। जिस प्रकार कपड़े को स्वच्छ रखने के लिये हमें सदा सावधान रहना और कभी-कभी उसे धोना भी पडता है, उसी प्रकार अपने चरित्र को स्वच्छ रखने के लिये भी मनुष्य को सदा सावधान रहना पडता है और कभी-कभी उसे प्रायश्चित के रूप में अनायास आये हुए दोषों को धोना भी पडता है।

चरित्र के दोषों के प्रकार—मनुष्य के चरित्र के दोष दो प्रकार के होते

के दो रूप होते हैं, उसी प्रकार नैतिक रोगों के भी दो रूप होते हैं, एक भीतरी और दूसरा बाहरी। भीतरी रोग को चरित्र का दोष और बाहरी रोग को पाप[1] अथवा अपराध[2] कहा जाता है। मनुष्य के चरित्र का दोष उसकी कुत्सित भावनाओं के रूप में रहता है। दूसरों को उसका ज्ञान होना कठिन है। कभी-कभी स्वयं दोष युक्त व्यक्ति को ही अपने चरित्र के दोष का ज्ञान नहीं रहता। कोई-कोई लोग अपने दोष को गुण के रूप में ही मानते हैं और इस कारण उसे जानकर भी उससे मुक्त होने की चेष्टा नहीं करते। कई एक लोग अपने चरित्र के दोषों को जान बूझकर दूसरों से छिपाने की चेष्टा करते हैं। वे इस कार्य में कुछ समय तक सफल होते हैं पर चरित्र के दोष अन्त में पापाचरण और अपराध के रूप में प्रकट हो ही जाते हैं। पापाचरण और अपराध चरित्र के दोष के बाहरी रूप हैं।

चरित्र के दोष[3]

चरित्र के दोषों की व्याख्या—चरित्र के किसी प्रकार की कमी को चरित्र का दोष कहा जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि यह दोष पाप और अपराध का आन्तरिक रूप अथवा उनका कारण है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपकी पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है। इस पूर्णता का ज्ञान ही उसे आत्म-संतोष देता है। जब कोई मनुष्य अपने आपमें किसी प्रकार की कमी देखता है, तो उसे आत्म ग्लानि होती है। यह आन्तरिक संताप की स्थिति है। अतएव चरित्र का गुण वह है जिससे मनुष्य अपने आपमें पूर्णता की अनुभूति करे और जिससे उसे आत्म-संतोष हो और चरित्र का दोष वह है, जिसकी उपस्थिति से मनुष्य अपने आप में कमी की अनुभूति करे और जिससे उसे आत्म-संताप हो। जिस गुण के दूसरों के समक्ष प्रकाशित होने पर हमें प्रसन्नता होती है वह सद्गुण है इसे हम दूसरों को बताना चाहते हैं, और जिस गुण के प्रकाशित हो जाने पर अथवा दूसरों के द्वारा जान लेने पर हमें दुःख होता है और जिसे हम सदा छिपाने की चेष्टा करते रहते हैं वह चरित्र का दुर्गुण अथवा दोष है। चरित्र के सद्गुण मनुष्य के जीवन को उन्नत करते हैं और दोष उसे नीचे गिराते हैं। एक का परिणाम

1 Sin 2 Crime 3 Vice

परिणाम आनदमय और दूसरे का दुःखमय जीवन है।

चरित्र के दोषों के कारण—मनुष्य में चरित्र के दोषों के दो प्रधान कारण होते हैं—एक शिक्षा की कमी, और दूसरा आत्म-सुधार के सतत् प्रयत्न का अभाव। शिक्षा की कमी के कारण मनुष्य को ऊँचे आदर्श का ज्ञान ही नहीं हो पाता और न उसमे भली आदतें ही पडती हैं। बालक को पहले पहल उसके अभिभावक और शिक्षक ही उसे चरित्र बनाने मे सहायक होते हैं। वे उसे उचित आदर्शों का ज्ञान और अपने आप मे सद्गुणों को दृढ करने के लिये अभ्यास भी कराते है। पीछे स्वय बालक ही इस गुण की महत्ता को समझकर उनको बढ़ाने लगता है। भली शिक्षा के अभाव में बालक में अनेक बुरी आदतें पड जाती और उसके विचार कलुषित हो जाते हैं। फिर वह अपनी नैतिक उन्नति करने में अपने को असमर्थ पाता है।

पर चरित्र-निर्माण मे केवल वातावरण और शिक्षा से कार्य नहीं होता। अपने चरित्र के निर्माण के लिये मनुष्य को स्वत प्रयत्न करना पडता है। शिक्षा का कार्य इतना ही है कि वह व्यक्ति में अपने आपको ऊँचा उठाने की प्रेरणा उत्पन्न करे। जब मनुष्य मे आत्म-सुधारकी प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है, तो शिक्षा का कार्य समाप्त हो जाता है। फिर मनुष्य अपना सुधार अथवा बिगाड अपने आप ही करता है। शिक्षा के द्वारा ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे कि मनुष्य चरित्र के गुण अथवा दोषों को प्राप्त करे, पर वे वस्तुयें अपने प्रयत्न से ही प्राप्त होती हैं। सतत् प्रयत्न से चरित्र के गुण स्थिर रहते हैं। प्रयत्न के अभाव में अनेक प्रकार की चारित्रिक बुराइयाँ अपने आप ही चली आती है। जब मनुष्य अपने आपको ऊँचा उठाने की चेष्टा को बन्द कर देता है, तो प्राकृतिक नियम के अनुसार वह स्वभावत नीचे गिरने लगता है। जिस प्रकार कपड़े को स्वच्छ रखने के लिये हमें सदा सावधान रहना और कभी-कभी उसे धोना भी पडता है, उसी प्रकार अपने चरित्र को स्वच्छ रखने के लिये भी मनुष्य को सदा सावधान रहना पडता है और कभी-कभी उसे प्रायश्चित के रूप में अनायास आये हुए दोषों को धोना भी पडता है।

चरित्र के दोषों के प्रकार—मनुष्य के चरित्र के दोष दो प्रकार के होते

हैं—एक चारित्र हीनता सूचक, और दूसरा चरित्र का एकाङ्गी-सूचक। संसार के अधिकतर लोगों में पहले प्रकार के दोष होते हैं दूसरे प्रकार का दोष विशेष व्यक्तियों का होता है। संसार के साधारण कामों में लगे रहनेवाले व्यक्ति चरित्र का मूल्य उतनी ही दूर तक करते हैं जितनी दूर तक वह उन्हें सांसारिक सफलता प्राप्त करने में सहायक होता है। उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य धन ऐश्वर्य कुछ प्राप्ति को प्राप्त करना होता है। ऐसे व्यक्ति किसी प्रकार के सद्गुणों को वहीं तक प्रदर्शित करते हैं जहाँ तक वे सद्गुण लौकिक दृष्टि से लाभकारी दिखाई देते हैं। किसी प्रकार का सद्गुण जब लौकिक दृष्टि से लाभकारी नहीं दिखाई देता, तो वे उस सद्गुण का अभ्यास छोड़ देते हैं। फिर उनके चरित्र में वे ही दोष दिखाई देने लगते हैं जिनकी वे पहले निंदा करते थे। जब किसी व्यापारी को सच बोलकर पैसे का लाभ होता और उसकी दूकान की साख जमती है, तब वह सच बोलता है, पर जब इससे उसे व्यापार में बार बार घाटा उठाना पड़ता है तो वह झूठ बोलकर भी मुनाफा उठाने की चेष्टा करता है। दूकान को बरबाद होने देने के बदले वह झूठ बोलना ही उचित समझता है। इस प्रकार अच्छी साख वाले व्यापारी भी चोर बाजारी करने लगते हैं।

इस प्रकार की चारित्रिक कमी चरित्र की दृढ़ता की कमी को दरशाता है। ऐसे लोगों में कोई वास्तविक नैतिक विचार नहीं रहता। उनके जीवन में आदर्शों का अभाव रहता है। ऐसे लोग अवसरवादी होते हैं। वे जिधर अधिक लाभ होते देखते हैं उधर ही दल जाते हैं। वास्तव में वे जीवन के किसी नैतिक सिद्धान्त का पालन नहीं करते। नैतिकता के अधिक दोष जीवन में सिद्धान्त के अभाव के कारण ही होते हैं।

दूसरे प्रकार का चारित्रिक दोष संसार के प्रतिभाशाली लोगों में पाये जाते हैं। प्रतिभा में कुछ-न-कुछ एकाङ्गिता पाई ही जाती है। बिना एकाङ्गिता के मनुष्य में किसी विशेष प्रकार की योग्यता अथवा चरित्र के सद्गुण का विकास नहीं होता। पर किसी प्रकार की एकाङ्गिता स्वयं चरित्र का दोष है। अतएव चरित्र के विशेष दोष उन्हीं लोगों में पाये जाते हैं जिनमें विशेष प्रकार के गुण होते हैं। मेकेन्जी महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि मनुष्य के चरित्र के दोष उसके सद्गुणों की छाया हैं; पारदर्शी भलाई अथवा पूर्णता की परछाई नहीं ही

न पड़े, परन्तु जब तक मनुष्य इसे प्राप्त नहीं कर लेता; तब तक मनुष्य के दृढ़तम सद्गुण घनी छाया भी डालता है। *

संसार के विशेष पुरुषों में हठीलापन रहता है। यह हठीलापन उन्हें अपनी लगन में बल प्रदान करता है। प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण वे अपने सिद्धान्तों को नहीं बदलते। प्रतिकूल परिस्थितियों में उनकी लगन और भी दृढ़ हो जाती है। उनका कार्य-क्षेत्र एक विशेष क्षेत्र में सीमित रहता है। उसी प्रकार उनके विचार भी विशेष प्रकार के होते हैं। वे विरोधी विचारों अथवा सिद्धान्तों का समावेश अपने सिद्धान्तों में नहीं करते। इसके कारण उनका नैतिक विकास उतना नहीं होता, जितना कि पूर्णता की प्राप्ति के लिये आवश्यक होता है। जिस व्यक्ति के नैतिक विचार और आदर्श प्रगतिशील होते हैं, जो अपने सिद्धान्तों में उचित परिवर्तन करने के लिये तैयार रहता है, वही नैतिक पूर्णता की प्राप्ति कर सकता है। पर मनुष्य का जैसा स्वभाव है, उससे यह आशा करना ठीक नहीं है। कविता की धुन में लगा हुआ मनुष्य जीवन की दूसरी आवश्यकताओं की ओर अपनी दृष्टि नहीं ले जाता। वह समाज के रूढ़िवादी नियमों के पालन की परवाह नहीं करता। इसी प्रकार समाज-सुधारक दूसरे लोगों की कमजोरी को ध्यान में न रखकर कभी-कभी अपराधी के लिये अत्यधिक दण्ड देने की सूझ दे देता है। उसकी दृष्टि आलोचनात्मक होती है। यह दूसरे लोगों को बुरा लगता है, पर वह इसकी परवाह नहीं करता। विद्याध्ययन में लगन रखने वाले विद्वान अपने घरेलू जीवन में प्रायः असफल हो जाते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि मनुष्य के चरित्र का सद्गुण उसके जीवन के विशेष प्रकार के दुर्गुण का कारण भी हो जाता है। प्रकृति के सभी आध्यात्मिक कारणों के नियम के अनुसार यह ठीक ही है। *

---

* A man's sins are the shadows of his virtues, and though a life of transparent goodness would cast no shadow, yet so long as men fall short of this the strongest virtues will often have the deepest shades—**A Manual of Ethics P 368**

* मनुष्य के सद्गुण जिस प्रकार उसके उत्थान के कारण होते हैं, उसी प्रकार उसके दोष उसके पतन के कारण भी होते हैं। अतएव प्रत्येक विवेकी

है—एक चारित्र हीनता सूचक और दूसरा चरित्र का एकाङ्गी-सूचक। संसार के अधिकतर लोगों में पहले प्रकार के दोष होते हैं दूसरे प्रकार का दोष विशेष व्यक्तियों को होता है। संसार के साधारण कामों में लगे रहनेवाले व्यक्ति चरित्र का मूल्य उतनी ही दूर तक करते हैं जितनी दूर तक वह उन्हें सांसारिक सफलता प्राप्त करने में सहायक होता है। उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य धन, ऐश्वर्य सुख आदि को प्राप्त करना होता है। ऐसे व्यक्ति किसी प्रकार के सद्गुणों को वहीं तक प्रदर्शित करते हैं जहाँ तक वे सद्गुण लौकिक दृष्टि से लाभकारी दिखाई देते हैं। किसी प्रकार का सद्गुण जब लौकिक दृष्टि से लाभकारी नहीं दिखाई देता, तो वे उस सद्गुण का अभ्यास छोड़ देते हैं। फिर उनके चरित्र में वे ही दोष दिखाई देने लगते हैं जिनकी वे पहले निंदा करते थे। जब किसी व्यापारी को सच बोलकर पैसे का लाभ होता और उसकी दूकान की साख जमती है, तब वह सच बोलता है, पर जब इससे उसे व्यापार में बार बार घाटा उठाना पड़ता है तो वह झूठ बोलकर भी मुनाफा उठाने की चेष्टा करता है। दूकान को बरबाद होने देने के बदले वह झूठ बोलना ही उचित समझता है। इस प्रकार अच्छी साख वाले व्यापारी भी चोर बाजारी करने लगते हैं।

इस प्रकार की चारित्रिक कमी चरित्र की दृढ़ता की कमी को दर्शाता है। ऐसे लोगों में कोई वास्तविक नैतिक विचार नहीं रहता। उनके जीवन में आदर्श का अभाव रहता है। ऐसे लोग अवसरवादी होते हैं। वे जिधर अधिक लाभ होते देखते हैं, उधर ही ढल जाते हैं। वास्तव में वे जीवन में किसी नैतिक सिद्धान्त का पालन नहीं करते। नैतिकता के अधिक दोष जीवन में सिद्धान्त के अभाव के कारण ही होते हैं।

दूसरे प्रकार का चारित्रिक दोष संसार के प्रतिभाशाली लोगों में पाये जाते हैं। प्रतिभा में कुछ-न-कुछ एकाङ्गिता पाइ ही जाती है। बिना एकाङ्गिता के मनुष्य में किसी विशेष प्रकार की योग्यता अथवा चरित्र के सद्गुण का विकास नहीं होता। पर किसी प्रकार की एकाङ्गिता स्वयं चरित्र का दोष है। अतएव चरित्र के विशेष दोष उन्हीं लोगों में पाये जाते हैं जिनमें विशेष प्रकार के गुण होते हैं। मैकेन्जी महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि मनुष्य के चरित्र के दोष उसके सद्गुणों की छाया हैं; पारदर्शी मलाई अभाव् पूर्णता की परछाई भरी ही

सहित मिलता है। इस दण्ड में चरित्र को सुधारने की शक्ति होती है। दण्ड चरित्र के दोष का औषध है।

कभी-कभी चरित्र का दोष किसी बाहरी दण्ड की अपेक्षा न रख अपने आप द्वारा दण्ड के रूप मे ही प्रकट होता है। ऐसी अवस्था मे वह शारीरिक अथवा मानसिक रोग का रूप धारण कर लेता है। जो लोग दूसरे लोगों के प्रति अपने मन मे घृणा के भाव रखते हैं, उन्हें कोढ़, बवासीर, क्षय अथवा अन्धेपन का रोग हो जाता है। इन रोगों के द्वारा उनकी दुर्भावनायें अथवा चरित्र के दोष नष्ट होते है। ये रोग तभी होते हैं, जब मनुष्य अपने चरित्र के दोष को नहीं मानता अथवा उसे स्वीकार नहीं करता। अपने दोष को समझकर जब वह अपने चरित्र का सुधारने के लिए तत्पर हो जाता है, तो उसका दोष नष्ट हो जाता है। कई प्रकार की झक, भय या निरर्थक बाध्य शारीरिक चेष्टायें भी मानसिक विकार को बाहर फेंकने के लिए उत्पन्न होता है। गदगी का भय भीतरी गदगी के भय का प्रतीक है। यह भय आन्तरिक गदगी को प्रतीक-रूप से बाहर निकालता है। सॉप का भय काम-वासना का भय है, यह मनुष्य की छुपी काम-वासना का परिचायक होता है। किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक रोग कुछ काल तक तीव्र रहने के पश्चात् शान्त होने लगता है। इसका अर्थ यह है कि वह मानसिक विकार को बाहर निकालने में समर्थ हुआ है।

चरित्र के दोषों का निवारण जिस प्रकार प्राकृतिक रूप से होता है, उसी प्रकार हम अपने प्रयत्न से भी उनका निवारण कर सकते हैं। किसी कुकृत्य के लिए सदाचारी मनुष्य को अपने आप पश्चाताप होता है। पश्चाताप स्वय दोष का निवारण नहीं करता, बल्कि वह दोष के निवारण की आवश्यकता को दर्शाता है। दोष का ज्ञान पश्चाताप उत्पन्न करता है, और प्रायश्चित से दोष का परिष्कार होता है। जब पश्चाताप प्रायश्चित का कारण बन जाता है, तभी वह दोष का निवारण करता है। अपने आपको दण्ड देना ही प्रायश्चित है। चरित्र के परिष्कार के लिए इस प्रकार का दण्ड आवश्यक है।

पाप और अपराध

पाप और अपराध की व्याख्या—पाप और अपराध चरित्र के दोष के

चरित्र के दोषों का निवारण—चरित्र के दोषों का निवारण दो प्रकार से होता है—एक प्राकृतिक रूप से और दूसरा अपने प्रयत्न के द्वारा। हमारा यह विश्वास है कि संसार की सभी क्रियाओं का संचालन विवेकी तत्त्व अथवा नियम के द्वारा होता है। इस नियम की उपस्थिति को स्वीकार न करने पर नैतिक आचरण अर्थ हीन हो जाता है। यह एक अनपवाद नियम है कि हमारे शुभ कामों का परिणाम शुभ और अशुभ कार्यों का परिणाम अशुभ होता है। इस नियम को चाहे आध्यात्मिक नियम कहा जाए अथवा प्राकृतिक पर इसकी सत्ता में विश्वास करना प्रत्येक विवेकशील और सदाचारी व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। यह नियम अथवा सत्ता मनुष्य के चरित्र में किसी प्रकार के दोष को टिकने नहीं देती। वह उसका परिष्कार करते रहती है।

जब मनुष्य के चरित्र के दोष का निवारण प्राकृतिक रूप से होता है, तो पहले वह अपनी अप्रकाशित अवस्था से प्रकाशित अवस्था में आता है। चरित्र के दोष का प्रकाशन पापाचरण, अपराध और शारीरिक तथा मानसिक रोगों में होता है। दोष कारण है और पाप तथा अपराध कार्य। चरित्र के दोषों को बनाए रखने की अपेक्षा पापाचरण करना अथवा अपराध करना अच्छा है। चरित्र के दोष जब तक बाहर नहीं आते तब तक चरित्र का सुधार नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्य की कोई शारीरिक व्याधि जब किसी फोड़े फुंसी खुजली या कैन्सर का रूप धारण कर लेती है, तो उसकी चिकित्सा का होना सरल हो जाता है, उसी प्रकार चरित्र का कोई दोष जब पापाचरण अथवा अपराध का रूप ले लेता है, तो उसका नाश करना सरल हो जाता है। पापाचरण और अपराध के परिणाम-स्वरूप मनुष्य को आत्म भर्त्सना होती है अथवा उसे समाज या प्रकृति से दण्ड मिलता है। इस पर यदि थोड़े समय के लिए न मिला तो पीछे वह अवश्य

पुरुष का काम है। वह सदा आत्म निरीक्षण करता रहे और अपने गुण तथा दोषों को साक्षीभाव से देखने की चेष्टा करे। दूसरे लोगों के विचारों की [illegible] अवहेलना कर अपने ही सिद्धान्तों को ठीक मानना ऊँची नैतिकता को नहीं दर्शाता।

सहित मिलता है। इस दण्ड में चरित्र को सुधारने की शक्ति होती है। दण्ड चरित्र के दोष का औषध है।

कभी-कभी चरित्र का दोष किसी बाहरी दण्ड की अपेक्षा न रख अपने आप द्वारा दण्ड के रूप में ही प्रकट होता है। ऐसी अवस्था में वह शारीरिक अथवा मानसिक रोग का रूप धारण कर लेता है। जो लोग दूसरे लोगों के प्रति अपने मन में घृणा के भाव रखते हैं, उन्हें कोढ़, बवासीर, क्षय अथवा अन्धेपन का रोग हो जाता है। इन रोगों के द्वारा उनकी दुर्भावनायें अथवा चरित्र के दोष नष्ट होते हैं। ये रोग तभी होते हैं, जब मनुष्य अपने चरित्र के दोष को नहीं मानता अथवा उसे स्वीकार नहीं करता। अपने दोष को समझकर जब वह अपने चरित्र को सुधारने के लिए तत्पर हो जाता है, तो उसका दोष नष्ट हो जाता है। कई प्रकार की झक, भय या निरर्थक बाध्य शारीरिक चेष्टायें भी मानसिक विकार को बाहर फेंकने के लिए उत्पन्न होती हैं। गदगी का भय भीतरी गदगी के भय का प्रतीक है। यह भय आन्तरिक गदगी को प्रतीक-रूप से बाहर निकालता है। साँप का भय काम-वासना का भय है, यह मनुष्य की छुपी काम-वासना का परिचायक होता है। किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक रोग कुछ काल तक तीव्र रहने के पश्चात् शान्त होने लगता है। इसका अर्थ यह है कि वह मानसिक विकार को बाहर निकालने में समर्थ हुआ है।

चरित्र के दोषों का निवारण जिस प्रकार प्राकृतिक रूप से होता है, उसी प्रकार हम अपने प्रयत्न से भी उनका निवारण कर सकते हैं। किसी कुकृत्य के लिए सदाचारी मनुष्य को अपने आप पश्चाताप होता है। पश्चाताप स्वय दोष का निवारण नहीं करता, बल्कि वह दोष के निवारण की आवश्यकता को दर्शाता है। दोष का ज्ञान पश्चाताप उत्पन्न करता है, और प्रायश्चित से दोष का परिष्कार होता है। जब पश्चाताप प्रायश्चित का कारण बन जाता है, तभी वह दोष का निवारण करता है। अपने आपको दण्ड देना ही प्रायश्चित है। चरित्र के परिष्कार के लिए इस प्रकार का दण्ड आवश्यक है।

पाप और अपराध

पाप और अपराध की व्याख्या—पाप और अपराध चरित्र के दोष के

बाहरी रूप हैं। पाप और अपराध मनुष्य की क्रियाओं से सम्बन्ध रखते हैं और दोष उसके स्वभाव से पुण्य नैतिक शुभाचरण का नाम है, और पाप नैतिक दुराचरण का। पाप ही अपराध के रूप में प्रकाशित होता है। सभी पाप अपराध नहीं कहे जाते। अपराध वे पाप हैं, जो समाज द्वारा दण्डनीय हैं। किसी व्यक्ति की अनुपस्थिति में उसकी निंदा करना पाप है, अपराध नहीं। पर जब किसी व्यक्ति की निंदा खुलेआम जनता के समक्ष की जाती है, तो वह अपराध बन जाता है। इसके लिए समाज ऐसे व्यक्ति को दण्ड देता है। इस प्रकार के अपराध को रोकने के लिए राज सभा कानून बनाती है और उसके विरुद्ध चलनेवाले को दण्ड देती है।

पाप के प्रकार—पाप दो प्रकार के होते हैं, एक मानसिक और दूसरा शारीरिक तथा वाचिक। किसी किसी समाज में बुरे कामों में प्रकाशित पाप को ही पाप समझा जाता है वहाँ मानसिक पाप को पाप नहीं माना जाता। पर यह अनुचित है। उन्नतशील समाज के नेता जनता को न केवल शारीरिक पाप से अपने आप को रोकने की शिक्षा देते हैं, वरन् वे मानसिक पाप से भी अपने आपको रोकने की शिक्षा देते हैं। हजरत ईसा का कथन है कि जो व्यक्ति किसी स्त्री को कामुकता की दृष्टि से देखता है वह उसके साथ मानसिक व्यभिचार कर ही चुका है।* भगवान बुद्ध की शिक्षा का सार भाग भी यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को न केवल शारीरिक बुरे कामों से बचना चाहिए, वरन् उसे मानसिक बुरे कामों को भी न करना चाहिये। मानसिक पाप शारीरिक पापों से अधिक बुरे इसलिए है कि शारीरिक पाप कभी न कभी प्रकाशित हो जाता है और इसके लिए हमें दण्ड भी भोगना पड़ता है इससे हमारे चरित्र के दोष नष्ट हो जाते हैं। प्रकाशित न होने के कारण मानसिक पाप दण्डनीय नहीं होते और इस प्रकार हमारे चरित्र के दाग भी बने रहते हैं। मानसिक पापों के परिणाम तुरन्त प्रकट नहीं होते। अतः मनुष्य ऐसे पापों की संख्या बढ़ाते जाता है और फिर उसे उनका भुगतान एक साथ करना पड़ता है।

---

* Whoever looked on a woman to lust after her has committed adultery with her already in heart—New Testament.

वास्तविक अपराध क्या है—ऊपर बताया जा चुका है कि प्रत्येक वास्तविक अपराध की जड मे पाप रहता है। परन्तु मनुष्य को कभी-कभी समाज-द्वारा ऐसे कामों के लिए भी दण्डित होना पडता है, जो वास्तव में पाप नहीं है, पर समाज-द्वारा पाप मान लिए गये हैं। मनुष्य के वे ही कृत्य पाप हैं, जिन्हे वह सभी प्रकार का ज्ञान होने पर भी जान-बूझ कर अपनी स्वतत्र इच्छा से करता है। नैतिक दृष्टि से मनुष्य के कार्य का हेतु ही महत्व का वस्तु है। जिस कार्य का हेतु बुरा है, वह कार्य भी बुरा है। अज्ञान के कारण कभी-कभी मनुष्य कुछ ऐसे काम कर बैठता है, जो अपराध माने जाते हैं। पर जब यह निश्चित हो जाए कि किसी काम के करने समय कर्त्ता को उसके बुरे परिणाम का ज्ञान नहीं था अथवा उसने उसे भला काम समझकर ही किया था, तो नैतिक दृष्टि से वह अपराधी नहीं माना जाएगा। उदाहरणार्थ यदि कोई डाक्टर किसी रोगी को पेचिश की दवा देता है, पर इस रोगी को कोई ऐसा दूसरा रोग भी है, जिसका ज्ञान डाक्टर को नहीं है। अब यदि यह रोग बढ जाता है, तो इसकी नैतिक जिम्मेदारी डाक्टर को नहीं है। इसी तरह यदि कोई गोलदाज अपने दल को ही शत्रु की टोली समझकर उस पर गोला दाग देता है, तो वह उसके लिए नैतिक दृष्टि से दोषी नहीं समझा जाएगा। अरस्तू का कथन है कि ऐसे कामों को मनुष्य बिना सकल्प के करता है, पर उनके करने के पश्चात् जब उसे उनके बुरे परिणामों का ज्ञान होता है, तो उसे पश्चाताप होता है।[1]

परन्तु जिन बातो को जानना सर्व साधारण के लिए आवश्यक है, उनका अज्ञान मनुष्य को किसी अपराध के दोष से मुक्त नहीं करता। यदि कोई व्यक्ति ऐसी जगह पर गोलियाँ चलाता है, जहाँ अनायास लोगों के आ जाने की सभावना है और यदि अचानक किसी को उसकी गोली लग जाती है, तो उसका यह कहना उसे अपराध के दोष से मुक्त नहीं करेगा कि एकाएक आ जानेवाले व्यक्ति का ज्ञान

---

1 What is done through ignorance is always un intentional, but it is done unwillingly only if pain and regret are felt.

—Nichomachean Ethics B. K. III.

उसे नहीं था । दूसरे के बगीचे से फूल तोड़ते समय पकड़े जाने पर यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि मुझे इस बात का ज्ञान नहीं था कि इस बगीचे के फूलों को तोड़ने की मनाही है, तो अज्ञान की आड़ में होकर वह अपराध की जिम्मेदारी से नहीं बच सकता। दूसरे व्यक्ति की किसी वस्तु को उसकी आज्ञा के बिना न लेना चाहिए यह एक सामान्य ज्ञान है जिसे सभी लोगों को मानना चाहिए।*

विक्षिप्तता की अवस्था में भी मनुष्य कई ऐसे काम कर बैठता है जो अनुचित होते हैं, पर उन्हें अपराध नहीं कहा जाता। अपने किसी अनुचित कार्य के लिए जब कोई व्यक्ति कचहरी में न्यायाधीश के सामने लाया जाता है और जब उसके विषय में यह सिद्ध कर दिया जाता है कि उसका दिमाग ठिकाने नहीं है तो उसे साधारण अपराधी के समान दण्ड नहीं होता। हत्या का अपराध करने पर भी ऐसे व्यक्ति को कभी कभी कोई भी दण्ड नहीं दिया जाता। वह पागलखाने में भेज दिया जाता है।

कभी कभी मनुष्य किसी मानसिक ग्रन्थि के कारण कोई ही दुराचरण करता है। यह एक प्रकार का सामान्य पागलपन है। इस प्रकार के कार्य साधारणतः अपराध ही समझे जाते हैं। आधुनिक काल में इस प्रकार के कार्मों को उदारता की दृष्टि से देखने की भावना उत्पन्न हो रही है। जब बालक किसी मानसिक ग्रन्थि के कारण दुराचारी बनते अथवा घोर अपराध कर डालते हैं तो न्यायाधीश उन्हें साधारण जेलों में न भेजकर सुधारगृह में भेजता है। ऐसे बालकों को योग्य शिक्षा देकर तथा उनकी मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण करके उन्हें सदाचारी बनाने की चेष्टा की जाती है। अतएव इस प्रकार के कार्य उस प्रकार के अपराध नहीं समझे जाते जिस प्रकार पूरी तरह समझ-बूझकर किये गए पाप समझे जाते हैं।

किसी आवेग में आकर भी मनुष्य बहुत से अनुचित काम कर बैठता है। इन आवेगों का कारण प्रायः कोई मानसिक ग्रन्थि रहती है। अपने आप पर

* The ignorance that excuses is not ignorance of the universal principles (for we blame a man for this) but ignorance of particulars of the circumstances and specific effects of an act—Nichomachean Ethics III, p. 14.15 and quoted by Wheelwright in A Critical Introduction to Ethics p 239.

पर्याप्त नियन्त्रण न रहने के कारण भी मनुष्य आवेग मे आ जाता है । अपने आप पर नियन्त्रण कई दिनों के अभ्यास मे आता है। जिन लोगों को बाल्यकाल मे योग्य शिक्षा नहीं मिलती, उनमे आत्म-नियन्त्रण की शक्ति नही आती। ऐसे व्यक्ति किसी प्रकार के आवेगों मे आ जाते हैं। मन की इस अवस्था मे वे जो काम करते हैं, उन्हें अपराध ही कहा गया है। पर इच्छा-शक्ति का पूरा प्रयत्न न होने के कारण वे कार्य उतने निंद्य नहीं होते, जितने सोच-विचार कर किसी निकृष्ट हेतु मे प्रेरित होकर किए गए काम होते है। किसी व्यक्ति की गाली सुनकर उसे घातक शस्त्र मे मारना उतना निंद्य अपराध नहीं है, जितना पुराना वैर भजाने अथवा उसका रुपया छीनने के लिए उसे मारना निन्द्य है।

बुद्धि की कमी भी अपराध का कारण होती है । जिन लोगों मे बुद्धि की कमी होती है, उनमे किसी बुरे काम को अपराध समझने का शक्ति ही नहीं होती। वे बुरे काम के बुरे परिणाम को नहीं देख सकते। क्या ऐसे लोगों के अनुचित कामों को अपराध मानना ठीक है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि बुद्धि की कमी के कारण किये गये कामों को अपराध मानना ही होगा । उनकी बुद्धि की कमी शिक्षा से पूरी हो सकती है। समाज अपराधी को यह शिक्षा दण्ड के रूप मे देता है।

अन्त मे वे काम आते हैं, जिन्हें व्यक्ति जान-बूझकर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करता है। यदि ये काम उचित हैं, तो हम उन्हें भले काम अथवा पुण्य मानते हैं। हम काम करनेवाले के इन कामों की पूरी प्रशसा भी करते हैं। यदि ये काम अनुचित हैं, तो हम काम करनेवाले की निंदा करते हैं और उसे दोषी अथवा अपराधी समझते हैं। जिस प्रकार के कामों के लिये मनुष्य अपने आपको स्तुति का पात्र समझता है, उसी प्रकार के कामों के लिये वह निंदा का भी पात्र होता है। यदि ये काम उसे सर्वोच्च नैतिक आदर्श की ओर ले जाते हैं, तो वे स्तुत्य हैं, और यदि वे उसे इससे गिराते हैं, तो निन्द्य हैं।

दण्ड विधान

दण्ड की आवश्यकता—दण्ड अपराध की मनोवृत्ति का सुधार करता है। यदि कोई मनुष्य कोई प्राकृतिक भूल करता है, तो प्रकृति उसे दण्ड देती

उसे नहीं था। दूसरे के बगीचे से फूल तोड़ते समय पकड़े जाने पर यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि मुझे इस बात का ज्ञान नहीं था कि इस बगीचे के फूलों को तोड़ने की मनाही है तो अज्ञान की आड़ में होकर वह अपराध की जिम्मेदारी से नहीं बच सकता। दूसरे व्यक्ति की किसी वस्तु को उसकी आज्ञा के बिना न लेना चाहिए यह एक सामान्य ज्ञान है, जिसे सभी लोगों को जानना चाहिए *

विक्षिप्तता की अवस्था में भी मनुष्य कई ऐसे काम कर बैठता है जो अनुचित होते हैं पर उन्हें अपराध नहीं कहा जाता। अपने किसी अनुचित कार्य के लिए जब कोई व्यक्ति कचहरी में न्यायाधीश के सामने लाया जाता है और जब उसके विषय में यह सिद्ध कर दिया जाता है कि उसका दिमाग ठिकाने नहीं है तो उसे साधारण अपराधी के समान दण्ड नहीं होता। इस का अपराध करने पर भी ऐसे व्यक्ति को कभी कभी कोई भी दण्ड नहीं दिया जाता। वह पागलखाने में भेज दिया जाता है।

कभी कभी मनुष्य किसी मानसिक ग्रन्थि के कारण कोई ही दुराचरण करता है। यह एक प्रकार का सामान्य पागलपन है। इस प्रकार के कार्य साधारणतः अपराध ही समझे जाते हैं। आधुनिक काल में इस प्रकार के कार्यों को उदारता की दृष्टि से देखने की भावना उत्पन्न हो रही है। जब बालक किसी मानसिक ग्रन्थि के कारण दुराचारी बनते अथवा कोई अपराध कर डालते हैं तो न्यायाधीश उन्हें साधारण जेलों में न भेजकर सुधारगृह में भेजता है। ऐसे बालकों को योग्य शिक्षा देकर तथा उनकी मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण करके उन्हें सदाचारी बनाने की चेष्टा की जाती है। अतएव इस प्रकार के कार्य उस प्रकार के अपराध नहीं समझे जाते जिस प्रकार पूरी तरह समझ-बूझकर किये गये कार्य समझे जाते हैं।

किसी आवेश में आकर भी मनुष्य बहुत से अनुचित काम कर बैठता है। इन आवेगों का कारण प्रायः कोई मानसिक ग्रन्थि रहती है। अपने आप पर

---

* The ignorance that excuses is not ignorance of the universal principles (for we blame a man for this) but ignorance of particulars of the circumstances and specific effects of an act—Nichomachean Ethics III, p. 14 15 and quoted by Wheelwright in A Critical Introduction to Ethics p 239

पर्याप्त नियन्त्रण न रहने के कारण भी मनुष्य आवेग मे आ जाता है। अपने आप पर नियन्त्रण कई दिनों के अभ्यास मे आता है। जिन लोगों को बाल्यकाल में योग्य शिक्षा नहीं मिलती, उनमें आत्म-नियन्त्रण की शक्ति नहीं आती। ऐसे व्यक्ति किसी प्रकार के आवेगों मे आ जाते है। मन की इस अवस्था मे वे जो काम करते है, उन्हें अपराध ही कहा गया है। पर इच्छा-शक्ति का पूरा प्रयत्न न होने के कारण वे कार्य उतने निंद्य नहीं होते, जितने सोच विचार कर किसी निकृष्ट हेतु से प्रेरित होकर किए गए काम होते है। किसी व्यक्ति की गाली सुनकर उसे घातक शस्त्र से मारना उतना निंद्य अपराध नहीं है, जितना पुराना वैर भजाने अथवा उसका रुपया छीनने के लिए उसे मारना निंद्य है।

बुद्धि की कमी भी अपराध का कारण होती है। जिन लोगों में बुद्धि की कमी होती है, उनमे किसी बुरे काम को अपराध समझने की शक्ति ही नहीं होती। वे बुरे काम के बुरे परिणाम को नहीं देख सकते। क्या ऐसे लोगों के अनुचित कामों को अपराध मानना ठीक है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि बुद्धि की कमी के कारण किये गये कामों को अपराध मानना ही होगा। उनकी बुद्धि की कमी शिक्षा से पूरी हो सकती है। समाज अपराधी को यह शिक्षा दण्ड के रूप में देता है।

अन्त मे वे काम आते है, जिन्हें व्यक्ति जान-बूझकर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करता है। यदि ये काम उचित हैं, तो हम उन्हें भले काम अथवा पुण्य मानते है। हम काम करनेवाले की इन कामों की पूरी प्रशंसा भी करते है। यदि ये काम अनुचित हैं, तो हम काम करनेवाले की निंदा करते है और उसे दोषी अथवा अपराधी समझते हैं। जिस प्रकार के कामों के लिये मनुष्य अपने आपको स्तुति का पात्र समझता है, उसी प्रकार के कामों के लिये वह निंदा का भी पात्र होता है। यदि ये काम उसे सर्वोच्च नैतिक आदर्श की ओर ले जाते हैं, तो वे स्तुत्य है, और यदि वे उसे इससे गिराते है, तो निन्द्य हैं।

दण्ड विधान

दण्ड की आवश्यकता—दण्ड अपराध की मनोवृत्ति का सुधार करता है। यदि कोई मनुष्य कोई प्राकृतिक भूल करता है, तो प्रकृति ...

है, यदि वह सामाजिक भूल करता है, तो समाज उसे दण्ड देता है और यदि वह नैतिक भूल करता तो उसकी अन्तरात्मा उसे कोसती है। इस तरह प्रत्येक प्रकार की भूल के लिये मनुष्य को दण्ड सहना पड़ता है। दण्ड अपराध की मनोवृत्ति की चिकित्सा है। यदि अपराधी को प्रारंभ में दण्ड न दिया गया, तो उसकी भूल करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इसके परिणाम-स्वरूप आगे चलकर उसे भारी दण्ड सहना पड़ता है। संसार में कोई भी गंदगी भूल अथवा अन्याय देर तक नहीं ठहर सकता। सृष्टि का संचालन विवेक पूर्ण तथा करती है यही नीति शास्त्र तथा नैतिक आचरण की पूर्व मान्यता[1] है। अतएव किसी प्रकार की भूल के सुधार में जितनी ही देर होती है, भूल करने-वाले व्यक्ति के लिये वह उतनी ही घातक होती है।

दण्ड के सिद्धान्त[2]—दण्ड के प्रयोजन के विषय में नीति-शास्त्रों के तीन प्रकार के मत हैं—*प्रतिबंधात्मक*[3] *सुधारात्मक*[4] और *प्रतिशोधात्मक*[5]।

प्रतिबंधात्मक—प्रतिबंधात्मक सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का मुख्य उद्देश्य समाज के लोगों को दुराचरण से रोकना है। जब कोई अपराधी अपराध करता है, तो दूसरे लोगों के मन में भी अपराध करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। जब अपराधी को उसके अपराध के लिये दण्ड दिया जाता है, तो समाज के दूसरे लोग उसके दुःख से शिक्षा ग्रहण करते हैं। वे जान लेते हैं कि अपराध दण्डनीय कर्म है। दण्ड का ध्यान उन्हें कुमार्ग पर जाने से रोकता है। यदि अपराधी को दण्ड न दिया गया तो दूसरे लोग उसका अनुकरण करके अपने आप अपराधी बन जायेंगे। इससे समाज व्यवस्था ही नष्ट भ्रष्ट हो जायगी। अतएव दण्ड का प्रधान उद्देश्य यह नहीं है कि उससे अपराधी का भला होता है, अथवा नहीं। इससे समाज व्यवस्था स्थिर बनी रहती है। एक अपराधी के प्रति कहा गया यूनान के एक न्यायाधीश का यह वाक्य उल्लेखनीय है कि तुम्हें भेड़ें चुराने के लिये नहीं वरन् इसलिये दण्ड दिया जाता है कि भेड़ों की चोरी न हो।

कुछ लोगों के कथनानुसार दण्ड के द्वारा अपराधी को समाज के अन्य लोगों

---

1 Postulate.

2. Theories of Punishment. 3. Deterent. 4 Reformative. Retributive.

से अलग कर दिया जाता है, ताकि वह समाज की और अधिक क्षति न कर सके। यह सिद्धान्त पहले सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। जब किसी अपराधी को चोरी के लिये जेल में भेज दिया जाता है, अथवा जब किसी हत्यारे को फाँसी का दण्ड दिया जाता है, तो वह समाज का और अधिक नुकसान नहीं कर पाता। इससे समाज के दूसरे लोगो का धन अथवा जन बचा रहता है।

दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का उद्देश्य एक-सा ही है। इन सिद्धान्तों मे अपराधी के कल्याण को नहीं वरन् समाज के कल्याण को ही ध्यान में रखा जाता है। पहले सिद्धान्त मे समाज को नैतिक क्षति से बचाने को महत्ता दी गई है और दूसरे मे भौतिक क्षति से। परन्तु नीति-शास्त्र के ऊँचे उद्देश्य की दृष्टि से इस प्रकार का दण्ड नैतिक नहीं कहा जा सकता। नैतिक दण्ड वह है, जिसमें स्वय अपराधी का लाभ हो। दूसरे व्यक्ति के लाभ के लिये किसी दूसरे को ताडना देना अनैतिक है। इस सिद्धान्त में मनुष्य को एक जड पदार्थ के समान मान लिया गया है। इसमें उसकी मानवता का आदर नहीं किया गया है। मानवता की अवहेलना करके जो दण्ड दिया जाता है, वह अनैतिक है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन अपने लिये है, न कि दूसरों के लिये। यह नैतिकता की आधार-भित्ति है।

सुधारात्मक सिद्धान्त—सुधारात्मक सिद्धान्त के अनुसार अपराधी का सुधार करना ही दण्ड का प्रधान उद्देश्य होना चाहिये। यह सिद्धान्त उन लोगों का है, जो अपराधी को सहानुभूति की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार के दण्ड को शैक्षिक दण्ड[1] कहा जा सकता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक दण्ड देने के इसी हेतु को विशेष महत्व देते है। जिस दण्ड से अपराधी का सुधार नहीं होता वह दण्ड व्यर्थ समझा जाता है। दण्ड पाने के पश्चात् बहुत से अपराधी अपने आचरण में सुधार नहीं करते, वरन् और भी बिगड जाते हैं। इन लोगों को दिया गया दण्ड व्यर्थ समझा जाना चाहिये। फिर कई प्रकार के दण्ड ऐसे होते हैं, जिससे अपराधी का कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। मृत्यु का दण्ड इसी प्रकार का है। इससे अपराधी का कोई लाभ होना सम्भव ही नहीं।

---

1 Educative punishmetn

यदि इस सिद्धान्त को माना जाए, तो कई प्रकार के अपराधियों को दण्ड नहीं दिया जायगा। जहाँ प्रेम से काम चल सकता है, वहाँ किसी अपराधी को दण्ड देना अनैतिक है। बहुत से अपराधियों में प्रेम के द्वारा पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न की जा सकती है। जो व्यक्ति अपने अपराध के लिये पश्चात्ताप करता है उसके लिये दण्ड की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रतिकारात्मक सिद्धान्त—दण्ड के प्रयोजन का तीसरा सिद्धान्त प्रतिकारात्मक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड बुरे काम का पुरस्कार है। यदि कोई मनुष्य अच्छा काम करता है, तो उसे सुखद पुरस्कार मिलता है और यदि वह कोई बुरा काम करता है तो उसे दुःखद पुरस्कार मिलता है। ये पुरस्कार भले और बुरे कामों के स्वाभाविक परिणाम हैं। समाज जब किसी व्यक्ति को दण्ड देता है तो इससे वह उसका कल्याण ही करता है। मनुष्य और समाज का स्वार्थ एक ही है। आदर्शवाद के अनुसार समाज मनुष्य का वृहत् और व्यापक स्वरूप माना गया है। अतएव जब समाज मनुष्य को उसके किसी बुरे काम के लिये दण्ड देता है तो हम कह सकते हैं कि वह मनुष्य ही अपने आपको सुधारने के हेतु दण्ड देता है।

हीगेल महाशय जो उक्त सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक हैं, के कथनानुसार किसी अपराधी को दण्ड न देना उसे अपने नैतिक अधिकार से वंचित करना है। जिस प्रकार भले काम करनेवाले व्यक्ति का यह अधिकार है कि उसे भला पुरस्कार मिले उसी प्रकार बुरे काम करनेवाले व्यक्ति का यह आध्यात्मिक अधिकार है कि उसे दण्ड मिले। जब हम किसी अपराधी को उसके अपराध के लिये दण्ड नहीं देते तो हम उसे अपने जन्म सिद्ध अधिकार से वंचित करते हैं। हम उसे अपने आपको सुधारने का अवसर नहीं देते। इस प्रकार किसी व्यक्ति को उसके अधिकार से वंचित करके हम उसके प्रति अन्याय करते हैं।

उक्त सिद्धान्त को कुछ लोगों ने निर्दयता का सिद्धान्त माना है। उदार विचार के लोग दूसरे व्यक्ति को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहते और न वे किसी ऐसे सिद्धान्त का समर्थन ही करते हैं जिससे किसी को कष्ट दिया जाए। पर बिना कष्ट के न तो मनुष्य को शिक्षा ही मिलती है और न वह चरित्र के दोष से ही मुक्त हो सकता है। जब हमारे पतन के कार्यों में कोई बाधा लग

जाता है, तो उसे हटाने के लिए हमें कपड़े पर साबुन लगाना उसे भट्ठी में डालना और पत्थर पर पटकना पड़ता है। इसी प्रकार जब किसी व्यक्ति के चरित्र में कोई दाग लग गया हो, तो उसका नैतिक सुधार तभी होता है, जब उसे अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। पर जब हम उसे किसी प्रकार का दण्ड देते हैं, तो हमारे मन में प्रतिशोध अथवा बदला लेने की भावना नहीं रहनी चाहिए। बदला लेने की भावना से किसी व्यक्ति को दण्ड देना, अपने आपको नीचे गिराना है। यदि कोई व्यक्ति हमारे प्रति कोई बुराई करे, तो उसे दण्ड देने की भावना मन में लाना अपने आपको गिराना है। परन्तु यदि व्यक्ति समाज की बुराई करता है और उसके आचरण से समाज का नुकसान होता है, तो उसे दण्ड न देने से केवल समाज की ही नहीं, वरन् अपराधी की भी हानि होगी। अतएव दण्ड में बदला लेने की भावना को निकाल कर अपराधी के कल्याण की दृष्टि से ही उसे दण्ड दिया जाना चाहिये। न्यायाधीश जब किसी चोर को दण्ड देता है, तो उसका ध्येय चोर को सुधारना मात्र रहता है, उसके मन में प्रतिशोध की भावना नहीं रहती।

दण्ड देने का वास्तविक हेतु अपराधी के मन में इस भावना को जागृत करना है कि अपराध स्वभावतः ही दण्ड को लाता है। अपराध और दण्ड कारण और कार्य के समान एक दूसरे से लगे हुए हैं। जहाँ कारण होगा, वहाँ कार्य भी होगा। जिस प्रकार फूल और फल एक दूसरे से सम्बन्धित है, उसी प्रकार अपराध और दण्ड भी एक दूसरे से सम्बन्धित है। जब अपराधी के मन में यह विचार दृढ़ हो जाता है, तो दण्ड अपना उद्देश्य प्राप्त कर लेता है। मनुष्य अपने आचरण में किसी प्रकार का सुधार तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसे इस बात का ज्ञान न हो जाए कि भले आचरण का भला और बुरे आचरण का बुरा परिणाम अवश्य होगा। यह उसका न केवल बौद्धिक ज्ञान रहे, वरन् उसके स्वभाव का अङ्ग बन जाए। अभ्यास के द्वारा यह ज्ञान स्वभाव का अङ्ग बन जाता है। जब किसी अपराधी को अपराध के लिए प्रत्येक बार दण्ड मिलता है, तो यह निश्चित होता है कि अपराध के काम को करना उचित नहीं है। उससे सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है। फिर जब वह कोई अपराध करता है, तो उसे स्वयं ही आत्मग्लानि अथवा पश्चात्ताप होने लगता है। जब मनुष्य के मन की यह

स्थिति हो जाय तो हम कह सकते हैं कि उसका नैतिक सुधार हो गया। जब मनुष्य का मन अपराध के लिए अपने आपको दण्ड नहीं देता, तभी बाहरी दण्ड का आवश्यकता होता है।

नैतिक विकास में आत्म-भर्त्सना की उपयोगिता—मैकड्गी महाशय के अनुसार नैतिक विकास में पश्चात्ताप की भारी उपयोगिता है। जब कोई मनुष्य कोई बुरा काम कर बैठता है और उसे ज्ञात होता है कि वह काम दण्ड नीय है, तो उसकी अन्तरात्मा उसे कोसने लगती है। अन्तरात्मा का इस प्रकार कोसना दुःखद होता है। जब इस प्रकार की भर्त्सना कभी-कभी होती है, तो उसे पश्चात्ताप और जब बार-बार होती है, तो उसे आत्म भर्त्सना कहते हैं। भर्त्सना सभी लोगोंको कुछ न कुछ हद तक होती ही है। इसी के कारण मनुष्य अपने आपको बाहरी दण्ड के भय के, बिना ही बुरे मार्ग पर जाने से रोकने की चेष्टा करता है। बाहरी दण्ड की आवश्यकता उन्हीं लोगों को होती है, जिन्हें आत्म-भर्त्सना की अनुभूति नहीं होती। आत्म भर्त्सना की अवस्था में मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह अपने आदर्श से गिर गया है और वह अपना सर्वस्व खो चुका है। जिस प्रकार कोई कंजूस अपने धन के खो जाने से दुःख की अनुभूति करता है, उसी प्रकार चरित्रवान व्यक्ति अपने आदर्श के प्रतिकूल आचरण करने से दुःख की अनुभूति करता है इ ऐसा अनुभव करता है, मानो उसका सर्वस्व खो गया है।

आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डितों का कथन है कि इस प्रकार की भर्त्सना की अनुभूति मनुष्य के चरित्र को बली नहीं वरन् उसे निर्बल ही बनाती है। उनके इस कथन में मौलिक सत्य है पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि किसी मनुष्य को पाप के लिए यदि कुछ भी पश्चात्ताप न हो तो वह अपना पापाचरण कभी भी न छोड़ेगा। मनुष्य प्रलोभन-वश पाप करता है। पाप से सुख की उत्पत्ति होती है। इस सुख का त्याग मनुष्य तभी कर सकता है जब उसे किसी भारी दुःख का ध्यान हो। राज-दण्ड, समाज-दण्ड आदि बाहरी दुःख हैं और पश्चात्ताप का दण्ड भीतरी दुःख है। जो व्यक्ति इस दुःख की अनुभूति करता है वह इसके भय से डरता भी है। ऐसा व्यक्ति अनायास ही सदाचारी बना रहता है। यदि उससे कोई भूल हो गई, तो उसके लिए अपने आप ही

प्रायश्चित करके वह उसका सुधार कर लेता है। किसी को गाली देने पर वह उससे माफी मागता है, किसी धन को चुराने पर वह उस धन को अपने काम मे नहीं लाता और उसके लिए दूसरे प्रकार के दण्ड भोगने के लिए तत्पर रहता है। भले लोग बाहरी दण्ड से उतना नहीं डरते, जितना अन्तरात्मा के दण्ड से डरते हैं।

पश्चाताप और आत्मभर्त्सना उन्हीं लोगों को होती है, जिनका नैतिक आदर्श ऊँचा होता है। अतएव जिस व्यक्ति का नैतिक आदर्श जितना ही ऊँचा होता है, किसी पाप के कर लेने पर उसे उतनी ही अधिक आत्म-भर्त्सना भी होती है। पहले पहल बुरे काम करने पर सभी लोगों को पश्चाताप होता है, पर जब कोई मनुष्य अपनी अन्तरात्मा की आवाज की अवहेलना बार बार करता है, तो फिर वह उसे किसी बुरे काम से नहीं रोकती। ऐसी अवस्था मे बाहरी दण्ड ही उसकी भूलों का एकमात्र सुधारक रह जाता है। यह दण्ड मनुष्य में आत्म-सुधार की वैसी प्रेरणा उत्पन्न नहीं करता, जैसी पश्चाताप का भाव करता है।

यह यदि मनुष्य मे चरित्र-लाभ के प्रति निराशा उत्पन्न करती है, तो वह मनुष्य का नैतिक लाभ न कर उसका ह्रास ही करता है। अत्यधिक आत्म-भर्त्सना का होना उसी प्रकार बुरा है, जिस प्रकार उसका सर्वथा न होना। हालेंड के प्रसिद्ध दार्शनिक स्पीनोजा महाशय के इस कथन मे मौलिक सत्य है कि पश्चाताप दो तरह से बुरा है, एक तो वह इच्छाशक्ति की कमजोरी को दर्शाता है, और दूसरे इच्छा-शक्ति को और भी कमजोर करता है। अतएव आत्म-भर्त्सना की स्थिति को हर प्रकार से मिटाना चाहिए। जब मनुष्य जान बूझकर इस स्थिति को मिटाने की चेष्टा नहीं करता, तो वह उसे भुलाने की चेष्टा करने लगता है। ऐसी अवस्था में ही मनुष्य मे अनेक प्रकार के मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। ये रोग अपराधी को वही दण्ड देते हैं, जिससे वह अपनी जान बचाता है। ये उसके चरित्र के दोष को बाहर लाते हैं।

आत्म-भर्त्सना का अन्त प्रायश्चित अथवा नए शुभ कर्मों से होता है। ये आत्म-सुधार के उपाय हैं। इमरसन महाशय के कथनानुसार नये शुभ कर्मों का करना पुराने पापों के लिए उत्तम से-उत्तम प्रायश्चित है। अतएव किसी भूल के लिए अपने आपको बार-बार धिक्कारते रहना बुरा है। जो भूल हो गई उसे ध्यान

से रखकर आगे अपने आप का सुधार करने की सतत् चेष्टा करते रहने से ही मनुष्य के जीवन का नैतिक विकास होता है।

क्षमा की उपयोगिता

क्षमा का ध्येय—क्षमा का भी वही ध्येय है, जो दण्ड का है। जिस प्रकार दण्ड से किसी व्यक्ति का नैतिक सुधार होता है उसी प्रकार क्षमा से भी मनुष्य का नैतिक सुधार होता है। पात्रता के अनुसार मनुष्य को क्षमा और दण्ड देने चाहिए। दण्ड मनुष्य के नैतिक सुधार का नकारात्मक और क्षमा उसका विधेयात्मक उपाय है। जब किसी ऐसे अपराधी को क्षमा प्रदान कर दी जाती है जिसका सामान्य नैतिक जीवन भला है तो यह क्षमा उसके मन में आत्म-भर्त्सना का रूप धारण कर लेती है। अब वह बाहर से दण्ड न पाकर भीतर से ही दण्ड पाने लगता है। भले लोगों में क्षमा एक ओर कृतज्ञता का भाव उत्पन्न करती है और दूसरी ओर वह उन्हें अपनी नैतिक जिम्मेदारी के प्रति सचेत करती है। जिस व्यक्ति को क्षमा मिली है वह दूसरे लोगों के प्रति उदारता दिखाने का प्रयत्न करता है। वह जानता है कि जिस प्रकार उसके अपराध क्षमा किए गए उसी प्रकार उसे दूसरे लोगों के अपराध क्षमा करने चाहिये।

क्षमा की पात्रता—सभी लोग क्षमा के पात्र नहीं होते। ऊँचे नैतिक आदर्श के लोग ही क्षमा के पात्र होते हैं। जिन लोगों में अपनी भूल का सम्मार्जन की शक्ति है उन्हें क्षमा देकर हम उनका नैतिक सुधार करते हैं। क्षमा दान के बाद वे अपने कामों पर और भी अधिक विचार करते हैं और अपने आपको फिर उसी प्रकार की परिस्थिति में पड़ने से बचाने का यत्न करते हैं। क्षमा उसी मनुष्य का देना उचित है, जिसे क्षमा प्राप्त करने पर शर्म होती है जिसमें पश्चात्ताप की भावना है। जिस व्यक्ति में यह भावना नहीं है उसके अपराध को क्षमा करना उसके प्रति अन्याय करना है। उसे दण्ड दिया जाना चाहिए। विवेकशील को क्षमा और अविवेकी को दण्ड देना उचित है। चरित्रवान् के लिए क्षमा ही दण्ड होता है।

मनुष्य को क्षमा अथवा दण्ड देते समय एक ही बात का ध्यान रखना आवश्यक है—उसका इससे नैतिक सुधार होता है अथवा नहीं। सभी लोगों के

साथ एक-सा व्यवहार करना, अथवा किसी एक ही व्यक्ति के साथ सभी परिस्थितियों मे एक-सा व्यवहार करना नैतिक विकास के नियम की अज्ञता को दर्शाता है।

लोभी, हठी और दुराचारी व्यक्ति को क्षमा करने से उसकी अपराध की प्रवृत्ति के और भी बढ जाने की सम्भावना है। उसे यह धारणा हो जाने की सम्भावना है कि ससार मे कोई नैतिक नियम काम ही नहीं करता। ऐसे लोगो को द्वेष वश नहीं वरन्, उनके अथवा समाज के हित को ध्यान मे रखकर जब दण्ड दिया जाता है, तो उनका सुधार होता है और इससे समाज की भी भलाई होती है। ऐसे व्यक्ति को क्षमा करना न केवल अपने प्रति अन्याय है, वरन् यह समाज और स्वय अपराधी व्यक्ति क प्रति भी अन्याय है। जब कोई व्यक्ति अपने बालक को झूठ बोलने, चोरी करने, गाली बकने आदि दुर्गुणों को क्षमा कर देता है, तो वह उसका भविष्य कल्याणमय नहीं बनता, वरन् वह उसके लिए नरक की तैयारी हो करता है। उसका वर्तमान जीवन ही उसके लिए नरक की यन्त्रणा देनेवाला होगा। जिस मनुष्य को अपनी इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त करने की शिक्षा नहीं मिली, उससे अधिक अभागा कौन है ?

जिस प्रकार ऊँचे आदर्श वाले व्यक्ति की भूलों को क्षमा करने से उनका सुधार होता है, उसी प्रकार कभी-कभी मानसिक ग्रन्थि के जटिल लोगों क अपराधों को क्षमा करने से उनका भी सुधार हो जाता है। पर इस प्रकार के सुधार की योग्यता थोड़े ही व्यक्तियों में होती है। आधुनिक शिक्षावैज्ञानिक जटिल बालकों के सुधार का उपाय उनके प्रति प्रेमपूर्वक व्यवहार करने को ही बताते है। उनके इस कथन में मौलिक सत्य है। अपने नैतिक सुधार में जिस व्यक्ति का विश्वास नहीं है, उसे भला बनाना कठिन होता है। इस आत्म-विश्वास का लाने के लिए जटिल अपराधी के साथ प्रेम का व्यवहार करना आवश्यक होता है। पर सभी प्रकार के अपराधियों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना अनुचित है।

पागलों के व्यवहार को क्षमा करना ही पड़ता है। पागलों के नैतिक सुधार की सम्भावना नहीं। अतएव उनके नैतिक सुधार के [illegible] महत्त्व

नहीं। यदि उन्हें कोई काम दी सकता है, तो उनके प्रति प्रेम प्रदर्शन है। अतएव सभ्य समाज में पागलों पर दया ही की जाती है।

अज्ञानी व्यक्ति का अपराध क्षम्य है अथवा नहीं, यह उसके विशेष प्रकार के अज्ञान पर निर्भर है। इसकी चर्चा हम पहले ही कर आये हैं। पर उसी व्यक्ति के अज्ञान-जन्य अपराध को क्षमा करना उचित है, जो अपराध के परिणाम का ज्ञान कर लेने पर उसके लिए पश्चात्ताप की अनुभूति करता है। अपनी भूल को समझकर भी जो व्यक्ति आत्म-ग्लानि की अनुभूति नहीं करता, उस भूल के महत्त्व को दर्शाने के लिये दण्ड देना ही उचित है। जो व्यक्ति किसी भूल के लिए एक बार पश्चात्ताप की अनुभूति करता है, वह उस भूल को दूसरी बार नहीं करता। अतएव पश्चात्ताप की भावना के उत्पन्न हो जाने पर किसी भी अपराधी को क्षमा कर देना उचित है। उसके नैतिक सुधार के लिये पश्चात्ताप ही पर्याप्त है।

नैतिक सुधार

मनुष्य का नैतिक सुधार तभी होता है, जब कि वह अपने आपको बुरे कामों से अलग करके भले कामों में लगा देता है। दण्ड और पश्चात्ताप अपराधी के सुधार के नकारात्मक उपाय हैं। इनसे मनुष्य के दुराचरण की प्रवृत्ति दुर्बल हो जाती है पर उसके चरित्र को बलवान बनाने के लिए दण्ड और पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ करना भी आवश्यक होता है। दण्ड चाहे वह दूसरों के द्वारा दिया गया हो अथवा अपने आप के द्वारा ही मनुष्य के मन में अपराध के फल के प्रति भय उत्पन्न करता है। भय मनुष्य को बुरे काम से रोकने में समर्थ भले ही हो वह उसे भले काम में लगाने के लिये पर्याप्त नहीं है। इसके लिए मनुष्य के मन में फल के प्रति आशा का भाव उत्पन्न करना आवश्यक है। दण्ड केवल बुरे काम करने के प्रति मनुष्य के मन में अनिच्छा उत्पन्न करता है पर जबतक मनुष्य के मन में भले काम करने की इच्छा उत्पन्न नहीं होती तबतक उसमें नैतिक सुधार नहीं होता।

किसी मनुष्य को बार-बार दण्ड देने से उसका आत्म विश्वास नष्ट होता है। इस विश्वास के अभाव में उसके आचरण का सुधार होना

असम्भव है। जब किसी व्यक्ति का शुभाचरण कर सकने का विश्वास चला जाता है तो उसे सदाचारी नहीं बनाया जा सकता है। वह फिर निकम्मा, भाग्य को कोसनेवाला अथवा रोग का आवाहन करनेवाला व्यक्ति बन जाता है।

जिस प्रकार अपराधी का सुधार बार-बार दण्ड देने से नहीं वरन् उसमें आत्म-विश्वास की उत्पत्ति से होता है, उसी प्रकार किसी पाप के लिए हर समय आत्म-भर्त्सना से भी मनुष्य का वास्तविक और स्थायी आत्म-सुधार नहीं होता। अपने आपको रचनात्मक काम में लगाने से ही मनुष्य के चरित्र का वास्तविक सुधार होता है। इससे उसकी इच्छा-शक्ति का बल बढ़ता है और फिर वह सहज भाव से सदाचारी बन जाता है। सदा भले काम में लगे रहने से मनुष्य के बुरे कामों के संस्कार अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं।

अपने दोषों से मुक्त होने के लिए मनुष्य को अपने विचार नकारात्मक न बनाकर रचनात्मक बनाना चाहिए। मनुष्य की दृष्टि जिस ओर रहती है, उसका आचरण भी उसी ओर जाता है। दोष से मुक्त होने की चिन्ता मनुष्य को अनायास दोषों की ओर ही ले जाती है और रचनात्मक कार्य करने की चिन्ता मनुष्य को रचनात्मक कार्यों की ओर ले जाती है। बार-बार दण्ड के भय और आत्म-भर्त्सना के परिणामस्वरूप जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है, तो उसके द्वारा अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी अपराध हो जाते हैं। इनके लिए वह दुःख की अनुभूति करता है, पर फिर भी वह मानसिक साम्य को प्राप्त करने में असमर्थ ही रहता है। रचनात्मक विचारों के अभाव में वह वर्जित काम में भी अपने आपको अनायास लगा हुआ पाता है। अतएव अपराधी को किसी-न-किसी प्रकार रचनात्मक काम में लगाये रखना चाहिए।

इसके लिए उसके प्रति सहानुभूति दिखाना आवश्यक होता है। न्यायाधीश उद्दण्ड बालक को दण्ड के रूप में सुधार-गृह में भेजता है, पर यदि सुधार-गृह में उसे कठोरता का ही व्यवहार मिले तो, उसका सुधार न होकर वह और भी बिगड़ जायेगा। सुधारगृह में बालक को रचनात्मक काम में लगाना आवश्यक होता है। सुधारगृह का लक्ष्य बालकों को उनकी पुरानी आदतों से मुक्त करना मात्र ही नहीं, बल्कि उनमें उत्तम आदतें डालना भी उसका लक्ष्य है।

नैतिक ज़िम्मेदारी

नैतिक ज़िम्मेदारी की अनुभूति का स्वरूप—जब हम कोई बुरा अथवा भला काम करते हैं, तो हम आत्म-प्रशंसा अथवा आत्म भर्त्सना की अनुभूति करते हैं। हमारी यह अनुभूति नैतिक ज़िम्मेदारी का आधार है। जिस मनुष्य को भले काम के लिए आह्लाद या बुरे काम के लिए भर्त्सना नहीं होती उसमें नैतिक ज़िम्मेदारी की अनुभूति का भी अभाव रहता है। नैतिक ज़िम्मेदारी का भाव मनुष्य में विवेक की वृद्धि के साथ-साथ आता है। जिस मनुष्य का विवेक जितना ही कम विकसित रहता है उसमें नैतिक ज़िम्मेदारी का भाव भी उतना ही कम होता है। बालक में नैतिक ज़िम्मेदारी का भाव कम रहता है, पर जैसे जैसे वह बढ़ता जाता है और उसे योग्य शिक्षा मिलती जाती है, वैसे-वैसे उसमें नैतिक ज़िम्मेदारी का भाव आता जाता है। जैसे-जैसे मनुष्य के चरित्र का विकास होता है वैसे-वैसे उसके नैतिक ज़िम्मेदारी का भाव भी बढ़ता जाता है। ज़िम्मेदारी का यह भाव मनुष्य में तबतक रहता है जबतक उसे अपने व्यक्तित्व का ज्ञान और उसका अहंकार रहता है। जब मनुष्य अपने व्यक्तित्व के ज्ञान से रहित हो जाता है, और उसमें आत्म-प्रतिष्ठा की आकांक्षा नहीं रहती तो उसकी नैतिक ज़िम्मेदारी के भाव का भी अन्त हो जाता है। मन की विक्षिप्त अथवा मूर्खता की अवस्था में मनुष्य में नैतिक ज़िम्मेदारी का भाव नहीं रहता। विक्षिप्त अवस्था में मनुष्य के व्यक्तित्व में एकत्व नहीं रहता। वह अपने भूतकाल के अनुभवों को स्वीकार करने और उनके लिए प्रायश्चित्त करने से बचना चाहता है। अतीत के अनुभव जब इतने अप्रिय होते हैं कि मनुष्य उनका स्मरण भी नहीं करना चाहता तो उसके व्यक्तित्व का एकत्व नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह अपने पुराने कृत्यों के लिए अपने आपको ज़िम्मेदार न समझ कर किसी दूसरी सत्ता को ही ज़िम्मेदार समझने लगता है।

नैतिक ज़िम्मेदारी की अनुभूति की महत्ता—नैतिक ज़िम्मेदारी की अनुभूति ही नैतिकता का आधार है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको अपने शुभ काम के लिए पुरस्कार का और अशुभ काम के लिए दण्ड का भागी मानता है। दण्ड चाहे उसे वह समाज से मिले अथवा वह अपने आपको स्वयं ही दे ले। समाज द्वारा दिया गया पुरस्कार अथवा दण्ड उसकी प्रशंसा अथवा

निन्दा का रूप लेता है। जब कोई काम बहुत ही भला अथवा बुरा होता है, तो ऐसे काम करनेवाले को राज्य के द्वारा सम्मान या दण्ड मिलता है। अपने आप-द्वारा दिया गया पुरस्कार आत्म-सतोष का और दण्ड आत्म-भर्त्सना का रूप लेता है। जबतक मनुष्य पूर्णता को प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक उसे सम्पूर्ण आत्म-सतोष नहीं होता है। भूलों के लिए सामाजिक दण्ड अथवा आत्म-भर्त्सना के भय से उसे सदा सचेत होकर काम करना पडता है। नैतिकता की विकसित अवस्था में मनुष्य बाहरी पुरस्कार अथवा दण्ड के प्रति उदासीन हो जाता तब है। उसका लक्ष्य आत्म-संतोष प्राप्त करना और आत्म-भर्त्सना के अवसर को न आने देना ही हो जाता है।

जो मनुष्य अपने कामों के लिये नैतिक जिम्मेदारी की अनुभूति नहीं करता, वह अपना नैतिक विकास भी नहीं कर पाता। जब कोई मनुष्य यह मानने लगता है कि उसके सभी प्रकार के आचरणों के लिये उसका वातावरण ही जिम्मेदार है, तो उसमें नैतिक जिम्मेदारी की भावना की कमी हो जाती है। नैतिक जिम्मेदारी उसी व्यक्ति पर डाली जा सकती है, जो अपने आप में स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति की उपस्थिति का अनुभव करता है और जो अपने आपमें वातावरण के प्रतिकूल आचरण करने की भी सामर्थ्य पाता है। अपने किसी कार्य के लिये वातावरण को दोषी ठहराना नैतिक जिम्मेदारी से बचने की मनोवृत्ति का परिचायक है। ऐसे व्यक्ति को अपने कार्यों के लिये आत्म-भर्त्सना नहीं होती, पर उसका नैतिक विकास भी नहीं होता। ऐसे लोगों का सुधार बाहरी दण्ड-द्वारा होता है। मनुष्य में नैतिक जिम्मेदारी की भावना का विकास करना बाहरी दण्ड का ध्येय है।

नैतिक जिम्मेदारी की परिस्थिति—हम किसी व्यक्ति को विशेष परिस्थिति में ही उसके काम के लिये नैतिक रूप से जिम्मेदार मान सकते हैं। जिस मनुष्य को जिस काम को करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता नहीं है, उसके ऊपर उस काम की नैतिक जिम्मेदारी भी नहीं होती। नौकर के विशेष काम की नैतिक जिम्मेदारी उसके मालिक पर होती है। कितने ही काम ऐसे हैं, जो मानवता के प्रतिकूल हैं। नौकर को भी चाहिये कि वह नौकरी को छोड दे, पर ऐसे काम न करे। जब कोई नौकर अपने स्वामी से पुरस्कार पाने के हेतु अथवा अपनी

नौकरी रखने के लिये अन्य अपराध करता है, तो वह सर्वथा दोष से मुक्त नहीं माना जा सकता।

अज्ञान की अवस्था में भी नैतिक जिम्मेदारी उतनी अधिक नहीं होती जितनी सपूर्ण ज्ञान की अवस्था में रहती है। परन्तु जैसा कि अपराध के स्वरूप-निरूपण के समय बताया गया है सभी प्रकार का अज्ञान क्षम्य नहीं है और न वह हमें अपने बुरे कर्मों की नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त ही करता है। प्रत्येक विवेकशील मनुष्य का कर्तव्य है कि वह उस ज्ञान को प्राप्त करे जिसके द्वारा वह भले और बुरे की पहचान ठीक से कर सकता है और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के उचित उपायों को जान सकता है।

प्रलोभनों की उपस्थिति मनुष्य को नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त नहीं करती। प्रलोभनों के ऊपर विजय प्राप्त करने में ही मनुष्य का नैतिक विकास है। जिस व्यक्ति का चरित्र जितना ही दृढ़ होता है, प्रलोभनों के वश में वह उतना ही कम आता है। प्रलोभनों से बचने के लिये ही मनुष्य को दण्ड दिया जाता है। जब प्रलोभन-वश हमसे कोई काम हो जाए, तो हमें अपने ऊपर उसकी पूरी नैतिक जिम्मेदारी लेनी चाहिए।

दूसरे लोगों की सलाह का तर्क भी मनुष्य को अपने काम की नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त नहीं करता। प्रत्येक मनुष्य के काम की नैतिक जिम्मेदारी उसके ऊपर ही है, न कि उसे सलाह देनेवाले के ऊपर। सलाह देनेवाले की सलाह देने के काम की नैतिक जिम्मेदारी अलग है। हम किसी की भली अथवा बुरी सलाह को तभी मानते हैं, जब निर्दोष पथ की ओर हमारी पहले से ही प्रवृत्ति होती है। मनुष्य की इच्छा के प्रतिकूल सलाह उसे प्राप्त नहीं होती। अतएव अपने किसी भी पाप अथवा अपराध के लिये किसी सलाहकार के सिर दोष मढ़ना अपने आपको धोखा देना है। इससे मनुष्य कुछ काल के लिये योग्य दण्ड से भले ही बच जाय पर उसे वह दण्ड पीछे ब्याज सहित मिलता है।

आवेग की उपस्थिति की युक्ति मनुष्य के काम की नैतिक जिम्मेदारी को कम अवश्य कर देती है पर इसके कारण मनुष्य उससे सर्वथा मुक्त नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करे उसी प्रकार उसका यह भी कर्तव्य है कि वह अपने आवेगों के कारण

को जानकर उनके ऊपर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करे। आवेगों के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी जड मनुष्य के अचेतन मन में रहती है, अतएव उन पर विजय प्राप्त करना उतना सरल नहीं है, जितना कि अपने प्रलोभनो पर विजय प्राप्त करना। अतएव आवेगों के वश में मनुष्य जो काम कर डालता है, उसके लिए हम उसे उतना दोषी नहीं मानते, जितना कि प्रलोभनों के वश मे होकर काम करनेवाले व्यक्ति को मानते है।

अपने काम की पूरी नैतिक जिम्मेदारी उसी व्यक्ति मे होती है, जो सुशिक्षित है, जिसका व्यक्तित्व सुगठित और विवेक जाग्रत है। ऐसा व्यक्ति अपने कार्यों की नैतिक जिम्मेदारी का भार किसी दूसरे व्यक्ति के कधों पर न डाल कर अथवा परिस्थितियों के सिर न मढ़कर सहर्ष अपने ऊपर ही लेता है। इसमें ही वह अपना सच्चा कल्याण देखता है।

नैतिक जिम्मेदारी से बचने की मनोवृत्ति—दोषी मनुष्य नैतिक जिम्मेदारी से बचने की चेष्टा सदा करते रहता है। ससार का साधारण मनुष्य भले काम के लिए अपने आपको प्रशसा का पात्र तो समझता है, पर अपने बुरे काम के लिए वह अपने को निन्दा का भागी नहीं समझता। निन्दा पाने की परिस्थिति से वह किसी-न किसी प्रकार बचने की चेष्टा करता है। बुरे काम के लिए जब उसे आत्म-भर्त्सना होती है, तो वह या तो इस दुःख की स्मृति को भुलाने की चेष्टा करता है अथवा अपने बुरे काम का उत्तरदायित्व किसी दूसरे व्यक्ति, परिस्थिति, देवी देवता, भूत-प्रेत अथवा ईश्वर के ऊपर डालता है। पर यह अपने आपको धोखा देना है। इसमे उसके व्यक्तित्व का एकत्व नष्ट हो जाता है और उसका मानसिक विकास रुक जाता है। इसके कारण कभी-कभी उसमें मानसिक रोग अथवा विक्षिप्तता आ जाती है। इसके कारण शारीरिक रोग भी उत्पन्न होते हैं। इन रोगों को प्रकृति मनुष्य से आत्म-स्वीकृति कराने और उसमें नैतिक जिम्मेदारी का भाव लाने के लिए ही भेजती है। पाप के लिए प्रायश्चित कर लेने पर मनुष्य में आत्म-विश्वास आ जाता है। वह फिर अपने कामों की नैतिक जिम्मेदारी को अपने से बाहर किसी पदार्थ, घटना, अथवा व्यक्ति पर न डाल कर अपने आप पर ले लेता है।

सामाजिक बुराइयाँ

सामाजिक बुराइयों का स्वरूप—जिस प्रकार व्यक्ति के नैतिक जीवन में बुराइयाँ रहती हैं और वे उसके नैतिक विकास को रोकती हैं उसी प्रकार समाज में भी नैतिक बुराइयाँ रहती हैं और वे समाज की प्रगति में बाधक होती हैं। सुयोग्य समाज वह है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति के लिए सब प्रकार की पर्याप्त सुविधाएँ मिलती हैं। सब प्रकार की उन्नति में श्रेष्ठ नैतिक उन्नति है। अतएव। जो समाज नागरिकों को नैतिक उन्नति की जितनी ही अधिक सुविधाएँ देता है वह उतना ही भला समाज है। व्यक्ति की नैतिक उन्नति में सामाजिक व्यवस्था जिस प्रकार सुविधा दे सकती है उसी प्रकार वह बाधा भी डाल सकती है। नैतिक दृष्टि से निकृष्ट समाज में ये बाधायें अधिक-से-अधिक होती हैं। जिस समाज में अधिकारों की समानता नहीं जिसमें ऊँच नीच का भाव कूट-कूटकर भरा हुआ है, जिसमें एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के लोगों का शोषण सदा करते रहते हैं और उन पर सभी प्रकार के अत्याचार करते हैं, वह समाज नैतिक दृष्टि से निकृष्ट समझा जायगा। समाज के शुभ-चिन्तक प्रत्येक समझदार का यह कर्तव्य है कि वह इन सामाजिक बुराइयों का अन्त करने की चेष्टा करे।

सामाजिक बुराइयों का एक प्रधान कारण नागरिकों में योग्य शिक्षा की कमी होती है। इसीलिए बर्बर समाज में सभ्य समाज की अपेक्षा अधिक बुराइयाँ पाई जाती हैं। सभ्यता का विकास शिक्षा का परिणाम है। शिक्षा से मनुष्य के स्वत्व का विकास होता है, फिर वह केवल अपने और अपने सम्बन्धियों के सुख दुःख की ही चिन्ता नहीं करता वरन् दूसरे लोगों के सुख-दुःख को भी अपने सुख दुःख जैसा ही मानता है। अतएव वह दूसरों को भी सुखी बनाने की चेष्टा करता है। पर इस प्रकार की भावना योग्य शिक्षा से ही आती है। सभ्य देशों की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का यह लक्ष्य नहीं दिखाई देता। वर्तमान शिक्षा प्रणाली मनुष्य को अपने सुख की सामग्री बढ़ाने की योग्यता प्रदान करती है परन्तु वह उसके हृदय को उदार नहीं बनाती। इसके कारण मनुष्य की इच्छाएँ बढ़ जाती हैं और उसमें दूसरों के प्रति ईर्ष्या का भाव भी

बढ़ जाता है। इससे मनुष्य का नैतिक विकास न होकर नैतिक ह्रास ही होता है।

संसार के कुछ प्रतिभावान विद्वानों का कथन है कि सभ्यता अर्थात् वैज्ञानिक आविष्कार-द्वारा प्राप्त सुविधाएँ जैसे-जैसे बढ़ती हैं, वैसे-वैसे मनुष्य का नैतिक विकास न होकर उसका ह्रास होता जाता है। रूसो महाशय ने अपनी पुस्तकों में इसे दर्शाया है। टाल्सटाय महाशय के भी ऐसे ही विचार थे। आधुनिक सभ्यता का विकास विज्ञान के आविष्कार के साथ-साथ हुआ है। यह सभ्यता मनुष्य की इच्छाओं को उसी प्रकार बढ़ाती है, जिस प्रकार उन इच्छाओं की तृप्ति के साधनों को वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मनुष्य को इच्छाओं की वृद्धि की ओर ले जाती है। ऐसी अवस्था में एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य को अपने स्वार्थ का साधन बनाना और उसके परिश्रम का फल चुराना स्वाभाविक है। जब तक समाज के विचारवान लोगों में यह भाव जाग्रत नहीं होता कि सच्चा सुख दूसरे को सुखी बनाने में है, न कि अपने आप उसका उपभोग करने में, तबतक गरीबों के शोषण और सामाजिक कलह का अन्त न होगा।

सामाजिक बुराइयों का अन्त दो प्रकार से होता है—एक समाजिक के प्रयत्न के द्वारा और दूसरे प्राकृतिक रूप से। नैतिक सुधार का जो नियम व्यक्ति के जीवन में कार्य करता है, वही नियम समाज के जीवन में भी कार्य करता है। समाज के नेता लोगों-द्वारा सामाजिक बुराइयों के अन्त करने का प्रयत्न जनता के सुधार के यत्न में देखा जाता है। जब समाज किसी प्रकार की सामाजिक बुराई से ऊब जाता है, तो उसमें आत्म-सुधार की भावना उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में किसी समाज-सुधारक का उदय होता है। समाज इस प्रकार के समाज-सुधारक का स्वागत करता है और उसके बताए हुए पथ पर चलने की चेष्टा करता है। इस तरह वह अपनी बुराइयों से मुक्त हो जाता है।

पर जब कोई समाज अपने सुधारक की बात नहीं सुनता और पुरानी रुढ़ीपर ही चला जाता है, तो सामाजिक बुराई सामाजिक विस्फोटक का रूप धारण करके बाहर आ जाती है। ऐसी अवस्था में राज्य-क्रान्तियाँ होती हैं।

इन क्रान्तियों के परिणाम-स्वरूप समाज के विवेकशील व्यक्तियों ने यदि समाज की बुराइयों को हटा दिया तो समाज का कल्याण होता है। परन्तु साधारणतः राज्य अथवा सामाजिक क्रान्ति अराजकता की ओर जाती है और नई बुराइयों को जन्म दे देती है। इससे कभी-कभी समाज और भी निर्बल हो जाता है। सामाजिक संगठन दृढ़ हुए बिना समाज में बल नहीं आता।

सामाजिक संगठन की दृढ़ता अपने नेताओं के ऊपर समाज की साधारण जनता की श्रद्धा पर निर्भर है। समाज के नेता ही समाज को भले मार्गपर चला और उसे नष्ट होने से बचा सकते हैं। जब समाज के नेताओं पर सामान्य जनता की श्रद्धा नहीं रहती, तो समाज में मानसिक विषमता अथवा अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके परिणाम-स्वरूप समाज निर्बल हो जाता है, फिर उसका नैतिक सुधार होना कठिन हो जाता है।

जब किसी राष्ट्र की ऐसी अवस्था रहती है, तो दूसरा प्रबल राष्ट्र उसे अपने अधिकार में कर लेता है। फिर यह राष्ट्र विजित राष्ट्र की जनता में उचित सुधार करने की चेष्टा करता है। यदि यह ऐसी चेष्टा न करे तो विजित राष्ट्र की बुराइयाँ ही संक्रामक रोग के समान विजेता में आ जाती हैं और फिर वे उसका भी पतन कर देती हैं।

प्रश्न

१ नैतिक रोग क्या है? इसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न समाज में क्या विचार रहते हैं?

२ मनुष्य के चरित्र के दोष कौन-कौन से हैं? उनके प्रधान कारण कौन-कौन से हैं?

३ मनुष्य के चरित्र के दोषों का निवारण किस प्रकार से होता है। इसमें समाज क्या कार्य करता है?

४ दण्ड की नैतिक उपयोगिता के विषय में कौन-कौन से प्रधान मत हैं? किसी व्यक्ति को दण्ड उसके नैतिक सुधार के लिए दिया जाना चाहिये न कि समाज-व्यवस्था को कायम रखने के लिए—इस विचार की आलोचना कीजिए।

५. दण्ड के विषय में हीगेल महाशय का क्या मत है? इस मत का क्या दुरुपयोग हो सकता है?

६ अपराधी के सुधार के लिए आधुनिक काल मे कौन-सा सर्वोत्तम उपाय बताया गया है? यदि सभी लोगो को उनके अपराधों के लिए क्षमा कर दिया जाय, तो इसका परिणाम क्या होगा?

७. "समझदार के लिए क्षमा ही दण्ड है" इस कथन का अर्थ क्या है? समझदार के लिए क्षमा ही दण्ड क्यों हो जाता है?

८. मनुष्य के नैतिक विकास मे पश्चाताप और आत्म-भर्त्सना की उपयोगिता को दर्शाइये। अपनी भूल के लिए सदा आत्म-भर्त्सना करते रहना बुरा क्यों है?

९. मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी किस स्थिति में होती है? क्या अज्ञान के कारण किसी व्यक्ति को उसका नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त किया जा सकता है?

१० पागलों को अपने काम के लिए क्यों जिम्मेदार नहीं माना जाता? और कौन-कौन सी ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनमे मनुष्य को अपने कार्य की नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त किया जा सकता है?

बाइसवाँ प्रकरण

नैतिक प्रगति

नैतिक प्रगति की वास्तविकता—जो व्यक्ति नीतिशास्त्र पर विचार करता है उसे नैतिक प्रगति में विश्वास करना आवश्यक है। इस प्रकार के विश्वास के बिना नीतिशास्त्र में रुचि रखना संभव ही नहीं। मनुष्य की नैतिक प्रगति की संभावना नीतिशास्त्र की पूर्वमान्यता है और नैतिक बातों में रुचि रखने के लिए संसार में नैतिक प्रगति को देखना आवश्यक है। जो व्यक्ति मनुष्य की नैतिक प्रगति को सभी ओर देखता है वह समाज और अपने आप की नैतिक प्रगति करने की चेष्टा भी करता है। इसके विरुद्ध जो व्यक्ति नैतिक प्रगति के तथ्य में विश्वास ही नहीं करता, वह निराशावादी होता है। वह न तो समाज की नैतिक उन्नति करने की चेष्टा करता है, और न अपने आप की।

समाज की नैतिक उन्नति हो रही है अथवा नहीं इस प्रश्न के विषय में दो प्रकार के प्रधान मत हैं। एक मत के अनुसार समाज की नैतिक उन्नति नहीं हो रही है और दूसरे मत के अनुसार उसकी नैतिक उन्नति हो रही है। फ्रांस के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी दार्शनिक रूसो महाशय का कथन है कि जैसे-जैसे सभ्यता की वृद्धि होती है वैसे-वैसे नैतिकता का ह्रास होता है। सभ्यता मनुष्य की बुद्धि और चतुराई को बढ़ाती है, वह उसके हृदय को पवित्र नहीं बनाती। सभ्यता की वृद्धि से मनुष्य चालाक कपटी और स्वार्थी बनता है, सभ्यता मनुष्य को दूसरों पर दया तथा करनेवाला उनसे सहानुभूति रखनेवाला नहीं बनाता। सभ्यता मनुष्य की भोग-सामग्री को बढ़ाती है। मनुष्य अपनी स्वार्थमयी इच्छाओं को तृप्त करने के लिए अनेक प्रकार के साधन पा लेता है, अतएव वह इन्हीं के प्राप्त करने में लगा रहता है। फिर मनुष्य का जैसा अभ्यास होता है उसका स्वभाव भी

वैसा ही बन जाता है। वह सदा स्वार्थ के कामों मे लगा रहता है। वह दूसरों को अपने स्वार्थ का साधन बनाने का उपाय तो सोचता रहता है, पर उनसे प्रेम दिखाने के अनेक ढोंग भी रचता है। रूसो महाशय का कथन है कि मनुष्य जब अपनी प्राकृतिक अवस्था में था, तब वह अधिक नैतिकता प्रदर्शित करता था। अतएव यदि वह फिर से अपनी पुरानी अवस्था में चला जाय, तो वैसा ही सीधा-सादा और भला व्यक्ति बन जाय।

इग्लैण्ड के प्रसिद्ध कवि विलियम वर्ड्सवर्थ और साहित्यकार एडवर्ड कार-पेन्टर महाशयों के मत भी इसी प्रकार के हैं। इनके कथनानुसार मनुष्य को अपना जीवन प्राकृतिक बनाना चाहिए। मनुष्य जैसे-जैसे प्रकृति से दूर जाता है, वह तैसे तैसे अपने जीवन को नैतिक दृष्टि से कलुषित और आध्यात्मिक दृष्टि से दुःखी बनाता है। वर्तमान सभ्यता मनुष्य की नैतिक प्रगति न कर उसको और भी नीचे ले जाती है।

भारतवर्ष में वर्तमान काल को कलियुग का समय बताया जाता है। जिस प्रकार ईसाई लोग अपना स्वर्णयुग भूतकाल मे देखते हैं, उसी प्रकार भारतीय सस्कृति के लोग भी अतीत काल में ही सतयुग की कल्पना करते हैं। वर्तमान काल अधर्म का काल है। इसमें जो कुछ अनर्थ हो जाय, वह थोड़ा है। कलियुग के अन्त में प्रलय होगा, तब नई सृष्टि होगी। आधुनिक काल के सुधारक जिन बातों को नैतिकता की प्रगति का लक्षण मानते हैं, उन्हीं बातों को पुरानी विचार-धारा के व्यक्ति उसका विनाशक मानते हैं। वर्तमान काल मे जिन बातों को कर्तव्य माना जाता है पुराने विचार के लोग उन्हें अकर्तव्य मानते हैं। अकर्तव्यों की सख्या को बढ़ते हुए देख ये पुराने विचारों के लोग सोचते हैं कि अब समाज का विनाश होनेवाला है।

उक्त प्रकार के विचारों का प्रभाव मनुष्य के आचरण और चरित्र पर पड़ता है। जो मनुष्य जैसा सोचता है, वह वैसा करता भी है। जिस व्यक्ति के विचार आशावादी होते हैं, वह दूसरों के विचारों को भी आशावादी बनाता और उन्हें उत्साहित करता है। इसके प्रतिकूल निराशावादी चिन्तक न केवल अपने आप दुःखी और अप्रगतिशील होता है, वरन् वह दूसरों को भी वैसा ही बनता है। समाज मे प्रगति हो रही है, अथवा नहीं यह बात वास्तविक जगत

की घटनाओं पर उतना निर्भर नहीं है, जितना कि चिन्तन करनेवाले व्यक्ति की मानसिक बनावट पर। अपने आपसे असन्तुष्ट व्यक्ति जगत में असन्तोष के पर्याप्त कारण देखता है और अपने आप से सन्तुष्ट व्यक्ति जगत की घटनाओं से आशा और प्रोत्साहन पाता है। जो व्यक्ति अपने आप में बाह्य परिस्थितियों से लड़ने की सामर्थ्य की अनुभूति करता है, वह संसार में कठिनाइयों को देखता है पर वह ऐसा विश्वास रखता है कि वह इन कठिनाइयों को पार कर सकेगा और इन कठिनाइयों को पार करने में उसे समाज और प्रकृति से सहायता भी मिलेगी। पर जो व्यक्ति अपने आप में इस प्रकार की सामर्थ्य नहीं पाता वह इसके लिए अपने आपको दोषी न ठहराकर अपनी अप्रगतिशीलता का दोष समाज काल अथवा प्रकृति के ऊपर मढ़ता है।

नीति शास्त्र का लक्ष्य लौकिक मनुष्यों में यह विचार उत्पन्न करने की चेष्टा करता है कि आदर्श युग भूतकाल में नहीं था, वरन् भविष्य में आनेवाला है और इसके लिए हम सबको मिलकर प्रयत्न करना है। हम अपने कर्तव्यों के पालन में जितनी ही ढिलाई दिखाते हैं इस आदर्शयुग अथवा स्वर्णकाल के आने में उतनी ही अड़चन भी डालते हैं। संसार की उन्नति करने में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान है, बिना उसके प्रयत्न के संसार तथा समाज उन्नत नहीं हो सकता। मनुष्य वर्तमान समय में जितना स्वार्थी और झूठा है, भविष्य में उससे कम होगा और उसमें आज जितनी पवित्रता है, भविष्य में उससे अधिक पवित्रता होगी। भविष्य को अन्धकारमय और भूत को प्रकाशमय देखना मानसिक बुढ़ापे की निशानी है। जब समाज में मानसिक बुढ़ापा आ जाता है, तो समाज के लोग यह सोचने लगते हैं कि पुराने समय के समान समय अब नहीं आ सकता। इसके प्रतिकूल जिन लोगों के मन स्वस्थ हैं, जो अपने आप में युवावस्था की अनुभूति करते हैं वे भविष्य को सदा सुन्दर और रम्य ही देखते हैं। उन्हें अतीत के विषय में सोचने की फुरसत ही नहीं मिलती। अतीत के विषय में उतना ही सोचना अच्छा है जितना वर्तमान काल के कर्तव्यों का पालन करने और भविष्य को सुन्दर बनाने के लिये आवश्यक है।

वर्तमान काल में समाज नैतिक प्रगति कर रहा है अथवा नहीं; इसका निश्चय करना कठिन है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वर्तमान काल में

नैतिक प्रगति के जितने साधन हैं, उतने पहले नहीं थे। इन साधनों का सदुपयोग करना आवश्यक है। साधन स्वयं नैतिकता अथवा अनैतिकता नहीं ला सकते, उनका उपयोग ही नैतिकता अथवा अनैतिकता लाता है। जो शिक्षा आज समाज के साधारण व्यक्ति को उपलब्ध है, वह पहले बहुत से लोगों को प्राप्त नहीं थी। परन्तु शिक्षा के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य गिर भी सकता है। अतएव किसी सम्पूर्ण समाज के विषय में यह कहना बड़ा कठिन है कि वह नैतिक दृष्टि से आगे बढ़ा रहा है, अथवा नहीं।

नैतिक प्रगति के कारण—समाज के नैतिक जीवन के तीन अंग हैं—नैतिक आदर्श, सामाजिक संस्थायें और प्रतिदिन का अभ्यास। जब इन तीनों प्रकार के अंगों में कुछ समता रहती है, तो समाज में कोई नैतिक उथल-पुथल नहीं होती। पर जब तीनों में विषमता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तो समाज में उथल-पुथल मच जाती है। नैतिक प्रगति प्रधानत दो कारणों से होती है—एक नैतिक जीवन के अंगों में पारस्परिक विरोध से, और दूसरे किसी अंग में अपूर्णता की अनुभूति से। मनुष्य के नैतिक आदर्श और नैतिक संस्था में जब कभी विरोध होता है, तब या तो मनुष्य नये आदर्श का निर्माण करता है, अथवा नई संस्था का। इसी प्रकार जब मनुष्य के दैनिक आचरण से किसी संस्था का विरोध होता है, तो संस्था में परिवर्तन हो जाता है, अथवा आचरणों में। कभी-कभी मनुष्य का नैतिक आदर्श बहुत ऊँचा होता है, पर नैतिक संस्थाएँ नीचे स्तर की होती हैं। ऐसी स्थिति में प्रगतिशील व्यक्ति प्राय अपनी संस्थाओं को अपने आदर्श के अनुसार बनाने की चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार किसी व्यक्ति का आचरण जब संस्था के नियम के विरुद्ध होता है, तो साधारणत. उस मनुष्य में अपने आचरण के सुधारने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। इस प्रकार उसका सुधार भी हो जाता है। इस तरह मानव-समाज की नैतिक प्रगति होती है। पर कभी कभी मनुष्य का आचरण अच्छा होता है, परन्तु सामाजिक संस्था निम्न कोटि की नैतिकता को प्रदर्शित करती है। ऐसी स्थिति मे संस्था को बदलने की आवश्यकता उत्पन्न होती है और इस प्रकार के परिवर्तन से भी समाज की नैतिक प्रगति होती है। इसी प्रकार नैतिक संस्था भी नैतिक आदर्श को ऊँचा बनाने का कारण बन जाती है।

कभी-कभी मनुष्य को समाज के नैतिक आदर्श की कमी का भी ज्ञान होता है। वह अपने आदर्श को ही नीचा देख सकता है, अथवा किसी भी नैतिक संस्था अथवा व्यवहार को नोचा जान सकता है। ऐसी स्थिति में भी मनुष्य की नैतिक प्रगति होती है। समाज के नैतिक आदर्शों में प्रगति उत्पन्न करने का काम समाज के महान पुरुषों का होता है। पहले वे अपने आचरण में इन नैतिक आदर्शों को चरितार्थ करते हैं पीछे समाज उनका अनुकरण करता है। हजरत मूसा ने कहा था कि तुम अपने मित्रों को प्यार करो और शत्रुओं से वैर भाव रखो इसके बदले में हजरत ईसा ने कहा कि तुम न केवल अपने मित्रों को प्यार करो वरन् शत्रुओं को भी प्यार करो। यदि प्रेम करना अच्छा है तो सभी के प्रति प्रेम करना और भी अच्छा है। अपने नैतिक सिद्धान्त को अधिक व्यापक बनाने से मनुष्य की नैतिक प्रगति होती है। हम अपने सम्बन्धियों के प्रति जो उदारता दिखाते हैं, उसी को जब हम दूसरे लोगों के प्रति दिखाने लगते हैं तो हम अपनी नैतिक प्रगति करते हैं। मनुष्यों के व्यवहार, उनकी संस्थाओं और उनके आदर्शों में जब एक ही प्रकार का सिद्धान्त काम करता है तो मनुष्य अपने आप में पूर्णता की अनुभूति करता है। यह उसकी नैतिक प्रगति की स्थिति है। साधारणतः हम देखते हैं कि मनुष्य एक व्यक्ति से एक प्रकार का व्यवहार करता है और दूसरे से दूसरे प्रकार का। इसी प्रकार वह भिन्न भिन्न व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न तरह से व्यवहार करता है। नैतिक दृष्टि से यह अनुचित है। सभी लोगों से व्यवहार करते समय एक ही सिद्धान्त का पालन करना भला है।

नैतिक प्रगति के लक्षण—प्रमस हिल ग्रीन महाशय के कथनानुसार नैतिक प्रगति के दो लक्षण हैं—(१) नैतिक विचार का गंभीर होना (२) नैतिक कर्तव्यों का विस्तार होना। जब मनुष्य का नैतिक विचार गम्भीर होता है, तो वह किसी भी कार्य को पवित्र हेतु से करता है। मान लीजिए, कि कोई व्यक्ति अपने आचरण में सचाई अथवा उदारता दिखाता है। ये उसके चरित्र के सद्गुण हैं। पर इन गुणों को वह समाज में प्रतिष्ठा का स्थान पाने के लिये दिखा सकता है, अथवा वे आत्म-सन्तोष प्राप्त करने के लिये उपार्जित किये जा सकते हैं। यदि प्रतिष्ठा प्राप्त करने के हेतु वह इन गुणों का अभ्यास करता है तो उसका हेतु निम्न कोटि का है, और यदि वह अन्तरात्मा की प्रेरणा के कारण इन

सद्गुणों को दिखाता है, तो उसका हेतु उच्चकोटि का है। फिर नैतिक प्रगति सचाई अथवा उदारता के विचार से भी होती है। सचाई का अर्थ पहले इतना ही होता है कि मनुष्य वही करे, जो वह कहता है, पर पीछे उसका अर्थ यह हो जाता है कि मनुष्य वही करे, जो वह सोचता है। विचार, वाणी और कर्म की एकता का नाम ही सचाई है। इसी प्रकार उदारता न केवल अपने परिचित व्यक्तियों के प्रति दिखाना ठीक है, वरन् अपरिचितों के प्रति भी दिखाना उचित है। उदारता फिर गरीबों को दान देने, बच्चों के प्रति प्रेम दिखाने और हठी लोगों के विचारों का विरोध नहीं करने में है। विचारों की उदारता क्रिया की उदारता से कहीं कठिन वस्तु है। हम अपना धन देकर दूसरे व्यक्ति के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकाशित कर सकते हैं, पर जो व्यक्ति हम से विरुद्ध विचार रखता है, उसके प्रति सहानुभूति दिखाना और उसके विचारों को धैर्य से सुनना बहुत कठिन होता है।

जब मनुष्य के नैतिक विचारों में पहले प्रकार का परिवर्तन होता है, अर्थात् जब उसके नैतिक विचार गभीर हो जाते हैं, तो उसके जीवन में कई ऐसे कर्तव्य उपस्थित हो जाते हैं, जो पहले नहीं थे। यदि कोई मनुष्य अपने प्रति उपकार करनेवाले व्यक्ति की भलाई करने मात्र को अपना कर्तव्य समझता है, तो वह रास्ते में चलते हुए अन्धे को ठीक मार्ग पर कर देना, अथवा उसे इक्के-तागे से बचा लेना अपना कर्तव्य न समझेगा। कितने ही लोग हमारी कोई व्यक्तिगत बुराई नहीं करते, परन्तु समाज की बुराई करते हैं। जो मनुष्य समाज से तादात्म्य स्थापित नहीं करता, वह ऐसे व्यक्ति को बुराई के कामों से रोकने की चेष्टा न करेगा। समाज के बच्चों के लालन-पालन और उनकी शिक्षा के बारे में सोचना, स्त्रियों और दलित वर्गों के प्रति अत्याचार को रोकने की चेष्टा करना, मजदूरों के शोषण के विरुद्ध प्रचार करना आदि कर्तव्य समाज के साधारण व्यक्ति के ध्यान में नहीं आते। इस प्रकार के कर्तव्य उसी व्यक्ति को सूझते हैं, जिसका नैतिक विचार गभीर है।

नैतिक प्रगति में बाह्य और आन्तरिक उपकरणों की महत्ता—जड़वादी नीति-शास्त्रज्ञों का मत है कि समाज की नैतिक प्रगति उसके वातावरण में परिवर्तनों का परिणाम है। वर्तमान काल का [illegible]

है। वर्तमान काल की समाज-व्यवस्था पुराने ढंग पर नहीं चल सकती। प्रत्येक विशेष प्रकार का परिवर्तन अपने आप हो जाता है। जिसे हम नैतिक प्रगति कहते हैं, वह मनुष्य की आर्थिक उन्नति का परिणाम है। जैसे जैसे मनुष्य के उत्पादन के साधनों और यंत्रों में उन्नति होती है, वैसे-वैसे समाज व्यवस्था भी उसी के साथ बदलती है। समाज-व्यवस्था के बदलने की आवश्यकता के साथ साथ नये नैतिक विचारों का भी जन्म होता है। वर्तमान काल में गुलामों की आवश्यकता नहीं है। अतएव गुलामों की प्रथा के विरुद्ध विचार का प्रचार होना सरल हो गया और इसके परिणाम स्वरूप यह प्रथा भी नष्ट हो गई। भारतवर्ष की अछूत-प्रथा के विषय में भी बहुत कुछ यही ठीक है। मशीन-युग में सभी मनुष्य एक बराबर काम करने की योग्यता रखते हैं। अतएव उनका समान आदर होना भी स्वाभाविक है। पुराने समय में मनुष्य को जन्म के अनुसार समाज में जो स्थान मिलता था अब वह मिलना सम्भव नहीं अतएव हमारा नैतिक विचार भी उदार हो गया है। यहाँ वातावरण ही परिवर्तन का कारण है और नये नैतिक विचार का आना उसका परिणाम है।

आदर्शवादी नीतिशास्त्रज्ञों का विचार इस विचार के विरुद्ध है। इनके कथनानुसार मनुष्य के विचार ही उसकी नैतिक प्रगति में प्रधान स्थान रखते हैं। एक ही प्रकार के वातावरण के होते हुए भी समाज के सभी लोगों के नैतिक विचार एक-से नहीं होते। नैतिक विचारों की उत्पत्ति मनुष्य के स्वतंत्र चिन्तन से होती है। अपनी आध्यात्मिक उन्नति चाहनेवाले व्यक्ति का ही नैतिक विचार ऊँचे हैं। ऐसा व्यक्ति समाज के कल्याण के लिए नया मार्ग खोजने की चेष्टा करता है। विशेष वातावरण की उपस्थिति रहने पर भी किसी-किसी समाज में नैतिक उन्नति इसलिए नहीं होती कि मनुष्यों की मनोवृत्ति पुरानी हो चली है अथवा उन्हें उचित नेता ही नहीं मिला। किसी प्रकार के वातावरण को मनुष्य के विकास के काम में लाना स्वतंत्र चिन्तन का फल है। वास्तव में मनुष्य का नैतिक विकास उसके हेतुओं की शुद्धता में है, और इन हेतुओं को वहीं तक भला अथवा बुरा कहा जा सकता है जहाँ तक मनुष्य स्वतंत्र विचार से उन हेतुओं को बनाता है।

नया वातावरण मनुष्य को नया ज्ञान प्राप्त करने और नये काम करने का

अवसर प्रदान करता है। परन्तु नया ज्ञान प्राप्त करना और नया कार्य करना मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर करता है। अतएव मानव-समाज के नैतिक विकास को वातावरण के परिवर्तन का परिणाम मात्र नहीं माना जा सकता। यह मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य है।

नैतिक विकास का अन्तिम लक्ष्य—मनुष्य का नैतिक विकास उसे नैयक्तिक जीवन के परे जाने के लिए प्रेरित करता है। अपने स्वार्थ को भूल कर वह दूसरों के साथ अपना जितना ही तादात्म्य कर देता है, वह उतना ही अधिक नैतिक व्यक्ति है। पर जब मनुष्य अपने स्वार्थ को बिलकुल भूल जाता है और वह अपने स्वार्थ-त्याग का अभिमान भी नहीं करता, तो वह व्यक्तित्व की सीमा के बाहर चला जाता है। जब उसमे यह परिवर्तन हो जाता है, तब वह केवल नैतिक व्यक्ति न रहकर नैतिकता के परे चला जाता है। नैतिकता में मनुष्य को अपने सद्गुणों का अभिमान रहता है। जब मनुष्य नैतिकता के पार जाता है, तब उसे अपने सद्गुणों का अभिमान भी नहीं रहता। ऐसी अवस्था मे मनुष्य जो कुछ करता है, वह सहज भाव से करता है। उसकी इच्छा-शक्ति स्वतन्त्र रहती है, पर इच्छा-शक्ति की यह स्वतन्त्रता वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं रहती, वह अपने आपको संसार को प्राण देनेवाली, उसे व्याप्त करनेवाली सत्ता मे मिला देती है।

जब मनुष्य नैतिकता के परे जाता है, तो किसी भले काम को करने से उसे न तो विशेष आह्लाद होता है और न किसी बुरे काम के करने से आत्मग्लानि ही। प्रत्येक प्रकार की बुराई का भला पहलू होता है, और प्रत्येक प्रकार की भलाई का भी बुरा पहलू होता है। अतएव सच्चा ज्ञानी समदर्शी होता है। वह सोचता है कि सब कुछ भला ही है। किसी प्रकार की घटना से वह उद्विग्न-मन नहीं होता। जब संसार का चलानेवाला विवेकशील और सर्व शक्तिमान तत्त्व है, तो उसके होते हुए संसार में किसी प्रकार की बुराई कैसे सभव है। जो घटना आज हमें बुरी दिखाई देती है, वही आगे चलकर भली सिद्ध हो सकती है। यदि हम यह नहीं मानते, तो हम संसार के चलानेवाले के विवेकशील और सर्व शक्तिमान होने मे अविश्वास करते हैं, और इस अविश्वास के होते हुए सच्ची नैतिकता संभव नहीं। इस तरह जो विचार मनुष्य मे नैतिकता का आधार है, वही विचार उसे नैतिकता के परे भी ले जाता है।

नैतिकता की आवश्यकता मनुष्य को परम शान्ति अथवा परमार्थ तत्त्व के ज्ञान में है।

एकता की अनुभूति की अवस्था में ही नैतिकता सम्भव है। अतएव नैतिकता में ज्यों व्यक्ति भिन्नता का भाव बढ़ता है, अपने आपमें अपूर्णता होने का यह उतना ही अधिक कारण बनता है। अपूर्णता की अनुभूति, आत्म सुधार और उसका यत्न करने की इच्छा नैतिकता के आधार हैं। ये मनुष्य में जब तक रहते हैं तब तक वह अपना व्यक्तित्व का अभिमान रखता है। व्यक्तित्व का अभिमान रखते हुए वह पूर्णता प्राप्त करने की पर्याप्त चेष्टा कर लेता है पर जब वह अपनी पूर्णता प्राप्त करने का कोई लक्षण नहीं देखता तब अपने व्यक्तित्व के अभिमान को छोड़ देता है। व्यक्तित्व के अभिमान को छोड़ने पर मनुष्य अपने आप में पूर्णता का दर्शन करता है।

व्यक्तित्व का यह अभिमान दो प्रकार से छोड़ा जाता है—एक संसार की अनित्यता पर ध्यान चिन्तन करने से और दूसरे अपने आपको एक सम्पूर्ण तत्त्व से अभिन्न मानने से। प्रथम प्रकार के मार्ग का निर्देशन भगवान बुद्ध ने किया है और दूसरे प्रकार का मार्ग संसार के अन्य धर्म प्रवर्तकों द्वारा बताया गया है। नैतिक जीवन का अभ्यास मनुष्य को अपने आपको परमात्मा में लय कर देने के लिए प्रेरित करता है। जब हम अपने व्यक्तित्व के त्याग को जीवन का लक्ष्य मान लेते हैं तब फिर नैतिकता व्यावहारिक जीवन की एक उपयोगी वस्तु मात्र रह जाती है। पूर्णता नैतिक जीवन की वस्तु नहीं पर आध्यात्मिक जीवन की वस्तु है। यहाँ बहिर्मुखत्व का अन्त होता है और मनुष्य अन्तर्मुखी होता है। फिर सभी मूल्य नई दृष्टि से देखे जाने लगते हैं।

प्रश्न

१ "जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है वैसे-वैसे नैतिकता का ह्रास होता है"—रूसो महाशय के इस कथन की समालोचना कीजिये।

२ "वर्तमान समय कलियुग का समय है" इस विचार का नैतिक मूल्य आँकिये।

३ संसार के आदर्शवादी दार्शनिकों ने मानव-जीवन की पूर्णता की क्या कल्पना की है? इसमें नैतिक आचरण का क्या स्थान है?

तेईसवाँ प्रकरण

नैतिकता के नए मूल्य

आधुनिक काल मे विज्ञान के क्षेत्र मे बडी उथल-पुथल हो रही है। आइस्टाइन के सापेक्षवाद और अणु की शक्ति की खोजों ने मनुष्य की चिन्तन प्रणाली को एक नया ही रूप दे दिया है। आज हमारे सामने ससार का वह रूप नहीं है, जो आज मे सौ वर्ष पूर्व था। वैज्ञानिक विचार-प्रणाली अब नए प्रकार की हो गई है और हम शक्ति के नए-नए केन्द्रों का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। इसके कारण समाज विकास की जो कल्पनाएँ आज से सौ वर्ष पूर्व की वैज्ञानिक खोजों पर आधारित थीं, वे बदल गई। कार्लमार्क्स का साम्यवाद उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक की वैज्ञानिक खोजों पर आधारित था। उस समय तक किसी के मन मे सापेक्षवाद अथवा अणु-शक्ति की कल्पना भी न थी। अब यदि हम साम्यवाद चाहते है, तो वह नए प्रकार का ही साम्यवाद होगा।

जिस प्रकार भौतिक प्रकृति के सम्बन्ध में विगत पचास वर्षों में नए-नए आविष्कार हुए हैं, उसी प्रकार मानस-जगत में भी बडी ही विप्लवकारी खोजें हुई हैं। इन खोजों के कारण मनुष्य के नैतिक दृष्टिकोण और उसके नैतिक मूल्यों तथा मानदण्डों में आमूल परिवर्तन हो गए है। प्राचीन काल में जो मनुष्य अपने जीवन मे तपस्या, ब्रह्मचर्य और अहिंसा के अत्यधिक प्रदर्शन करते, अथवा जो इनके विषय में समाज में सदा चर्चा करते रहते थे, उन्हें हम सामान्य मनुष्यो से उच्च मानते थे। हम जानते थे कि दूसरे लोगों की अपेक्षा उन पर अधिक विश्वास किया जा सकता है। आधुनिक काल की मनोवैज्ञानिक खोजों से पता चला है कि हमारा इस प्रकार का विश्वास भ्रमात्मक है। अत्यधिक तपस्या का जीवन भी भोगवादी प्रवृत्तियों की प्रबलता का आवरण मात्र होता है। इस प्रकार के जीवन से भोगवादी प्रवृत्तियों की शक्ति कम न होकर और बढ़ जाती है। जिस प्रकार क्रान्तिकारियों के दमन से उनकी

व्यवहारों में ऊपर से बडी ही शिष्ट और भीतर से बडी ही कठोर होती है। जो लोग बाहर मे कठोर होते है, उनका राज्य शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

उपर्युक्त प्रकार का व्यवहार नैतिक कुशलता है। इसके विरुद्ध कुछ लोग अपने सच्चे मसूबों को जानते ही नहीं। चेतन मन से वे जिस प्रकार अपने आपको तपस्वी, मनस्वी और उदार जानते है, उसी प्रकार अपने भीतरी मन से भी वे अपने आप को वही मान लेते है। इस प्रकार के लोग कभी-कभी समाज के नेता हो जाते है। इन लोगों से समाज को कूटनीतिज्ञों का अपेक्षा अधिक क्षति होती है। दूसरों को धोखा देने से अधिक अपराध अपने आपको धोखा देना है। पहिले प्रकार के आचरण से समाज में अपराध की मनोवृति बढती है तथा बड़े-बडे विनाशकारी युद्ध होते हैं, परन्तु इससे मनुष्य की इच्छा शक्ति असहायावस्था म नहीं आती तथा इससे मनुष्य के व्यक्तित्व का विभाजन नहीं होता। परन्तु अपने आपको न समझने तथा अपनी सभी वासनाओं की स्वीकृति न करने से मनुष्य के व्यक्तित्व का विभाजन एव उसकी इच्छाशक्ति का ह्रास हो जाता है, जिससे उसके चरित्र की आधार-शिला ही मिट जाती है। इसी स्थिति मे मनुष्य के आदर्श बड़े ऊँचे होते हैं, परन्तु उसकी कार्य-क्षमता समाप्त हो जाती है। यही कारण है कि यदि किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र के जीवन मे अत्युच्च आदर्शवादिता देखी जाए, तो हमे उसके भावी आचरण से सतर्क होना चाहिए। निम्न स्तर के आदर्शवादी व्यक्ति की बातों पर विश्वास किया जा सकता है, पर अत्युच्च आदर्शवादी की बातों पर विश्वास करना आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों के प्रति अपना अज्ञान प्रदर्शित करना है।

जिस प्रकार मनुष्य के प्रकाशित नैतिक मूल्य एक प्रकार के होते है और उसकी अचेतन मनोस्थिति दूसरे प्रकार की होती है, उसी तरह उसके किसी काम का ज्ञात हेतु एक प्रकार का होता है और अज्ञात प्रेरणा दूसरे प्रकार की। मनुष्य के कार्य के हेतु (reason) और उसके प्रेरक (motives) की विषमता व्यक्तित्व-विच्छेद के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है। मार्टन प्रिंस ने ब्यूसान्प नामक एक महिला के व्यक्तित्व के अध्ययन से पता चलाया है कि मनुष्य अपने काम का जो हेतु समझता है, वह हेतु वास्तव में नहीं होता। ब्यूसान्प के व्यक्तित्व में तीन व्यक्तित्व एक ही शरीर में थे। एक भला, एक

शैतानी और एक साधारण। इन व्यक्तियों में शैतानी व्यक्तित्व का ज्ञान मधे और साधारण व्यक्तित्व को नहीं था; परन्तु शैतान व्यक्तित्व को दूसरे दोनों व्यक्तियों के कामों का ज्ञान रहता था। जब साधारण व्यक्तित्व कोई विशेष प्रकार का काम करने लगता था तो बीच-बीच में शैतान व्यक्तित्व उसके काम को बिगाड़ देता था। कभी-कभी इस तरह साधारण व्यक्तित्व-द्वारा यह शैतान व्यक्तित्व उसकी नैतिक भावना के प्रतिकूल निम्नकोटि का काम करा लेता। इन कामों का ज्ञान जब साधारण व्यक्तित्व को होता था, तो यह महिला आत्म ग्लानि की अनुभूति करती। पीछे यह शैतान व्यक्तित्व प्युशम्प के शरीर में समा जाता और साधारण व्यक्तित्व की खिल्ली उड़ाता। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि मनुष्य बहुत से ऐसे काम करता है, जिनके वास्तविक हेतु का ज्ञान स्वयं उसे भी नहीं रहता।

कभी-कभी मनुष्य के प्रकाशित हेतु बड़े ही उदार होते हैं, परन्तु उसके अप्रकाशित हेतु बड़े ही निम्नकोटि के होते हैं। बहुत से लोग ऊपरी दृष्टि से बालकों को कठोर अवस्था में नियंत्रित रखते और उन्हें इसलिए बार-बार दबा देते हैं कि उनका आचरण न बिगड़े। परन्तु इस प्रकार की क्रिया का आन्तरिक हेतु बच्चे के सुखी जीवन के प्रति आन्तरिक ईर्ष्या होती है। कभी-कभी माता का प्यारा लड़का पिता-द्वारा बहुत ही पीटा जाता है। इस ताड़ना का कारण भी ईर्ष्या ही होती है। बहुत से राजनीतिक नेता लम्बे-लम्बे उपवास करते हैं। इनका प्रकाशित हेतु आत्म शुद्धि होता है परन्तु उनका अचेतन हेतु अपनी खोई हुई कीर्ति को फिर से प्राप्त करना अथवा दूसरों द्वारा अपनी बातों का समर्थन पाना ही होता है।

जिन लोगों को धनी लोगों से तिरस्कार मिला है, अथवा धनियों के द्वारा जिनका सम्मान ठुकराया गया है, वे पूँजीपतियों के विनाश के लिए बड़े व्यापक संगठन करते और राजनीतिक अवस्थाओं में उनकी निर्मम हत्या करते हैं। इन संगठन-कर्त्ताओं के प्रकाशित हेतु बड़े उदार होते हैं। जनता को शोषण से बचाना, स्त्रियों के अधिकार की रक्षा करना, सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना आदि हेतु उनकी चेतना पर रहते हैं परन्तु उनके अचेतन मन में धनी लोगों से बदला लेने की भावना रहती है।

बहुत से राजनीतिक नेताओं के उच्चस्तर की नैतिकता का जीवन व्यतीत करने का हेतु अपने प्रतिद्वन्द्वी को संसार की निगाहों से गिराना ही होता है। विश्व-शान्ति के हेतु से प्रेरणा पाकर काम करनेवाले बहुत से लोगों का आन्तरिक हेतु इन हेतुओं का विरोधी होता है। कायर मनुष्य दया का गुणगान करता है और कृपण मितव्ययिता से चरित्र-निर्माण का मार्ग दर्शाता है। ये ऊपरी हेतु वास्तविक हेतुओं के आभास मात्र होते हैं। अतएव किसी व्यक्ति की नैतिकता का मूल्यांकन करने के लिए किसी व्यक्ति के प्रकाशित हेतुओं को ही नहीं, वरन् उसके अचेतन हेतुओं को भी जानना पड़ेगा। यदि किसी मनुष्य के आन्तरिक हेतु उच्चकोटि के हैं, तभी हम उसके कार्यों को ऊँचा कह सकेंगे। परन्तु इन हेतुओं का ज्ञान करना अत्यन्त कठिन है। इस कार्य में हम दूसरों को जितना धोखा देते है, उससे कहीं अधिक अपने आपको देते है।

वर्तमान काल में सभी जगह मनुष्य की नैतिकता को उच्चस्तर पर लाने की चर्चा हो रही है। बालकों के चरित्र-निर्माण और जन-साधारण में भाई-चारे के व्यवहार को फैलाने की बातें चारों ओर सुनी जाती हैं। इस प्रकार की चर्चा का साधारण परिणाम मनुष्य के नैतिक स्तर को ऊपर उठाना होता है। परन्तु देखा गया है कि जो लोग इन नैतिक मूल्यों की चर्चा अधिक-से-अधिक करते है, उनके जीवन मे ही इन मूल्यों की सबसे बड़ी अवहेलना पाई जाती है। अतएव मानव-समाज अब धर्म और नैतिकता दोनों से ही उदासीन होता जा रहा है। जिस प्रकार पिछली शताब्दी म धर्म-चर्चा शोषक वर्ग का ढोंग समझी जाती थी, क्योंकि धर्म-चर्चा के द्वारा ही जनता का अधिक शोषण होता आया है, उसी प्रकार बीसवीं शताब्दी में नैतिक मूल्यों की अधिक चर्चा होना इन चर्चा करनेवालो म नैतिक दिवालियापन का द्योतक है। सच्चाई और उच्च नैतिक मूल्यों की चर्चा एक दूसरे के सहगामी न दिखाई देने के कारण जो लोग नैतिक मूल्यों की अधिक चर्चा करते हैं, उनके प्रति जनता का सहज अविश्वास हो जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान यह दर्शाता है कि मनुष्य का नैतिक विकास क्रमश होता है। मनुष्य पहिले व्यक्तिगत स्वार्थ से ही प्रेरित होकर कार्य करता है, फिर उसके स्वार्थ का एकत्व क्रमिक रूप से परिवार, ग्राम, वर्ग, देश और

मानवमात्र से होता है। जिस व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छायें समुचित रूप से तृप्त नहीं हुए वह जब ऊँचे नैतिक मूल्यों की चर्चा करता है, तब वह या तो दूसरों को धोखा देता है, अथवा अपने आप को ही। इस प्रकार की चर्चा से दूसरों के साथ-साथ अपना भी अहित होता है। आधुनिक मनोविज्ञान यह प्रेरणा देता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभाव को समझ कर ही अपने नैतिक आदर्श की स्थापना करे और समाज में प्रचलित सभी नैतिक चचार्ओं का अपने जीवन का नियामक न बना ले। भिन्न भिन्न व्यक्ति जीवन के विकास की भिन्न भिन्न अवस्था में हैं। अतएव उनके नैतिक आदर्श भी भिन्न भिन्न हैं। यदि सभी लोगों के सामने एक-सा ही नैतिक आदर्श उपस्थित कर दिया जाय, तो इससे सम्पूर्ण समाज की नैतिक प्रगति न होकर उसके प्रतिगमन के होने की सम्भावना ही है। मनुष्य की नैतिकता की सीमायें उसके अपनेपन के भाव से निर्धारित होती हैं। अपनेपन का यह भाव तब तक धीरे धीरे प्रसरित होता है जब तक वह सम्पूर्ण विश्व को अपने में समाहित नहीं कर लेता। जिस व्यक्ति का अपनापन परिवार अथवा जाति तक ही सीमित है परन्तु जो अपने आपको विश्व मानव के रूप में मान बैठता है वह अपने व्यक्तित्व में विभाजन की अवस्था उत्पादित कर लेता है। इससे उसकी सामयिक नैतिक प्रगति भले ही हो किन्तु अन्त में उसका नैतिक पतन अवश्यम्भावी है। अतएव अपने आपको अच्छी तरह समझ लेने के उपरान्त ही हमें अपने नैतिक आदर्श की स्थापना करनी चाहिए।

नैतिकता और आध्यात्म

जिस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान की खोजें मनुष्य के नैतिक जीवन पर नया प्रकाश डालती हैं और नैतिकता की अभिवृद्धि को सरेहात्मक दृष्टि से देखने के लिए विवश करती हैं, उसी प्रकार गंभीर आध्यात्मिक विचार भी मनुष्य की यहाँ-वहाँ नैतिकता को संशयात्मक दृष्टि से देखने के लिए हमें बाध्य करते हैं। मानसिक चिकित्सा के क्षेत्र में देखा गया है कि मानसिक रोगी उच्च नैतिक मूल्यों का पुजारी होता है और वह अपने आपको बहुत बड़ा नैतिक व्यक्ति मानता है। जब तक उसके इस नैतिक अभिमान में कमी नहीं

होती, तब तक उसमें आत्म-स्वीकृति, अर्थात् अपनी कमजोरियों को पहिचानने की क्षमता ही नहीं आती । आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य का प्रत्येक प्रकार का अभिमान, चाहे वह धन बल बुद्धि चरित्र या नैतिकता का हो, मानसिक रोग है । इस मानसिक रोग के रहते हुए दूसरे मानसिक रोगों की अभिवृद्धि होती है, और मनुष्य जब तक इस मूल मानसिक रोग से मुक्त नहीं होता, तब तक दूसरे मानसिक रोग भी उसे नहीं छोड़ते । इतना ही नहीं, मनुष्य के तथाकथित मानसिक रोग वास्तव में मानसिक रोग नहीं है । वे उसके वास्तविक मानसिक रोग अर्थात् अभिमान के देव-दत्त अथवा नैसर्गिक उपचार है ।

मनुष्य की अन्तरात्मा न्याय-प्रिय और सत्य-परायण है । वह किसी प्रकार के अन्याय अथवा ढोंग को टहरने नहीं देती । मनुष्य को अनेक प्रकार के कष्ट, रोग और दुर्घटनाओं से इसीलिए ग्रस्त होना पड़ता है, ताकि उसके अन्याय और आत्म-विस्मरण की मनोवृत्ति की समाप्ति हो । अत्युच्च नैतिकतावादी अथवा नैतिकता के विषय में विशेष अभिमान रखनेवाले व्यक्ति का भीतरी मन नैतिकता से शून्य रहता है । मनुष्य को अपनी प्रबल पाशविक प्रवृत्तियों को दबाने के लिए, अपनी स्वार्थ-परायणता के ऊपर पर्दा डालने के लिए, उच्च नैतिकता का अभिमान और अभिनय करना पड़ता है । जब तक मनुष्य इस प्रकार की कृत्रिम नैतिकता के अभिमान से अपने आपको मुक्त नहीं करता, तब तक उसे आध्यात्मिक शान्ति नहीं प्राप्त होती । नैतिकता का यह अभिमान ही मनुष्य के आत्म-दर्शन में सबसे बड़ा बाधक होता है । ऐसे तो प्रत्येक प्रकार के अभिमान मनुष्य के मन में आन्तरिक खिंचाव उत्पन्न करते और उसे आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने में बाधा डालते है, परन्तु चरित्र अथवा नैतिकता का अभिमान मनुष्य के आन्तरिक जीवन में जितना खिंचाव उत्पन्न करता और जीवात्मा के परमात्मा से मिलने में जितनी बाधा डालता है, उतनी बाधा और किसी प्रकार का अभिमान नहीं डालता । परमात्मा की प्राप्ति अथवा शाश्वत शान्ति मनुष्य को तब तक प्राप्त नहीं होती, जब तक वह सर्वथा

"जासन चाहै प्रेम रस, राखन चाहै मान ।
एक म्यान मै दो खड्ग देख्या-सुना न कान ॥"

संसार के सभी धर्मों का एक मात्र लक्ष्य मनुष्य को सभी प्रकार के अभिमानों से मुक्त करना ही है । सभी प्रकार की आध्यात्मिक साधनाएँ मनुष्य के अभिमान के निराकरण हेतु होती हैं । भक्त को आन्तरिक शान्ति तभी प्राप्त होती है जब वह परमात्मा के प्रति सम्पूर्ण आत्म-समर्पण कर देता है । क्राइस्ट ने कहा है कि जब तक मनुष्य एक छोटे बालक के समान अपने आपको नहीं बना लेता; तब तक वह भगवान को कभी प्राप्त न करेगा । अर्थात् भगवान को प्राप्त करने का एक मात्र उपाय अपने आपको निरभिमान बनाना है ।

सच्चा भगवद्भक्त अपने आपको अवगुणों का पिटारा मानता है । वह अन्तर्दर्शन से अपने अचेतन मन में उपस्थित अनेक प्रकार की वासनाओं का साक्षात् कर लेता है । फिर वह परमात्मा की शरण इसलिए जाता है, जिससे कि वह अपने दुर्गुणों से मुक्त हो जाए । जो मनुष्य अपने आपको जितना ही अधिक सच्चे मन से दुर्गुणों का पुंज देखता है वह भगवत् सहायता की आवश्यकता उतनी ही अधिक अनुभव करता है । ऐसे ही मनुष्य को इस प्रकार की सहायता की अन्तरानुभूति होती है ।

आधुनिक मनोविज्ञान के कुछ गम्भीर चिन्तकों का मत है कि संसार का सामान्य से-सामान्य धर्म जितने मानसिक रोगों का उपचार करता है, उतने मानसिक रोगों का उपचार संसार के सभी मानसिक चिकित्सक मिलकर नहीं करते । पास्स युंग और मीस दोनों का ही मत है कि यदि मनुष्य को सच्चा धर्म पहिले से ही हो जाए तो उसे किसी प्रकार का मानसिक रोग होगा ही नहीं । मनुष्य को मानसिक रोग इसीलिए होते हैं कि वह अभिमान-वश अपने आपको कुछ-का-कुछ समझने लगता है । रोग अनेक प्रकार के कष्ट देकर मनुष्य को वस्तु स्थिति से परिचित कराता है । मानसिक चिकित्सा करते समय देखा गया है कि कभी-कभी रोगी चिकित्सक के समक्ष आत्म स्वीकृति करते समय बच्चों की तरह फूट-फूटकर रोने लगते हैं । उनके इस प्रकार के अभिमान-त्याग से उनका मानसिक एकीकरण क्षण भर में ही हो जाता है । जब तक मनुष्य अपने अभिमान को रखे रहता है, तब तक वह अपनी

अन्तरात्मा से विलग रहता है। जब मनुष्य अपने अभिमान को खो देता है, तब अन्तरात्मा उसे अपनी गोद में उठा लेती है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य की नैतिकता उसके दूसरे लक्षणों के समान उसके सिर का बोझ है। यह बोझ उसके जीवन की प्रगति का बाधक भी होता है, परन्तु सभी प्रकार के बोझ को उतार कर फेंके बिना मनुष्य आध्यात्म की उस चोटी पर नहीं पहुँच पाता—

"मैया के मग दूर है, जहाँ झिलमिली गैल।
पाँव न टहरे पिपीलिका, तेला लादे बैल।"

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने पाप और पुण्य दोनों को ही लोहे और सोने की बेड़ियाँ माना है।

जिसे पुण्य का अभिमान होगा, उसे पाप का भी अभिमान अवश्य ही रहेगा। चेतन मन के पुण्य के अभिमान का पूर्तीकरण अर्थात् नैतिक जीवन के अभिमान का पूर्तीकरण मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित पाप-कृति-जनित आत्म-ग्लानि की भावना करता है। अर्थात् जिस मनुष्य को पुण्य-सञ्चय के लिए जितनी ही अधिक बेचैनी रहती है, उसके अचेतन मन में उतनी ही अधिक किसी पाप-कृति की आत्म-ग्लानि अथवा बेचैनी उपस्थित रहती है। समाज के अधिकतर सुधारकों के जीवन में देखा गया है कि वे अपनी पाप-कृति जन्य घटनाओं के विस्मरण करने के लिए ही अपने एवं जनता के नैतिक सुधार में लगे रहते हैं। जिस मनुष्य को आत्म-सुधार और आत्म-सेवा की सबसे अधिक आवश्यकता रहती है, वही पर-सेवा और परोपकार के काम में व्यस्त रहता है, ताकि अपने नैतिक कार्यों के अभिमान से वह अपने आपको भुलाए रक्खे। मनुष्य का इस तरह का आचरण और उच्च नैतिक मूल्यों की पुकार आत्म-भर्त्सना को भुलाने के साधन मात्र होते हैं।

आध्यात्मिक जगत का सिद्धान्त है कि मनुष्य दूसरे को धोखा देने में भले ही समर्थ हो जाए, पर वह अपने आप को बहुत दिनों तक धोखे में नहीं रख सकता। मनुष्य की अन्तरात्मा आत्म-शुद्धि के अनेक उपाय रच लेती है और मनुष्य को अनेक प्रकार के कष्ट देकर उसके मन को साफ करती है। जब मनुष्य के मन में कुछ निर्मलता आ जाती है, तभी उसके मन में आत्म-

"जाहाँ आई प्रेम रस राखन आई मान।
एक म्यान में दो खड़ग, देखा-सुना न कान॥"

संसार के सभी धर्मों का एक मात्र लक्ष्य मनुष्य को सभी प्रकार के अभिमानों से मुक्त करना ही है। सभी प्रकार की आध्यात्मिक साधनाएँ मनुष्य के अभिमान के निराकरण हेतु होती हैं। भक्त को आन्तरिक शान्ति तभी प्राप्त होती है जब वह परमात्मा के प्रति सम्पूर्ण आत्म-समर्पण कर देता है। क्राइस्ट ने कहा है कि जब तक मनुष्य एक छोटे बालक के समान अपने आपको नहीं बना लेगा तब तक वह भगवान को कभी प्राप्त न करेगा। अर्थात् भगवान को प्राप्त करने का एक मात्र उपाय अपने आपको निरभिमान बनाना है।

सच्चा भगवद्भक्त अपने आपको अवगुणों का भिखारी मानता है। वह अन्तदर्शन से अपने अचेतन मन में उपस्थित अनेक प्रकार की वासनाओं का साक्षात् कर लेता है। फिर वह परमात्मा की शरण इसलिए लेता है, जिससे कि वह अपने दुर्गुणों से मुक्त हो जाए। जो मनुष्य अपने आपको जितना ही अधिक सच्चे मन से दुर्गुणों का पुंज देखता है वह भगवत् सहायता की आवश्यकता उतनी ही अधिक अनुभव करता है। ऐसे ही मनुष्य को इस प्रकार की सहायता की अन्तरानुभूति होती है।

आधुनिक मनोविज्ञान के कुछ गम्भीर चिन्तकों का मत है कि संसार का सामान्य से-सामान्य धर्म जितने मानसिक रोगों का उपचार करता है उतने मानसिक रोगों का उपचार संसार के सभी मानसिक चिकित्सक मिलकर नहीं करते। चार्ल्स युंग और वीस दोनों का ही मत है कि यदि मनुष्य को सच्चा धर्म पहिले से ही हो जाए तो उसे किसी प्रकार का मानसिक रोग होगा ही नहीं। मनुष्य को मानसिक रोग इसीलिए होते हैं कि वह अभिमान-वश अपने आपको कुछ का कुछ समझने लगता है। रोग अनेक प्रकार के कष्ट देकर मनुष्य को वस्तु स्थिति से परिचित कराता है। मानसिक चिकित्सा करते समय देखा गया है कि कभी-कभी रोगी चिकित्सक के समक्ष आत्म स्वीकृति करते समय बच्चे की तरह फूट-फूटकर रोने लगते हैं। उनके इस प्रकार के अभिमान-त्याग से उनका मानसिक एकीकरण क्षण भर में ही हो जाता है। जब तक मनुष्य अपने अभिमान को रखे रहता है, तब तक वह अपनी

अन्तरात्मा से विलग रहता है। जब मनुष्य अपने अभिमान को खो देता है, तब अन्तरात्मा उसे अपनी गोद मे उठा लेती है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य की नैतिकता उसके दूसरे लालसा के समान उसके सिर का बोझ है। यह बोझ उसके जीवन की प्रगति का साधक भी होता है, परन्तु सभी प्रकार के बोझ को उतार कर फेंके बिना मनुष्य आध्यात्म की उच्च चोटी पर नहीं पहुँच पाता—

"सैंया के घर दूर है, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न ठहरे पिपीलिका, तेलो लादे बैल।"

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने पाप और पुण्य दोनों को ही लोहे और सोने की बेड़ियाँ माना है।

जिसे पुण्य का अभिमान होगा, उसे पाप का भी अभिमान अवश्य ही रहेगा। चेतन मन के पुण्य के अभिमान का पूर्तीकरण अर्थात् नैतिक जीवन के अभिमान का पूर्तीकरण मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित पाप-कृति-जनित आत्म-ग्लानि की भावना करता है। अर्थात् जिस मनुष्य को पुण्य-सञ्चय के लिए जितनी ही अधिक बेचैनी रहती है, उसके अचेतन मन मे उतनी ही अधिक किसी पाप-कृति की आत्म-ग्लानि अथवा बेचैनी उपस्थित रहता है। संसार के अधिकतर सुधारकों के जीवन में देखा गया है कि वे अपनी पाप-कृति जन्य घटनाओं के विस्मरण करने के लिए ही अपने एवं जनता के नैतिक सुधार में लगे रहते हैं। जिस मनुष्य को आत्म-सुधार और आत्म-सेवा की सबसे अधिक आवश्यकता रहती है, वही पर-सेवा और परोपकार के काम में व्यस्त रहता है, ताकि अपने नैतिक कार्यों के अभिमान से वह अपने आपको भुलाए रक्खे। मनुष्य का इस तरह का आचरण और उच्च नैतिक मूल्यों की पुकार आत्म-भर्त्सना को भुलाने के साधन मात्र होते हैं।

आध्यात्मिक जगत का सिद्धान्त है कि मनुष्य दूसरे को धोखा देने मे भले ही समर्थ हो जाए, पर वह अपने आप को बहुत दिनों तक धोखे में नहीं रख सकता। मनुष्य की अन्तरात्मा आत्म-शुद्धि के अनेक उपाय रच लेती है और मनुष्य को अनेक प्रकार के कष्ट देकर उसके मन को साफ करती है। जब मनुष्य के मन मे कुछ निर्मलता [illegible] है, तभी उसके मन मे आत्म-

प्रकार जो व्यक्ति अनेक प्रकार के नैतिक सद्गुणों का सचय करता है, उसे अपने नैतिक सद्गुणों की कमी का अनुभव भी उसी अनुपात मे होता है। यदि यत्न करनेवाले किसी व्यक्ति को धन, विद्या या सद्गुणों की कमी का अनुभव होना बन्द हो जाए, तो इन मूल्यों का उसके पास सचित होना भी बन्द हो जाए। ऐसी मनोदशा मे उसके इन मूल्यों का ह्रास होने लगता है। इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य का किसी प्रकार का अभिमान तत्सम्बन्धी विनाश की पूर्वावस्था है। अभिमान पतन का मूल कारण है। ‡

उपर्युक्त मानसिक अवस्था मानसिक असतोष की अवस्था ही है। मनुष्य चाहे यत्न की अवस्था में हो, चाहे अभिमान की अवस्था मे, वह मानसिक खिचाव अथवा असतोष की अवस्था मे ही रहता है। यत्न की अवस्था में यह असतोष मनुष्य की चेतना के समक्ष उपस्थित रहता है और अभिमान की अवस्था में यह असतोष चेतना के नीचे चला जाता है, अर्थात् व्यक्ति ऊपर से तो सतुष्ट रहता है, पर भीतर मन में वह क्षुब्ध रहता है और उसे इस क्षोभ का ज्ञान भी नहीं रहता। किन्तु सभी प्रकार के यत्नों का लक्ष्य कमी के अनुभव को बढाना ही नहीं है, वरन् इस अनुभूति को मिटाना भी है। यदि मनुष्य का विवेक यह जान ले कि किसी प्रकार के मूल्य की प्राप्ति के लिए वह कितना भी यत्न क्यों न करे, उसकी कमी की अनुभूति कभी भी समाप्त नहीं होगी, तो उसका यत्न करना ही अर्थ-हीन हो जाए। अतएव पूर्णता-प्राप्ति की सभावना यत्न करने की मनोस्थिति की प्रथम आवश्यकता है।

यह पूर्णता की अनुभूति किस प्रकार होती है, जिसकी मान्यता नैतिकता-सम्बन्धी यत्न को सार्थक बनाती है। इस पूर्णता की अनुभूति म मनुष्य के व्यक्तित्व का विलीनीकरण समष्टि भाव मे हो जाता है। जब मनुष्य अपने व्यक्तित्व को एक व्यापक तत्त्व का अग मानने लगता है, तब वह अपने थोड़े-से यत्न से भी उतना ही सन्तुष्ट रहता है, जितना भारी यत्न से। किसी भी प्रकार के मूल्य की प्राप्ति के विषय में वह निर्लिप्त-भाव से चेष्टा करता है। जब कवि मिल्टन को पैंतीस साल में ही अधापन आ गया और जब उसे इस बात की ग्लानि हुई कि उसने इतनी प्रतिभा रखते हुए भी समाज की कोई मौलिक

‡ Pride goes before a fall.

समर्पण का भाव आता है। जिस मनुष्य के मन में परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण का भाव आ गया, उसके जीवन के मूल्यों का आमूल परिवर्तन हो जाता है। परमात्मा के प्रति अपने आपको अर्पित किए हुए व्यक्ति के दुर्गुण उसी प्रकार सद्गुण बन जाते हैं जिस प्रकार अभिमानी व्यक्ति के सद्गुण दुर्गुण हो जाते हैं।

उपर्युक्त कथन का इतना ही तात्पर्य है कि मनुष्य के नैतिक मूल्य जीवन के सर्वोच्च मूल्य नहीं हैं। बड़े से बड़े प्रतिष्ठित नैतिक व्यक्ति का जीवन आध्यात्मिक दृष्टि से अति निम्न हो सकता है और जो व्यक्ति जीवन भर दुराचारी रहा है अन्तरात्मा की अनुभूति से वह भी एकाएक महात्मा बन सकता है। शबरी गणिका और सदन कसाई के नैतिक जीवन निम्नकोटि के थे परन्तु उनके आध्यात्मिक जीवन बड़े ही उच्च थे। अंगुलिमाल बाल्मीकि तथा सेंट पाल एकाएक संत बन गए। यह अपने अभिमान से मुक्त होने का ही परिणाम है। वास्तव में नैतिक जीवन की पूर्ति आध्यात्मिक जीवन में होती है और मनुष्य को आध्यात्मिक शान्ति तभी प्राप्त होती है, जब वह नैतिकता के अभिमान से भी मुक्त हो जाता है। इस प्रकार की निरभिमानता मनुष्य को सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों से मुक्त कर देती है।

नैतिक मूल्यों का पारमूल्यीकरण*

नीतिशास्त्र मनुष्य को नैतिक मूल्यों की पहचान कराता और उन्हें उनकी प्राप्ति का उपाय बताता है। प्रत्येक प्रकार के मूल्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को प्रयत्न करना पड़ता है और नैतिक मूल्य की प्राप्ति का अर्थ तो प्रयत्न में ही है। जहाँ जहाँ मनुष्य के मन की अवस्था प्रयत्न की रहती है, वहाँ वहाँ उसे अपने आप में कमी की अनुभूति होती रहती है। कमी और प्रयत्न एक दूसरे के सहगामी हैं। जो मनुष्य अधिक धन प्राप्ति के लिए जितना ही अधिक यत्न करता है बहुत धन संचित कर लेने पर भी उसे धन की कमी की अनुभूति भी उतनी ही अधिक होती है। जो विद्या प्राप्ति का यत्न करता है उसे बहुत विद्या प्राप्त कर लेने पर भी अपनी विद्या में कमी की अनुभूति होती है। इसी

* Trance—valuation of moral values.

प्रकार जो व्यक्ति अनेक प्रकार के नैतिक सद्गुणों का संचय करता है, उसे अपने नैतिक सद्गुणों की कमी का अनुभव भी उसी अनुपात में होता है। यदि यत्न करनेवाले किसी व्यक्ति को धन, विद्या या सद्गुणों की कमी का अनुभव होना बन्द हो जाए, तो इन मूल्यों का उसके पास सचित होना भी बन्द हो जाए। ऐसी मनोदशा में उसके इन मूल्यों का ह्रास होने लगता है। इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य का किसी प्रकार का अभिमान तत्सम्बन्धी विनाश की पूर्वावस्था है। अभिमान पतन का मूल कारण है। ‡

उपर्युक्त मानसिक अवस्था मानसिक असतोष की अवस्था ही है। मनुष्य चाहे यत्न की अवस्था में हो, चाहे अभिमान की अवस्था में, वह मानसिक खिचाव अथवा असतोष की अवस्था मे ही रहता है। यत्न की अवस्था में यह असतोष मनुष्य की चेतना के समक्ष उपस्थित रहता है और अभिमान की अवस्था में यह असतोष चेतना के नीचे चला जाता है, अर्थात् व्यक्ति ऊपर से तो सतुष्ट रहता है, पर भीतर मन में वह क्षुब्ध रहता है और उसे इस क्षोभ का ज्ञान भी नहीं रहता। किन्तु सभी प्रकार के यत्नों का लक्ष्य कमी के अनुभव को बढाना ही नहीं है, वरन् इस अनुभूति को मिटाना भी है। यदि मनुष्य का विवेक यह जान ले कि किसी प्रकार के मूल्य की प्राप्ति के लिए वह कितना भी यत्न क्यो न करे, उसकी कमी की अनुभूति कभी भी समाप्त नहीं होगी, तो उसका यत्न करना ही अर्थ-हीन हो जाए। अतएव पूर्णता-प्राप्ति की सभावना यत्न करने की मनोस्थिति की प्रथम आवश्यकता है।

यह पूर्णता की अनुभूति किस प्रकार होती है, जिसकी मान्यता नैतिकता-सम्बन्धी यत्न को सार्थक बनाती है। इस पूर्णता की अनुभूति म मनुष्य के व्यक्तित्व का विलीनीकरण समष्टि भाव मे हो जाता है। जब मनुष्य अपने व्यक्तित्व को एक व्यापक तत्त्व का अग मानने लगता है, तब वह अपने थोड़े से यत्न से भी उतना ही सन्तुष्ट रहता है, जितना भारी यत्न से। किसी भी प्रकार के मूल्य की प्राप्ति के विषय मे वह निर्लिप्त-भाव से चेष्टा करता है। जब कवि मिल्टन को पैंतीस साल में ही अधापन आ गया और जब उसे इस बात की ग्लानि हुई कि उसने इतनी प्रतिभा रखते हुए भी समाज की कोई मौलिक

‡ Pride goes before a fall.

सेवा नहीं की तब उसे इस विचार से शान्ति दी कि परमात्मा को न तो मनुष्य की किसी सेवा की आवश्यकता है और न उसके लिए हुए मनुष्यों के प्रदान की। परमात्मा का काम अन्य हजार लाखों-करोड़ों जीवधारी कर रहे हैं। कुछ लोग उसके काम को करने के लिए सदा दौड़ते रहते हैं। वे लोग भी परमात्मा की वास्तविक सेवा करते हैं जो उसके दरवाजे पर खड़े होकर उसकी आज्ञा की अपेक्षा करते हैं। जब मनुष्य इस भाव से थोड़ा भी काम करता है, तब उसके नैतिक यत्न का विरोध भय हो जाता है। यहाँ नैतिक मूल्यों का पारमूल्यीकरण हो जाता है। नैतिकता की सर्वो मूर्ति आध्यात्मिक भाव के जागरण में है। नैतिक यत्न करनेवाला संत जब तक अपने आपको परमात्मा के प्रति अर्पित नहीं करता, तब तक उसे मानसिक असंतोष बना ही रहता है और किसी असंतोष को दमन के लिए वह जितना ही यत्न करता है वह असंतोष उतना ही बढ़ता जाता है। जब मनुष्य इस प्रकार के यत्न से असंतोष के मिटने की संभावना नहीं देखता तब वह एक ऐसे तत्व की कल्पना करता है जो अपने आप में सभी प्रकार से पूर्ण है। इस प्रकार के तत्व की कल्पना ही उसके मन में पूर्णता का अनुभव कराती है। यहाँ मनुष्य की कल्पना और उसकी आत्मा दो नहीं रहते वरन् एक ही हो जाते हैं।

इमरसन महाशय का कथन है कि दार्शनिक, कवि और संत के लिए सभी वस्तुएँ मित्र और पवित्र हैं सभी घटनाएँ लाभदायक हैं सभी दिन दिव्य और सभी मनुष्य दैविक हैं।* यह मनोस्थिति पूर्णता की अनुभूति को चित्रित करती है। यह स्थिति आध्यात्मिक भाव से उत्पन्न होती है। इस स्थिति की प्राप्ति में नैतिक यत्न का निराकरण नहीं होता किन्तु नैतिक यत्न सहज रूप से होने लगता है। सच्चा संत वह है जिसको लोक-कल्याण के कार्य करने में किसी प्रकार के मानसिक खिंचाव की अनुभूति नहीं होती। वो लोक कल्याण अथवा नैतिक कार्य इसी सहज भाव से करते हैं जिस सहज भाव से सामान्य पुरुष अपने नैसर्गिक कार्य करते हैं और उन्हें इन कामों के वैसे ही

*To th philosopher to the poet, and to the Sant all things are friendly and sacred all events profitable all days holy and all men divine.

सहज आनन्द की अनुभूति होती है, जिस प्रकार का सहज आनन्द प्राकृतिक प्रवृत्तियों की तृप्ति में सामान्य मनुष्य को होता है। इस तरह सत पुरुष न तो नैतिक यत्न से उदासीन ही रहता है और न वह नैतिक मूल्यों का निमूर्ल्यीकरण ही करता है, वरन् वह नैतिक कार्य करते हुए भी उन कार्यों का अभिमान नहीं करता। जैसा कि कृष्ण भगवान ने कहा है कि ससार म अर्थात् तीनों लोक मे ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मुझे प्राप्य न हो, फिर भी मै सब समय हा काम में लगा रहता हूँ। महात्मा अथवा तत्त्वदर्शी को अपने काम से अपना कोई लाभ नहीं होता। उसके काम से दूसरों का लाभ होता है। तत्त्वदर्शी की क्रियाएँ दूसरे लोगों को काम करने के लिए प्रोत्साहित करती है और इस तरह सामाजिक सगठन और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा बनी रहती है। इस प्रकार की मनोदशा की प्राप्ति नैतिकता की अवहेलना से नहीं उत्पन्न होती और न नैतिक यत्न से उदासीन रहने से हो, वरन् यह नैतिक अभ्यास को इतना बढ़ाने से होती है कि वह सहज रूप से बिना यत्न के होन लगे। जब नैतिकता मनुष्य का सहज स्वभाव बन जाती है, तब मनुष्य नैतिकता के परे चला जाता है और वह दैविक व्यक्ति बन जाता है।

नैतिकता की अनिवार्यता

उपर्युक्त पक्तियों में नैतिकता के विषय मे हमने जो कुछ कहा है, उससे नैतिकता की व्यर्थता न सिद्ध होकर उसकी अनिवार्यता ही सिद्ध होती है। मनुष्य अपने जीवन को नैतिक बनाए बिना ऐसे किसी तात्विक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता, जो उसे स्थायी शान्ति प्रदान करे। इमेनुअल कान्ट ने तत्त्व-ज्ञान में बौद्धिक विचार की कमी को दिखाकर यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि तत्त्व अपरोक्ष अनुभूति की वस्तु है और इस अपरोक्ष अनुभूति का आधार मनुष्य का नैतिक जीवन ही है। जिस व्यक्ति को नैतिक आचरण के विषय में श्रद्धा नहीं रहती, नैतिकता मे जिसका न तो निश्चित मत रहता है और न जिसका आचरण नैतक नियमानुकूल है, उसे तत्व-दर्शन नहीं होते हैं। मनुष्य की नैतिकता की आवश्यकता ही यह दर्शाता है कि उसके नैतिक जीवन के

यं वर्धयन्तीद् गिरः पतिं तुरस्य राधसः ।
तमिन्न्वस्य रोदसी देवी शुष्मं सपर्यतः ५ [१६]

तद् व उक्थस्य बर्हणे न्द्रायोपस्तृणीषणि ।
विपो न यस्योतयो वि यद् रोहन्ति सक्षितः ६

अविदद् दक्षं मित्रो नवीयान् पपानो देवेभ्यो वस्यो अचैत् ।
ससवान् त्स्तौलाभिर्धौतरीभि रुरुष्या पायुरभवत् सखिभ्यः ७

ऋतस्य पथि वेधा अपायि श्रिये मनांसि देवासो अक्रन् ।
दधानो नाम महो वचोभि र्वपुर्दृशये वेन्यो व्यावः ८

द्युमत्तमं दक्षं धेह्यस्मे सेधा जनानां पूर्वीररातीः ।
वर्षीयो वयः कृणुहि शचीभि र्धनस्य सातावस्माँ अविड्ढि ९

इन्द्र तुभ्यमिन्मघवन्नभूम वयं दात्रे हरिवो मा वि वेनः ।
नकिरापिर्ददृशे मर्त्यत्रा किमङ्ग रध्रचोदनं त्वाहुः १० [१७]

मा जस्वने वृषभ नो ररीथा मा ते रेवतः सख्ये रिषाम ।
पूर्वीष्ट इन्द्र निष्षिधो जनेषु जह्यसुष्वीन् प्र वृहापृणतः ११

उदभ्राणीव स्तनयन्नियर्ती न्द्रो राधांस्यश्व्यानि गव्या ।
त्वमसि प्रदिवः कारुधाया मा त्वादामान आ दभन् मघोनः १२

अध्वर्यो वीर प्र महे सुताना मिन्द्राय भर स ह्यस्य राजा ।
यः पूर्व्याभिरुत नूतनाभि र्गीर्भिर्वावृधे गृणतामृषीणाम् १३

अस्य मदे पुरु वर्पांसि विद्वा निन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघान
तमु प्र होषि मधुमन्तमस्मै सोमं वीराय शिप्रिणे पिबध्यै १४

पाता सुतमिन्द्रो अस्तु सोमं हन्ता वृत्रं वज्रेण मन्दसानः ।
गन्ता यज्ञं परावतश्चिदच्छा वसुर्धीनामविता कारुधायाः १५ [१८]

इदं त्यत् पात्रमिन्द्रपान मिन्द्रस्य प्रियममृतमपायि ।
मत्सद् यथा सौमनसाय देवं व्य१स्मद् द्वेषो युयवद् व्यंहः १६

एना मन्दानो जहि शूर शत्रू ञ्जामिमजामिं मघवन्नमित्रान् ।
अभिषेणाँ अभ्या३देदिशाना न् पराच इन्द्र प्र मृणा जही च १७

आसु ष्मा णो मघवन्निन्द्र पृ त्स्व१स्मभ्यं महि वरिवः सुगं कः ।
अपां तोकस्य तनयस्य जेष इन्द्र सूरीन् कृणुहि स्मा नो अर्धम् १८

धीभिरर्वद्भिरर्वतो वाजाँ इन्द्र श्रवाय्यान् । त्वया जेष्म हितं धनम् १२
अभूरु वीर गिर्वणो महाँ इन्द्र धने हिते । भरे वितन्तसाय्यः १३
या त ऊतिरमित्रहन् मक्षूजवस्तमासति । तया नो हिनुही रथम् १४
स रथेन रथीतमो ऽस्माकेनाभियुग्वना । जेषि जिष्णो हितं धनम् १५ [२३]

य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः । पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः १६
यो गृणतामिदासिथा ऽऽपिरूती शिवः सखा । स त्वं न इन्द्र मृळय १७
धिष्व वज्रं गभस्त्यो रक्षोहत्याय वज्रिवः । सासहीष्ठा अभि स्पृधः १८
प्रत्नं रयीणां युजं सखायं कीरिचोदनम् । ब्रह्मवाहस्तमं हुवे १९
स हि विश्वानि पार्थिवाँ एको वसूनि पत्यते । गिर्वणस्तमो अध्रिगुः २० [२४]

स नो नियुद्भिरा पृण कामं वाजेभिरश्विभिः । गोमद्भिर्गोपते धृषत् २१
तद् वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने । शं यद् गवे न शाकिने २२
न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः । यत् सीमुप श्रवद् गिरः २३
कुवित्सस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत् । शचीभिरप नो वरत् २४
इमा उ त्वा शतक्रतो ऽभि प्र णोनुवुर्गिरः । इन्द्र वत्सं न मातरः २५ [२५]

दूणाशं सख्यं तव गौरसि वीर गव्यते । अश्वो अश्वायते भव २६
स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा महे । न स्तोतारं निदे करः २७
इमा उ त्वा सुतेसुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः । वत्सं गावो न धेनवः २८
पुरूतमं पुरूणां स्तोतॄणां विवाचि । वाजेभिर्वाजयताम् २९
अस्माकमिन्द्र भूतु ते स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः । अस्मान् राये महे हिनु ३०
अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात् । उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः ३१
यस्य वायोरिव द्रवद् भद्रा रातिः सहस्रिणी । सद्यो दानाय मंहते ३२
तत् सु नो विश्वे अर्य आ सदा गृणन्ति कारवः । बृबुं सहस्रदातमं सूरिं सहस्रसातमम्
३३ [२६] (४३६)

(४६)

१४ शंयुर्बार्हस्पत्यः । इन्द्रः । प्रगाथः (=विषमा बृहती, समा सतोबृहती)

त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नर स्त्वां काष्ठास्वर्वतः १ (४३७)

(४७)

३१ गर्गो भारद्वाजः । इन्द्रः, १-५ सोमः, २० देव-भूमि-बृहस्पतीन्द्रा , २२-२५ सार्ञ्जयः प्रस्तोक (दानस्तुतिः), २६-२८ रथः, २९-३० दुन्दुभिः, ३१ दुन्दुभीन्द्रौ । त्रिष्टुप्, १९ बृहती, २३ अनुष्टुप्, २४ गायत्री, २५ द्विपदा त्रिष्टुप्, २७ जगती ।

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम् ।
उतो न्व१स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥ १

अयं स्वादुरिह मदिष्ठ आस यस्येन्द्रो वृत्रहत्ये ममाद ।
पुरूणि यश्च्यौत्ना शम्बरस्य वि नवतिं नव च देह्यो३ हन् ॥ २

अयं मे पीत उदियर्ति वाचमयं मनीषामुशतीमजीगः ।
अयं षळुर्वीरमिमीत धीरो न याभ्यो भुवनं कच्चनारे ॥ ३

अयं स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सः ।
अयं पीयूषं तिसृषु प्रवत्सु सोमो दाधारोर्व१न्तरिक्षम् ॥ ४

अयं विदच्चित्रदृशीकमर्णः शुक्रसद्मनामुषसामनीके ।
अयं महान् महता स्कम्भनेनोद् द्यामस्तभ्नाद् वृषभो मरुत्वान् ॥ ५ [३०]

धृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम् ।
माध्यंदिने सवन आ वृषस्व रयिस्थानो रयिमस्मासु धेहि ॥ ६

इन्द्र प्र णः पुरएतेव पश्य प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ ।
भवा सुपारो अतिपारयो नो भवा सुनीतिरुत वामनीतिः ॥ ७

उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप स्थेयाम शरणा बृहन्ता ॥ ८

वरिष्ठे न इन्द्र वन्धुरे धा वहिष्ठयोः शतावन्नश्वयोरा ।
इषमा वक्षीषां वर्षिष्ठां मा नस्तारीन्मघवन् रायो अर्यः ॥ ९

इन्द्र मृळ मह्यं जीवातुमिच्छ चोदय धियमयसो न धाराम् ।
यत् किं चाहं त्वायुरिदं वदामि तज्जुषस्व कृधि मा देववन्तम् ॥ १० [३१]

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥ ११

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृळीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ १२

ऋ० ४७

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय २८
उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून् २९
आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा निः ष्टनिहि दुरिता बाधमानः ।
अप प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना इत इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीळयस्व ३०
आमूरज प्रत्यावर्तयेमाः केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीति ।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरो ऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ३१ [१५] (४८१)

[अष्टमोऽध्यायः ॥८॥ व० १-३१] (४८)

२२ शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिः)। १-१० अग्निः, ११-१५, २०-२१ मरुतः (१३-१५ लिंगोक्ता वा), १६-१९ पूषा, २२ द्यावाभूमी वा पृश्निर्वा । प्रगाथः= (१, ३ बृहती; २, ४ सतोबृहती; ५ बृहती, ६ महासतोबृहती; ७ महाबृहती, ८ महासतोबृहती, ९ बृहती, १० सतोबृहती; ११ ककुप्, १२ सतोबृहती), १३ पुरउष्णिक्, १४ बृहती, १५ अतिजगती, १६ ककुप्, १७ सतोबृहती, १८ पुरउष्णिक्, १९-२० बृहती, २१ महाबृहती यवमध्या, २२ अनुष्टुप् ।

यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे । प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् १
ऊर्जो नपातं स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये ।
भुवद् वाजेष्वविता भुवद् वृध उत त्राता तनूनाम् २
वृषा ह्यग्ने अजरो महान् विभास्यर्चिषा ।
अजस्रेण शोचिषा शोशुचच्छुचे सुदीतिभिः सु दीदिहि ३
महो देवान् यजसि यक्ष्यानुषक् तव क्रत्वोत दंसना ।
अर्वाचः सीं कृणुह्यग्नेऽवसे रास्व वाजोत वंस्व ४
यमापो अद्रयो वना गर्भमृतस्य पिप्रति ।
सहसा यो मथितो जायते नृभिः पृथिव्या अधि सानवि ५ [१]
आ यः पप्रौ भानुना रोदसी उभे धूमेन धावते दिवि ।
तिरस्तमो ददृश ऊर्म्यास्वा श्यावास्वरुषो वृषा श्यावा अरुषो वृषा ६
बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत् पावक दीदिहि ७
विश्वासां गृहपतिर्विशामसि त्वमग्ने मानुषीणाम् ।
शतं पूर्भिर्यविष्ठ पाह्यंहसः समेद्धारं शतं हिमाः स्तोतृभ्यो ये च ददति ८ (४८९)

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय २८
उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून् २९
आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा निः ष्टनिहि दुरिता बाधमानः ।
अप प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना इत इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीळयस्व ३०
आमूरज प्रत्यावर्तयेमाः केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीति ।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ३१ [१५] (४८१)

[अष्टमोऽध्यायः ॥८॥ व० १-३१] (४८)

११ शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिः)। १-१० अग्निः, ११-१५, २०-२१ मरुत (१३-१५ लिंगोक्ता वा), १६-१९ पूषा, २२ द्यावाभूमी वा पृश्निर्वा । प्रगाथः= (१, ३ बृहती, २, ४ सतोबृहती, ५ बृहती, ६ महासतोबृहती, ७ महाबृहती, ८ महासतोबृहती, ९ बृहती, १० सतोबृहती, ११ ककुप्, १२ सतोबृहती), १३ पुरउष्णिक्, १४ बृहती, १५ अतिजगती, १६ ककुप्, १७ सतोबृहती, १८ पुरउष्णिक्, १९-२० बृहती, २१ महाबृहती यवमध्या, २२ अनुष्टुप् ।

यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे । प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् १
ऊर्जो नपातं स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये ।
भुवद् वाजेष्वविता भुवद् वृध उत त्राता तनूनाम् २
वृषा ह्यग्ने अजरो महान् विभास्यर्चिषा ।
अजस्रेण शोचिषा शोशुचच्छुचे सुदीतिभिः सु दीदिहि ३
महो देवान् यजसि यक्ष्यानुषक् तव क्रत्वोत दंसना ।
अर्वाचः सीं कृणुह्यग्नेऽवसे रास्व वाजोत वंस्व ४
यमापो अद्रयो वना गर्भमृतस्य पिप्रति ।
सहसा यो मथितो जायते नृभिः पृथिव्या अधि सानवि ५ [१]
आ यः पप्रौ भानुना रोदसी उभे धूमेन धावते दिवि ।
तिरस्तमो ददृश ऊर्म्यास्वा श्यावास्वरुषो वृषा श्यावा अरुषो वृषा ६
बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत् पावक दीदिहि ७
विश्वासां गृहपतिर्विशामसि त्वमग्ने मानुषीणाम् ।
शतं पूर्भिर्यविष्ठ पाह्यंहसः समेद्धारं शतं हिमाः स्तोतृभ्यो ये च ददति ८

प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारं रथप्राम् ।
द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो ४
स मे वपुश्छदयदश्विनोर्यो रथो विरुक्मान् मनसा युजानः ।
येन नरा नासत्येषयध्यै वर्तिर्याथस्तनयाय त्मने च ५ [५]

पर्जन्यवाता वृषभा पृथिव्याः पुरीषाणि जिन्वतमप्यानि ।
सत्यश्रुतः कवयो यस्य गीर्भिर्जगतः स्थातर्जगदा कृणुध्वम् । ६
पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात ।
ग्नाभिरच्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यंसत् ७
पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानळर्कम् ।
स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा ८
प्रथमभाजं यशसं वयोधां सुपाणिं देवं सुगभस्तिमृभ्वम् ।
होता यक्षद् यजतं पस्त्यानामग्निस्त्वष्टारं सुहवं विभावा ९
भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ ।
बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृधग्घुवेम कविनेषितासः १० [६]

आ युवानः कवयो यज्ञियासो मरुतो गन्त गृणतो वरस्याम् ।
अचित्रं चिद्धि जिन्वथा वृधन्त इत्था नक्षन्तो नरो अङ्गिरस्वत् ११
प्र वीराय प्र तवसे तुरायाजा यूथेव पशुरक्षिरस्तम् ।
स पिस्पृशति तन्वि श्रुतस्य स्तृभिर्न नाकं वचनस्य विपः १२
यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद् विष्णुर्मनवे बाधिताय ।
तस्य ते शर्मन्नुपदद्यमाने राया मदेम तन्वा३ तना च १३
तन्नोऽहिर्बुध्न्यो अद्भिरर्कैस्तत् पर्वतस्तत् सविता चनो धात् ।
तदोषधीभिरभि रातिषाचो भगः पुरंधिर्जिन्वतु प्र राये १४
नू नो रयिं रथ्यं चर्षणिप्रां पुरुवीरं मह ऋतस्य गोपाम् ।
क्षयं दाताजरं येन जनान् त्स्पृधो अदेवीरभि च क्रमाम विश आदेवीरभ्य१श्नवाम १५ [७] (५१८)

(५०) [पञ्चमोऽनुवाकः ॥५॥ सू० ५०-६१]

१५ ऋजिश्वा भारद्वाजः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् ।

हुवे वो देवीमदितिं नमोभिर्मृळीकाय वरुणं मित्रमग्निम् ।
अभिक्षदामर्यमणं सुशेवं त्रातॄन् देवान् त्सवितारं भगं च १ (५१९)

(५१)

१६ ऋजिश्वा भारद्वाजः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप्, १३-१५ उष्णिक्, १६ अनुष्टुप्।

उदु त्यच्चक्षुर्महि मित्रयोराँ एति प्रियं वरुणयोरदब्धम् ।
ऋतस्य शुचि दर्शतमनीकं रुक्मो न दिव उदिता व्यद्यौत् १

वेद यस्त्रीणि विदथान्येषां देवानां जन्म सनुतरा च विप्रः ।
ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्नभि चष्टे सूरो अर्य एवान् २

स्तुष उ वो मह ऋतस्य गोपानदितिं मित्रं वरुणं सुजातान् ।
अर्यमणं भगमदब्धधीतीनच्छा वोचे सधन्यः पावकान् ३

रिशादसः सत्पतीँरदब्धान् महो राज्ञः सुवसनस्य दातॄन् ।
यूनः सुक्षत्रान् क्षयतो दिवो नॄनादित्यान् याम्यदितिं दुवोयु ४

द्यौ३ष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः ।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त ५ [११]

मा नो वृकाय वृक्ये समस्मा अघायते रीरधता यजत्राः ।
यूयं हि ष्ठा रथ्यो नस्तनूनां यूयं दक्षस्य वर्चसो बभूव ६

मा व एनो अन्यकृतं भुजेम मा तत् कर्म वसवो यच्चयध्वे ।
विश्वस्य हि क्षयथ विश्वदेवाः स्वयं रिपुस्तन्वं रीरिषीष्ट ७

नम इदुग्रं नम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ।
नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कृतं चिदेनो नमसा विवासे ८

ऋतस्य वो रथ्यः पूतदक्षानृतस्य पस्त्यसदो अदब्धान् ।
ताँ आ नमोभिरुरुचक्षसो नॄन् विश्वान्व आ नमे महो यजत्राः ९

ते हि श्रेष्ठवर्चसस्त उ नस्तिरो विश्वानि दुरिता नयन्ति ।
सुक्षत्रासो वरुणो मित्रो अग्निरृतधीतयो वक्मराजसत्याः १० [१२]

ते न इन्द्रः पृथिवी क्षाम वर्धन् पूषा भगो अदितिः पञ्च जनाः ।
सुशर्माणः स्ववसः सुनीथा भवन्तु नः सुत्रात्रासः सुगोपाः ११

नू सद्मानं दिव्यं नंशि देवा भारद्वाजः सुमतिं याति होता ।
आसानेभिर्यजमानो मियेधैर्देवानां जन्म वसूयुर्ववन्द १२

अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् । दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् १३

(५१)

१६ ऋजिश्वा भारद्वाजः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप्, १३-१५ उष्णिक्, १६ अनुष्टुप् ।

उदु त्यच्चक्षुर्महि मित्रयोराँ एति प्रियं वरुणयोरदब्धम् ।
ऋतस्य शुचि दर्शतमनीकं रुक्मो न दिव उदिता व्यद्यौत् १
वेद यस्त्रीणि विदथान्येषां देवानां जन्म सनुतरा च विप्रः ।
ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्नभि चष्टे सूरो अर्य एवान् २
स्तुष उ वो मह ऋतस्य गोपानदितिं मित्रं वरुणं सुजातान् ।
अर्यमणं भगमदब्धधीतीनच्छा वोचे सधन्यः पावकान् ३
रिशादसः सत्पतींरदब्धान् महो राज्ञः सुवसनस्य दातॄन् ।
यूनः सुक्षत्रान् क्षयतो दिवो नॄनादित्यान् याम्यदितिं दुवोयु ४
द्यौ३ष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः ।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त ५ [११]

मा नो वृकाय वृक्ये समस्मा अघायते रीरधता यजत्राः ।
यूयं हि ष्ठा रथ्यो नस्तनूनां यूयं दक्षस्य वचसो बभूव ६
मा व एनो अन्यकृतं भुजेम मा तत् कर्म वसवो यच्चयध्वे ।
विश्वस्य हि क्षयथ विश्वदेवाः स्वयं रिपुस्तन्वं रीरिषीष्ट ७
नम इदुग्रं नम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ।
नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कृतं चिदेनो नमसा विवासे ८
ऋतस्य वो रथ्यः पूतदक्षानृतस्य पस्त्यसदो अदब्धान् ।
ताँ आ नमोभिरुरुचक्षसो नॄन् विश्वान्व आ नमे महो यजत्राः ९
ते हि श्रेष्ठवर्चसस्त उ नस्तिरो विश्वानि दुरिता नयन्ति ।
सुक्षत्रासो वरुणो मित्रो अग्निर्ऋतधीतयो वक्मराजसत्याः १० [१२]

ते नु इन्द्रः पृथिवी क्षाम वर्धन् पूषा भगो अदितिः पञ्च जनाः ।
सुशर्माणः स्ववसः सुनीथा भवन्तु नः सुत्रात्रासः सुगोपाः ११
नू सद्मानं दिव्यं नंशि देवा भारद्वाजः सुमतिं याति होता ।
आसानेभिर्यजमानो मियेधैर्देवानां जन्म वसूयुर्ववन्द १२
अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् । दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् १३

ये के च ज्मा महिनो अहिमाया दिवो जज्ञिरे अपां सधस्थे ।
ते अस्मभ्यमिषये विश्वमायुः क्षप उस्रा वरिवस्यन्तु देवाः १५
अग्नीपर्जन्याववतं धियं मे ऽस्मिन् हवे सुहवा सुष्टुतिं नः ।
इळामन्यो जनयद् गर्भमन्यः प्रजावतीरिष आ धत्तमस्मे १६
स्तीर्णे बर्हिषि समिधाने अग्नौ सूक्तेन महा नमसा विवासे ।
अस्मिन् नो अद्य विदथे यजत्रा विश्वे देवा हविषि मादयध्वम् १७ [१६] (५६६)

(५३)

१० बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । पूषा । गायत्री, ८ अनुष्टुप् ।

वयमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये । धिये पूषन्नयुज्महि १
अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम् । वामं गृहपतिं नय २
अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय । पणेश्चिद् वि म्रदा मनः ३
वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि । साधन्तामुग्र नो धियः ४
परि तृन्धि पणीना मारया हृदया कवे । अथेमस्मभ्यं रन्धय ५ [१७]

वि पूषन्नारया तुद पणेरिच्छ हृदि प्रियम् । अथेमस्मभ्यं रन्धय ६
आ रिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे । अथेमस्मभ्यं रन्धय ७
यां पूषन् ब्रह्मचोदनी मारां बिभर्ष्याघृणे । तया समस्य हृदय मा रिख किकिरा कृणु ८
या ते अष्ट्रा गोओपशा ऽऽघृणे पशुसाधनी । तस्यास्ते सुम्नमीमहे ९
उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत । नृवत् कृणुहि वीतये १० [१८] (५७६)

(५४)

१० बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । पूषा । गायत्री ।

सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति । य एवेदमिति ब्रवत् १
समु पूष्णा गमेमहि यो गृहाँ अभिशासति । इम एवेति च ब्रवत् २
पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते । नो अस्य व्यथते पविः ३
यो अस्मै हविषाविध न तं पूषापि मृष्यते । प्रथमो विन्दते वसु ४
पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः । पूषा वाजं सनोतु नः ५ [१९]
पूषन्ननु प्र गा इहि यजमानस्य सुन्वतः । अस्माकं स्तुवतामुत ६ (५८१)

तां पूष्णः सुमतिं वयं वृक्षस्य प्र वयामिव । इन्द्रस्य चा रभामहे ५
उत पूषणं युवामहे ऽभीशूँरिव सारथिः । मह्या इन्द्रं स्वस्तये ६ [२३] (६०७)

(५८)

४ बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । पूषा । त्रिष्टुप्, २ जगती ।

शुक्रं ते अन्यद् यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि ।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु १
अजाश्वः पशुपा वाजपस्त्यो धियंजिन्वो भुवने विश्वे अर्पितः
अष्ट्रां पूषा शिथिरामुद्वरीवृजत् संचक्षाणो भुवना देव ईयते २
यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति ।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः ३
पूषा सुबन्धुर्दिव आ पृथिव्या इळस्पतिर्मघवा दस्मवर्चाः ।
यं देवासो अददुः सूर्यायै कामेन कृतं तवसं स्वञ्चम् ४ [२४] (६०८)

(५९)

१० बार्हस्पत्यो भरद्वाज । इन्द्राग्नी । बृहती, ७-१० अनुष्टुप् ।

प्र नु वोचा सुतेषु वां वीर्या यानि चक्रथुः ।
हतासो वां पितरो देवशत्रव इन्द्राग्नी जीवथो युवम् १
बळित्था महिमा वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ ।
समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा २
ओकिवांसा सुते सचाँ अश्वा सप्ती इवादने ।
इन्द्रा न्वग्नी अवसेह वज्रिणा वयं देवा हवामहे ३
य इन्द्राग्नी सुतेषु वां स्तवत् तेष्वृतावृधा ।
जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा न देवा भसथश्चन ४
इन्द्राग्नी को अस्य वां देवौ मर्तश्चिकेतति ।
विषूचो अश्वान् युयुजान ईयत एकः समान आ रथे ५ [२५]

इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात् पद्वतीभ्यः । हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत् त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत् ६
इन्द्राग्नी आ हि तन्वते नरो धन्वानि बाह्वोः । मा नो अस्मिन् महाधने परा वर्क्तं गविष्टिषु
७ (६१५)

(६१)

१४ बार्हस्पत्यो भरद्वाज । सरस्वती । गायत्री, १-३, १३ जगती, १४ त्रिष्टुप् ।

इयमददाद् रभसमृणच्युतं दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे ।
या शश्वन्तमाचखादावसं पणिं ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति १
इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः ।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः २
सरस्वति देवनिदो नि बर्हय प्रजां विश्वस्य बृसयस्य मायिनः ।
उत क्षितिभ्योऽवनीरविन्दो विषमेभ्यो अस्रवो वाजिनीवति ३
प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । धीनामवित्र्यवतु ४
यस्त्वा देवि सरस्वत्युपब्रूते धने हिते । इन्द्रं न वृत्रतूर्ये ५ [२०]

त्वं देवि सरस्वत्यवा वाजेषु वाजिनि । रदा पूषेव नः सनिम् ६
उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः । वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम् ७
यस्या अनन्तो अह्रुतस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः । अमश्चरति रोरुवत् ८
सा नो विश्वा अति द्विषः स्वसॄरन्या ऋतावरी । अतन्नहेव सूर्यः ९
उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा । सरस्वती स्तोम्या भूत् १० [२१]

आपप्रुषी पार्थिवान्युरु रजो अन्तरिक्षम् । सरस्वती निदस्पातु ११
त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता वर्धयन्ती । वाजेवाजे हव्या भूत् १२
प्र या महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा ।
रथ इव बृहती विभ्वने कृतोपस्तुत्या चिकितुषा सरस्वती १३
सरस्वत्यभि नो नेषि वस्यो माप स्फरीः पयसा मा न आ धक् ।
जुषस्व नः सख्या वेश्या च मा त्वत् क्षेत्राण्यरणानि गन्म १४ [२२] (६४७)

॥ इति चतुर्थोऽष्टकः ॥ ४ ॥

॥ अथ पञ्चमोऽष्टकः ॥ ५ ॥

[प्रथमोऽध्यायः ॥१॥ व० १-२७] (६२) [षष्ठोऽनुवाकः ॥६॥ सू० ६२-७५]

११ बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । अश्विनौ । त्रिष्टुप् ।

स्तुषे नरा दिवो अस्य प्रसन्ताश्विना हुवे जरमाणो अर्कैः ।
या सद्य उस्रा व्युषि ज्मो अन्तान् युयूषतः पर्युरू वरांसि १
ता यज्ञमा शुचिभिश्चक्रमाणा रथस्य भानुं रुरुचू रजोभिः ।
पुरू वरांस्यमिता मिमानापो धन्वान्यति याथो अज्रान् २ (६४९)

ऊर्ध्वो वामग्निरध्वरेष्वस्थात् प्र रातिरेति जूर्णिनी घृताची ।
प्र होता गूर्तमना उराणो ऽयुक्त यो नासत्या हवीमन् ४

अधि श्रिये दुहिता सूर्यस्य रथं तस्थौ पुरुभुजा शतोतिम् ।
प्र मायाभिर्मायिना भूतमत्र नरा नृतू जनिमन् यज्ञियानाम् ५ [३]

युवं श्रीभिर्दर्शताभिराभिः शुभे पुष्टिमूहथुः सूर्यायाः ।
प्र वां वयो वपुषेऽनु पप्तन् नक्षद् वाणी सुष्टुता धिष्ण्या वाम् ६

आ वां वयोऽश्वासो वहिष्ठा अभि प्रयो नासत्या वहन्तु ।
प्र वां रथो मनोजवा असर्जी—षः पृक्ष इषिधो अनु पूर्वीः ७

पुरु हि वां पुरुभुजा देष्णं धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम् ।
स्तुतश्च वां माध्वी सुष्टुतिश्च रसाश्च ये वामनु रातिमग्मन् ८

उत म ऋज्रे पुरयस्य रघ्वी सुमीळ्हे शतं पेरुके च पक्वा ।
शाण्डो दाद्धिरणिनः स्मद्दिष्टीन् दश वशासो अभिषाच ऋष्वान् ९

सं वां शता नासत्या सहस्रा ऽश्वानां पुरुपन्था गिरे दात् ।
भरद्वाजाय वीर नू गिरे दा—द्धता रक्षांसि पुरुदंससा स्युः १०

आ वां सुम्ने वरिमन्त्सूरिभिः ष्याम् ११ [४] (६६९)

(६४)

६ बार्हस्पत्यो भरद्वाज । उषाः । त्रिष्टुप् ।

उदु श्रिय उषसो रोचमाना अस्थुरपां नोर्मयो रुशन्तः ।
कृणोति विश्वा सुपथा सुगा—न्यभूदु वस्वी दक्षिणा मघोनी १

भद्रा ददृक्ष उर्विया वि भा—स्युत् ते शोचिर्भानवो द्यामपप्तन् ।
आविर्वक्षः कृणुषे शुम्भमानो—षो देवि रोचमाना महोभिः २

वहन्ति सीमरुणासो रुशन्तो गावः सुभगामुर्विया प्रथानाम् ।
अपेजते शूरो अस्तेव शत्रून् बाधते तमो अजिरो न वोळ्हा ३

सुगोत ते सुपथा पर्वते—ष्ववाते अपस्तरसि स्वभानो ।
सा न आ वह पृथुयामन्नृष्वे रयिं दिवो दुहितरिषयध्यै ४

सा वह योक्षभिरवातो—षो वरं वहसि जोषमनु ।
त्वं दिवो दुहितर्या ह देवी पूर्वहूतौ मंहना दर्शता भूः ५ (६७४)

मक्षू न येषु दोहसे चिदया आ नाम धृष्णु मारुतं दधानाः।
न ये स्तौना अयासो मह्ना नू चित्सुदानुरव यासदुग्रान् ५ [७]

त इदुग्राः शवसा धृष्णुषेणा उभे युजन्त रोदसी सुमेके।
अध स्मैषु रोदसी स्वशोचिरामवत्सु तस्थौ न रोकः ६
अनेनो वो मरुतो यामो अस्त्वनश्वश्चिद्यमजत्यरथीः।
अनवसो अनभीशू रजस्तूर्वि रोदसी पथ्या याति साधन् ७
नास्य वर्ता न तरुता न्वस्ति मरुतो यमवथ वाजसातौ।
तोके वा गोषु तनये यमप्सु स व्रजं दर्ता पार्ये अध द्योः ८
प्र चित्रमर्कं गृणते तुराय मारुताय स्वतवसे भरध्वम्।
ये सहांसि सहसा सहन्ते रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः ९
त्विषीमन्तो अध्वरस्येव दिद्युत्तृषुच्यवसो जुह्वो नाग्नेः।
अर्चत्रयो धुनयो न वीरा भ्राजज्जन्मानो मरुतो अधृष्टाः १०
तं वृधन्तं मारुतं भ्राजदृष्टिं रुद्रस्य सूनुं हवसा विवासे।
दिवः शर्धाय शुचयो मनीषा गिरयो नाप उग्रा अस्पृध्रन् ११ [८] (४९२)

(६०)

११ बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। मित्रावरुणौ। त्रिष्टुप्।

विश्वेषां वः सतां ज्येष्ठतमा गीर्भिर्मित्रावरुणा वावृधध्यै।
सं या रश्मेव यमतुर्यमिष्ठा द्वा जनाँ असमा बाहुभिः स्वैः १
इयं मद्वां प्र स्तृणीते मनीषोप प्रिया नमसा बर्हिरच्छ।
यन्तं नो मित्रावरुणावधृष्टं छर्दिर्यद्वां वरूथ्यं सुदानू २
आ यातं मित्रावरुणा सुशस्त्युप प्रिया नमसा हूयमाना।
सं यावप्नःस्थो अपसेव जनाञ्छ्रुधीयतश्चिद्यतथो महित्वा ३
अश्वा न या वाजिना पूतबन्धू ऋता यद्गर्भमदितिर्भरध्यै।
प्र या महि महान्ता जायमाना घोरा मर्ताय रिपवे नि दीधः ४
विश्वे यद्वां मंहना मन्दमानाः क्षत्रं देवासो अदधुः सजोषाः।
परि यद्भूथो रोदसी चिदुर्वी सन्ति स्पशो अदब्धासो अमूराः ५ [९]

ता हि क्षत्रं धारयेथे अनु द्यून्दृंहेथे सानुमुपमादिव द्योः।
दृळ्हो नक्षत्र उत विश्वदेवो भूमिमातान्द्यां धासिनायोः ६ (४९८)

नू न॑ इन्द्रावरुणा गृणा॒ना पृ॒ङ्क्तं र॒यिं सौ॑श्रव॒साय॑ देवा ।
इ॒त्था गृ॒णन्तो॑ म॒हिन॑स्य॒ शर्धो॒ ऽपो न ना॒वा दु॑रि॒ता त॑रेम ८

प्र स॒म्राजे॑ बृह॒ते मन्म॒ नु प्रि॒य मर्च॑ दे॒वाय॒ वरु॑णाय स॒प्रथः॑ ।
अ॒यं य उ॒र्वी म॑हि॒ना महि॑व्रतः॒ क्रत्वा॑ वि॒भात्य॒जरो॒ न शो॒चिषा॑ ९

इन्द्रा॑वरुणा सुतपावि॒मं सु॒तं सोमं॑ पिबतं॒ मद्यं॑ धृतव्रता ।
यु॒वो रथो॑ अध्व॒रं दे॒ववी॑तये॒ प्रति॒ स्वस॑र॒मुप॑ याति पी॒तये॑ १०

इन्द्रा॑वरुणा॒ मधु॑मत्तमस्य॒ वृष्णः॒ सोम॑स्य वृष॒णा वृषे॑थाम् ।
इ॒दं वा॒मन्धः॒ परि॑षिक्तम॒स्मे आ॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयेथाम् ११ [१२] (७१४)

(६९)

८ बार्हस्पत्यो भरद्वाज । इन्द्राविष्णू । त्रिष्टुप् ।

सं वां॒ कर्म॑णा॒ समि॒षा हि॑नो॒मी न्द्रा॑विष्णू॒ अप॑सस्पा॒रे अ॒स्य ।
जु॒षेथां॑ य॒ज्ञं द्रवि॑णं च धत्त॒ मरि॑ष्टैर्नः प॒थिभिः॑ पा॒रय॑न्ता १

या विश्वा॑सां जनि॒तारा॑ मती॒ना मिन्द्रा॒विष्णू॑ क॒लशा॑ सोम॒धाना॑ ।
प्र वां॒ गिरः॑ श॒स्यमा॑ना अवन्तु॒ प्र स्तोमा॑सो गी॒यमा॑नासो अ॒र्कैः २

इन्द्रा॑विष्णू मदपती मदा॒ना॒ मा सोमं॑ यातं॒ द्रवि॑णो॒ दधा॑ना ।
सं वा॑मञ्जन्त्व॒क्तुभि॑र्मती॒नां सं स्तोमा॑सः श॒स्यमा॑नास उ॒क्थैः ३

आ वा॒मश्वा॑सो अभिमाति॒षाह॒ इन्द्रा॑विष्णू सध॒मादो॑ वहन्तु ।
जु॒षेथां॒ विश्वा॒ हव॑ना मती॒ना मुप॒ ब्रह्मा॑णि शृणु॒तं गिरो॑ मे ४

इन्द्रा॑विष्णू॒ तत् प॑न॒याय्यं॑ वां॒ सोम॑स्य॒ मद॑ उ॒रु च॑क्रमाथे ।
अकृ॑णुतम॒न्तरि॑क्षं॒ वरी॒यो ऽप्र॑थतं जी॒वसे॑ नो॒ रजां॑सि ५

इन्द्रा॑विष्णू ह॒विषा॑ वावृधा॒ना ऽग्रा॑द्वाना॒ नम॑सा रातहव्या ।
घृता॑सुती॒ द्रवि॑णं धत्तम॒स्मे स॑मु॒द्रः स्थः॑ क॒लशः॑ सोम॒धानः॑ ६

इन्द्रा॑विष्णू॒ पिब॑तं॒ मध्वो॑ अ॒स्य सोम॑स्य दस्रा ज॒ठरं॑ पृणेथाम् ।
आ वा॒मन्धां॑सि मदि॒राण्य॑ग्म॒न्नुप॒ ब्रह्मा॑णि शृणु॒तं हवं॑ मे ७

उ॒भा जि॑ग्यथु॒र्न परा॑ जयेथे॒ न परा॑ जिग्ये कत॒रश्च॒नैनोः॑ ।
इन्द्र॑श्च विष्णो॒ यदप॑स्पृधेथां त्रे॒धा स॒हस्रं॒ वि तदै॑रयेथाम् ८ [१३] (७२१)

उदू अयाँ उपवक्तेव बाहू हिरण्यया सविता सुप्रतीका ।
दिवो रोहांस्यरुहत् पृथिव्या अरीरमत् पतयत् कच्चिदभ्वम् ५

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यं सावीः ।
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरे रया धिया वामभाजः स्याम ६ [१५] (७३४)

(७२)

५ बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। इन्द्रासोमौ। त्रिष्टुप्।

इन्द्रासोमा महि तद् वां महित्वं युवं महानि प्रथमानि चक्रथुः ।
युवं सूर्यं विविदथुर्युवं स्व१र्विश्वा तमांस्यहतं निदश्च १

इन्द्रासोमा वासयथ उषास मुत् सूर्यं नयथो ज्योतिषा सह ।
उप द्यां स्कम्भथुः स्कम्भनेना प्रथतं पृथिवीं मातरं वि २

इन्द्रासोमावहिमपः परिष्ठां हथो वृत्रमनु वां द्यौरमन्यत ।
प्रार्णांस्यैरयतं नदीना मा समुद्राणि पप्रथुः पुरूणि ३

इन्द्रासोमा पक्वमामास्वन्त र्नि गवामिद् दधथुर्वक्षणासु ।
जगृभथुरनपिनद्धमासु रुशच्चित्रासु जगतीष्वन्तः ४

इन्द्रासोमा युवमङ्ग तरुत्र मपत्यसाचं श्रुत्यं रराथे ।
युवं शुष्मं नर्यं चर्षणिभ्यः सं विव्यथुः पृतनाषाहमुग्रा ५ [१६] (७३९)

(७३)

३ बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। बृहस्पतिः। त्रिष्टुप्।

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान् ।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति १

जनाय चिद् य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार ।
घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयञ्छत्रूँरमित्रान् पृत्सु साहन् २

बृहस्पतिः समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः ।
अपः सिषासन् त्स्व१रप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः ३ [१७] (७४२)

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे ।
अप शत्रून् विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान् ४

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य ।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ५ [१९]

रथे तिष्ठन् नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः ।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः ६

तीव्रान् घोषान् कृण्वते वृषपाणयो ऽश्वा रथेभिः सह वाजयन्तः ।
अवक्रामन्तः प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रूँरनपव्ययन्तः ७

रथवाहनं हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म ।
तत्रा रथमुप शग्मं सदेम विश्वाहा वयं सुमनस्यमानाः ८

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः ।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ९

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा ।
पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत १० [२०]

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता ।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ११

ऋजीते परि वृङ्धि नो ऽश्मा भवतु नस्तनूः ।
सोमो अधि ब्रवीतु नो ऽदितिः शर्म यच्छतु १२

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते ।
अश्वाजनि प्रचेतसो ऽश्वान् त्समत्सु चोदय १३

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः ।
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः १४

आलाक्ता या रुरुशीर्ष्ण्यथो यस्या अयो मुखम् ।
इदं पर्जन्यरेतस इष्वै देव्यै बृहन्नमः १५ [२१] (७६१)

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे ।
अप शत्रून् विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान् ४

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य ।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ५ [१९]

रथे तिष्ठन् नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः ।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः ६

तीव्रान् घोषान् कृण्वते वृषपाणयो ऽश्वा रथेभिः सह वाजयन्तः ।
अवक्रामन्तः प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रूँरनपव्ययन्तः ७

रथवाहनं हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म ।
तत्रा रथमुप शग्मं सदेम विश्वाहा वयं सुमनस्यमानाः ८

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः ।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ९

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा ।
पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत १० [२०]

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता ।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ११

ऋजीते परि वृङ्धि नो ऽश्मा भवतु नस्तनूः ।
सोमो अधि ब्रवीतु नो ऽदितिः शर्म यच्छतु १२

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते ।
अश्वाजनि प्रचेतसो ऽश्वान् त्समत्सु चोदय १३

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः ।
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः १४

आलाक्ता या रुरुशीर्ष्ण्यथो यस्या अयो मुखम् ।
इदं पर्जन्यरेतस इष्वै देव्यै बृहन्नमः १५ [२१] (७६१)

अथ सप्तमं मण्डलम् ।

(१) [प्रथमोऽनुवाकः ॥१॥ सू० १-१७]

२५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । विराट्, १९-२५ त्रिष्टुप् ।

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम् । दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् १
तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन्त्सुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित् । दक्षाय्यो यो दम आस नित्यः २
प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ । त्वां शश्वन्त उप यन्ति वाजाः ३
प्र ते अग्नयोऽग्निभ्यो वरं निः सुवीरासः शोशुचन्त द्युमन्तः । यत्रा नरः समासते सुजाताः ४
दा नो अग्ने धिया रयिं सुवीरं स्वपत्यं सहस्य प्रशस्तम् । न यं यावा तरति यातुमावान् ५[२३]

उप यमेति युवतिः सुदक्षं दोषा वस्तोर्हविष्मती घृताची । उप स्वैनमरमतिर्वसूयुः ६
विश्वा अग्नेऽप दहारातीर्येभिस्तपोभिरदहो जरूथम् । प्र निस्वरं चातयस्वामीवाम् ७
आ यस्ते अग्न इधते अनीकं वसिष्ठ शुक्र दीदिवः पावक । उतो न एभिः स्तवथैरिह स्याः ८
वि ये ते अग्ने भेजिरे अनीकं मर्ता नरः पित्र्यासः पुरुत्रा । उतो न एभिः सुमना इह स्याः ९
इमे नरो वृत्रहत्येषु शूरा विश्वा अदेवीरभि सन्तु मायाः । ये मे धियं पनयन्त प्रशस्ताम् १०[२४]

मा शूने अग्ने नि षदाम नृणां माशेषसोऽवीरता परि त्वा । प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य ११
यमश्वी नित्यमुपयाति यज्ञं प्रजावन्तं स्वपत्यं क्षयं नः । स्वजन्मना शेषसा वावृधानम् १२
पाहि नो अग्ने रक्षसो अजुष्टात्पाहि धूर्तेररुषो अघायोः । त्वा युजा पृतनायूँरभि ष्याम् १३
सेदग्निरग्नीँरत्यस्त्वन्यान्यत्र वाजी तनयो वीळुपाणिः । सहस्रपाथा अक्षरा समेति १४
सेदग्निर्यो वनुष्यतो निपाति समेद्धारमंहस उरुष्यात् । सुजातासः परि चरन्ति वीराः १५[२५]

अयं सो अग्निराहुतः पुरुत्रा यमीशानः समिदिन्धे हविष्मान् । परि यमेत्यध्वरेषु होता १६
त्वे अग्न आहवनानि भूरीशानास आ जुहुयाम नित्या । उभा कृण्वन्तो वहतू मियेधे १७
इमो अग्ने वीततमानि हव्याजस्रो वक्षि देवतातिमच्छ । प्रति न ईं सुरभीणि व्यन्तु १८
मा नो अग्नेऽवीरते परा दा दुर्वाससेऽमतये मा नो अस्यै ।
मा नः क्षुधे मा रक्षस ऋतावो मा नो दमे मा वन आ जुहूर्थाः १९ (१९)

अथ सप्तमं मण्डलम् ।

(१) [प्रथमोऽनुवाकः ॥१॥ सू० १-१७]

२५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । विराट्, १९-२५ त्रिष्टुप् ।

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम् । दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् १
तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन्त्सुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित् । दक्षाय्यो यो दम आस नित्यः २
प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ । त्वां शश्वन्त उप यन्ति वाजाः ३
प्र ते अग्नयोऽग्निभ्यो वरं निः सुवीरासः शोशुचन्त द्युमन्तः । यत्रा नरः समासते सुजाताः ४
दा नो अग्ने धिया रयिं सुवीरं स्वपत्यं सहस्य प्रशस्तम् । न यं यावा तरति यातुमावान् ५[२३]

उप यमेति युवतिः सुदक्षं दोषा वस्तोर्हविष्मती घृताची । उप स्वैनमरमतिर्वसूयुः ६
विश्वा अग्नेऽप दहारातीर्येभिस्तपोभिरदहो जरूथम् । प्र निस्वरं चातयस्वामीवाम् ७
आ यस्ते अग्न इधते अनीकं वसिष्ठ शुक्र दीदिवः पावक । उतो न एभिः स्तवथैरिह स्याः ८
वि ये ते अग्ने भेजिरे अनीकं मर्ता नरः पित्र्यासः पुरुत्रा । उतो न एभिः सुमना इह स्याः ९
इमे नरो वृत्रहत्येषु शूरा विश्वा अदेवीरभि सन्तु मायाः । ये मे धियं पनयन्त प्रशस्ताम् १०[२४]

मा शूने अग्ने नि षदाम नृणां माशेषसोऽवीरता परि त्वा । प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य ११
यमश्वी नित्यमुपयाति यज्ञं प्रजावन्तं स्वपत्यं क्षयं नः । स्वजन्मना शेषसा वावृधानम् १२
पाहि नो अग्ने रक्षसो अजुष्टात् पाहि धूर्तेरररुषो अघायोः । त्वा युजा पृतनायूँरभि ष्याम् १३
सेदग्निरग्नीँरत्यस्त्वन्यान् यत्र वाजी तनयो वीळुपाणिः । सहस्रपाथा अक्षरा समेति १४
सेदग्निर्यो वनुष्यतो निपाति समेद्धारमंहस उरुष्यात् । सुजातासः परि चरन्ति वीराः १५[२५]

अयं सो अग्निराहुतः पुरुत्रा यमीशानः समिदिन्धे हविष्मान् । परि यमेत्यध्वरेषु होता १६
त्वे अग्न आहवनानि भूरीशानास आ जुहुयाम नित्या । उभा कृण्वन्तो वहतू मियेधे १७
इमो अग्ने वीततमानि हव्याऽजस्रो वक्षि देवतातिमच्छ । प्रति न ईं सुरभीणि व्यन्तु १८
मा नो अग्नेऽवीरते परा दा दुर्वाससेऽमतये मा नो अस्यै ।
मा नः क्षुधे मा रक्षस ऋतावो मा नो दमे मा वन आ जुहूर्थाः १९ (१९)

विश्वा यज्ञेषु मानुषेषु कारू मन्ये वां जातवेदसा यजध्यै ।
ऊर्ध्वं नो अध्वरं कृतं हवेषु ता देवेषु वनथो वार्याणि ७
आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः ।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु ८
तन्नस्तुरीपमध पोषयित्नु देव त्वष्टर्वि रराणः स्यस्व ।
यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः ९
वनस्पतेऽव सृजोप देवा नग्निर्हविः शमिता सूदयाति ।
सेदु होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद १०
आ याह्यग्ने समिधानो अर्वाङ् इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः ।
बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्रा स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ११ [२] (३६)

(३)

१० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम् ।
यो मर्त्येषु निध्रुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः १
प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् यदा महः संवरणाद् व्यस्थात् ।
आदस्य वातो अनु वाति शोचि रध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति २
उद् यस्य ते नवजातस्य वृष्णो ऽग्ने चरन्त्यजरा इधानाः ।
अच्छा द्यामरुषो धूम एति सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान् ३
वि यस्य ते पृथिव्यां पाजो अश्रेत् तृषु यदन्ना समवृक्त जम्भैः ।
सेनेव सृष्टा प्रसितिष्ट एति यवं न दस्म जुह्वा विवेक्षि ४
तमिद् दोषा तमुषसि यविष्ठ मग्निमत्यं न मर्जयन्त नरः ।
निशिशाना अतिथिमस्य योनौ दीदाय शोचिराहुतस्य वृष्णः ५ [३]

सुसंदृक् ते स्वनीक प्रतीकं वि यद् रुक्मो न रोचस उपाके ।
दिवो न ते तन्यतुरेति शुष्म श्चित्रो न सूरः प्रति चक्षि भानुम् ६
यथा वः स्वाहाग्नये दाशेम परीळाभिर्घृतवद्भिश्च हव्यैः ।
तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि ७ (४३)

आग्ने वह हविरद्याय देवा निन्द्रज्येष्ठास इह मादयन्ताम् ।
इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ५ [१४] (१०२)

(१२)

३ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः स्वे दुरोणे ।
चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं विश्वतः प्रत्यञ्चम् १
स मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वा नग्निः ष्टवे दम आ जातवेदाः ।
स नो रक्षिषद् दुरितादवद्या दस्मान् गृणत उत नो मघोनः २
त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः ।
त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ३ [१५] (१०५)

(१३)

३ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । वैश्वानरोऽग्निः । त्रिष्टुप् ।

प्राग्नये विश्वशुचे धियंधे ऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम् ।
भरे हविर्न बर्हिषि प्रीणानो वैश्वानराय यतये मतीनाम् १
त्वमग्ने शोचिषा शोशुचान आ रोदसी अपृणा जायमानः ।
त्वं देवाँ अभिशस्तेरमुञ्चो वैश्वानर जातवेदो महित्वा २
जातो यदग्ने भुवना व्यख्यः पशून् न गोपा इर्यः परिज्मा ।
वैश्वानर ब्रह्मणे विन्द गातुं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ३ [१६] (१०८)

(१४)

३ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । त्रिष्टुप्, १ बृहती ।

समिधा जातवेदसे देवाय देवहूतिभिः ।
हविर्भिः शुक्रशोचिषे नमस्विनो वयं दाशेमाग्नये १
वयं ते अग्ने समिधा विधेम वयं दाशेम सुष्टुती यजत्र ।
वयं घृतेनाध्वरस्य होत र्वयं देव हविषा भद्रशोचे २
आ नो देवेभिरुप देवहूति मग्ने याहि वषट्कृतिं जुषाणः ।
तुभ्यं देवाय दाशतः स्याम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ३ [१७] (१११)

आग्ने वह हविरद्याय देवा-निन्द्रज्येष्ठास इह मादयन्ताम् ।
इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ५ [१४] (१०२)

(१२)

३ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः स्वे दुरोणे ।
चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं विश्वतः प्रत्यञ्चम् १
स महा विश्वा दुरितानि साह्वा-नग्निः ष्टवे दम आ जातवेदाः ।
स नो रक्षिषद् दुरितादवद्या-दस्मान् गृणत उत नो मघोनः २
त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः ।
त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ३ [१५] (१०५)

(१३)

३ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । वैश्वानरोऽग्निः । त्रिष्टुप् ।

प्राग्नये विश्वशुचे धियंधे ऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम् ।
भरे हविर्न बर्हिषि प्रीणानो वैश्वानराय यतये मतीनाम् १
त्वमग्ने शोचिषा शोशुचान आ रोदसी अपृणा जायमानः ।
त्वं देवाँ अभिशस्तेरमुञ्चो वैश्वानर जातवेदो महित्वा २
जातो यदग्ने भुवना व्यख्यः पशून् न गोपा इर्यः परिज्मा ।
वैश्वानर ब्रह्मणे विन्द गातुं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ३ [१६] (१०८)

(१४)

३ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । त्रिष्टुप्, १ बृहती ।

समिधा जातवेदसे देवाय देवहूतिभिः ।
हविर्भिः शुक्रशोचिषे नमस्विनो वयं दाशेमाग्नये १
वयं ते अग्ने समिधा विधेम वयं दाशेम सुष्टुती यजत्र ।
वयं घृतेनाध्वरस्य होत-र्वयं देव हविषा भद्रशोचे २
आ नो देवेभिरुप देवहूति-मग्ने याहि वषट्कृतिं जुषाणः ।
तुभ्यं देवाय दाशतः स्याम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ३ [१७] (१११)

त्वम॑ग्ने गृहप॑ति॒स्त्वं होता॑ नो अध्व॒रे ।
त्वं पोता॑ विश्ववार॒ प्रचे॑ता॒ यक्षि॒ वेषि॑ च॒ वार्य॑म् ॥ ५

कृ॒धि रत्नं॒ यज॑मानाय सुक्रतो॒ त्वं हि र॑त्न॒धा असि॑ ।
आ न॑ ऋ॒ते शि॑शीहि॒ विश्व॑मृ॒त्विजं॑ सु॒शंसो॒ यश्च॒ दक्ष॑ते ॥ ६ [२१]

त्वे अ॑ग्ने स्वाहुत प्रि॒यासः॑ सन्तु सू॒रयः॑ ।
य॒न्तारो॒ ये म॒घवा॑नो॒ जना॑ना॑मू॒र्वान् दय॑न्त॒ गोना॑म् ॥ ७

येषा॒मिळा॑ घृ॒तह॑स्ता दुरो॒ण आँ अपि॑ प्रा॒ता नि॒षीद॑ति ।
ताँस्त्रा॑यस्व सहस्य द्रु॒हो नि॒दो यच्छा॑ नः॒ शर्म॑ दीर्घ॒श्रुत॑ ॥ ८

स म॒न्द्रया॑ च जि॒ह्वया॒ वह्नि॑रा॒सा वि॒दुष्ट॑रः ।
अग्ने॑ र॒यिं म॒घव॑द्भ्यो न॒ आ व॑ह ह॒व्यदा॑तिं च सूदय ॥ ९

ये राधां॑सि॒ दद॒त्यश्व्या॑ म॒घा कामे॑न॒ श्रव॑सो म॒हः ।
ताँ अंह॑सः पिपृहि प॒र्तृभि॒ष्ट्वं श॒तं पू॒र्भिर्य॑विष्ठ्य ॥ १०

दे॒वो वो॑ द्रविणो॒दाः पू॒र्णां वि॑वष्ट्या॒सिच॑म् ।
उद्वा॑ सि॒ञ्चध्व॒मुप॑ वा पृणध्व॒मादिद्वो॑ दे॒व ओ॑हते ॥ ११

तं होता॑रमध्व॒रस्य॒ प्रचे॑तसं॒ वह्निं॑ दे॒वा अ॑कृण्वत ।
दधा॑ति॒ रत्नं॑ विध॒ते सु॒वीर्य॑म॒ग्निर्जना॑य दा॒शुषे॑ ॥ १२ [२२] (११८)

(१७)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । द्विपदा त्रिष्टुप् ।

अग्ने॒ भव॑ सुष॒मिधा॒ समि॑द्ध उ॒त ब॒र्हिरु॑र्वि॒या वि स्तृ॑णीताम् ॥ १
उ॒त द्वार॑ उश॒तीर्वि श्र॑यन्तामु॒त दे॒वाँ उ॑श॒त आ व॑हे॒ह ॥१॥ २
अग्ने॑ वी॒हि ह॒विषा॒ यक्षि॑ दे॒वान्त्स्व॑ध्व॒रा कृ॑णुहि जातवेदः ॥ ३
स्व॒ध्व॒रा क॑रति जा॒तवे॑दा॒ यक्ष॑द्दे॒वाँ अ॒मृता॑न्पि॒प्रय॑च्च ॥२॥ ४
वंस्व॒ विश्वा॒ वार्या॑णि प्रचेतः स॒त्या भ॑वन्त्वा॒शिषो॑ नो अ॒द्य ॥ ५
त्वामु॒ ते द॑धिरे हव्य॒वाहं॑ दे॒वासो॑ अग्न ऊ॒र्ज आ नपा॑तम् ॥३॥ ६
ते ते॑ दे॒वाय॒ दाश॑तः स्याम म॒हो नो॒ रत्ना॒ वि द॑ध इया॒नः ॥४॥ ७ [२३] (१२५)

वि सद्यो विश्वा दृंहितान्येषा—मिन्द्रः पुरः सहसा सप्त दर्दः ।
व्यानवस्य तृत्सवे गयं भा—ग्जेष्म पूरुं विदथे मृध्रवाचम् १३

नि गव्यवोऽनवो द्रुह्यवश्च षष्टिः शता सुषुपुः षट् सहस्रा ।
षष्टिर्वीरासो अधि षड् दुवोयु विश्वेदिन्द्रस्य वीर्या कृतानि १४

इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः ।
दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाना जहुर्विश्वानि भोजना सुदासे १५ [२६]

अर्धं वीरस्य शृतपामनिन्द्रं परा शर्धन्तं नुनुदे अभि क्षाम् ।
इन्द्रो मन्युं मन्युम्यो मिमाय भेजे पथो वर्तनिं पत्यमानः १६

आध्रेण चित् तद्वेकं चकार सिंह्यं चित् पेत्वेना जघान ।
अव स्रक्तीर्वेश्यावृश्चदिन्द्रः प्रायच्छद् विश्वा भोजना सुदासे १७

शश्वन्तो हि शत्रवो रारधुष्टे भेदस्य चिच्छर्धतो विन्द रन्धिम् ।
मर्ताँ एनः स्तुवतो यः कृणोति तिग्मं तस्मिन् नि जहि वज्रमिन्द्र १८

आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वताता मुषायत् ।
अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्रुरश्व्यानि १९

न त इन्द्र सुमतयो न रायः संचक्षे पूर्वा उषसो न नूत्नाः ।
देवकं चिन्मान्यमानं जघन्था—ऽव त्मना बृहतः शम्बरं भेत् २० [२७]

प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः ।
न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ता—ऽधा सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान् २१

द्वे नप्तुर्देववतः शते गो—र्द्वा रथा वधूमन्ता सुदासः ।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्येमि रेभन् २२

चत्वारो मा पैजवनस्य दानाः स्मद्दिष्टयः कृशनिनो निरेके ।
ऋज्रासो मा पृथिविष्ठाः सुदास—स्तोकं तोकाय श्रवसे वहन्ति २३

यस्य श्रवो रोदसी अन्तरुर्वी शीर्ष्णेशीर्ष्णे विबभाजा विभक्ता ।
सप्तेदिन्द्रं न स्रवतो गृणन्ति नि युध्यामधिमशिशादभीके २४

इमं नरो मरुतः सश्चतानु दिवोदासं न पितरं सुदासः ।
अविष्टना पैजवनस्य केतं दूणाशं क्षत्रमजरं दुवोयु २५ [२८](१७०)

[तृतीयोऽध्यायः ॥३॥ व० १-१०] (२०)

१० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

उग्रो जज्ञे वीर्याय स्वधावा ञ्चक्रिरपो नर्यो यत् करिष्यन् ।
जग्मिर्युवा नृषदनमवोभि स्त्राता न इन्द्र एनसो महश्चित् ॥ १
हन्ता वृत्रमिन्द्रः शूशुवानः प्रावीन्नु वीरो जरितारमूती ।
कर्ता सुदासे अह वा उ लोकं दाता वसु मुहुरा दाशुषे भूत् ॥ २
युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा शूरः सत्राषाड् जनुषेमषाळ्हः ।
व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान ॥ ३
उभे चिदिन्द्र रोदसी महित्वा ऽऽ पप्राथ तविषीभिस्तुविष्मः ।
नि वज्रमिन्द्रो हरिवान् मिमिक्षन् त्समन्धसा मदेषु वा उवोच ॥ ४
वृषा जजान वृषणं रणाय तमु चिन्नारी नर्यं ससूव ।
प्र यः सेनानीरध नृभ्यो अस्ती नः सत्वा गवेषणः स धृष्णुः ॥ ५ [१]

नू चित् स भ्रेषते जनो न रेषन् मनो यो अस्य घोरमाविवासात् ।
यज्ञैर्य इन्द्रे दधते दुवांसि क्षयत् स राय ऋतपा ऋतेजाः ॥ ६
यदिन्द्र पूर्वो अपराय शिक्ष न्नयज्ज्यायान् कनीयसो देष्णम् ।
अमृत इत् पर्यासीत दूर मा चित्र चित्र्यं भरा रयिं नः ॥ ७
यस्त इन्द्र प्रियो जनो ददाश दसन्निरेके अद्रिवः सखा ते ।
वयं ते अस्यां सुमतौ चनिष्ठाः स्याम वरूथे अघ्नतो नृपीतौ ॥ ८
एष स्तोमो अचिक्रदद् वृषा त उत स्तामुर्मघवन्नक्रपिष्ट ।
रायस्कामो जरितारं त आगन् त्वमङ्ग शक्र वस्व आ शको नः ॥ ९
स न इन्द्र त्वयताया इषे धा स्त्मना च ये मघवानो जुनन्ति ।
वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्ति र्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १० [२] (१९१)

(२१)

१० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रो जनुषेमुवोच ।
बोधामसि त्वा हर्यश्व यज्ञै र्बोधा नः स्तोममन्धसो मदेषु ॥ १
प्र यन्ति यज्ञं विपयन्ति बर्हिः सोममादो विदथे दुध्रवाचः ।
न्यु भ्रियन्ते यशसो गृभादा दूरउपब्दो वृषणो नृषाचः ॥ २ (१९२)

[तृतीयोऽध्यायः ॥३॥ व० १-३०] (२०)

१० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

उग्रो जज्ञे वीर्याय स्वधावा—ञ्चक्रिरपो नर्यो यत् करिष्यन् ।
जग्मिर्युवा नृषदनमवोभि—स्त्राता न इन्द्र एनसो महश्चित् ॥ १
हन्ता वृत्रमिन्द्रः शूशुवानः प्रावीन्नु वीरो जरितारमूती ।
कर्ता सुदासे अह वा उ लोकं दाता वसु मुहुरा दाशुषे भूत् ॥ २
युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा शूरः सत्राषाड् जनुषेमषाळ्हः ।
व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान ॥ ३
उभे चिदिन्द्र रोदसी महित्वा ऽऽ पप्राथ तविषीभिस्तुविष्मः ।
नि वज्रमिन्द्रो हरिवान् मिमिक्षन् त्समन्धसा मदेषु वा उवोच ॥ ४
वृषा जजान वृषणं रणाय तमु चिन्नारी नर्यं ससूव ।
प्र यः सेनानीरध नृभ्यो अस्ती—नः सत्वा गवेषणः स धृष्णुः ॥ ५ [१]

नू चित् स भ्रेषते जनो न रेषन् मनो यो अस्य घोरमाविवासात् ।
यज्ञैर्य इन्द्रे दधते दुवांसि क्षयत् स राय ऋतपा ऋतेजाः ॥ ६
यदिन्द्र पूर्वो अपराय शिक्ष—न्नयज्ज्यायान् कनीयसो देष्णम् ।
अमृत इत् पर्यासीत दूर—मा चित्र चित्र्यं भरा रयिं नः ॥ ७
यस्त इन्द्र प्रियो जनो ददाश—दसन्निरेके अद्रिवः सखा ते ।
वयं ते अस्यां सुमतौ चनिष्ठाः स्याम वरूथे अघ्नतो नृपीतौ ॥ ८
एष स्तोमो अचिक्रदद् वृषा त उत स्तामुर्मघवन्नक्रपिष्ट ।
रायस्कामो जरितारं त आगन् त्वमङ्ग शक्र वस्व आ शको नः ॥ ९
स न इन्द्र त्वयताया इषे धा—स्त्मना च ये मघवानो जुनन्ति ।
वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्ति—र्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १० [२] (१९१)

(२१)

१० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रो जनुषेमुवोच ।
बोधामसि त्वा हर्यश्व यज्ञै—र्बोधा नः स्तोममन्धसो मदेषु ॥ १
प्र यन्ति यज्ञं विपयन्ति बर्हिः सोममादो विदथे दुध्रवाचः ।
न्यु भ्रियन्ते यशसो गृभादा दूरउपब्दो वृषणो नृषाचः ॥ २ (१९२)

भूरि हि ते सवना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित् ।
मारे अस्मन्मघवञ्ज्योक् कः ६

तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कृणोमि ।
त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधासि ७

नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दस्मो दश्नुवन्ति महिमानमुग्र ।
न वीर्यमिन्द्र ते न राधः ८

ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः ।
अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ९ [६] (२१०)

(२३)

६ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ । इन्द्र । त्रिष्टुप् ।

उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्ये न्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानो पश्रोता म ईवतो वचांसि १

अयामि घोष इन्द्र देवजामि रिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि ।
नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु तानीदंहांस्यति पर्ष्यस्मान् २

युजे रथं गवेषणं हरिभ्या मुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः ।
वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वे न्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान् ३

आपश्चित् पिप्युः स्तर्यो३ न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र ।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ४

ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे ।
एको देवत्रा दयसे हि मर्ता नस्मिञ्छूर सवने मादयस्व ५

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः ।
स नः स्तुतो वीरवद् धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ६ [७] (२१६)

(२४)

६ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्र याहि ।
असो यथा नोऽविता वृधे च ददो वसूनि ममदश्च सोमैः १ (२१७)

(२६)

५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

न सोम इन्द्रमसुतो ममाद नाब्रह्माणो मघवानं सुतासः ।
तस्मा उक्थं जनये यज्जुजोषन्नृवन्नवीयः शृणवद्यथा नः ॥ १

उक्थउक्थे सोम इन्द्रं ममाद नीथेनीथे मघवानं सुतासः ।
यदीं सबाधः पितरं न पुत्राः समानदक्षा अवसे हवन्ते ॥ २

चकार ता कृणवन्नूनमन्या यानि ब्रुवन्ति वेधसः सुतेषु ।
जनीरिव पतिरेकः समानो नि मामृजे पुर इन्द्रः सु सर्वाः ॥ ३

एवा तमाहुरुत शृण्व इन्द्र एको विभक्ता तरणिर्मघानाम् ।
मिथस्तुर ऊतयो यस्य पूर्वीरस्मे भद्राणि सश्चत प्रियाणि ॥ ४

एवा वसिष्ठ इन्द्रमूतये नॄन्कृष्टीनां वृषभं सुते गृणाति ।
सहस्रिण उप नो माहि वाजान्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ [१०] (२३३)

(२७)

५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते यत्पार्या युनजते धियस्ताः ।
शूरो नृषाता शवसश्चकान आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः ॥ १

य इन्द्र शुष्मो मघवन्ते अस्ति शिक्षा सखिभ्यः पुरुहूत नृभ्यः ।
त्वं हि दृळ्हा मघवन्विचेता अपा वृधि परिवृतं न राधः ॥ २

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति ।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥ ३

नू चिन्न इन्द्रो मघवा सहूती दानो वाजं नि यमते न ऊती ।
अनूना यस्य दक्षिणा पीपाय वामं नृभ्यो अभिवीता सखिभ्यः ॥ ४

नू इन्द्र राये वरिवस्कृधी न आ ते मनो ववृत्याम मघाय ।
गोमदश्वावद्रथवद्व्यन्तो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ [११] (२३८)

(३०)

५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

आ नो देव शवसा याहि शुष्मिन् भवा वृध इन्द्र रायो अस्य ।
महे नृम्णाय नृपते सुवज्र महि क्षत्राय पौंस्याय शूर १

हवन्त उ त्वा हव्यं विवाचि तनूषु शूराः सूर्यस्य सातौ ।
त्वं विश्वेषु सेन्यो जनेषु त्वं वृत्राणि रन्धया सुहन्तु । २

अहा यदिन्द्र सुदिना व्युच्छान् दधो यत् केतुमुपमं समत्सु ।
न्य१ग्निः सीददसुरो न होता हुवानो अत्र सुभगाय देवान् ३

वयं ते त इन्द्र ये च देव स्तवन्त शूर ददतो मघानि ।
यच्छा सूरिभ्य उपमं वरूथं स्वाभुवो जरणामश्नवन्त ४

वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो रायो राधसो यद्ददन्नः ।
यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ५ [१४] (२५३)

(३१)

१२ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ । इन्द्र । गायत्री, १०-१२ विराट् ।

प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत । सखायः सोमपाव्ने १
शंसेदुक्थं सुदानव उत द्युक्षं यथा नरः । चकृमा सत्यराधसे २
त्वं न इन्द्र वाजयुस्त्वं गव्युः शतक्रतो । त्वं हिरण्ययुर्वसो ३
वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र णोनुमो वृषन् । विद्धी त्व१स्य नो वसो ४
मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे । त्वे अपि क्रतुर्मम ५
त्वं वर्मासि सप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन् । त्वया प्रति ब्रुवे युजा ६ [१५]

महाँ उतासि यस्य तेऽनु स्वधावरी सहः । मम्नाते इन्द्र रोदसी ७
तं त्वा मरुत्वती परि भुवद्वाणी सयावरी । नक्षमाणा सह द्युभिः ८
ऊर्ध्वासस्त्वान्विन्दवो भुवन्दस्ममुप द्यवि । सं ते नमन्त कृष्टयः ९

प्र वो महे महिवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम् ।
विशः पूर्वीः प्र चरा चर्षणिप्राः १० (२६३)

गमद् वाजं वाजयन्निन्द्र मर्त्यो यस्य त्वमविता भुवः ।
अस्माकं बोध्यविता रथाना मस्माकं शूर नृणाम् ११
उपिद्र्वस्य रिच्यते ऽशो धन न जिग्युषः ।
य इन्द्रो हरिवान् न दभन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमिनि १२
मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा ।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत् १३
कस्तमिन्द्र त्वावसु मा मर्त्यो दधर्षति ।
श्रद्धा इत् ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति १४
मघोनः स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु ।
तव प्रणीती हर्यश्व सूरिभि र्विश्वा तरेम दुरिता १५ [१९]

तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम् ।
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि नकिष्ट्वा गोषु वृण्वते १६
त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतो य ईं भवन्त्याजयः ।
तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवो ऽवस्युर्नाम भिक्षते १७
यदिन्द्र यावतस्त्व मेतावदहमीशीय ।
स्तोतारमिद् दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय १८
शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे ।
नहि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन १९
तरणिरित् सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा ।
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्र्वम् २० [२०]

न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु न स्रेधन्तं रयिर्नशत् ।
सुशक्तिरिन्मघवन् तुभ्य मावते देष्णं यत् पार्ये दिवि २१
अभि त्वा शूर नोनुमो ऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृश मीशानमिन्द्र तस्थुषः २२
न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे २३
अभी षतस्तदा भरे न्द्र ज्यायः कनीयसः ।
पुरूवसुर्हि मघवन् त्सनादसि भरेभरे च हव्यः २४

विद्युतो ज्योतिः परि सुजिहान मित्रावरुणा यदपश्यता त्वा ।
तत् ते जन्मोतैकं वसिष्ठा ऽगस्त्यो यत् त्वा विश आजभार १० [२३]

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठो र्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः ।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ११
स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान् त्सहस्रदान उत वा सदानः ।
यमेन ततं परिधिं वयिष्य न्नप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः १२
सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम् ।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम् १३
उक्थभृतं सामभृतं बिभर्ति ग्रावाणं बिभ्रत् प्र वदात्यग्रे ।
उपैनमाध्वं सुमनस्यमाना आ वो गच्छाति प्रतृदो वसिष्ठः १४ [२४](३०९)

(३४) [तृतीयोऽनुवाकः ॥३॥ सू० ३४-५५]

१५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः, १६ अहिः, १७ अहिर्बुध्न्यः । द्विपदा विराट्, २२-२५ त्रिष्टुप् ।

प्र शुक्रैतु देवी मनीषा अस्मत् सुतष्टो रथो न वाजी १
विदुः पृथिव्या दिवो जनित्रं शृण्वन्त्यापो अध क्षरन्तीः २
आपश्चिदस्मै पिन्वन्त पृथ्वी र्वृत्रेषु शूरा मंसन्त उग्राः ३
आ धूर्ष्वस्मै दधाताश्वा निन्द्रो न वज्री हिरण्यबाहुः ४
अभि प्र स्थाताहेव यज्ञं यातेव पत्मन् त्मना हिनोत ५
त्मना समत्सु हिनोत यज्ञं दधात केतुं जनाय वीरम् ६
उदस्य शुष्माद् भानुर्नार्त बिभर्ति भारं पृथिवी न भूम ७
ह्वयामि देवाँ अयातुरग्ने साधन्नृतेन धियं दधामि ८
अभि वो देवीं धियं दधिध्वं प्र वो देवत्रा वाचं कृणुध्वम् ९
आ चष्ट आसां पाथो नदीनां वरुण उग्रः सहस्रचक्षाः १० [२५]

राजा राष्ट्राणां पेशो नदीना मनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु ११
अविष्टो अस्मान् विश्वासु विक्ष्व द्युं कृणोत शंसं निनित्सोः १२
व्येतु दिद्युद् द्विषामशेवा युयोत विष्वग्रपस्तनूनाम् १३
अवीन्नो अग्निर्हव्यान्नमोभिः प्रेष्ठो अस्मा अधायि स्तोमः १४
सजूर्देवेभिरपां नपातं सखायं कृध्वं शिवो नो अस्तु १५ (३११)

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु　शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः ।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः　शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु　६
शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः　शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः ।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु　शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः　७
शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु　शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु　शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः　८
शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः　शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु　शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः　९
शं नो देवः सविता त्रायमाणः　शं नो भवन्तूषसो विभातीः ।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः　शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः　१० [२९]

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु　शं सरस्वती सह धीभिरस्तु ।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः　शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः　११
शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु　शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः ।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः　शं नो भवन्तु पितरो हवेषु　१२
शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु　शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः ।
शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु　शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा　१३
आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तेदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः ।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो　गोजाता उत ये यज्ञियासः　१४
ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां　मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य　यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः　१५ [३०] (३४६)

[चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥ व० १-२०]　　(३६)

९ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् ।

प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य　वि रश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः ।
वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी　पृथु प्रतीकमध्येधे अग्निः　१
इमां वां मित्रावरुणा सुवृक्तिमिषं न कृण्वे असुरा नवीयः ।
इनो वामन्यः पदवीरदब्धो　जनं च मित्रो यतति ब्रुवाणः　२
आ वातस्य ध्रजतो रन्त इत्या　अपीपयन्त धेनवो न सूदाः ।
महो दिवः सदने जायमानो　ऽचिक्रदद्वृषभः सस्मिन्नूधन्　३　(३४९)

अभि य॒ दे॒वी निर्ऋ॑तिश्चि॒दीशे॒ नक्ष॑न्त॒ इन्द्रं॑ श॒रदः॑ सु॒पृक्षः॑ ।
उप॑ त्रि॒बन्धु॑र्ज॒रद॑ष्टिमे॒त्यस्व॑वेशं॒ यं कृ॒णव॑न्त॒ मर्ताः॑ ॥ ७
आ नो॒ राधां॑सि सवितः स्त॒वध्या॒ आ रायो॑ यन्तु॒ पर्व॑तस्य रा॒तौ ।
सदा॑ नो दि॒व्यः पा॒युः सि॑षक्तु यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ ८ [४] (३६३)

(३८)

८ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । १-६ सविता, ६ उत्तरार्धस्य भगो वा, ७-८ वाजिनः । त्रिष्टुप् ।

उदु॒ ष्य दे॒वः स॑वि॒ता य॑याम हिर॒ण्ययी॑म॒मतिं॒ यामशि॑श्रेत् ।
नू॒नं भगो॒ हव्यो॒ मानु॑षेभि॒र्वि यो रत्ना॑ पुरू॒वसु॒र्दधा॑ति ॥ १
उदु॑ तिष्ठ सवितः श्रु॒ध्य१॒॑स्य हिर॑ण्यपाणे॒ प्रभृ॑तावृ॒तस्य॑ ।
व्यु१॒॑र्वीं पृ॒थ्वीम॒मतिं॑ सृजा॒न आ नृभ्यो॑ मर्त॒भोज॑नं सुवा॒नः ॥ २
अपि॑ ष्टु॒तः स॑वि॒ता दे॒वो अ॑स्तु॒ यमा चि॒द् विश्वे॒ वस॑वो गृ॒णन्ति॑ ।
स नः॒ स्तोमा॑न् नम॒स्य१॒॑श्चनो॑ धा॒द् विश्वे॑भिः पातु पा॒युभि॒र्नि सू॒रीन् ॥ ३
अ॒भि यं दे॒व्यदि॑तिर्गृ॒णाति॑ स॒वं दे॒वस्य॑ सवि॒तुर्जु॑षा॒णा ।
अ॒भि स॒म्राजो॒ वरु॑णो गृ॒णन्त्य॒भि मि॒त्रासो॑ अर्य॒मा स॒जोषाः॑ ॥ ४
अ॒भि ये मि॒थो व॒नुषः॒ सप॑न्ते रा॒तिं दि॒वो रा॒तिषाच॑ः पृथि॒व्याः ।
अहि॑र्बु॒ध्न्य॑ उ॒त नः॑ शृणोतु॒ वरू॒त्र्येक॑धेनुभि॒र्नि पा॑तु ॥ ५
अनु॒ तन्नो॒ जास्पति॑र्मंसीष्ट॒ रत्नं॑ दे॒वस्य॑ सवि॒तुरि॑या॒नः ।
भग॑मु॒ग्रोऽव॑से॒ जोह॑वीति॒ भग॒मनु॑ग्रो॒ अध॑ याति॒ रत्न॑म् ॥ ६
शं नो॑ भवन्तु वा॒जिनो॒ हवे॑षु दे॒वता॑ता मि॒तद्र॑वः स्व॒र्काः ।
ज॒म्भय॒न्तोऽहिं॒ वृक॒ रक्षां॑सि॒ सने॑म्य॒स्मद् यु॑यव॒न्नमी॑वाः ॥ ७
वाजे॑वाजेऽवत वाजिनो नो॒ धने॑षु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
अ॒स्य मध्वः॑ पिबत मा॒दय॑ध्वं तृ॒प्ता या॑त प॒थिभि॑र्देव॒यानैः॑ ॥ ८ [५] (३७१)

(३९)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् ।

ऊ॒र्ध्वो अ॒ग्निः सु॑म॒तिं वस्वो॑ अश्रेत् प्र॒तीची॑ जू॒र्णिर्दे॒वता॑तिमेति ।
भे॒जाते॒ अद्री॑ र॒थ्ये॑व॒ पन्था॑मृ॒तं होता॑ न इषि॒तो य॑जाति ॥ १
प्र वा॑वृजे सुप्र॒या ब॒र्हिरे॑षा॒मा वि॒श्पती॑व॒ बीरि॑ट इयाते ।
वि॒शाम॒क्तोरु॒षसः॑ पू॒र्वहू॑तौ वा॒युः पू॒षा स्व॒स्तये॑ नि॒युत्वा॑न् ॥ २ (३७३)

(४१)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । १ अग्निरिन्द्रमित्रावरुणाश्विभगपूषब्रह्मणस्पतिसोमरुद्राः, २-६ भगः, ७ उषसः । त्रिष्टुप्, १ जगती ।

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ॥ १
प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ २
भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३
उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४
भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५
समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ६
अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ [८] (२९१)

(४२)

६ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् ।

प्र ब्रह्माणो अङ्गिरसो नक्षन्त प्र क्रन्दनुर्नभन्यस्य वेतु ।
प्र धेनव उदप्रुतो नवन्त युज्यातामद्री अध्वरस्य पेशः ॥ १
सुगस्ते अग्ने सनवित्तो अध्वा युक्ष्वा सुते हरितो रोहितश्च ।
ये वा सद्मन्नरुषा वीरवाहो हुवे देवानां जनिमानि सत्तः ॥ २
समु वो यज्ञं महयन्नमोभिः प्र होता मन्द्रो रिरिच उपाके ।
यजस्व सु पुर्वणीक देवाना यज्ञियामरमतिं ववृत्याः ॥ ३
यदा वीरस्य रेवतो दुरोणे स्योनशीरतिथिराचिकेतत् ।
सुप्रीतो अग्निः सुधितो दम आ स विशे दाति वार्यमियत्यै ॥ ४ (२९

आ नों दधिक्राः पथ्यांमनक्त्वृतस्य पन्थामन्वेतवा उं ।
शृणोतु नो दैव्यं शर्धो अग्निः शृण्वन्तु विश्वे महिषा अमूराः ५ [११] (४०८)

(४५)

४ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । सविता । त्रिष्टुप् ।

आ देवो यातु सविता सुरत्नोऽन्तरिक्षप्रा वहमानो अश्वैः ।
हस्ते दधानो नर्या पुरूणि निवेशयंञ्च प्रसुवञ्च भूमं १

उदस्य बाहू शिथिरा बृहन्ता हिरण्यया दिवो अन्ताँ अनष्टाम् ।
नूनं सो अस्य महिमा पनिष्ट सूरश्चिदस्मा अनु दादपस्याम् २

स घा नो देवः सविता सहावाऽऽ सांविषद् वसुपतिर्वसूनि ।
विश्रयमाणो अमतिमुरूचीं मर्तभोजनमध रासते नः ३

इमा गिरः सवितारं सुजिह्वं पूर्णगभस्तिमीळते सुपाणिम् ।
चित्रं वयो बृहदस्मे दधातु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ४ [१२] (४१२)

(४६)

४ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । रुद्रः । जगती, ४ त्रिष्टुप् ।

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने ।
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः १

स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति ।
अवन्नवन्तीरुप नो दुरश्चराऽनमीवो रुद्र जासु नो भव २

या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः ।
सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः ३

मा नो वधी रुद्र मा परा दा मा ते भूम प्रसितौ हीळितस्य ।
आ नो भज बर्हिषि जीवशंसे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ४ [१३] (४१६)

(४७)

४ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । आपः । त्रिष्टुप् ।

आपो यं वः प्रथमं देवयन्त इन्द्रपानमूर्मिमकृण्वतेळः ।
तं वो वयं शुचिमरिप्रमद्य घृतप्रुषं मधुमन्तं वनेम १ (४१७)

सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः ।
ससन्तु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः ५

य आस्ते यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः ।
तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा ६

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।
तेना सहस्येना वयं नि जनान् त्स्वापयामसि ७

प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्पशीवरीः
स्त्रियो याः पुण्यगन्धास्ता सर्वाः स्वापयामसि ८ [२२] (४५१)

(५६) [चतुर्थोऽनुवाकः ॥४॥ सू० ५६-७०]

२५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । मरुतः । त्रिष्टुप्, १-११ द्विपदा विराट् ।

क ईं व्यक्ता नरः सनीळा रुद्रस्य मर्या अधा स्वश्वाः १
नकिर्ह्येषां जनूंषि वेद ते अङ्ग विद्रे मिथो जनित्रम् ॥१॥ २
अभि स्वपूभिर्मिथो वपन्त वातस्वनसः श्येना अस्पृध्रन् ३
एतानि धीरो निण्या चिकेत पृश्निर्यदूधो मही जभार ॥२॥ ४
सा विट् सुवीरा मरुद्भिरस्तु सनात् सहन्ती पुष्यन्ती नृम्णम् ५
यामं येष्ठाः शुभा शोभिष्ठाः श्रिया संमिश्ला ओजोभिरुग्राः ॥३॥ ६
उग्रं व ओजः स्थिरा शवांस्यधा मरुद्भिर्गणस्तुविष्मान् ७
शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि धुनिर्मुनिरिव शर्धस्य धृष्णोः ॥४॥ ८
सनेम्यस्मद् युयोत दिद्युं मा वो दुर्मतिरिह प्रणङ्नः ९
प्रिया वो नाम हुवे तुराणामा यत् तृपन्मरुतो वावशानाः ॥५॥ १० [२३]

स्वायुधास इष्मिणः सुनिष्का उत स्वयं तन्वः शुम्भमानाः ॥६॥ ११
शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां शुचिं हिनोम्यध्वरं शुचिभ्यः ।
ऋतेन सत्यमृतसाप आयञ्छुचिजन्मानः शुचयः पावकाः १२
अंसेष्वा मरुतः खादयो वो वक्षःसु रुक्मा उपशिश्रियाणाः ।
वि विद्युतो न वृष्टिभी रुचाना अनु स्वधामायुधैर्यच्छमानाः १३
प्र बुध्न्या व ईरते महांसि प्र नामानि प्रयज्यवस्तिरध्वम् ।
सहस्रियं दम्यं भागमेतं गृहमेधीयं मरुतो जुषध्वम् १४ (४६६)

निचेतारो हि मरुतो गृणन्तं प्रणेतारो यजमानस्य मन्म ।
अस्माकमद्य विदथेषु बर्हिरा वीतये सदत पिप्रियाणाः २

नैतावदन्ये मरुतो यथेमे भ्राजन्ते रुक्मैरायुधैस्तनूभिः ।
आ रोदसी विश्वपिशः पिशानाः समानमञ्ज्यञ्जते शुभे कम् ३

ऋधक् सा वो मरुतो दिद्युदस्तु यद् व आगः पुरुषता कराम ।
मा वस्तस्यामपि भूमा यजत्रा अस्मे वो अस्तु सुमतिश्चनिष्ठा ४

कृते चिदत्र मरुतो रणन्तानवद्यासः शुचयः पावकाः ।
प्र णोऽवत सुमतिभिर्यजत्राः प्र वाजेभिस्तिरत पुष्यसे नः ५

उत स्तुतासो मरुतो व्यन्तु विश्वेभिर्नामभिर्नरो हवींषि ।
ददात नो अमृतस्य प्रजायै जिगृत रायः सूनृता मघानि ६

आ स्तुतासो मरुतो विश्व ऊती अच्छा सूरीन् त्सर्वताता जिगात ।
ये नस्त्मना शतिनो वर्धयन्ति यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ७ [२७] (४८४)

(५८)

६ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । मरुतः । त्रिष्टुप् ।

प्र साकमुक्षे अर्चता गणाय यो दैव्यस्य धाम्नस्तुविष्मान् ।
उत क्षोदन्ति रोदसी महित्वा नक्षन्ते नाकं निर्ऋतेरवंशात् १

जनूश्चिद् वो मरुतस्त्वेष्येण भीमासस्तुविमन्यवोऽयासः ।
प्र ये महोभिरोजसोत सन्ति विश्वो वो यामन् भयते स्वर्दृक् २

बृहद् वयो मघवद्भ्यो दधात जुजोषन्निन्मरुतः सुष्टुतिं नः ।
गतो नाध्वा वि तिराति जन्तुं प्र णः स्पार्हाभिरूतिभिस्तिरेत ३

युष्मोतो विप्रो मरुतः शतस्वी युष्मोतो अर्वा सहुरिः सहस्री ।
युष्मोतः सम्राळुत हन्ति वृत्रं प्र तद् वो अस्तु धूतयो देष्णम् ४

ताँ आ रुद्रस्य मीळ्हुषो विवासे कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः ।
यत् सस्वर्ता जिहीळिरे यदाविरव तदेन ईमहे तुराणाम् ५

प्र सा वाचि सुष्टुतिर्मघोनामिदं सूक्तं मरुतो जुषन्त ।
आराच्चिद् द्वेषो वृषणो युयोत यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ६ [२८] (४९०)

एष स्य मित्रावरुणा नृचक्षा उभे उदेति सूर्यो अभि ज्मन्।
विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपा ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् २

अयुक्त सप्त हरितः सधस्थाद् या ईं वहन्ति सूर्यं घृताचीः।
धामानि मित्रावरुणा युवाकुः सं यो यूथेव जनिमानि चष्टे ३

उद् वां पृक्षासो मधुमन्तो अस्थु-रा सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णः।
यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः ४

इमे चेतारो अनृतस्य भूरे-र्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति।
इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः ५

इमे मित्रो वरुणो दूळभासो ऽचेतसं चिच्चितयन्ति दक्षैः।
अपि क्रतुं सुचेतसं वतन्त-स्तिरश्चिदंहः सुपथा नयन्ति ६ [१]

इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्या-श्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति।
प्रव्राजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन् ७

यद् गोपावददितिः शर्म भद्रं मित्रो यच्छन्ति वरुणः सुदासे।
तस्मिन्ना तोकं तनयं दधाना मा कर्म देवहेळनं तुरासः ८

अव वेदिं होत्राभिर्यजेत रिपः काश्चिद् वरुणध्रुतः सः।
परि द्वेषोभिरर्यमा वृणक्तू-रुं सुदासे वृषणा उ लोकम् ९

सस्वश्चिद्धि समृतिस्त्वेष्येषा-मपीच्येन सहसा सहन्ते।
युष्मद् भिया वृषणो रेजमाना दक्षस्य चिन्महिना मृळता नः १०

यो ब्रह्मणे सुमतिमायजाते वाजस्य सातौ परमस्य रायः।
सीक्षन्त मन्युं मघवानो अर्य उरु क्षयाय चक्रिरे सुधातु ११

इयं देव पुरोहितिर्युवभ्यां यज्ञेषु मित्रावरुणावकारि।
विश्वानि दुर्गा पिपृतं तिरो नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः १२ [२] (५१४)

(६१)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। मित्रावरुणौ। त्रिष्टुप्।

उद् वां चक्षुर्वरुण सुप्रतीकं देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान्।
अभि यो विश्वा भुवनानि चष्टे स मन्युं मर्त्येष्वा चिकेत १ (५१०)

(६३)

६ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । १-४ सूर्यः, ५ सूर्य-मित्रावरुणाः, ६ मित्रावरुणौ अर्यमा च । त्रिष्टुप् ।

उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम् ।
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य देवश्चर्मेव यः समविव्यक् तमांसि ॥ १

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्यस्य ।
समानं चक्रं पर्याविवृत्सन् यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः ॥ २

विभ्राजमान उषसामुपस्थाद् रेभैरुदेत्यनुमद्यमानः ।
एष मे देवः सविता चच्छन्द यः समानं न प्रमिनाति धाम ॥ ३

दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरेअर्थस्तरणिर्भ्राजमानः ।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि ॥ ४

यत्रा चक्रुरमृता गातुमस्मै श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः ।
प्रति वां सूर उदिते विधेम नमोभिर्मित्रावरुणोत हव्यैः ॥ ५

नू मित्रो वरुणो अर्यमा नस्त्मने तोकाय वरिवो दधन्तु ।
सुगा नो विश्वा सुपथानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ [५] (५३३)

(६४)

५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । मित्रावरुणौ । त्रिष्टुप् ।

दिवि क्षयन्ता रजसः पृथिव्यां प्र वां घृतस्य निर्णिजो ददीरन् ।
हव्यं नो मित्रो अर्यमा सुजातो राजा सुक्षत्रो वरुणो जुषन्त ॥ १

आ राजाना मह ऋतस्य गोपा सिन्धुपती क्षत्रिया यातमर्वाक् ।
इळां नो मित्रावरुणोत वृष्टिमव दिव इन्वतं जीरदानू ॥ २

मित्रस्तन्नो वरुणो देवो अर्यः प्र साधिष्ठेभिः पथिभिर्नयन्तु ।
ब्रवद् यथा न आदरिः सुदास इषा मदेम सह देवगोपाः ॥ ३

यो वां गर्तं मनसा तक्षदेतमूर्ध्वां धीतिं कृणवद् धारयच्च ।
उक्षेथां मित्रावरुणा घृतेन ता राजाना सुक्षितीस्तर्पयेथाम् ॥ ४

एष स्तोमो वरुण मित्र तुभ्यं सोमः शुक्रो न वायवेऽयामि ।
[illegible] ॥ ५ [६] (५३८)

वि ये दुधुः शरदं मासमादह र्यज्ञमक्तुं चादृचम् ।
अनाप्यं वरुणो मित्रो अर्यमा क्षत्रं राजान आशत ११

तद् वो अद्य मनामहे सूक्तैः सूर उदिते ।
यदोहते वरुणो मित्रो अर्यमा यूयमृतस्य रथ्यः १२

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः ।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः १३

उदु त्यद् दर्शतं वपु र्दिव एति प्रतिह्वरे ।
यदीमाशुर्वहति देव एतशो विश्वस्मै चक्षसे अरम् १४

शीर्ष्णःशीर्ष्णो जगतस्तस्थुषस्पतिं समया विश्वमा रजः ।
सप्त स्वसारः सुविताय सूर्यं वहन्ति हरितो रथे १५ [१०]

तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् १६

काव्येभिरदाभ्या ऽऽ यातं वरुण द्युमत् । मित्रश्च सोमपीतये १७

दिवो धामभिर्वरुण मित्रश्चा यातमद्रुहा । पिबतं सोममातुजी १८

आ यातं मित्रावरुणा जुषाणावाहुतिं नरा । पातं सोममृतावृधा १९ [११] (५६२)

(६७)

१० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अश्विनौ । त्रिष्टुप् ।

प्रति वां रथं नृपती जरध्यै हविष्मता मनसा यज्ञियेन ।
यो वां दूतो न धिष्ण्यावजीग रच्छा सूनुर्न पितरा विवक्मि १

अशोच्यग्निः समिधानो अस्मे उपो अदृश्रन् तमसश्चिदन्ताः ।
अचेति केतुरुषसः पुरस्ता च्छ्रिये दिवो दुहितुर्जायमानः २

अभि वां नूनमश्विना सुहोता स्तोमैः सिषक्ति नासत्या विवक्वान् ।
पूर्वीभिर्यातं पथ्याभिरर्वाक् स्वर्विदा वसुमता रथेन ३

अवोर्वां नूनमश्विना युवाकु र्हुवे यद् वां सुते माध्वी वसूयुः ।
आ वां वहन्तु स्थविरासो अश्वाः पिबाथो अस्मे सुषुता मधूनि ४

प्राचीमु देवाश्विना धियं मे ऽमृध्रां सातये कृतं वसूयुम् ।
विश्वा अविष्टं वाज आ पुरंधी स्ता नः शक्तं शचीपती शचीभिः ५ [१२] (५६७)

वृकाय चिज्जसमानाय शक्त—मुत श्रुत शयवे हूयमाना ।
यावघ्न्यामपिन्वतमपो न स्तर्यं चिच्छक्त्यश्विना शचीभिः ८

एष स्य कारुर्जरते सूक्तै—रग्रे बुधान उषसां सुमन्मा ।
इषा तं वर्धदघ्न्या पयोभि—र्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ९ [१५] (५८१)

(६९)

८ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अश्विनौ । त्रिष्टुप् ।

आ वां रथो रोदसी बद्बधानो हिरण्ययो वृषभिर्यात्वश्वैः ।
घृतवर्तनिः पविभी रुचान इषां वोळ्हा नृपतिर्वाजिनीवान् १

स पप्रथानो अभि पञ्च भूमा त्रिवन्धुरो मनसा यातु युक्तः ।
विशो येन गच्छथो देवयन्तीः कुत्रा चिद् याममश्विना दधाना २

स्वश्वा यशसा यातमर्वाग् दस्रा निधिं मधुमन्तं पिबाथः ।
वि वां रथो वध्वा यादमानो ऽन्तान् दिवो बाधते वर्तनिभ्याम् ३

युवोः श्रियं परि योषावृणीत सूरो दुहिता परितक्म्यायाम् ।
यद् देवयन्तमवथः शचीभिः परि घ्रंसमोमना वां वयो गात् ४

यो ह स्य वां रथिरा वस्त उस्रा रथो युजानः परियाति वर्तिः ।
तेन नः शं योरुषसो व्युष्टौ न्यश्विना वहतं यज्ञे अस्मिन् ५

नरा गौरेव विद्युतं तृषाणा ऽस्माकमद्य सवनोप यातम् ।
पुरुत्रा हि वां मतिभिर्हवन्ते मा वामन्ये नि यमन् देवयन्तः ६

युवं भुज्युमवविद्धं समुद्र उदूहथुरर्णसो अस्रिधानैः ।
पतत्रिभिरश्रमैरव्यथिभि—र्दंसनाभिरश्विना पारयन्ता ७

नू मे हवमा शृणुतं युवाना यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत् ।
धत्तं रत्नानि जरतं च सूरीन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ८ [१६] (५८९)

(७०)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अश्विनौ । त्रिष्टुप् ।

आ विश्ववाराश्विना गतं नः प्र तत् स्थानमवाचि वां पृथिव्याम् ।
अश्वो न वाजी शुनपृष्ठो अस्था—दा यत् सेदथुर्ध्रुवसे न योनिम् १ (५९०)

वृकाय चिज्जसमानाय शक्त—मुत श्रुतं शयवे हूयमाना ।
यावघ्न्यामपिन्वतमपो न स्तर्यं चिच्छक्त्यश्विना शचीभिः ८

एष स्य कारुर्जरते सूक्तै—रग्रे बुधान उषसां सुमन्मा ।
इषा तं वर्धदघ्न्या पयोभि—र्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ९ [१५] (५८१)

(६९)

८ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अश्विनौ । त्रिष्टुप् ।

आ वां रथो रोदसी बद्बधानो हिरण्ययो वृषभिर्यात्वश्वैः ।
घृतवर्तनिः पविभी रुचान इषां वोळ्हा नृपतिर्वाजिनीवान् १

स पप्रथानो अभि पञ्च भूमा त्रिवन्धुरो मनसा यातु युक्तः ।
विशो येन गच्छथो देवयन्तीः कुत्रा चिद् याममश्विना दधाना २

स्वश्वा यशसा यातमर्वाग् दस्रा निधिं मधुमन्तं पिबाथः ।
वि वां रथो वध्वा३ यादमानो ऽन्तान् दिवो बाधते वर्तनिभ्याम् ३

युवोः श्रियं परि योषावृणीत सूरो दुहिता परितक्म्यायाम् ।
यद् देवयन्तमवथः शचीभिः परि घ्रंसमोमना वां वयो गात् ४

यो ह स्य वां रथिरा वस्त उस्रा रथो युजानः परियाति वर्तिः ।
तेन नः शं योरुषसो व्युष्टौ न्यश्विना वहतं यज्ञे अस्मिन् ५

नरा गौरेव विद्युतं तृषाणा ऽस्माकमद्य सवनोप यातम् ।
पुरुत्रा हि वां मतिभिर्हवन्ते मा वामन्ये नि यमन् देवयन्तः ६

युवं भुज्युमवविद्धं समुद्र उदूहथुरर्णसो अस्रिधानैः ।
पतत्रिभिरश्रमैरव्यथिभि—र्दंसनाभिरश्विना पारयन्ता ७

नू मे हवमा शृणुतं युवाना यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत् ।
धत्तं रत्नानि जरतं च सूरीन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ८ [१६] (५८९)

(७०)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अश्विनौ । त्रिष्टुप् ।

आ विश्ववाराश्विना गतं नः प्र तत् स्थानमवाचि वां पृथिव्याम् ।
अश्वो न वाजी शुनपृष्ठो अस्था—दा यत् सेदथुर्ध्रुवसे न योनिम् १ (५९०)

(७२)

५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ । अश्विनौ । त्रिष्टुप् ।

आ गोम॑ता नासत्या॒ रथे॒ना ऽश्वा॑वता पुरुश्च॒न्द्रेण॑ यातम् ।
अ॒भि वां॒ विश्वा॑ नि॒युत॑ः सचन्ते स्पार्हया॑ श्रि॒या त॒न्वा॑ शुभा॒ना १

आ नो॑ दे॒वेभि॒रुप॑ यातम॒र्वाक् स॒जोष॑सा नासत्या॒ रथे॑न ।
यु॒वोर्हि नः॑ स॒ख्या पित्र्या॑णि समा॒नो बन्धु॑रु॒त तस्य॑ वित्तम् २

उदु॒ स्तोमा॑सो अ॒श्विनो॑रबुध्र जा॒मि ब्रह्मा॑ण्यु॒पस॑श्च दे॒वीः ।
आ॒वि॒वास॑न् रोद॑सी धिष्ण्ये॒मे अच्छा॒ विप्रो॒ नास॑त्या विवक्ति ३

वि चेदु॒च्छन्त्य॑श्विना उ॒षास॑ः प्र वां॒ ब्रह्मा॑णि का॒रवो॑ भरन्ते ।
ऊ॒र्ध्वं भा॒नुं स॑वि॒ता दे॒वो अ॑श्रेद् बृ॒हद॒ग्नय॑ः स॒मिधा॑ जरन्ते ४

आ प॒श्चाता॑न्नासत्या॒ पु॒रस्ता॒ दाश्वि॑ना यातमध॒रादुद॑क्तात् ।
आ वि॒श्वत॑ः पाञ्च॑जन्येन रा॒या यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः ५ [१९] (६०७)

(७३)

५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अश्विनौ । त्रिष्टुप् ।

अता॑रिष्म॒ तम॑सस्पा॒रम॒स्य प्रति॒ स्तोमं॑ देव॒यन्तो॒ दधा॑नाः ।
पु॒रु॒दंसा॑ पुरु॒तमा॑ पुरा॒जा ऽम॑र्त्या हवते अ॒श्विना॒ गीः १

न्यु॑ प्रि॒यो मनु॑षः सादि॒ होता॒ नास॑त्या॒ यो यज॑ते॒ वन्द॑ते च ।
अ॒श्नी॒त मध्वो॑ अश्विना उपा॒क आ वां॑ वोचे वि॒दथे॑षु॒ प्रय॑स्वान् २

अहे॑म य॒ज्ञं प॒थामु॑रा॒णा इ॒मां सु॑वृ॒क्तिं वृ॑षणा जुषेथाम् ।
श्रु॒ष्टी॒वेव॒ प्रेषि॑तो वामबोधि॒ प्रति॒ स्तोमै॒र्जर॑माणो॒ वसि॑ष्ठः ३

उप॒ त्या वह्नी॑ गमतो॒ विशं॑ नो रक्षो॒हणा॒ सम्भृ॑ता वी॒ळुपा॑णी ।
सम्न्धां॑स्यग्मत मत्स॒राणि॒ मा नो॑ मर्धिष्ट॒मा ग॑तं शि॒वेन॑ ४

आ प॒श्चाता॑न्नासत्या॒ पु॒रस्ता॒ दाश्वि॑ना यातमध॒रादुद॑क्तात् ।
आ वि॒श्वत॑ः पाञ्च॑जन्येन रा॒या यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः ५ [२०] (६१२)

प्रति द्युतानामरुषासो अश्वा॑श्चित्रा अदृश्रन्नुषसं वहन्तः ।
याति शुभ्रा विश्वपिशा रथेन दधाति रत्नं विधते जनाय ६
सत्या सत्येभिर्महती महद्भि॑र्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः ।
रुजद् दृळ्हानि ददंदुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त ७
नू नो गोमद् वीरवद् धेहि रत्न॑मुषो अश्वावत् पुरुभोजो अस्मे ।
मा नो बर्हिः पुरुषता निदे क॑र्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ८ [२२] (६१६)

(७६)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । उषस । त्रिष्टुप् ।

उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत् ।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षु॑राविरकर्भुवनं विश्वमुषाः १
प्र मे पन्था देवयाना अदृश्र॑न्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः ।
अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात् प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः २
तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य ।
यतः परि जार इवाचर॑न्त्युषो ददृक्षे न पुनर्यतीव ३
त इद् देवानां सधमाद आस॑न्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः ।
गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन् त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ४
समान ऊर्वे अधि संगतासः सं जानते न यतन्ते मिथस्ते ।
ते देवानां न मिनन्ति व्रता॑न्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः ५
प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः ।
गवां नेत्री वाजपत्नी न उच्छो॑षः सुजाते प्रथमा जरस्व ६
एषा नेत्री राधसः सूनृताना॑मुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः ।
दीर्घश्रुतं रयिमस्मे दधाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ७ [२३] (६२३)

(७७)

६ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । उषसः । त्रिष्टुप् ।

उपो रुरुचे युवतिर्न योषा विश्वं जीवं प्रसुवन्ती चरायै ।
अभूदग्निः समिधे मानुषाणा॑मकर्ज्योतिर्बाधमाना तमांसि १ (६२४)

व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्तून् विशो न युक्ता उषसो यतन्ते ।
सं ते गावस्तम आ वर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति सवितेव बाहू २
अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि ।
वि दिवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि ३
तावदुषो राधो अस्मभ्यं रास्व यावत् स्तोतृभ्यो अरदो गृणाना ।
यां त्वा जज्ञुर्वृषभस्या रवेण वि दृळ्हस्य दुरो अद्रेरौर्णोः ४
देवंदेवं राधसे चोदयन्त्यस्मद्र्यक् सूनृता ईरयन्ती ।
व्युच्छन्ती नः सनये धियो धा यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ५ [२६] (६४०)

(८०)

३ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ । उषस । त्रिष्टुप् ।

प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा गीर्भिर्विप्रासः प्रथमा अबुध्रन् ।
विवर्तयन्तीं रजसी समन्ते आविष्कृण्वतीं भुवनानि विश्वा १
एषा स्या नव्यमायुर्दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि ।
अग्र एति युवतिरह्रयाणा प्राचिकितत् सूर्यं यज्ञमग्निम् २
अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ३ [२७] (६५१)

[अथ षष्ठोऽध्यायः ॥६॥ व० १-२५] (८१)

६ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । उषस । प्रगाथ = (विषमा बृहती, समा सतोबृहती) ।

प्रत्यु अदर्श्यायत्यु१च्छन्ती दुहिता दिवः ।
अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी १
उदुस्रियाः सृजते सूर्यः सचाँ उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत् ।
तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि २
प्रति त्वा दुहितर्दिव उषो जीरा अभुत्स्महि ।
या वहसि पुरु स्पार्हं वनन्वति रत्नं न दाशुषे मयः ३
उच्छन्ती या कृणोषि मंहना महि प्रख्यै देवि स्वर्दृशे ।
तस्यास्ते रत्नभाज ईमहे वयं स्याम मातुर्न सूनवः ४ (६५६)

(८३)

१० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रावरुणौ । जगती ।

युवां नरा पश्यमानास आप्यं प्राचा गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः ।
दासा च वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम् १
यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो यस्मिन्नाजा भवति किं चन प्रियम् ।
यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृश स्तत्रा न इन्द्रावरुणाधि वोचतम् २
सं भूम्या अन्ता ध्वसिरा अदृक्षते न्द्रावरुणा दिवि घोष आरुहत् ।
अस्थुर्जनानामुप मामरातयो ऽर्वागवसा हवनश्रुता गतम् ३
इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति भेदं वन्वन्ता प्र सुदासमावतम् ।
ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत् पुरोहितिः ४
इन्द्रावरुणावभ्या तपन्ति माघान्यर्यो वनुषामरातयः ।
युवं हि वस्व उभयस्य राजथो ऽध स्मा नोऽवतं पार्ये दिवि ५ [४]

युवां हवन्त उभयास आजिष्वि न्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये ।
यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह ६
दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः ।
सत्या नृणामद्मसदामुपस्तुति र्देवा एषामभवन् देवहूतिषु ७
दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम् ।
श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः ८
वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा ।
हवामहे वां वृषणा सुवृक्तिभि रस्मे इन्द्रावरुणा शर्म यच्छतम् ९
अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः ।
अवध्रं ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे १० [५] (६७८)

(८४)

५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रावरुणौ । त्रिष्टुप् ।

आ वां राजानावध्वरे ववृत्यां हव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः ।
प्र वां घृताची बाह्वोर्दधाना परि त्मना विषुरूपा जिगाति १ (६७९)

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षू- पो एमि चिकितुषो विपृच्छम् ।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहु- रयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ३
किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत् स्तोतारं जिघांससि सखायम् ।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावो ऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम् ४
अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नो ऽव या वयं चकृमा तनूभिः ।
अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ५
न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः ।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ६
अरं दासो न मीळ्हुषे करा- ण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः ।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ७
अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु ।
शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ८ [८] (६९६)

(८७)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ । वरुणः । त्रिष्टुप् ।

रदत् पथो वरुणः सूर्याय प्राणांसि समुद्रिया नदीनाम् ।
सर्गो न सृष्टो अर्वतीर्ऋतायं- श्चकार महीरवनीरहभ्यः १
आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत् पशुर्न भूर्णिर्यवसे ससवान् ।
अन्तर्मही बृहती रोदसीमे विश्वा ते धाम वरुण प्रियाणि २
परि स्पशो वरुणस्य स्मदिष्टा उभे पश्यन्ति रोदसी सुमेके ।
ऋतावानः कवयो यज्ञधीराः प्रचेतसो य इषयन्त मन्म ३
उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिः सप्त नामाघ्न्या बिभर्ति ।
विद्वान् पदस्य गुह्या न वोचद् युगाय विप्र उपराय शिक्षन् ४
तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः ।
गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्खं हिरण्ययं शुभे कम् ५
अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थाद् द्रप्सो न श्वेतो मृगस्तुविष्मान् ।
गम्भीरशंसो रजसो विमानः सुपारक्षत्रः सतो अस्य राजा ६ (७०२)

(९०) [षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥ सू० ९०-१०४]

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । वायुः, ५-७ इन्द्रवायू । त्रिष्टुप् ।

प्र वीरया शुचयो दद्रिरे वामध्वर्युभिर्मधुमन्तः सुतासः ।
वह वायो नियुतो याह्यच्छा पिबा सुतस्यान्धसो मदाय १
ईशानाय प्रहुतिं यस्त आनट् शुचिं सोमं शुचिपास्तुभ्यं वायो ।
कृणोषि तं मर्त्येषु प्रशस्तं जातोजातो जायते वाज्यस्य २
राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे राये देवी धिषणा धाति देवम् ।
अध वायुं नियुतः सश्चत स्वा उत श्वेतं वसुधितिं निरेके ३
उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः ।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः ४
ते सत्येन मनसा दीध्यानाः स्वेन युक्तासः क्रतुना वहन्ति ।
इन्द्रवायू वीरवाहं रथं वामीशानयोरभि पृक्षः सचन्ते ५
ईशानासो ये दधते स्वर्णो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्हिरण्यैः ।
इन्द्रवायू सूरयो विश्वमायुरर्वद्भिर्वीरैः पृतनासु सह्युः ६
अर्वन्तो न श्रवसो भिक्षमाणा इन्द्रवायू सुष्टुतिभिर्वसिष्ठाः ।
वाजयन्तः स्ववसे हुवेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ७ [१२] (७२०)

(९१)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । १, ३ वायुः । २, ४-७ इन्द्रवायू । त्रिष्टुप् ।

कुविदङ्ग नमसा ये वृधासः पुरा देवा अनवद्यास आसन् ।
ते वायवे मनवे बाधितायाऽवासयन्नुषसं सूर्येण १
उशन्ता दूता न दभाय गोपा मासश्च पाथः शरदश्च पूर्वीः ।
इन्द्रवायू सुष्टुतिर्वामियाना मार्डीकमीट्टे सुवितं च नव्यम् २
पीवोअन्नाँ रयिवृधः सुमेधाः श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः ।
ते वायवे समनसो वि तस्थुर्विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः ३
यावत् तरस्तन्वो यावदोजो यावन्नरश्चक्षसा दीध्यानाः ।
शुचिं सोमं शुचिपा पातमस्मे इन्द्रवायू सदतं बर्हिरेदम् ४ (७२६)

(९०) [षष्ठोऽनुवाकः ॥६॥ सू० ९०-१०४]

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । वायुः, ५-७ इन्द्रवायू । त्रिष्टुप् ।

प्र वीरया शुचयो दद्रिरे वामध्वर्युभिर्मधुमन्तः सुतासः ।
वह वायो नियुतो याह्यच्छा पिबा सुतस्यान्धसो मदाय १
ईशानाय प्रहुतिं यस्त आनट् शुचिं सोमं शुचिपास्तुभ्यं वायो ।
कृणोषि तं मर्त्येषु प्रशस्तं जातोजातो जायते वाज्यस्य २
राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे राये देवी धिषणा धाति देवम् ।
अध वायुं नियुतः सश्चत स्वा उत श्वेतं वसुधितिं निरेके ३
उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः ।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः ४
ते सत्येन मनसा दीध्यानाः स्वेन युक्तासः क्रतुना वहन्ति ।
इन्द्रवायू वीरवाहं रथं वामीशानयोरभि पृक्षः सचन्ते ५
ईशानासो ये दधते स्वर्णो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्हिरण्यैः ।
इन्द्रवायू सूरयो विश्वमायुरर्वद्भिर्वीरैः पृतनासु सह्युः ६
अर्वन्तो न श्रवसो भिक्षमाणा इन्द्रवायू सुष्टुतिभिर्वसिष्ठाः ।
वाजयन्तः स्ववसे हुवेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ७ [१२] (७२०)

(९१)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । १, ३ वायुः, २, ४-७ इन्द्रवायू । त्रिष्टुप् ।

कुविदङ्ग नमसा ये वृधासः पुरा देवा अनवद्यास आसन् ।
ते वायवे मनवे बाधितायावासयन्नुषसं सूर्येण १
उशन्ता दूता न दभाय गोपा मासश्च पाथः शरदश्च पूर्वीः ।
इन्द्रवायू सुष्टुतिर्वामियाना मार्डीकमीट्टे सुवितं च नव्यम् २
पीवोअन्नाँ रयिवृधः सुमेधाः श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः ।
ते वायवे समनसो वि तस्थुर्विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः ३
यावत्तरस्तन्वो यावदोजो यावन्नरश्चक्षसा दीध्यानाः ।
शुचिं सोमं शुचिपा पातमस्मे इन्द्रवायू सदतं बर्हिरेदम् ४ (७२६)

गीर्भिर्विप्रः प्रमतिमिच्छमान ईट्टे रयिं यशसं पूर्वभाजम् ।
इन्द्राग्नी वृत्रहणा सुवज्रा प्र नो नव्येभिस्तिरतं देष्णैः ४
सं यन्मही मिथती स्पर्धमाने तनूरुचा शूरसाता यतैते ।
अदेवयुं विदथे देवयुभिः सत्रा हतं सोमसुता जनेन ५ [१५]

इमामु षु सोमसुतिमुप न एन्द्राग्नी सौमनसाय यातम् ।
नू चिद्धि परिमम्नाथे अस्मा ना वां शश्वद्भिर्ववृतीय वाजैः ६
सो अग्न एना नमसा समिद्धो ऽच्छा मित्रं वरुणमिन्द्रं वोचेः ।
यत् सीमागश्चकृमा तत् सु मृळ तदर्यमादितिः शिश्रथन्तु ७
एता अग्न आशुषाणास इष्टी र्युवोः सचाभ्यश्याम वाजान् ।
मेन्द्रो नो विष्णुर्मरुतः परि ख्यन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ८ [१६] (७४२)

(९४)

१२ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्राग्नी । गायत्री, १२ अनुष्टुप् ।

इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः । अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि १
शृणुतं जरितुर्हव मिन्द्राग्नी वनतं गिरः । ईशाना पिप्यतं धियः २
मा पापत्वाय नो नरे न्द्राग्नी माभिशस्तये । मा नो रीरधतं निदे ३
इन्द्रे अग्ना नमो बृहत् सुवृक्तिमेरयामहे । धिया धेना अवस्यवः ४
ता हि शश्वन्त ईळत इत्था विप्रास ऊतये । सबाधो वाजसातये ५
ता वां गीर्भिर्विपन्यवः प्रयस्वन्तो हवामहे । मेधसाता सनिष्यवः ६ [१७]

इन्द्राग्नी अवसा गत मस्मभ्यं चर्षणीसहा । मा नो दुःशंस ईशत ७
मा कस्य नो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य । इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम् ८
गोमद्धिरण्यवद् वसु यद् वामश्वावदीमहे । इन्द्राग्नी तद् वनेमहि ९
यत् सोम आ सुते नर इन्द्राग्नी अजोहवुः । सप्तीवन्ता सपर्यवः १०
उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा । आङ्गूषैराविवासतः ११
ताविद् दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम् । आभोगं हन्मना हत मुदधिं हन्मना हतम् १२
[१८] (७५४)

गीर्भिर्विप्रः प्रमतिमिच्छमान ईट्टे रयिं यशसं पूर्वभाजम् ।
इन्द्राग्नी वृत्रहणा सुवज्रा प्र नो नव्येभिस्तिरतं देष्णैः ४
स यन्मही मिथती स्पर्धमाने तनूरुचा शूरसाता यतैते ।
अदेवयुं विदथे देवयुभिः सत्रा हतं सोमसुता जनेन ५ [१५]

इमामु षु सोमसुतिमुप न एन्द्राग्नी सौमनसाय यातम् ।
नू चिद्धि परिमम्नाथे अस्मा ना वां शश्वद्भिर्ववृतीय वाजैः ६
सो अग्न एना नमसा समिद्धो ऽच्छा मित्रं वरुणमिन्द्रं वोचेः ।
यत् सीमागश्चकृमा तत् सु मृळ तदर्यमादितिः शिश्रथन्तु ७
एता अग्न आशुषाणास इष्टी र्युवोः सचाभ्यश्याम वाजान् ।
मेन्द्रो नो विष्णुर्मरुतः परि ख्यन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ८ [१६] (७४२)

(९४)

१२ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्राग्नी । गायत्री, १२ अनुष्टुप् ।

इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः । अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि १
शृणुतं जरितुर्हव मिन्द्राग्नी वनतं गिरः । ईशाना पिप्यतं धियः २
मा पापत्वाय नो नरे न्द्राग्नी माभिशस्तये । मा नो रीरधतं निदे ३
इन्द्रे अग्ना नमो बृहत् सुवृक्तिमेरयामहे । धिया धेना अवस्यवः ४
ता हि शश्वन्त ईळत इत्था विप्रास ऊतये । सबाधो वाजसातये ५
ता वां गीर्भिर्विपन्यवः प्रयस्वन्तो हवामहे । मेधसाता सनिष्यवः ६ [१७]

इन्द्राग्नी अवसा गत मस्मभ्यं चर्षणीसहा । मा नो दुःशंस ईशत ७
मा कस्य नो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य । इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम् ८
गोमद्धिरण्यवद् वसु यद् वामश्वावदीमहे । इन्द्राग्नी तद् वनेमहि ९
यत् सोम आ सुते नर इन्द्राग्नी अजोहवुः । सप्तीवन्ता सपर्यवः १०
उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा । आङ्गूषैराविवासतः ११
ताविद् दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम् । आभोगं हन्मना हत मुदधिं हन्मना हतम् १२
[१८] (७५४)

(९७)

१० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । १ इन्द्र , २, ४-८ बृहस्पति ; ३, ९ इन्द्राब्रह्मणस्पती,
१० इन्द्राबृहस्पती । त्रिष्टुप् ।

यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या　नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
इन्द्राय यत्र सवनानि सुन्वे　गमन्मदाय प्रथमं वयश्च　१
आ दैव्या वृणीमहेऽवांसि　बृहस्पतिर्नो मह आ सखायः ।
यथा भवेम मीळ्हुषे अनागा　यो नो दाता परावतः पितेव　२
तमु ज्येष्ठं नमसा हविर्भिः　सुशेवं ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे ।
इन्द्रं श्लोको महि दैव्यः सिषक्तु　यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा　३
स आ नो योनिं सदतु प्रेष्ठो　बृहस्पतिर्विश्ववारो यो अस्ति ।
कामो रायः सुवीर्यस्य तं दात्　पर्षन्नो अति सश्चतो अरिष्टान्　४
तमा नो अर्कममृताय जुष्ट-　मिमे धासुरमृतासः पुराजाः ।
शुचिक्रन्दं यजतं पस्त्यानां　बृहस्पतिमनर्वाणं हुवेम　५ [२१]

तं शग्मासो अरुषासो अश्वा　बृहस्पतिं सहवाहो वहन्ति ।
सहश्चिद्यस्य नीलवत्सधस्थं　नभो न रूपमरुषं वसानाः　६
स हि शुचिः शतपत्रः स शुन्ध्यु-　र्हिरण्यवाशीरिषिरः स्वर्षाः ।
बृहस्पतिः स स्वावेश ऋष्वः　पुरू सखिभ्य आसुतिं करिष्ठः　७
देवी देवस्य रोदसी जनित्री　बृहस्पतिं वावृधतुर्महित्वा ।
दक्षाय्याय दक्षता सखायः　करद्ब्रह्मणे सुतरा सुगाधा　८
इयं वां ब्रह्मणस्पते सुवृक्ति-　र्ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे अकारि ।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधी-　र्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः　९
बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो　दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्　यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः　१० [२२] (७७६)

(९८)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः, ७ इन्द्राबृहस्पती । त्रिष्टुप् ।

अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं　जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम् ।
गौराद्वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो　विश्वाहेद्याति सुतसोममिच्छन्　१　(७७७)

यद् दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि ।
उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान् पाहि सोमान् ॥ २

जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच ।
एन्द्र पप्राथोर्व१न्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ ॥ ३

यद् योधया महतो मन्यमानान् साक्षाम तान् बाहुभिः शाशदानान् ।
यद् वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्या- स्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम ॥ ४

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार ।
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य ॥ ५

तवेदं विश्वमभितः पशव्यं१ यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य ।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥ ६

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ [२१] (८०१)

(९९)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विष्णुः, ४-६ इन्द्राविष्णू । त्रिष्टुप्।

परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति ।
उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से ॥ १

न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप ।
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः ॥ २

इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुषे दशस्या ।
व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः ॥ ३

उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम् ।
दासस्य चिद् वृषशिप्रस्य माया जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु ॥ ४

इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम् ।
शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् ॥ ५

इयं मनीषा बृहती बृहन्तो- रुक्रमा तवसा वर्धयन्ती ।
ररे वां स्तोमं विदथेषु विष्णो पिन्वतमिषो वृजनेष्विन्द्र ॥ ६

वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् ।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ [२२] (८०२)

(१००)

७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विष्णुः । त्रिष्टुप् ।

नू मर्तो दयते सनिष्यन् यो विष्णव उरुगायाय दाशत् ।
प्र यः सत्राचा मनसा यजात एतावन्तं नर्यमाविवासात् १
त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्या—मप्रयुतामेवयावो मतिं दाः
पर्चो यथा नः सुवितस्य भूरे—रश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः २
त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां वि चक्रमे शतर्चसं महित्वा ।
प्र विष्णुरस्तु तवसस्तवीयान् त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम ३
वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन् ।
ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास उरुक्षितिं सुजनिमा चकार ४
प्र तत् ते अद्य शिपिविष्ट नामा—ऽर्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् ।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके ५
किमित् ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत् प्र यद् ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि ।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद् यदन्यरूपः समिथे बभूथ ६
वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् ।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ७ [२५] (७२७)

[सप्तमोऽध्यायः ॥७॥ व० १-३३] (१०१)

६ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ (वृष्टिकामः), कुमार आग्नेयो वा । पर्जन्य । त्रिष्टुप् ।

तिस्रो वाचः प्र वद ज्योतिरग्रा या एतद् दुह्रे मधुदोघमूधः ।
स वत्सं कृण्वन् गर्भमोषधीनां सद्यो जातो वृषभो रोरवीति १
यो वर्धन ओषधीनां यो अपां यो विश्वस्य जगतो देव ईशे ।
स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत् त्रिवर्तु ज्योतिः स्वभिष्ट्य१स्मे २
स्तरीरु त्वद् भवति सूत उ त्वद् यथावशं तन्वं चक्र एषः ।
पितुः पयः प्रति गृभ्णाति माता तेन पिता वर्धते तेन पुत्रः ३
यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थु—स्तिस्रो द्यावस्त्रेधा सस्रुरापः ।
त्रयः कोशास उपसेचनासो मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ४
इदं वचः पर्जन्याय स्वराजे हृदो अस्त्वन्तरं तज्जुजोषत् ।
मयोभुवो वृष्टयः सन्त्वस्मे सुपिप्पला ओषधीर्देवगोपाः ५ (८०१)

(१०४)

२५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । (रक्षोघ्नं) इन्द्रासोमौ, ८, १६, १९-२२ इन्द्रः, ९, १२-१३ सोमः, १०, १४ अग्निः, ११ देवाः, १७ ग्रावाणः, १८ मरुतः, २३ (पूर्वार्धस्य) वसिष्ठाशीः, (उत्तरार्धस्य) पृथिव्यन्तरिक्षे । त्रिष्टुप्, १-६, १८, २१, २३ जगती; ७ जगती त्रिष्टुब्वा, २५ अनुष्टुप् ।

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः ।
परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः ॥ १

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यघं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव ।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥ २

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् ।
यथा नातः पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥ ३

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम् ।
उत् तक्षतं स्वर्यं पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥ ४

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः ।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥ ५ [५]

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना ।
यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपतीव जिन्वतम् ॥ ६

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः ।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद् यो नः कदा चिदभिदासति द्रुहा ॥ ७

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः ।
आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥ ८

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।
अहये वा तान् प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे ॥ ९

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम् ।
रिपुः स्तेनः स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च ॥ १० [६]

परः सो अस्तु तन्वा तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥ ११

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ १२

अथाष्टमं मण्डलम् ।

(१) [प्रथमोऽनुवाकः ॥१॥ सू० १-५]

(३४) १-२ प्रगाथो (घौरः) काण्वः, ३-२९ मेधातिथि-मेध्यातिथी काण्वौ ३०-३३ प्लायोगिरासङ्गः, ३४ आङ्गिरसी शश्वती ऋषिका । इन्द्रः, ३०-३४ आसङ्गः । १-४ प्रगाथः = (विषमा बृहती, समा सतोबृहती), ५-३२ बृहती, ३३-३४ त्रिष्टुप् ।

मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत १

अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम् २

यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये ।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च वर्धनम् ३

वि तर्तूर्यन्ते मघवन् विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम् ।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ४

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ५ [१०]

वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः ।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ६

क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः ।
अलर्षि युध्म खजकृत् पुरंदर प्र गायत्रा अगासिषुः ७

प्रास्मै गायत्रमर्चत वावातुर्यः पुरंदरः ।
याभिः काण्वस्योप बर्हिरासदं यासद् वज्री भिनत् पुरः ८

ये ते सन्ति दशग्विनः शतिनो ये सहस्रिणः ।
अश्वासो ये ते वृषणो रघुद्रुवस्तेभिर्नस्तूयमा गहि ९ (९)

आ त्वा सहस्रमा शत युक्ता रथे हिरण्यये ।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये २४
आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या ।
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये २५ [१४]

पिबा त्व१स्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा इव ।
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुति श्चारुर्मदाय पत्यते २६
य एको अस्ति दंसना महाँ उग्रो अभि व्रतैः ।
गमत् स शिप्री न स योषदा गम द्धवं न परि वर्जति २७
त्वं पुरं चरिष्ण्वं वधैः शुष्णस्य सं पिणक् ।
त्वं भा अनु चरो अध द्विता यदिन्द्र हव्यो भुवः २८
मम त्वा सूर उदिते मम मध्यंदिने दिवः ।
मम प्रपित्वे अपिशर्वरे वस वा स्तोमासो अवृत्सत २९
स्तुहि स्तुहीदेते घा ते मंहिष्ठासो मघोनाम् ।
निन्दिताश्वः प्रपथी परमज्या मघस्य मेध्यातिथे ३० [१५]

आ यदश्वान् वनन्वतः श्रद्धयाहं रथे रुहम् ।
उत वामस्य वसुनश्चिकेतति यो अस्ति याद्वः पशुः ३१
य ऋज्रा मह्यं मामहे सह त्वचा हिरण्यया ।
एष विश्वान्यभ्यस्तु सौभगा ऽऽसङ्गस्य स्वनद्रथः ३२
अध प्लायोगिरति दासदन्या नासङ्गो अग्ने दशभिः सहस्रैः ।
अधोक्षणो दश मह्यं रुशन्तो नळा इव सरसो निरतिष्ठन् ३३
अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्ता दनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः ।
शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि ३४ [१६] (३४)

(२)

(४२) १-४० मेधातिथिः काण्वः, आङ्गिरसः प्रियमेधश्च, ४१-४२ मेधातिथिः काण्वः ।
इन्द्रः, ४१-४२ विभिन्दुः । गायत्री, २८ अनुष्टुप् ।

इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम् । अनाभयिन् ररिमा ते १
नृभिर्धूतः सुतो अश्नै रव्यो वारैः परिपूतः । अश्वो न निक्तो नदीषु २
तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः । इन्द्र त्वास्मिन् त्सधमादे ३ (३७)

गिरश्च यास्ते गिर्वाह उक्था च तुभ्यं तानि । सत्रा दधिरे शवांसि ३० [२२]

एवेदेष तुविकूर्मिर्वाजाँ एको वज्रहस्तः । सनादमृक्तो दयते ३१
हन्ता वृत्रं दक्षिणेनेन्द्रः पुरू पुरुहूतः । महान् महीभिः शचीभिः ३२
यस्मिन् विश्वाश्चर्षणय उत च्यौत्ना ज्रयांसि च । अनु घेन्मन्दी मघोनः ३३
एष एतानि चकारेन्द्रो विश्वा योऽति शृण्वे । वाजदावा मघोनाम् ३४
प्रभर्ता रथं गव्यन्तमपाकाच्चिद् यमवति । इनो वसु स हि वोळ्हा ३५ [२३]

सनिता विप्रो अर्वद्भिर्हन्ता वृत्रं नृभिः शूरः । सत्योऽविता विधन्तम् ३६
यजध्वैनं प्रियमेधा इन्द्रं सत्राचा मनसा । यो भूत् सोमैः सत्यमद्वा ३७
गाथश्रवसं सत्पतिं श्रवस्कामं पुरुत्मानम् । कण्वासो गात वाजिनम् ३८
य ऋते चिद् गास्पदेभ्यो दात् सखा नृभ्यः शचीवान्। ये अस्मिन् काममश्रियन् ३९
इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वं मेध्यातिथिम् । मेषो भूतोऽभि यन्नयः ४०
शिक्षा विभिन्दो अस्मै चत्वार्ययुता ददत् । अष्टा परः सहस्रा ४१
उत सु त्ये पयोवृधा माकी रणस्य नप्त्या । जनित्वनाय मामहे ४२ [२४] (७९)

(३)

२४ मेध्यातिथिः काण्वः। इन्द्रः, २१–२४ पौरयाणः पाकस्थामा। प्रगाथः = (विषमा बृहती, समा सतोबृहती), २१ अनुष्टुप्, २२–२३ गायत्री, २४ बृहती।

पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः ।
आपिर्नो बोधि सधमाद्यो वृधे३ऽस्माँ अवन्तु ते धियः १

भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा नः स्तरभिमातये ।
अस्माञ्चित्राभिरवतादभिष्टिभिरा नः सुम्नेषु यामय २

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ३

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे ।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ४

इन्द्रमिद् देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे ।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ५ [२५] (८१)

निरग्नयो रुरुचुर्निरु सूर्यो निः सोम इन्द्रियो रसः ।
निरन्तरिक्षादधमो महामहिं कृषे तदिन्द्र पौंस्यम् २० [२८]

यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः ।
विश्वेषां त्मना शोभिष्ठमुपेव दिवि धावमानम् २१

रोहितं मे पाकस्थामा सुधुरं कक्ष्यप्राम् ।
अदाद् रायो विबोधनम् २२

यस्मा अन्ये दश प्रति धुरं वहन्ति वह्नयः ।
अस्तं वयो न तुग्र्यम् २३

आत्मा पितुस्तनूर्वास ओजोदा अभ्यञ्जनम् ।
तुरीयमिद् रोहितस्य पाकस्थामानं भोजं दातारमब्रवम् २४ [२९](१००)

(४)

११ मेधातिथिः काण्वः । इन्द्रः १५-१८ पूषा वा, १९-२१ कुरुङ्गः । प्रगाथः= (विषमा बृहती, समा सतोबृहती), ११ पुर उष्णिक् ।

यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः ।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवे ऽसि प्रशर्ध तुर्वशे १

यद् वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा ।
कण्वासस्त्वा ब्रह्मभिः स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि २

यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् ।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब ३

मन्दन्तु त्वा मघवन्निन्द्रेन्दवो राधोदेयाय सुन्वते ।
आमुष्या सोममपिबश्चमू सुतं ज्येष्ठं तद् दधिषे सहः ४

प्र चक्रे सहसा सहो बभञ्ज मन्युमोजसा ।
विश्वे त इन्द्र पृतनायवो यहो नि वृक्षा इव येमिरे ५ [३०]

सहस्रेणेव सचते यवीयुधा यस्त आनळुपस्तुतिम् ।
पुत्रं प्रावर्गं कृणुते सुवीर्ये दाश्नोति नमउक्तिभिः ६

मा भेम मा श्रमिष्मोग्रस्य सख्ये तव ।
महत् ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृतं पश्येम तुर्वशं यदुम् ७ (१०७)

[अष्टमोऽध्यायः ॥८॥ व० १-३६]   (५)

३९ ब्रह्मातिथिः काण्वः । अश्विनौ, ३७ (उत्तरार्धस्य)-३९ चैद्यः कशुः ।
गायत्री, ३७-३८ बृहती, ३९ अनुष्टुप् ।

दूरादिहेव यत् सत्यरुणप्सुरशिश्वितत् । वि भानुं विश्वधातनत् ॥ १
नृवद् दस्रा मनोयुजा रथेन पृथुपाजसा । सचेथे अश्विनोषसम् ॥ २
युवाभ्यां वाजिनीवसू प्रति स्तोमा अदृक्षत । वाचं दूतो यथोहिषे ॥ ३
पुरुप्रिया ण ऊतये पुरुमन्द्रा पुरूवसू । स्तुषे कण्वासो अश्विना ॥ ४
मंहिष्ठा वाजसातमेषयन्ता शुभस्पती । गन्तारा दाशुषो गृहम् ॥ ५ [१]

ता सुदेवाय दाशुषे सुमेधामवितारिणीम् । घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ॥ ६
आ नः स्तोममुप द्रवत् तूयं श्येनेभिराशुभिः । यातमश्वेभिरश्विना ॥ ७
येभिस्तिस्रः परावतो दिवो विश्वानि रोचना । त्रीँरक्तून् परिदीयथः ॥ ८
उत नो गोमतीरिष उत सातीरहर्विदा । वि पथः सातये सितम् ॥ ९
आ नो गोमन्तमश्विना सुवीरं सुरथं रयिम् । वोळ्हमश्वावतीरिषः ॥ १० [२]

वावृधाना शुभस्पती दस्रा हिरण्यवर्तनी । पिबतं सोम्यं मधु ॥ ११
अस्मभ्यं वाजिनीवसू मघवद्भ्यश्च सप्रथः । छर्दिर्यन्तमदाभ्यम् ॥ १२
नि षु ब्रह्म जनानां याविष्टं तूयमा गतम् । मो ष्व१न्याँ उपारतम् ॥ १३
अस्य पिबतमश्विना युवं मदस्य चारुणः । मध्वो रातस्य धिष्ण्या ॥ १४
अस्मे आ वहतं रयिं शतवन्तं सहस्रिणम् । पुरुक्षुं विश्वधायसम् ॥ १५ [३]

पुरुत्रा चिद्धि वां नरा विह्वयन्ते मनीषिणः । वाघद्भिरश्विना गतम् ॥ १६
जनासो वृक्तबर्हिषो हविष्मन्तो अरंकृतः । युवां हवन्ते अश्विना ॥ १७
अस्माकमद्य वामयं स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः । युवाभ्यां भूत्वश्विना ॥ १८
यो ह वां मधुनो दृतिराहितो रथचर्षणे । ततः पिबतमश्विना ॥ १९
तेन नो वाजिनीवसू पश्वे तोकाय शं गवे । वहतं पीवरीरिषः ॥ २० [४]

उत नो दिव्या इष उत सिन्धूँरहर्विदा । अप द्वारेव वर्षथः ॥ २१
कदा वां तौग्र्यो विधत् समुद्रे जहितो नरा । यद् वां रथो विभिष्पतात् ॥ २२
युवं कण्वाय नासत्यापिरिप्ताय हर्म्ये । शश्वदूतीर्दशस्यथः ॥ २३
ताभिरा यातमूतिभिर्नव्यसीभिः सुशस्तिभिः । यद् वां वृषण्वसू हुवे ॥ २४

[अष्टमोऽध्यायः ॥८॥ व० १-३६]　　(५)

३९ ब्रह्मातिथिः काण्वः । अश्विनौ, ३७ (उत्तरार्धस्य)-३९ चैद्यः कशुः ।
गायत्री, ३७-३८ बृहती, ३९ अनुष्टुप् ।

दूरादिहेव यत् सत्यरुणप्सुरशिश्वितत् । वि भानु विश्वधातनत् १
नृवद् दस्रा मनोयुजा रथेन पृथुपाजसा । सचेथे अश्विनोषसम् २
युवाभ्यां वाजिनीवसू प्रति स्तोमा अदृक्षत । वाचं दूतो यथोहिषे ३
पुरुप्रिया ण ऊतये पुरुमन्द्रा पुरूवसू । स्तुषे कण्वासो अश्विना ४
मंहिष्ठा वाजसातमेषयन्ता शुभस्पती । गन्तारा दाशुषो गृहम् ५ [१]

ता सुदेवाय दाशुषे सुमेधामवितारिणीम् । घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ६
आ नः स्तोममुप द्रवत् तूयं श्येनेभिराशुभिः । यातमश्वेभिरश्विना ७
येभिस्तिस्रः परावतो दिवो विश्वानि रोचना । त्रीँरक्तून् परिदीयथः ८
उत नो गोमतीरिष उत सातीरहर्विदा । वि पथः सातये सितम् ९
आ नो गोमन्तमश्विना सुवीरं सुरथं रयिम् । वोळ्हमश्वावतीरिषः १० [२]

वावृधाना शुभस्पती दस्रा हिरण्यवर्तनी । पिबतं सोम्यं मधु ११
अस्मभ्यं वाजिनीवसू मघवद्भ्यश्च सप्रथः । छर्दिर्यन्तमदाभ्यम् १२
नि षु ब्रह्म जनानां याविष्टं तूयमा गतम् । मो ष्व१न्याँ उपारतम् १३
अस्य पिबतमश्विना युवं मदस्य चारुणः । मध्वो रातस्य धिष्ण्या १४
अस्मे आ वहतं रयिं शतवन्तं सहस्रिणम् । पुरुक्षुं विश्वधायसम् १५ [३]

पुरुत्रा चिद्धि वां नरा विह्वयन्ते मनीषिणः । वाघद्भिरश्विना गतम् १६
जनासो वृक्तबर्हिषो हविष्मन्तो अरंकृतः । युवां हवन्ते अश्विना १७
अस्माकमद्य वामयं स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः । युवाभ्यां भूत्वश्विना १८
यो ह वां मधुनो दृतिराहितो रथचर्षणे । ततः पिबतमश्विना १९
तेन नो वाजिनीवसू पश्वे तोकाय शं गवे । वहतं पीवरीरिषः २० [४]

उत नो दिव्या इष उत सिन्धूँरहर्विदा । अप द्वारेव वर्षथः २१
कदा वां तौग्र्यो विधत् समुद्रे जहितो नरा । यद् वां रथो विभिष्पतात् २२
युवं कण्वाय नासत्या ऽपिरिप्ताय हर्म्ये । शश्वदूतीर्दशस्यथः २३
ताभिरा यातमूतिभिर्नव्यसीभिः सुशस्तिभिः । यद् वां वृषण्वसू हुवे २४

इमा अभि प्र णोनुमो विपामग्रेषु धीतयः । अग्नेः शोचिर्न दिद्युतः ७
गुहा सतीरुप त्मना प्र यच्छोचन्त धीतयः । कण्वा ऋतस्य धारया ८
प्र तमिन्द्र नशीमहि रयिं गोमन्तमश्विनम् । प्र ब्रह्म पूर्वचित्तये ९
अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ । अहं सूर्य इवाजनि १० [१०]

अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् । येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे ११
ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुरृषयो ये च तुष्टुवुः । ममेद्वर्धस्व सुष्टुतः १२
यदस्य मन्युरध्वनीद्वि वृत्रं पर्वशो रुजन् । अपः समुद्रमैरयत् १३
नि शुष्ण इन्द्र धर्णसिं वज्रं जघन्थ दस्यवि । वृषा ह्युग्र शृण्विषे १४
न द्याव इन्द्रमोजसा नान्तरिक्षाणि वज्रिणम् । न विव्यचन्त भूमयः १५ [११]

यस्त इन्द्र महीरपः स्तभूयमान आशयत् । नि तं पद्यासु शिश्नथः १६
य इमे रोदसी मही समीची समजग्रभीत् । तमोभिरिन्द्र तं गुहः १७
य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः । ममेदुग्र श्रुधी हवम् १८
इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम् । एनामृतस्य पिप्युषीः १९
या इन्द्र प्रस्वस्त्वा ऽऽसा गर्भमचक्रिरन् । परि धर्मेव सूर्यम् २० [१२]

त्वामिच्छवसस्पते कण्वा उक्थेन वावृधुः । त्वां सुतास इन्दवः २१
तवेदिन्द्र प्रणीतिषूत प्रशस्तिरद्रिवः । यज्ञो वितन्तसाय्यः २२
आ न इन्द्र महीमिषं पुरं न दर्षि गोमतीम् । उत प्रजां सुवीर्यम् २३
उत त्यदाश्वश्व्यं यदिन्द्र नाहुषीष्वा । अग्रे विक्षु प्रदीदयत् २४
अभि व्रजं न तत्निषे सूर उपाकचक्षसम् । यदिन्द्र मृळयासि नः २५ [१३]

यदङ्ग तविषीयस इन्द्र प्रराजसि क्षितीः । महाँ अपार ओजसा २६
तं त्वा हविष्मतीर्विश उप ब्रुवत ऊतये । उरुज्रयसमिन्दुभिः २७
उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत २८
अतः समुद्रमुद्वतश्चिकित्वाँ अव पश्यति । यतो विपान एजति २९
आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवा ३० [१४]

कण्वास इन्द्र ते मतिं विश्वे वर्धन्ति पौंस्यम् । उतो शविष्ठ वृष्ण्यम् ३१
इमां म इन्द्र सुष्टुतिं जुषस्व प्र सु मामव । उत प्र वर्धया मतिम् ३२
उत ब्रह्मण्या वयं तुभ्यं प्रवृद्ध वज्रिवः । विप्रा अतक्ष्म जीवसे ३३
अभि कण्वा अनूषता ऽऽपो न प्रवता यतीः । इन्द्रं वनन्वती मतिः ३४ (११४)

इमा अभि प्र णोनुमो विपामग्रेषु धीतयः । अग्नेः शोचिर्न दिद्युतः ७
गुहा सतीरुप त्मना प्र यच्छोचन्त धीतयः । कण्वा ऋतस्य धारया ८
प्र तमिन्द्र नशीमहि रयिं गोमन्तमश्विनम् । प्र ब्रह्म पूर्वचित्तये ९
अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ । अहं सूर्य इवाजनि १० [१०]

अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् । येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे ११
ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुरृषयो ये च तुष्टुवुः । ममेद्वर्धस्व सुष्टुतः १२
यदस्य मन्युरध्वनीद्वि वृत्रं पर्वशो रुजन् । अपः समुद्रमैरयत् १३
नि शुष्ण इन्द्र धर्णसिं वज्रं जघन्थ दस्यवि । वृषा ह्युग्र शृण्विषे १४
न द्याव इन्द्रमोजसा नान्तरिक्षाणि वज्रिणम् । न विव्यचन्त भूमयः १५ [११]

यस्त इन्द्र महीरपः स्तभूयमान आशयत् । नि तं पद्यासु शिश्नथः १६
य इमे रोदसी मही समीची समजग्रभीत् । तमोभिरिन्द्र तं गुहः १७
य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः । ममेदुग्र श्रुधी हवम् १८
इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम् । एनामृतस्य पिप्युषीः १९
या इन्द्र प्रस्वस्त्वाऽऽसा गर्भमचक्रिरन् । परि धर्मेव सूर्यम् २० [१२]

त्वामिच्छवसस्पते कण्वा उक्थेन वावृधुः । त्वां सुतास इन्दवः २१
तवेदिन्द्र प्रणीतिषूत प्रशस्तिरद्रिवः । यज्ञो वितन्तसाय्यः २२
आ न इन्द्र महीमिषं पुरं न दर्षि गोमतीम् । उत प्रजां सुवीर्यम् २३
उत त्यदाश्वश्व्यं यदिन्द्र नाहुषीष्वा । अग्रे विक्षु प्रदीदयत् २४
अभि व्रजं न तत्निषे सूर उपाकचक्षसम् । यदिन्द्र मृळयासि नः २५ [१३]

यदङ्ग तविषीयस इन्द्र प्रराजसि क्षितीः । महाँ अपार ओजसा २६
तं त्वा हविष्मतीर्विश उप ब्रुवत ऊतये । उरुज्रयसमिन्दुभिः २७
उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत २८
अतः समुद्रमुद्वतश्चिकित्वाँ अव पश्यति । यतो विपान एजति २९
आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवा ३० [१४]

कण्वास इन्द्र ते मतिं विश्वे वर्धन्ति पौंस्यम् । उतो शविष्ठ वृष्ण्यम् ३१
इमां म इन्द्र सुष्टुतिं जुषस्व प्र सु मामव । उत प्र वर्धया मतिम् ३२
उत ब्रह्मण्या वयं तुभ्यं प्रवृद्ध वज्रिवः । विप्रा अतक्ष्म जीवसे ३३
अभि कण्वा अनूषतापो न प्रवता यतीः । इन्द्रं वनन्वती मतिः ३४ (१९४)

यूय हि ष्ठा सुदानवो रुद्रा ऋभुक्षणो दमे । उत प्रचेतसो मदे १२

आ नो रयिं मदच्युतं पुरुक्षुं विश्वधायसम् । इयर्ता मरुतो दिवः १३

अधीव यद् गिरीणां यामं शुभ्रा अचिध्वम् । सुवानैर्मन्दध्व इन्दुभिः १४

एतावतश्चिदेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः । अदाभ्यस्य मन्मभिः १५ [२०]

ये द्रप्सा इव रोदसी धमन्त्यनु वृष्टिभिः । उत्सं दुहन्तो अक्षितम् १६

उदु स्वानेभिरीरत उद् रथैरुदु वायुभिः । उत् स्तोमैः पृश्निमातरः १७

येनाव तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतम् । राये सु तस्य धीमहि १८

इमा उ वः सुदानवो घृतं न पिप्युषीरिषः । वर्धीन् काण्वस्य मन्मभिः १९

क्व नूनं सुदानवो मदथा वृक्तवर्हिषः । ब्रह्मा को वः सपर्यति २० [२१]

नहि ष्म यद्ध वः पुरा स्तोमेभिर्वृक्तवर्हिषः । शर्धाँ ऋतस्य जिन्वथ २१

समु त्ये महतीरपः स क्षोणी समु सूर्यम् । स वज्रं पर्वशो दधुः २२

वि वृत्रं पर्वशो ययुर्वि पर्वताँ अराजिनः । चक्राणा वृष्णि पौंस्यम् २३

अनु त्रितस्य युध्यतः शुष्ममावन्नुत क्रतुम् । अन्विन्द्रं वृत्रतूर्ये २४

विद्युद्धस्ता अभिद्यवः शिप्राः शीर्षन् हिरण्ययीः । शुभ्रा व्यञ्जत श्रिये २५ [२२]

उशना यत् परावत उक्ष्णो रन्ध्रमयातन । द्यौर्न चक्रदद् भिया २६

आ नो मखस्य दावनेऽश्वैर्हिरण्यपाणिभिः । देवास उप गन्तन २७

यदेषां पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहितः । यान्ति शुभ्रा रिणन्नपः २८

सुषोमे शर्यणावत्यार्जीके पस्त्यावति । ययुर्निचक्रया नरः २९

कदा गच्छाथ मरुत इत्था विप्रं हवमानम् । मार्डीकेभिर्नाधमानम् ३० [२३]

कद्ध नूनं कधप्रियो यदिन्द्रमजहातन । को वः सखित्व ओहते ३१

सहो षु णो वज्रहस्तैः कण्वासो अग्निं मरुद्भिः । स्तुषे हिरण्यवाशीभिः ३२

ओ षु वृष्णः प्रयज्यूना नव्यसे सुविताय । ववृत्यां चित्रवाजान् ३३

गिरयश्चिन्नि जिहते पर्शानासो मन्यमानाः । पर्वताश्चिन्नि येमिरे ३४

आक्ष्णयावानो वहन्त्यन्तरिक्षेण पततः । धातारः स्तुवते वयः ३५

अग्निर्हि जानि पूर्व्यश्छन्दो न सूरो अर्चिषा । ते भानुभिर्वि तस्थिरे ३६ [२४] (२४४)

यन्नासत्या परावति यद्वा स्थो अध्यम्बरे ।
अतः सहस्रनिर्णिजा रथेना यातमश्विना १४

यो वां नासत्यावृषि र्गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत् ।
तस्मै सहस्रनिर्णिज मिषं धत्तं घृतश्चुतम् १५ [२७]

प्रास्मा ऊर्जं घृतश्चुत मश्विना यच्छतं युवम् ।
यो वां सुम्नाय तुष्टवद् वसूयाद् दानुनस्पती १६

आ नो गन्तं रिशादसे मं स्तोमं पुरुभुजा ।
कृतं नः सुश्रियो नरे मा दातमभिष्टये १७

आ वां विश्वाभिरूतिभिः प्रियमेधा अहूषत ।
राजन्तावध्वराणा मश्विना यामहूतिषु १८

आ नो गन्तं मयोभुवा ऽश्विना शम्भुवा युवम् ।
यो वां विपन्यू धीतिभि र्गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत् १९

याभिः कण्वं मेधातिथिं याभिर्वशं दशव्रजम् ।
याभिर्गोशर्यमावतं ताभिर्नोऽवतं नरा २० [२८]

याभिर्नरा त्रसदस्यु मावतं कृत्व्ये धने ।
ताभिः ष्व१स्माँ अश्विना प्रावतं वाजसातये २१

प्र वां स्तोमाः सुवृक्तयो गिरो वर्धन्त्वश्विना ।
पुरुत्रा वृत्रहन्तमा ता नो भूतं पुरुस्पृहा २२

त्रीणि पदान्यश्विनो राविः सान्ति गुहा परः ।
कवी ऋतस्य पत्मभि रर्वाग्जीवेभ्यस्परि २३ [२९] (२६७)

(९)

२१ शशकर्णः काण्वः। अश्विनौ। अनुष्टुप्; १, ४, ६, १४-१५ बृहती २ ३, २०, २१ गायत्री
५ ककुप् १० त्रिष्टुप्; ११ विराट्; १२ जगती।

आ नूनमश्विना युवं वत्सस्य गन्तमवसे ।
प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथु च्छर्दि र्युयुतं या अरातयः १

यदन्तरिक्षे यद् दिवि यत् पञ्च मानुषाँ अनु । नृम्णं तद् धत्तमश्विना २

ये वां दंसांस्यश्विना विप्रासः परिमामृशुः । एवेत् काण्वस्य बोधतम् ३ (२७०)

यदुषो यासि भानुना स सूर्येण रोचसे ।
आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम् १८

यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊधभिः ।
यद् वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना १९

प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे । प्र दक्षाय प्रचेतसा २०

यन्नून धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः । यद् वा सुम्नेभिरुक्थ्या २१ [३३] (२८८)

(१०)

६ प्रगाथो (घौरः) काण्वः। अश्विनौ । १ बृहती, २ मध्येज्योतिः, ३ अनुष्टुप् (पिपीलिकमध्या-शकुमती), ४ आस्तारपंक्ति , ५-६ प्रगाथ = (५ बृहती, ६ सतोबृहती) ।

यत् स्थो दीर्घप्रसद्मनि यद् वादो रोचने दिवः ।
यद् वा समुद्रे अध्याकृते गृहे ऽत आ यातमश्विना १

यद् वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथुरेवेत् काण्वस्य बोधतम् ।
बृहस्पतिं विश्वान् देवाँ अहं हुव इन्द्राविष्णू अश्विनावाशुहेषसा २

त्या न्वश्विना हुवे सुदंससा गृभे कृता ।
ययोरस्ति प्र णः सख्यं देवेष्वध्याप्यम् ३

ययोरधि प्र यज्ञा असूरे सन्ति सूरयः ।
ता यज्ञस्याध्वरस्य प्रचेतसा स्वधाभिर्या पिबतः सोम्यं मधु ४

यदद्याश्विनावपाग् यत् प्राक् स्थो वाजिनीवसू ।
यद् द्रुह्यव्यनवि तुर्वशे यदौ हुवे वामथ मा गतम् ५

यदन्तरिक्षे पतथः पुरुभुजा यद् वेमे रोदसी अनु ।
यद् वा स्वधाभिरधितिष्ठथो रथमत आ यातमश्विना ६ [३४] (२९४)

(११)

१० वत्स काण्वः । अग्निः । गायत्री, १ प्रतिष्ठा, २ वर्धमाना, १० त्रिष्टुप् ।

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः १

त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य । अग्ने रथीरध्वराणाम् २

स त्वमस्मदप द्विषो युयोधि जातवेदः । अदेवीरग्ने अरातीः ३ (२९७)

यद् वासि सुन्वतो वृधो यजमानस्य सत्पते । उक्थे वा यस्य रण्यसि समिन्दुभिः १८
देवंदेवं वोऽवस इन्द्रमिन्द्रं गृणीषणि । अधा यज्ञाय तुर्वणे व्यानशुः १९
यज्ञेभिर्यज्ञवाहसं सोमेभिः सोमपातमम् । होत्राभिरिन्द्रं वावृधुर्व्यानशुः २० [४]

महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः । विश्वा वसूनि दाशुषे व्यानशुः २१
इन्द्रं वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुरः । इन्द्रं वाणीरनूषता समोजसे २२
महान्तं महिना वयं स्तोमेभिर्हवनश्रुतम् । अर्कैरभि प्र णोनुमः समोजसे २३
न यं विविक्तो रोदसी नान्तरिक्षाणि वज्रिणम् । अमादिदस्य तित्विषे समोजसः २४
यदिन्द्र पृतनाज्ये देवास्त्वा दधिरे पुरः । आदित् ते हर्यता हरी ववक्षतुः २५ [५]

यदा वृत्रं नदीवृतं शवसा वज्रिन्नवधीः । आदित् ते हर्यता हरी ववक्षतुः २६
यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे । आदित् ते हर्यता हरी ववक्षतुः २७
यदा ते हर्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे । आदित् ते विश्वा भुवनानि येमिरे २८
यदा ते मारुतीर्विश स्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे । आदित् ते विश्वा भुवनानि येमिरे २९
यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः । आदित् ते विश्वा भुवनानि येमिरे ३०
इमां त इन्द्र सुष्टुतिं विप्र इयर्ति धीतिभिः । जामिं पदेव पिप्रतीं प्राध्वरे ३१
यदस्य धामनि प्रिये समीचीनासो अस्वरन् । नाभा यज्ञस्य दोहना प्राध्वरे ३२
सुवीर्यं स्वश्व्यं सुगव्यमिन्द्र दद्धि नः । होतेव पूर्वचित्तये प्राध्वरे ३३ [६] (१३७)

(१३) [तृतीयोऽनुवाकः ॥३॥ सू० १३-२०]

१३ नारदः काण्वः । इन्द्रः । उष्णिक् ।

इन्द्रः सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीत उक्थ्यम् । विदे वृधस्य दक्षसो महान् हि षः १
स प्रथमे व्योमनि देवानां सदने वृधः । सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् २
तमह्वे वाजसातय इन्द्रं भराय शुष्मिणम् । भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृधे ३
इयं त इन्द्र गिर्वणो रातिः क्षरति सुन्वतः । मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ४
नूनं तदिन्द्र दद्धि नो यत् त्वा सुन्वन्त ईमहे । रयिं नश्चित्रमा भरा स्वर्विदम् ५ [७]

स्तोता यत् ते विचर्षणि रतिप्रशर्धयद् गिरः । वया इवानु रोहते जुषन्त यत् ६
प्रत्नवज्जनया गिरः शृणुधी जरितुर्हवम् । मदेमदे ववक्षिथा सुकृत्वने ७
क्रीळन्त्यस्य सूनृता आपो न प्रवता यतीः । अया धिया य उच्यते पतिर्दिवः ८
उतो पतिर्य उच्यते कृष्टीनामेक इद् वशी । नमोवृधैरवस्युभिः सुते रण ९ (२४६)

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे । यदहं गोपतिः स्याम् २
धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते । गामश्वं पिप्युषी दुहे ३
न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः । यद् दित्ससि स्तुतो मघम् ४
यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद् भूमिं व्यवर्तयत् । चक्राण ओपशं दिवि ५ [१४]

वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः । ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ६
व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना । इन्द्रो यदभिनद् वलम् ७
उद् गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः । अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ८
इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च । स्थिराणि न पराणुदे ९
अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते । वि ते मदा अराजिषुः १० [१५]

त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः । स्तोतॄणामुत भद्रकृत् ११
इन्द्रमित् केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः । उप यज्ञं सुराधसम् १२
अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः । विश्वा यदजयः स्पृधः १३
मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः । अव दस्यूँरधूनुथाः १४
असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशयः । सोमपा उत्तरो भवन् १५ [१६] (३८५)

(१५)

१३ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ। इन्द्रः। उष्णिक्।

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् । इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत १
यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दाधार रोदसी । गिरीँरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना २
स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे । इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ३
तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सासहिम् । उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ४
येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ । मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ५ [१७]

तदद्या चित् त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा । वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ६
तव त्यदिन्द्रियं बृहत् तव शुष्ममुत क्रतुम् । वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ७
तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः । त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ८
त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः । त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ९
त्वं वृषा जनानां मंहिष्ठ इन्द्र जज्ञिषे । सत्रा विश्वा स्वपत्यानि दधिषे १० [१८]

सत्रा त्वं पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि तोशसे । नान्य इन्द्रात् करणं भूय इन्वति ११ (३९६)

इन्द्र मेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा । वृत्राणि वृत्रहञ्जहि ९
दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि । यजमानाय सुन्वते १० [२३]

अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि । एहीमस्य द्रवा पिब ११
शाचिगो शाचिपूजना ऽयं रणाय ते सुतः । आखण्डल प्र हूयसे १२
यस्ते शृङ्गवृषो नपात् प्रणपात् कुण्डपाय्यः । न्यस्मिन् दध्र आ मनः १३
वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणा ऽंसत्रं सोम्यानाम् ।
द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीना मिन्द्रो मुनीनां सखा १४
पृदाकुसानुर्यजतो गवेषण एकः सन्नभि भूयसः ।
भूर्णिमश्वं नयत् तुजा पुरो गृभे न्द्र सोमस्य पीतये १५ [२४] (४२५)

(१८)

२२ इरिम्बिठिः काण्वः । आदित्याः; ४, ६, ७, अदितिः; ८ अश्विनौ; ९ अग्निसूर्यानिलाः । उष्णिक् ।

इदं ह नूनमेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः । आदित्यानामपूर्व्यं सवीमनि १
अनर्वाणो ह्येषां पन्था आदित्यानाम् । अदब्धाः सन्ति पायवः सुगेवृधः २
तत् सु नः सविता भगो वरुणो मित्रो अर्यमा । शर्म यच्छन्तु सप्रथो यदीमहे ३
देवेभिर्देव्यदिते ऽरिष्टभर्मन्ना गहि । स्मत् सूरिभिः पुरुप्रिये सुशर्मभिः ४
ते हि पुत्रासो अदिते र्विदुर्द्वेषांसि योतवे । अंहोश्चिदुरुचक्रयोऽनेहसः ५ [२५]

अदितिर्नो दिवा पशु मदितिर्नक्तमद्वयाः । अदितिः पात्वंहसः सदावृधा ६
उत स्या नो दिवा मति रदितिरूत्या गमत् । सा शंताति मयस्करदप स्रिधः ७
उत त्या दैव्या भिषजा शं नः करतो अश्विना । युयुयातामितो रपो अप स्रिधः ८
शमग्निरग्निभिः कर च्छं नस्तपतु सूर्यः । शं वातो वात्वरपा अप स्रिधः ९
अपामीवामप स्रिध मप सेधत दुर्मतिम् । आदित्यासो युयोतना नो अंहसः १० [२६]

युयोता शरुमस्मदाँ आदित्यास उतामतिम् । ऋधग्द्वेषः कृणुत विश्ववेदसः ११
तत् सु नः शर्म यच्छता ऽऽदित्या यन्मुमोचति । एनस्वन्तं चिदेनसः सुदानवः १२
यो नः कश्चिद् रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः । स्वैः ष एवै रिरिषीष्ट युर्जनः १३
समित् तमघमश्नवद् दुःशंसं मर्त्यं रिपुम् । यो अस्मत्रा दुर्हणावाँ उप द्वयुः १४
पाकत्रा स्थन देवा हृत्सु जानीथ मर्त्यम् । उप द्वयुं चाद्वयुं च वसवः १५ [२७]

आ शर्म पर्वताना मोतापां वृणीमहे । द्यावाक्षामारे अस्मद् रपस्कृतम् १६ (४४१)

विप्रस्य वा स्तुवतः सहसो यहो मक्षूतमस्य रातिषु ।
अवोदेवमुपरिमर्त्यं कृधि वसो विविदुषो वचः १२
यो अग्निं हव्यदातिभिर्नमोभिर्वा सुदक्षमाविवासति । गिरा वाजिरशोचिषम् १३
समिधा यो निशिती दाशददितिं धामभिरस्य मर्त्यः ।
विश्वेत् स धीभिः सुभगो जनाँ अति द्युम्नैरुद्न इव तारिषत् १४
तदग्ने द्युम्नमा भर यत् सासहत् सदने कं चिदत्रिणम् । मन्युं जनस्य दूढ्यः १५ [३१]

येन चष्टे वरुणो मित्रो अर्यमा येन नासत्या भगः ।
वयं तत् ते शवसा गातुवित्तमा इन्द्रत्वोता विधेमहि १६
ते घेदग्ने स्वाध्यो३ ये त्वा विप्र निदधिरे नृचक्षसम् । विप्रासो देव सुक्रतुम् १७
त इद् वेदिं सुभग त आहुतिं ते सोतुं चक्रिरे दिवि ।
त इद् वाजेभिर्जिग्युर्महद् धनं ये त्वे कामं न्येरिरे १८
भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः । भद्रा उत प्रशस्तयः १९
भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहः ।
अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टिभिः २० [३२]

ईळे गिरा मनुर्हितं यं देवा दूतमरतिं न्येरिरे । यजिष्ठं हव्यवाहनम् २१
तिग्मजम्भाय तरुणाय राजते प्रयो गायस्यग्नये ।
यः पिंशते सूनृताभिः सुवीर्यमग्निर्घृतेभिराहुतः २२
यदी घृतेभिराहुतो वाशीमग्निर्भरत उच्चाव च । असुर इव निर्णिजम् २३
यो हव्यान्यैरयता मनुर्हितो देव आसा सुगन्धिना ।
विवासते वार्याणि स्वध्वरो होता देवो अमर्त्यः २४
यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्य । सहसः सूनवाहुत २५ [३३]

न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य ।
न मे स्तोतामतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया २६
पितुर्न पुत्रः सुभृतो दुरोण आ देवाँ एतु प्र णो हविः २७
तवाहमग्न ऊतिभिर्नेदिष्ठाभिः सचेय जोषमा वसो । सदा देवस्य मर्त्यः २८
तव क्रत्वा सनेयं तव रातिभिरग्ने तव प्रशस्तिभिः ।
त्वामिदाहुः प्रमतिं वसो ममाग्ने हर्षस्व दातवे २९
प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभिः । यस्य त्वं सख्यमावरः ३० [३४]

वृषणश्वेन मरुतो वृषप्सुना रथेन वृषनाभिना ।
आ श्येनासो न पक्षिणो वृथा नरो हव्या नो वीतये गत १० [३७]

समानमञ्ज्येषां वि भ्राजन्ते रुक्मासो अधि बाहुषु । दविद्युतत्यृष्टयः ११
त उग्रासो वृषण उग्रबाहवो नकिष्टनूषु येतिरे ।
स्थिरा धन्वान्यायुधा रथेषु वो ऽनीकेष्वधि श्रियः १२
येषामर्णो न सप्रथो नाम त्वेषं शश्वतामेकमिद् भुजे । वयो न पित्र्यं सहः १३
तान् वन्दस्व मरुतस्ताँ उप स्तुहि तेषां हि धुनीनाम् ।
अराणां न चरमस्तदेषां दाना मह्ना तदेषाम् १४
सुभगः स व ऊतिष्वास पूर्वासु मरुतो व्युष्टिषु । यो वा नूनमुतासति १५ [३८]

यस्य वा यूयं प्रति वाजिनो नर आ हव्या वीतये गथ ।
अभि ष द्युम्नैरुत वाजसातिभिः सुम्ना वो धूतयो नशत् १६
यथा रुद्रस्य सूनवो दिवो वशन्त्यसुरस्य वेधसः । युवानस्तथेदसत् १७
ये चार्हन्ति मरुतः सुदानवः स्मन्मीळ्हुषश्चरन्ति ये ।
अतश्चिदा न उप वस्यसा हृदा युवान आ ववृध्वम् १८
यून ऊ षु नविष्ठया वृष्णः पावकाँ अभि सोभरे गिरा । गाय गा इव चर्कृषत् १९
साहा ये सन्ति मुष्टिहेव हव्यो विश्वासु पृत्सु होतृषु ।
वृष्णश्चन्द्रान्न सुश्रवस्तमान् गिरा वन्दस्व मरुतो अह २० [३९]

गावश्चिद् घा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः । रिहते ककुभो मिथः २१
मर्तश्चिद् वो नृतवो रुक्मवक्षस उप भ्रातृत्वमायति ।
अधि नो गात मरुतः सदा हि व आपित्वमस्ति निध्रुवि २२
मरुतो मारुतस्य न आ भेषजस्य वहता सुदानवः । यूयं सखायः सप्तयः २३
याभिः सिन्धुमवथ याभिस्तूर्वथ याभिर्दशस्यथा क्रिविम् ।
मयो नो भूतोतिभिर्मयोभुवः शिवाभिरसचद्विषः २४
यत् सिन्धौ यदसिक्न्यां यत् समुद्रेषु मरुतः सुबर्हिषः । यत् पर्वतेषु भेषजम् २५
विश्वं पश्यन्तो बिभृथा तनूष्वा तेना नो अधि वोचत ।
क्षमा रपो मरुत आतुरस्य न इष्कर्ता विह्रुतं पुनः २६ [४०] (५१०)

—॥०॥—

चित्र इद्व राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु ।
पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्ट्या सहस्रमयुता ददत् १८ [४] (५२८)

(२२)

१८ सोभरिः काण्वः । अश्विनौ । १-६ प्रगाथः= (विषमा बृहती, समा सतोबृहती), ७ बृहती, ८ अनुष्टुप्, ११ ककुप्, १२ मध्येज्योतिः, प्रगाथः = (९, १३, १५, १७ ककुप्, १०, १४, १६, १८ सतोबृहती)।

ओ त्यमह्व आ रथ—मद्या दंसिष्ठमूतये ।
यमश्विना सुहवा रुद्रवर्तनी आ सूर्यायै तस्थथुः १

पूर्वापुषं सुहवं पुरुस्पृहं भुज्युं वाजेषु पूर्व्यम् ।
सचनावन्तं सुमतिभिः सोभरे विद्वेषसमनेहसम् २

इह त्या पुरुभूतमा देवा नमोभिरश्विना ।
अर्वाचीना स्ववसे करामहे गन्तारा दाशुषो गृहम् ३

युवो रथस्य परि चक्रमीयत ईर्मान्यद्वामिषण्यति ।
अस्माँ अच्छा सुमतिर्वां शुभस्पती आ धेनुरिव धावतु ४

रथो यो वां त्रिवन्धुरो हिरण्याभीशुरश्विना ।
परि द्यावापृथिवी भूषति श्रुत—स्तेन नासत्या गतम् ५ [५]

दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः ।
ता वामद्य सुमतिभिः शुभस्पती अश्विना प्र स्तुवीमहि ६

उप नो वाजिनीवसू यातमृतस्य पथिभिः ।
येभिस्तृक्षिं वृषणा त्रासदस्यवं महे क्षत्राय जिन्वथः ७

अयं वामद्रिभिः सुतः सोमो नरा वृषण्वसू ।
आ यातं सोमपीतये पिबतं दाशुषो गृहे ८

आ हि रुहतमश्विना रथे कोशे हिरण्यये वृषण्वसू । युञ्जाथां पीवरीरिषः ९

याभिः पक्थमवथो याभिरध्रिगुं याभिर्बभ्रुं विजोषसम् ।
ताभिर्नो मक्षू तूयमश्विना गतं भिषज्यतं यदातुरम् १० [६]

यदध्रिगावो अध्रिगू इदा चिदह्नो अश्विना हवामहे । वयं गीर्भिर्विपन्यवः ११

ताभिरा यातं वृषणोप मे हवं विश्वप्सुं विश्ववार्यम् ।
इषा मंहिष्ठा पुरुभूतमा नरा याभिः क्रिविं वावृधुस्ताभिरा गतम् १२ (५४०)

उशना काव्यस्त्वा नि होतारमसादयत् । आयजिं त्वा मनवे जातवेदसम् १७
विश्वे हि त्वा सजोषसो देवासो दूतमक्रत । श्रुष्टी देव प्रथमो यज्ञियो भुवः १८
इमं घा वीरो अमृतं दूतं कृण्वीत मर्त्यः । पावकं कृष्णवर्तनिं विहायसम् १९
तं हुवेम यतस्रुचः सुभासं शुक्रशोचिषम् । विशामग्निमजरं प्रत्नमीड्यम् २० [१२]

यो अस्मै हव्यदातिभि राहुतिं मर्तोऽविधत् । भूरि पोषं स धत्ते वीरवद् यशः २१
प्रथमं जातवेदस मग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् । प्रति स्रुगेति नमसा हविष्मती २२
आभिर्विधेमाग्नये ज्येष्ठाभिर्व्यश्ववत् । मंहिष्ठाभिर्मतिभिः शुक्रशोचिषे २३
नूनमर्च विहायसे स्तोमेभिः स्थूरयूपवत् । ऋषे वैयश्व दम्यायाग्नये २४
अतिथिं मानुषाणां सूनुं वनस्पतीनाम् । विप्रा अग्निमवसे प्रत्नमीळते २५ [१३]

महो विश्वाँ अभि षतो ऽभि हव्यानि मानुषा । अग्ने नि षत्सि नमसाधि बर्हिषि २६
वंस्वा नो वार्या पुरु वंस्व रायः पुरुस्पृहः । सुवीर्यस्य प्रजावतो यशस्वतः २७
त्वं वरो सुषाम्णे ऽग्ने जनाय चोदय । सदा वसो रातिं यविष्ठ शश्वते २८
त्वं हि सुप्रतूरसि त्वं नो गोमतीरिषः । महो रायः सातिमग्ने अपा वृधि २९
अग्ने त्वं यशा अ स्या मित्रावरुणा वह । ऋतावाना सम्राजा पूतदक्षसा ३० [१४] (५७६)

(२४)

३० विश्वमना वैयश्व । इन्द्रः, २८–३० वरु सौषाम्णिः । उष्णिक्, ३० अनुष्टुप् ।

सखाय आ शिषामहि ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे । स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे १
शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा । मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि २
स नः स्तवान आ भर रयिं चित्रश्रवस्तमम् । निरेके चिद् यो हरिवो वसुर्ददिः ३
आ निरेकमुत प्रिय मिन्द्र दर्षि जनानाम् । धृषता धृष्णो स्तवमान आ भर ४
न ते सव्यं न दक्षिणं हस्तं वरन्त आमुरः । न परिबाधो हरिवो गविष्टिषु ५ [१५]

आ त्वा गोभिरिव व्रजं गीर्भिर्ऋणोम्यद्रिवः । आ स्मा कामं जरितुरा मनः पृण ६
विश्वानि विश्वमनसो धिया नो वृत्रहन्तम । उग्र प्रणेतरधि षू वसो गहि ७
वयं ते अस्य वृत्रहन् विद्याम शूर नव्यसः । वसोः स्पार्हस्य पुरुहूत राधसः ८
इन्द्र यथा ह्यस्ति ते ऽपरीतं नृतो शवः । अमृक्ता रातिः पुरुहूत दाशुषे ९
आ वृषस्व महामह महे नृतम राधसे । दृळ्हश्चिद् दृह्य मघवन् मघत्तये १० [१६]

नू अन्यत्रा चिदद्रिव स्त्वन्नो जग्मुराशसः । मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिः ११ (५८७)

अधि या बृहतो दिवो ऽभि यूथेव पश्यतः । ऋतावाना सम्राजा नमसे हिता ७
ऋतावाना नि षेदतुः साम्राज्याय सुक्रतू । धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः ८
अक्ष्णश्चिद् गातुवित्तरा ऽनुल्बणेन चक्षसा । नि चिन्मिषन्ता निचिरा नि चिक्यतुः ९
उत नो देव्यदितिरुरुष्यतां नासत्या । उरुष्यन्तु मरुतो वृद्धशवसः १०[२२]

ते नो नावमुरुष्यत दिवा नक्तं सुदानवः । अरिष्यन्तो नि पायुभिः सचेमहि ११
अघ्नते विष्णवे वयमरिष्यन्तः सुदानवे । श्रुधि स्वयावन् त्सिन्धो पूर्वचित्तये १२
तद् वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम् । मित्रो यत् पान्ति वरुणो यदर्यमा १३
उत नः सिन्धुरपां तन्मरुतस्तदश्विना । इन्द्रो विष्णुर्मीढ्वांसः सजोषसः १४
ते हि ष्मा वनुषो नरो ऽभिमातिं कयस्य चित् । तिग्मं न क्षोदः प्रतिघ्नन्ति भूर्णयः १५[२३]

अयमेक इत्था पुरू रु चष्टे वि विश्पतिः । तस्य व्रतान्यनु वश्चरामसि १६
अनु पूर्वाण्योक्या साम्राज्यस्य सश्चिम । मित्रस्य व्रता वरुणस्य दीर्घश्रुत् १७
परि यो रश्मिना दिवो ऽन्तान् ममे पृथिव्याः । उभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा १८
उदु ष्य शरणे दिवो ज्योतिरयंस्त सूर्यः । अग्निर्न शुक्रः समिधान आहुतः १९
वचो दीर्घप्रसद्मनीशे वाजस्य गोमतः । ईशे हि पित्वोऽविषस्य दावने २०[२४]

तत् सूर्यं रोदसी उभे दोषा वस्तोरुप ब्रुवे । भोजेष्वस्माँ अभ्युच्चरा सदा २१
ऋज्रमुक्षण्यायने रजतं हरयाणे । रथं युक्तमसनाम सुषामणि २२
ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोशना । उतो नु कृत्व्यानां नृवाहसा २३
स्मदभीशू कशावन्ता विप्रा नविष्ठया मती । महो वाजिनावर्वन्ता सचासनम् २४[२५](६३०)

(२६)

२५ विश्वमना वैयश्वः, व्यश्वो वाङ्गिरसः । अश्विनौ, २०-२५ वायु । उष्णिक्, १६-१९,२१,२५ गायत्री; २० अनुष्टुप् ।

युवोरु षू रथं हुवे सधस्तुत्याय सूरिषु । अतूर्तदक्षा वृषणा वृषण्वसू १
युवं वरो सुषाम्णे महे तने नासत्या । अवोभिर्याथो वृषणा वृषण्वसू २
ता वामद्य हवामहे हव्येभिर्वाजिनीवसू । पूर्वीरिष इषयन्तावति क्षपः ३
आ वां वाहिष्ठो अश्विना रथो यातु श्रुतो नरा । उप स्तोमान् तुरस्य दर्शथः श्रिये ४
जुहुराणा चिदश्विना ऽऽ मन्येथां वृषण्वसू । युवं हि रुद्रा पर्षथो अति द्विषः ५ [२६]

दस्रा हि विश्वमानुषङ् मक्षूभिः परिदीयथः । धियञ्जिन्वा मधुवर्णा शुभस्पती ६ (६३६)

प्र सू न एत्वध्वरो॒३ऽग्ना दे॒वेषु॑ पू॒र्व्यः ।
आ॒दि॒त्येषु॒ प्र वरु॑णे धृ॒तव्र॑ते म॒रुत्सु॑ वि॒श्वभा॑नुषु ३

विश्वे॒ हि ष्मा॒ मन॑वे वि॒श्ववे॑दसो॒ भुव॑न् वृ॒धे रि॒शाद॑सः ।
अरि॑ष्टेभिः पा॒युभि॑र्विश्ववेदसो॒ यन्ता॑ नोऽवृ॒कं छ॒र्दिः ४

आ नो॑ अ॒द्य सम॑नसो॒ गन्ता॒ विश्वे॑ स॒जोष॑सः ।
ऋ॒चा गि॒रा मरु॑तो॒ देव्यदि॑ते॒ सद॑ने॒ पस्त्ये॑ महि ५ [३१]

अ॒भि प्रि॒या म॑रुतो॒ या वो॒ अश्व्या॑ ह॒व्या मि॑त्र प्रया॒थन॑ ।
आ ब॒र्हिरिन्द्रो॒ वरु॑णस्तु॒रा नर॑ आदि॒त्यास॑ः सदन्तु नः ६

व॒यं वो॑ वृ॒क्तब॑र्हिषो हि॒तप्र॑यस आनु॒षक् ।
सु॒तसो॑मासो वरुण हवामहे मनु॒ष्वदि॒द्धाग्न॑यः ७

आ प्र या॑त॒ मरु॑तो॒ विष्णो॒ अश्वि॑ना॒ पूष॒न् माकी॑नया धि॒या ।
इन्द्र॒ आ या॑तु प्रथ॒मः स॑नि॒ष्युभि॒र्वृषा॒ यो वृ॑त्र॒हा गृ॒णे ८

वि नो॑ देवासो अद्रुहो॒ऽच्छि॑द्रं॒ शर्म॑ यच्छत ।
न यद् दू॒राद् व॑सवो॒ नू चि॒दन्ति॑तो॒ वरू॑थमाद॒धर्ष॑ति ९

अस्ति॒ हि व॑ः सजा॒त्यं॑ रिशादसो॒ देवा॑सो॒ अस्त्याप्य॑म् ।
प्र ण॒ः पूर्व॑स्मै सुवि॒ताय॑ वोचत म॒क्षू सु॒म्नाय॒ नव्य॑से १० [३२]

इ॒दा हि व॒ उप॑स्तुतिमि॒दा वा॒मस्य॑ भ॒क्तये॑ ।
उप॑ वो विश्ववेदसो नम॒स्युराँ अ॒सृक्ष्यन्या॑मिव ११

उदु॒ ष्य व॑ः सवि॒ता सु॑प्रणीत॒योऽस्था॑दू॒र्ध्वो वरे॑ण्यः ।
नि द्वि॒पाद॒श्चतु॑ष्पादो अ॒र्थिनो॑ऽविश्रन् पतयि॒ष्णव॑ः १२

दे॒वंदे॑वं॒ वोऽव॑से दे॒वंदे॑वम॒भिष्ट॑ये ।
दे॒वंदे॑वं हुवेम॒ वाज॑सातये गृ॒णन्तो॑ दे॒व्या धि॒या १३

दे॒वासो॒ हि ष्मा॒ मन॑वे॒ सम॑न्यवो॒ विश्वे॑ सा॒कं सरा॑तयः ।
ते नो॑ अ॒द्य ते अ॑प॒रं तु॒चे तु नो॒ भव॑न्तु वरिवो॒विद॑ः १४

प्र व॑ः शंसाम्यद्रुहः सं॒स्थ उप॑स्तुतीनाम् ।
न तं धू॒र्तिर्व॑रुण मित्र॒ मर्त्यं॒ यो वो॒ धाम॒भ्योऽवि॑धत् १५

प्र स क्षयं॑ तिरते॒ वि म॒हीरिषो॒ यो वो॒ वरा॑य॒ दाश॑ति ।
प्र प्र॒जाभि॑र्जायते॒ धर्म॑ण॒स्पर्यरि॑ष्टः॒ सर्व॑ एधते १६ [३३] (६७१)

आयन्तारं महि स्थिरं पृतनासु श्रवोजितम् । भूरेरीशानमोजसा १४
नकिरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम् । नकिर्वक्ता न दादिति १५ [३]

न नूनं ब्रह्मणामृणं प्राशूनामस्ति सुन्वताम् । न सोमो अप्रता पपे १६
पन्य इदुप गायत पन्य उक्थानि शंसत । ब्रह्मा कृणोत पन्य इत् १७
पन्य आ दर्दिरच्छता सहस्रा वाज्यवृतः । इन्द्रो यो यज्वनो वृधः १८
वि षू चर स्वधा अनु कृष्टीनामन्वाहुवः । इन्द्र पिब सुतानाम् १९
पिब स्वधैनवाना—मुत यस्तुग्र्ये सचा । उतायमिन्द्र यस्तव २० [४]

अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपारणे । इमं रातं सुतं पिब २१
इहि तिस्रः परावत इहि पञ्च जनाँ अति । धेना इन्द्रावचाकशत् २२
सूर्यो रश्मिं यथा सृजा ऽऽ त्वा यच्छन्तु मे गिरः । निम्नमापो न सध्र्यक् २३
अध्वर्यवा तु हि षिञ्च सोमं वीराय शिप्रिणे । भरा सुतस्य पीतये २४
य उद्नः फलिगं भिन—न्न्यक् सिन्धूँरवासृजत् । यो गोषु पक्वं धारयत् २५ [५]

अहन् वृत्रमृचीषम और्णवाभमहीशुवम् । हिमेनाविध्यदर्बुदम् २६
प्र व उग्राय निष्टुरे ऽषाळ्हाय प्रसक्षिणे । देवत्तं ब्रह्म गायत २७
यो विश्वान्यभि व्रता सोमस्य मदे अन्धसः । इन्द्रो देवेषु चेतति २८
इह त्या सधमाद्या हरी हिरण्यकेश्या । वोळ्हामभि प्रयो हितम् २९
अर्वाञ्चं त्वा पुरुष्टुत प्रियमेधस्तुता हरी । सोमपेयाय वक्षतः ३० [६] (७४४)

(३३)

१९ मेध्यातिथिः काण्वः । इन्द्रः । बृहती, १६-१८ गायत्री, १९ अनुष्टुप् ।

वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते १
स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः २
कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सहस्रिणम् ।
पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ३
पाहि गायान्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे ।
यः संमिश्लो हर्योर्यः सुते सचा वज्री रथो हिरण्ययः ४ (७४८)

(३४)

(१८) १-१५ नीपातिथिः काण्व , १६-१८ सहस्रं वसुरोचिषोऽङ्गिरस । इन्द्रः । अनुष्टुप् १६-१८ गायत्री ।

एन्द्र याहि हरिभि॒रुप॒ कण्व॑स्य सुष्टु॒तिम् ।
दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो १

आ त्वा॒ ग्रावा॒ वद॑न्नि॒ह सो॒मी घोषे॑ण यच्छतु ।
दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो २

अत्रा॒ वि ने॒मिरे॑षा॒मुरां॒ न धू॑नुते॒ वृकः॑ ।
दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो ३

आ त्वा॒ कण्वा॑ इ॒हाव॑से॒ हव॑न्ते॒ वाज॑सातये ।
दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो ४

दधा॑मि ते सु॒ताना॒ं वृष्णे॒ न पू॑र्व॒पाय्य॑म् ।
दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो ५ [११]

स्मत्पु॑रंधिर्न॒ आ ग॑हि वि॒श्वतो॑धीर्न ऊ॒तये॑ ।
दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो ६

आ नो॑ याहि महेमते॒ सह॑स्रोते॒ शता॑मघ ।
दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो ७

आ त्वा॒ होता॒ मनु॑र्हितो देव॒त्रा व॑क्ष॒दीड्यः॑ ।
दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो ८

आ त्वा॑ मद॒च्युता॒ हरी॑ श्ये॒नं प॒क्षेव॑ वक्षतः ।
दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो ९

आ या॑ह्य॒र्य आ परि॒ स्वाहा॒ सोम॑स्य पी॒तये॑ ।
दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो १० [१२]

आ नो॑ या॒ह्युप॑श्रु॒त्यु॒क्थेषु॑ रणया इ॒ह ।
दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो ११

सरू॑पै॒रा सु नो॑ गहि॒ सम्भृ॑तैः॒ सम्भृ॑ताश्वः ।
दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो १२ (७५०)

श्येनाविव पतथो हव्यदातये सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथः ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च त्रिर्वर्तिर्यातमश्विना ९
पिबतं च तृष्णुतं चा च गच्छतं प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चोर्जं नो धत्तमश्विना १०
जयतं च प्र स्तुतं च प्र चावतं प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चोर्जं नो धत्तमश्विना ११
हतं च शत्रून् यततं च मित्रिणः प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चोर्जं नो धत्तमश्विना १२ [१५]

मित्रावरुणवन्ता उत धर्मवन्ता मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चाऽऽदित्यैर्यातमश्विना १३
अङ्गिरस्वन्ता उत विष्णुवन्ता मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चाऽऽदित्यैर्यातमश्विना १४
ऋभुमन्ता वृषणा वाजवन्ता मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चाऽऽदित्यैर्यातमश्विना १५
ब्रह्म जिन्वतमुत जिन्वतं धियो हतं रक्षांसि सेधतममीवाः ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं सुन्वतो अश्विना १६
क्षत्रं जिन्वतमुत जिन्वतं नॄन् हतं रक्षांसि सेधतममीवाः ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं सुन्वतो अश्विना १७
धेनूर्जिन्वतमुत जिन्वतं विशो हतं रक्षांसि सेधतममीवाः ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं सुन्वतो अश्विना १८ [१६]

अत्रेरिव शृणुतं पूर्व्यस्तुतिं श्यावाश्वस्य सुन्वतो मदच्युता ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चाऽश्विना तिरोअह्न्यम् १९
सर्गाँ इव सृजतं सुष्टुतीरुप श्यावाश्वस्य सुन्वतो मदच्युता ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चाऽश्विना तिरोअह्न्यम् २०
रश्मीँरिव यच्छतमध्वराँ उप श्यावाश्वस्य सुन्वतो मदच्युता ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चाऽश्विना तिरोअह्न्यम् २१
अर्वाग् रथं नि यच्छतं पिबतं सोम्यं मधु ।
आ यातमश्विना गतमवस्युर्वामहं हुवे धत्तं रत्नानि दाशुषे २२

एकराळस्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
माध्यंदिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः ३

सस्थावाना यवयसि त्वमेक इच्छचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
माध्यंदिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः ४

क्षेमस्य च प्रयुजश्च त्वमीशिषे शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
माध्यंदिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः ५

क्षत्राय त्वमवसि न त्वमाविथ शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
माध्यंदिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः ६

श्यावाश्वस्य रेभत स्तथा शृणु यथाशृणो रत्रेः कर्माणि कृण्वतः ।
प्र त्रसदस्युमाविथ त्वमेक इन्नृषाह्य इन्द्र क्षत्राणि वर्धयन् ७ [१९] (८१९)

(३८)

१० श्यावाश्व आत्रेयः । इन्द्राग्नी । गायत्री ।

यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु । इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् १
तोशासा रथयावाना वृत्रहणापराजिता । इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् २
इदं वां मदिर मध्व धुक्षन्नद्रिभिर्नरः । इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ३
जुषेथां यज्ञमिष्टये सुत सोमं सधस्तुती । इन्द्राग्नी आ गतं नरा ४
इमा जुषेथां सवना येभिर्हव्यान्यूहथुः । इन्द्राग्नी आ गतं नरा ५
इमां गायत्रवर्तनिं जुषेथां सुष्टुतिं मम । इन्द्राग्नी आ गतं नरा ६ [२०]
प्रातर्यावभिरा गत देवेभिर्जेन्यावसू । इन्द्राग्नी सोमपीतये ७
श्यावाश्वस्य सुन्वतो ऽत्रीणां शृणुत हवम् । इन्द्राग्नी सोमपीतये ८
एवा वामह्व ऊतये यथाहुवन्त मेधिराः । इन्द्राग्नी सोमपीतये ९
आह सरस्वतीवतो रिन्द्राग्न्योरवो वृणे । याभ्यां गायत्रमृच्यते १० [२१] (८२०)

(३९)

१० नाभाकः काण्वः । अग्निः । महापङ्क्तिः ।

अग्निमस्तोष्यृग्मिय मग्निमीळा यजध्यै ।
अग्निर्देवाँ अनक्तु न उभे हि विदथे कवि रन्तश्चरति दूत्यं नमन्तामन्यके समे १ (८२१)

अभ्यर्च नभाकव—दिन्द्राग्नी यजसा गिरा ।
ययोर्विश्वमिदं जग—दियं द्यौः पृथिवी मह्यु—पस्थे बिभृतो वसु नभन्तामन्यके समे ४

प्र ब्रह्माणि नभाकव—दिन्द्राग्निभ्यामिरज्यत ।
या सप्तबुध्नमर्णवं जिह्मबारमपोर्णुत इन्द्र ईशान ओजसा नभन्तामन्यके समे ५

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पित—मोजो दासस्य दम्भय ।
वयं तदस्य सम्भृतं वस्विन्द्रेण वि भजेमहि नभन्तामन्यके समे ६ [२४]

यदिन्द्राग्नी जना इमे विह्वयन्ते तना गिरा ।
अस्माकेभिर्नृभिर्वयं सासह्याम पृतन्यतो वनुयाम वनुष्यतो नभन्तामन्यके समे ७

या नु श्वेताववो दिव उच्चरात उप द्युभिः ।
इन्द्राग्न्योरनु व्रत—मुहाना यन्ति सिन्धवो यान् त्सीं बन्धादमुञ्चतां नभन्तामन्यके समे ८

पूर्वीष्ट इन्द्रोपमातयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः सूनो हिन्वस्य हरिवः ।
वस्वो वीरस्यापृचो या नु साधन्त नो धियो नभन्तामन्यके समे ९

तं शिशीता सुवृक्तिभि—स्त्वेषं सत्वानमृग्मियम् ।
उतो नु चिद् य ओजसा शुष्णस्याण्डानि भेदति जेषत् स्वर्वतीरपो नभन्तामन्यके समे १०

तं शिशीता स्वध्वरं सत्यं सत्वानमृत्वियम् ।
उतो नु चिद् य ओहत आण्डा शुष्णस्य भेद—त्यजैः स्वर्वतीरपो नभन्तामन्यके समे ११

एवेन्द्राग्निभ्यां पितृवन्नवीयो मन्धातृवदङ्गिरस्वदवाचि ।
त्रिधातुना शर्मणा पातमस्मान् वयं स्याम पतयो रयीणाम् १२ [२५] (८५१)

(४१)

१० नाभाकः काण्वः । वरुणः । महापङ्क्तिः ।

अस्मा ऊ षु प्रभूतये वरुणाय मरुद्भ्यो ऽर्चा विदुष्टरेभ्यः ।
यो धीता मानुषाणां पश्वो गा इव रक्षति नभन्तामन्यके समे १

तमू षु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः ।
नाभाकस्य प्रशस्तिभि—र्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे २

स क्षपः परि षस्वजे न्युस्रो मायया दधे स विश्वं परि दर्शतः ।
तस्य वेनीरनु व्रत—मुषस्तिस्रो अवर्धयन् नभन्तामन्यके समे ३ (८५४)

एवा वामह्व ऊतये यथाहुवन्त मेधिराः ।
नासत्या सोमपीतये नभन्तामन्यके समे ६ [२८] (८६७)

(४३) [षष्ठोऽनुवाकः ॥६॥ सू० ४३--४८]

३३ विरूप आङ्गिरस । अग्नि । गायत्री ।

इमे विप्रस्य वेधसो ऽग्नेरस्तृतयज्वनः । गिरः स्तोमास ईरते १
अस्मै ते प्रतिहर्यते जातवेदो विचर्षणे । अग्ने जनामि सुष्टुतिम् २
आरोका इव घेदह तिग्मा अग्ने तव त्विषः । दद्भिर्वनानि बप्सति ३
हरयो धूमकेतवो वातजूता उप द्यवि । यतन्ते वृथगग्नयः ४
एते त्ये वृथगग्नय इद्धासः समदृक्षत । उषसामिव केतवः ५ [२९]

कृष्णा रजांसि पत्सुतः प्रयाणे जातवेदसः । अग्निर्यद् रोधति क्षमि ६
धासिं कृण्वान ओषधीर्बप्सदग्निर्न वायति । पुनर्यन् तरुणीरपि ७
जिह्वाभिरह नन्नमदर्चिषा जञ्जणाभवन् । अग्निर्वनेषु रोचते ८
अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे । गर्भे सञ्जायसे पुनः ९
उदग्ने तव तद् घृतादर्ची रोचत आहुतम् । निंसानं जुह्वो मुखे १० [३०]

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे । स्तोमैर्विधेमाग्नये ११
उत त्वा नमसा वयं होतर्वरेण्यक्रतो । अग्ने समिद्भिरीमहे १२
उत त्वा भृगुवच्छुचे मनुष्वदग्न आहुत । अङ्गिरस्वद्धवामहे १३
त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन् सता । सखा सख्या समिध्यसे १४
स त्वं विप्राय दाशुषे रयिं देहि सहस्रिणम् । अग्ने वीरवतीमिषम् १५ [३१]

अग्ने भ्रातः सहस्कृत रोहिदश्व शुचिव्रत । इमं स्तोमं जुषस्व मे १६
उत त्वाग्ने मम स्तुतो वाश्राय प्रतिहर्यते । गोष्ठं गाव इवाशत १७
तुभ्यं ता अङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक् । अग्ने कामाय येमिरे १८
अग्निं धीभिर्मनीषिणो मेधिरासो विपश्चितः । अद्मसद्याय हिन्विरे १९
तं त्वामज्मेषु वाजिनं तन्वाना अग्ने अध्वरम् । वह्निं होतारमीळते २० [३२]

पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो विश्वा अनु प्रभुः । समत्सु त्वा हवामहे २१
तमीळिष्व य आहुतो ऽग्निर्विभ्राजते घृतैः । इमं नः शृणवद्धवम् २२
तं त्वा वयं हवामहे शृण्वन्तं जातवेदसम् । अग्ने घ्नन्तमप द्विषः २३ (८९०)

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपां रेतांसि जिन्वति ॥ १६
उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते । तव ज्योतींष्यर्चयः ॥ १७
ईशिषे वार्यस्य हि दात्रस्याग्ने स्वर्पतिः । स्तोता स्यां तव शर्मणि ॥ १८
त्वामग्ने मनीषिणस्त्वां हिन्वन्ति चित्तिभिः । त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥ १९
अदब्धस्य स्वधावतो दूतस्य रेभतः सदा । अग्नेः सख्यं वृणीमहे ॥ २० [३९]

अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः । शुची रोचत आहुतः ॥ २१
उत त्वा धीतयो मम गिरो वर्धन्तु विश्वहा । अग्ने सख्यस्य बोधि नः ॥ २२
यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् । स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥ २३
वसुर्वसुपतिर्हि कमस्यग्ने विभावसुः । स्याम ते सुमतावपि ॥ २४
अग्ने धृतव्रताय ते समुद्रायेव सिन्धवः । गिरो वाश्रास ईरते ॥ २५ [४०]

युवानं विश्पतिं कविं विश्वादं पुरुवेपसम् । अग्निं शुम्भामि मन्मभिः ॥ २६
यज्ञानां रथ्ये वयं तिग्मजम्भाय वीळवे । स्तोमैरिषेमाग्नये ॥ २७
अयमग्ने त्वे अपि जरिता भूतु सन्त्य । तस्मै पावक मृळय ॥ २८
धीरो ह्यस्यद्मसद्विप्रो न जागृविः सदा । अग्ने दीदयसि द्यवि ॥ २९
पुराग्ने दुरितेभ्यः पुरा मृध्रेभ्यः कवे । प्र ण आयुर्वसो तिर ॥ ३० [४१] (९३०)

(४५)

४२ त्रिशोकः काण्वः । इन्द्रः; १ अग्नीन्द्रौ । गायत्री ।

आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् । येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ १
बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः । येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ २
अयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः । येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ ३
आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छद्वि मातरम् । क उग्राः के ह शृण्विरे ॥ ४
प्रति त्वा शवसी वदद्गिरावप्सो न योधिषत् । यस्ते शत्रुत्वमाचके ॥ ५ [४२]

उत त्वं मघवञ्छृणु यस्ते वष्टि ववक्षि तत् । यद्वीळयासि वीळु तत् ॥ ६
यदाजिं यात्याजिकृदिन्द्रः स्वश्वयुरुप । रथीतमो रथीनाम् ॥ ७
वि षु विश्वा अभियुजो वज्रिन्विष्वग्यथा वृह । भवा नः सुश्रवस्तमः ॥ ८
अस्माकं सु रथं पुर इन्द्रः कृणोतु सातये । न यं धूर्वन्ति धूर्तयः ॥ ९
वृज्याम ते परि द्विषोऽरं ते शक्र दावने । गमेमेदिन्द्र गोमतः ॥ १० [४३] (९४०)

आ ते एता वचोयुजा हरी गृभ्णे सुमद्रथा । यदीं ब्रह्मभ्य इद्दर्दः ३९
भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः । वसु स्पार्हं तदा भर ४०
यद्वीळाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम् । वसु स्पार्हं तदा भर ४१
यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति । वसु स्पार्हं तदा भर ४२ [४९] (९७७)

—o—

[चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥ व० १-५४]   (४६)

३३ वशोऽश्व्यः । इन्द्रः, २१-२४ कानीतः पृथुश्रवाः, २५-२८, ३२ वायुः । गायत्री, १ पादनिचृत्, ५ ककुप्, ७ बृहती, ८ अनुष्टुप्, ९ सतोबृहती, ११-१२ विपरीतोत्तरः प्रगाथः=(बृहती, विपरीता), १३ द्विपदा जगती, १४ बृहती पिपीलिकमध्या, १५ ककुम्न्यङ्कुशिरा, १६ विराट्, १७ जगती, १८ उपरिष्टाद् बृहती, १९ बृहती, २० विषमपदा बृहती, २१,२४ पङ्क्तिः, २२ सस्तारपङ्क्तिः, २५ २८ प्रगाथः = (बृहती, सतोबृहती), ३० द्विपदा विराट्, ३१ उष्णिक्, ३३ पङ्क्तिः ।

त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः । स्मसि स्थातर्हरीणाम् १
त्वां हि सत्यमद्रिवो विद्म दातारमिषाम् । विद्म दातारं रयीणाम् २
आ यस्य ते महिमानं शतमूते शतक्रतो । गीर्भिर्गृणन्ति कारवः ३
सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा । मित्रः पान्त्यद्रुहः ४
दधानो गोमदश्ववत् सुवीर्यमादित्यजूत एधते । सदा राया पुरुस्पृहा ५ [१]

तमिन्द्रं दानमीमहे शवसानमभीर्वम् । ईशानं राय ईमहे ६
तस्मिन् हि सन्त्यूतयो विश्वा अभीरवः सचा ।
तमा वहन्तु सप्तयः पुरूवसुं मदाय हरयः सुतम् ७
यस्ते मदो वरेण्यो य इन्द्र वृत्रहन्तमः ।
य आददिः स्वर्नृभिर्यः पृतनासु दुष्टरः ८
यो दुष्टरो विश्ववार श्रवाय्यो वाजेष्वस्ति तरुता ।
स नः शविष्ठ सवना वसो गहि गमेम गोमति व्रजे ९
गव्यो षु णो यथा पुराऽश्वयोत रथया । वरिवस्य महामह १० [२]

नहि ते शूर राधसोऽन्तं विन्दामि सत्रा ।
दशस्या नो मघवन् नू चिदद्रिवो धियो वाजेभिराविथ ११
य ऋष्वः श्रावयत्सखा विश्वेत् स वेद जनिमा पुरुष्टुतः ।
तं विश्वे मानुषा युगेन्द्रं हवन्ते तविषं यतस्रुचः १२
स नो वाजेष्वविता पुरूवसुः पुरःस्थाता । मघवा वृत्रहा भुवत् १३ (९८५)

अध प्रियमिषिराय षष्टिं सहस्रासनम् । अश्वानामिन्न वृष्णाम् २९
गावो न यूथमुप यन्ति वध्रय उप मा यन्ति वध्रयः ३०
अध यच्चारथे गणे शतमुष्ट्राँ अचिक्रदत् । अध श्वित्नेषु विंशतिं शता ३१
शतं दासे बल्बूथे विप्रस्तरुक्ष आ ददे ।
ते ते वायविमे जना मदन्तीन्द्रगोपा मदन्ति देवगोपाः ३२
अध स्या योषणा मही प्रतीची वशमश्व्यम् । अधिरुक्मा वि नीयते ३३[६] (१००५)

(४७)

१८ त्रित आप्त्यः । आदित्याः, १४-१८ आदित्योषसः (दुःष्वप्नघ्नम्) । महापङ्क्तिः ।

महि वो महतामवो वरुण मित्र दाशुषे ।
यमादित्या अभि द्रुहो रक्षथा नेमघं नशदनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः १
विदा देवा अघानामादित्यासो अपाकृतिम् ।
पक्षा वयो यथोपरि व्य१स्मे शर्म यच्छतानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः २
व्य१स्मे अधि शर्म तत्पक्षा वयो न यन्तन ।
विश्वानि विश्ववेदसो वरूथ्या मनामहेऽनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ३
यस्मा अरासत क्षयं जीवातुं च प्रचेतसः ।
मनोर्विश्वस्य घेदिम आदित्या राय ईशतेऽनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ४
परि णो वृणजन्नघा दुर्गाणि रथ्यो यथा ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मण्यादित्यानामुतावस्यनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ५ [७]

परिह्वृतेदना जनो युष्मादत्तस्य वायति ।
देवा अदभ्रमाश वो यमादित्या अहेतनानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ६
न तं तिग्मं चन त्यजो न द्रासदभि तं गुरु ।
यस्मा उ शर्म सप्रथ आदित्यासो अराध्वमनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ७
युष्मे देवा अपि ष्मसि युध्यन्त इव वर्मसु ।
यूयं महो न एनसो यूयमर्भादुरुष्यतानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ८ (१०१३)

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य　　३

शं नो भव हृद आ पीत इन्दो पितेव सोम सूनवे सुशेवः ।
सखेव सख्य उरुशंस धीरः प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः　　४

इमे मा पीता यशस उरुष्यवो रथं न गावः समनाह पर्वसु ।
ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्रादुत मा स्रामाद्यवयन्त्विन्दवः　　५ [११]

अग्निं न मा मथितं सं दिदीपः प्र चक्षय कृणुहि वस्यसो नः ।
अथा हि ते मद आ सोम मन्ये रेवाँ इव प्र चरा पुष्टिमच्छ　　६

इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः ।
सोम राजन्प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि　　७

सोम राजन्मृळया नः स्वस्ति तव स्मसि व्रत्यास्तस्य विद्धि ।
अलर्ति दक्ष उत मन्युरिन्दो मा नो अर्यो अनुकामं परा दाः　　८

त्वं हि नस्तन्वः सोम गोपा गात्रेगात्रे निषसत्था नृचक्षाः ।
यत्ते वयं प्रमिनाम व्रतानि स नो मृळ सुषखा देव वस्यः　　९

ऋदूदरेण सख्या सचेय यो मा न रिष्येद्धर्यश्व पीतः ।
अयं यः सोमो न्यधाय्यस्मे तस्मा इन्द्रं प्रतिरमेम्यायुः　　१० [१२]

अप त्या अस्थुरनिरा अमीवा निरत्रसन्तमिषीचीरभैषुः ।
आ सोमो अस्माँ अरुहद्विहाया अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः　　११

यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्याँ आविवेश ।
तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम　　१२

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्　　१३

त्रातारो देवा अधि वोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः ।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ।　　१४

त्वं नः सोम विश्वतो वयोधास्त्वं स्वर्विदा विशा नृचक्षाः ।
त्वं न इन्द ऊतिभिः सजोषाः पाहि पश्चातादुत वा पुरस्तात्　　१५ [१३] (१०१८)

(५०) [२]

१० पुष्टिगुः काण्वः । इन्द्रः । प्रगाथः = (विषमा बृहती, समा सतोबृहती) ।

प्र सु श्रुतं सुराधस॒मर्चा॑ श॒क्रम॒भिष्ट॑ये ।
यः सु॑न्व॒ते स्तु॑व॒ते काम्यं॑ वसु॑ स॒हस्रे॑णेव॒ मंहते १

श॒तानी॑का हे॒तयो॑ अस्य दु॒ष्टरा॒ इन्द्र॑स्य स॒मिषो॑ म॒हीः ।
गि॒रिर्न भु॒ज्मा म॒घव॑त्सु पिन्वते॒ यदीं॑ सु॒ता अम॑न्दिषुः २

यदीं॑ सु॒तास॒ इन्द॑वो॒ ऽभि प्रि॒यमम॑न्दिषुः ।
आपो॒ न धा॑यि॒ सव॑नं म॒ आ व॑सो॒ दुघा॑ इ॒वोप॑ दा॒शुषे॑ ३

अ॒ने॒हसं॑ वो॒ हव॑मानमू॒तये॒ मध्वः॑ क्षरन्ति धी॒तयः॑ ।
आ त्वा॑ वसो॒ हव॑मानास॒ इन्द॑व॒ उप॑ स्तो॒त्रेषु॑ दधिरे ४

आ नः॒ सोमे॑ स्वध्व॒र इ॑या॒नो अत्यो॒ न तो॑शते ।
यं ते॑ स्वदावन् त्स्वद॑न्ति गू॒र्तयः॑ पौ॒रे छ॑न्दयसे॒ हव॑म् ५ [१६]

प्र वी॒रमु॒ग्रं विवि॑चिं धन॒स्पृतं॒ विभू॑तिं॒ राध॑सो म॒हः ।
उ॒द्रीव॑ वज्रिन्नव॒तो व॑सुत्व॒ना सदा॑ पीपेथ दा॒शुषे॑ ६

यद्ध॒ नू॒नं प॑रा॒वति॒ यद्वा॑ पृथि॒व्यां दि॒वि ।
यु॒जा॒न इ॑न्द्र॒ हरि॑भिर्महेमत ऋ॒ष्व ऋ॒ष्वेभि॒रा ग॑हि ७

र॒थि॒रासो॒ हर॑यो॒ ये ते॑ अ॒स्रिध॒ ओजो॒ वात॑स्य॒ पिप्र॑ति ।
येभि॒र्नि दस्युं॒ मनु॑षो नि॒घोष॑यो॒ येभिः॒ स्वः॑ प॒रीय॑से ८

ए॒ताव॑तस्ते वसो वि॒द्याम॑ शूर॒ नव्य॑सः ।
यथा॒ प्राव॒ एत॑शं॒ कृत्व्ये॒ धने॒ यथा॒ वशं॒ दश॑व्रजे ९

यथा॒ कण्वे॑ मघव॒न् मेधे॑ अध्व॒रे दी॒र्घनी॑थे॒ दमू॑नसि ।
यथा॒ गोश॑र्ये॒ असि॑षासो अद्रिवो॒ मयि॑ गो॒त्रं ह॑रि॒श्रिय॑म् १०[१७](१०५८)

(५१) [३]

१० श्रुष्टिगुः काण्वः । इन्द्रः । प्रगाथः = (विषमा बृहती, समा सतोबृहती) ।

यथा॒ मनौ॒ सांव॑रणौ॒ सोम॑मि॒न्द्रापि॑बः सु॒तम् ।
नीपा॑तिथौ मघव॒न् मेध्या॑तिथौ॒ पुष्टि॑गौ॒ श्रुष्टि॑गौ॒ सचा॑ १ (१०५९)

यस्य त्वमिन्द्र स्तोमेषु चाकनो वाजे वाजिञ्छतक्रतो ।
तं त्वा वयं सुदुघामिव गोदुहो जुहूमसि श्रवस्यवः ४

यो नो दाता स नः पिता महाँ उग्र ईशानकृत् ।
अयामन्नुग्रो मघवा पुरूवसुर्गोरश्वस्य प्र दातु नः ५ [२०]

यस्मै त्वं वसो दानाय मंहसे स रायस्पोषमिन्वति ।
वसूयवो वसुपतिं शतक्रतुं स्तोमैरिन्द्रं हवामहे ६

कदा चन प्र युच्छस्युभे नि पासि जन्मनी ।
तुरीयादित्य हवनं त इन्द्रियमा तस्थावमृतं दिवि ७

यस्मै त्वं मघवन्निन्द्र गिर्वणः शिक्षो शिक्षसि दाशुषे ।
अस्माकं गिर उत सुष्टुतिं वसो कण्ववच्छृणुधी हवम् ८

अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ९

समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सं क्षोणी समु सूर्यम् ।
सं शुक्रासः शुचयः सं गवाशिरः सोमा इन्द्रममन्दिषुः १० [२१] (१००८)

(५३) [५]

८ मेध्यः काण्वः । इन्द्रः । प्रगाथः = (विषमा बृहती, समा सतोबृहती) ।

उपमं त्वा मघोनां ज्येष्ठं च वृषभाणाम् ।
पूर्भित्तमं मघवन्निन्द्र गोविदमीशानं राय ईमहे १

य आयुं कुत्समतिथिग्वमर्दयो वावृधानो दिवेदिवे ।
तं त्वा वयं हर्यश्वं शतक्रतुं वाजयन्तो हवामहे २

आ नो विश्वेषां रसं मध्वः सिञ्चन्त्वद्रयः ।
ये परावति सुन्विरे जनेष्वा ये अर्वावतीन्दवः ३

विश्वा द्वेषांसि जहि चाव चा कृधि विश्वे सन्वन्त्वा वसु ।
शीष्टेषु चित्ते मदिरासो अंशवो यत्रा सोमस्य तृम्पसि ४ [२२]

इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः ।
आ शंतम शंतमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः ५ (१०१३)

(५५) [७]

५ कृशः काण्व । इन्द्रः, प्रस्कण्वश्च । गायत्री, ३, ५ अनुष्टुप् ।

भूरीदिन्द्रस्य वीर्यं१ व्यख्यमभ्यायति । राधस्ते दस्यवे वृक १
शतं श्वेतास उक्षणो दिवि तारो न रोचन्ते । मह्ना दिवं न तस्तभुः २
शतं वेणूञ्छतं शुनः शतं चर्माणि म्लातानि ।
शतं मे बल्वजस्तुका अरुषीणां चतुःशतम् ३
सुदेवाः स्थ काण्वायना वयोवयो विचरन्तः । अश्वासो न चङ्क्रमत ४
आदित् साप्तस्य चर्किरन्नानूनस्य महि श्रवः ।
श्यावीरतिध्वसन् पथश्चक्षुषा चन संनशे ५ [२६] (१०९९)

(५६) [८]

५ पृषध्रः काण्वः । इन्द्रः, प्रस्कण्वश्च ५ अग्निसूर्यौ । गायत्री, ५ पङ्क्तिः ।

प्रति ते दस्यवे वृक राधो अदर्श्यह्रयम् । द्यौर्न प्रथिना शवः १
दश मह्यं पौतक्रतः सहस्रा दस्यवे वृकः । नित्याद्रायो अमंहत २
शतं मे गर्दभानां शतमूर्णावतीनाम् । शतं दासाँ अति स्रजः ३
तत्रो अपि प्राणीयत पूतक्रतायै व्यक्ता । अश्वानामिन्न यूथ्याम् ४
अचेत्यग्निश्चिकितुर्हव्यवाट् स सुमद्रथः ।
अग्निः शुक्रेण शोचिषा बृहत् सूरो अरोचत दिवि सूर्यो अरोचत ५ [२७] (११०४)

(५७) [९]

४ मेध्यः काण्वः । अश्विनौ । त्रिष्टुप् ।

युवं देवा क्रतुना पूर्व्येण युक्ता रथेन तविषं यजत्रा ।
आगच्छतं नासत्या शचीभिरिदं तृतीयं सवनं पिबाथः १
युवां देवास्त्रय एकादशासः सत्याः सत्यस्य ददृशे पुरस्तात् ।
अस्माकं यज्ञं सवनं जुषाणा पातं सोममश्विना दीद्यग्नी २
पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः ।
सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत् ताँ उप याता पिबध्यै ३ (११०७)

(६०)   [सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ सू० ६०-६६]

२० भर्गः प्रागाथः । अग्निः । प्रगाथः = (विषमा बृहती, समा सतोबृहती) ।

अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती   यजिष्ठं बर्हिरासदे   १

अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः   स्रुचश्चरन्त्यध्वरे ।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहे   ऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम्   २

अग्ने कविर्वेधा असि   होता पावक यक्ष्यः ।
मन्द्रो यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यो   विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः   ३

अद्रोघमा वहोशतो यविष्ठ्य   देवाँ अजस्र वीतये ।
अभि प्रयांसि सुधिता वसो गहि   मन्दस्व धीतिभिर्हितः   ४

त्वमित् सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतस्कविः ।
त्वां विप्रासः समिधान दीदिव   आ विवासन्ति वेधसः   ५ [३२]

शोचा शोचिष्ठ दीदिहि विशे मयो   रास्व स्तोत्रे महाँ असि ।
देवानां शर्मन् मम सन्तु सूरयः   शत्रूषाहः स्वग्नयः   ६

यथा चिद् वृद्धमतसमग्ने संजूर्वसि क्षमि ।
एवा दह मित्रमहो यो अस्मध्रुग्   दुर्मन्मा कश्च वेनति   ७

मा नो मर्ताय रिपवे रक्षस्विने   माघशंसाय रीरधः ।
अस्रेधद्भिस्तरणिभिर्यविष्ठ्य   शिवेभिः पाहि पायुभिः   ८

पाहि नो अग्न एकया   पाह्युत द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते   पाहि चतसृभिर्वसो   ९

पाहि विश्वस्माद्रक्षसो अराव्णः   प्र स्म वाजेषु नोऽव ।
त्वामिद्धि नेदिष्ठं देवतातय   आपिं नक्षामहे वृधे   १० [३३]

आ नो अग्ने वयोवृधं   रयिं पावक शंस्यम् ।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं   सुनीती स्वयशस्तरम्   ११

येन वंसाम पृतनासु शर्धत   स्तरन्तो अर्य आदिशः ।
स त्वं नो वर्ध प्रयसा शचीवसो   जिन्वा धियो वसुविदः   १२

शिशानो वृषभो यथाग्निः शृङ्गे दविध्वत् ।
तिग्मा अस्य हनवो न प्रतिधृषे   सुजम्भः सहसो यहुः   १३   (११३२)

पौरो अश्वस्य पुरुकृद् गवामु्‌स्युत्सो देव हिरण्ययः।
नकिर्हि दानं परिमर्धिषत् त्वे यद्यद्यामि तदा भर ६

त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये।
उद् वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ७

त्वं पुरू सहस्राणि शतानि च यूथा दानाय मंहसे।
आ पुरंदरं चकृम विप्रवचस इन्द्रं गायन्तोऽवसे ८

अविप्रो वा यदविध द्विप्रो वेन्द्र ते वचः।
स प्र ममन्दत् त्वाया शतक्रतो प्राचामन्यो अहंसन ९

उग्रबाहुर्म्रक्षकृत्वा पुरंदरो यदि मे शृणवद्धवम्।
वसूयवो वसुपतिं शतक्रतुं स्तोमैरिन्द्रं हवामहे १० [२७]

न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः।
यदिन्न्विन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै ११

उग्रं युयुज्म पृतनासु सासहि मृणकातिमदाभ्यम्।
वेदा भृमं चित् सनिता रथीतमो वाजिनं यमिदू नशत् १२

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभि र्वि द्विषो वि मृधो जहि १३

त्वं हि राधस्पते राधसो महः क्षयस्यासि विधतः।
तं त्वा वयं मघवन्निन्द्र गिर्वणः सुतावन्तो हवामहे १४

इन्द्रः स्पळुत वृत्रहा परस्पा नो वरेण्यः।
स नो रक्षिषच्चरमं स मध्यमं स पश्चात् पातु नः पुरः १५ [२८]

त्वं नः पश्चादधरादुत्तरात् पुर इन्द्र नि पाहि विश्वतः।
आरे अस्मत् कृणुहि दैव्यं भय मारे हेतीरदेवीः १६

अद्याद्या श्वःश्व इन्द्र त्रास्व परे च नः।
विश्वा च नो जरितॄन् सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः १७

प्रभङ्गी शूरो मघवा तुवीमघः संमिश्लो वीर्याय कम्।
उभा ते बाहू वृषणा शतक्रतो नि या वज्रं मिमिक्षतुः १८ [२९] (११५६)

(६३)

११ प्रगाथः काण्वः । इन्द्रः, १२ देवा । गायत्री, १, ४-५, ७ अनुष्टुप्, १२ त्रिष्टुप् ।

स पूर्व्यो महानां वेनः क्रतुभिरानजे । यस्य द्वारा मनुष्पिता देवेषु धिय आनजे १
दिवो मानं नोत्सदन् त्सोमपृष्ठासो अद्रयः । उक्था ब्रह्म च शंस्या २
स विद्वाँ अङ्गिरोभ्य इन्द्रो गा अवृणोदप । स्तुषे तदस्य पौंस्यम् ३
स प्रत्नथा कविवृध इन्द्रो वाकस्य वक्षणिः । शिवो अर्कस्य होमन्यस्मत्रा गन्त्ववसे ४
आदू नु ते अनु क्रतुं स्वाहा वरस्य यज्यवः । श्वात्रमर्का अनूषतेन्द्र गोत्रस्य दावने ५
इन्द्रे विश्वानि वीर्या कृतानि कर्त्वानि च । यमर्का अध्वरं विदुः ६ [४२]

यत् पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत । अस्तृणाद्बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयः ७
इयमु ते अनुष्टुतिश्चकृषे तानि पौंस्या । प्रावश्चक्रस्य वर्तनिम् ८
अस्य वृष्णो व्योदन उरु क्रमिष्ट जीवसे । यवं न पश्व आ ददे ९
तद्दधाना अवस्यवो युष्माभिर्दक्षपितरः । स्याम मरुत्वतो वृधे १०
बळृत्वियाय धाम्न ऋक्वभिः शूर नोनुमः । जेषामेन्द्र त्वया युजा ११
अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः ।
यः शंसते स्तुवते धायि पज्र इन्द्रज्येष्ठा अस्माँ अवन्तु देवाः १२ [४३] (११८०)

(६४)

११ प्रगाथः काण्वः । इन्द्रः । गायत्री ।

उत् त्वा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः । अव ब्रह्मद्विषो जहि १
पदा पणीँरराधसो नि बाधस्व महाँ असि । नहि त्वा कश्चन प्रति २
त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् । त्वं राजा जनानाम् ३
एहि प्रेहि क्षयो दिव्याघोषञ्चर्षणीनाम् । ओभे पृणासि रोदसी ४
त्यं चित् पर्वतं गिरिं शतवन्तं सहस्रिणम् । वि स्तोतृभ्यो रुरोजिथ ५
वयमु त्वा दिवा सुते वयं नक्तं हवामहे । अस्माकं काममा पृण ६ [४४]

क्व१ स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः । ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ७
कस्य स्वित् सवनं वृषा जुजुष्वाँ अव गच्छति । इन्द्रं क उ स्विदा चके ८
कं ते दाना असक्षत वृत्रहन् कं सुवीर्या । उक्थे क उ स्विदन्तमः ९ (११८९)

यच्चावन्थ पुरुष्टुत पुरा चिच्छूर नृणाम् ।
वयं तत् त इन्द्र सं भरामसि यज्ञमुक्थं तुरं वचः ५ [४८]

सचा सोमेषु पुरुहूत वज्रिवो मदाय द्युक्ष सोमपाः ।
त्वमिद्धि ब्रह्मकृते काम्यं वसु देष्ठः सुन्वते भुवः ६

वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम् ।
तस्मा उ अद्य समना सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ७

वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।
सेमं नः स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया ८

कदू न्व१स्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम् ।
केनो नु कं श्रोमतेन न शुश्रुवे जनुषः परि वृत्रहा ९

कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम् ।
इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणींरभि १० [४९]

वयं घा ते अपूर्व्येन्द्र ब्रह्माणि वृत्रहन् ।
पुरूतमासः पुरुहूत वज्रिवो भृतिं न प्र भरामसि ११

पूर्वीश्चिद्धि त्वे तुविकूर्मिन्नाशसो हवन्त इन्द्रोतयः ।
तिरश्चिदर्यः सवना वसो गहि शविष्ठ श्रुधि मे हवम् १२

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि ।
नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता १३

त्वं नो अस्या अमतेरुत क्षुधोऽभिशस्तेरव स्पृधि ।
त्वं न ऊती तव चित्रया धिया शिक्षा शचिष्ठ गातुवित् १४

सोम इद्वः सुतो अस्तु कलयो मा बिभीतन ।
अपेदेष ध्वस्मायति स्वयं घैषो अपायति १५ [५०] (१२२१)

(६७)

२१ मत्स्यः साम्मदः, मैत्रावरुणिर्मान्यः, बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः ।
आदित्याः, १०-१२ अदितिः । गायत्री ।

त्यान् नु क्षत्रियाँ अव आदित्यान् याचिषामहे । सुमृळीकाँ अभिष्टये १
मित्रो नो अत्यंहतिं वरुणः पर्षदर्यमा । आदित्यासो यथा विदुः २
तेषां हि चित्रमुक्थ्य१ं वरूथमस्ति दाशुषे । आदित्यानामरंकृते ३ (१२२२)

न यस्य ते शवसान सुख्यमानंश मर्त्यः । नकिः शवांसि ते नशत् ८
त्वोतासस्त्वा युजा ऽप्सु सूर्ये महद्धनम् । जयेम पृत्सु वज्रिवः ९
तं त्वा यज्ञेभिरीमहे तं गीर्भिर्गिर्वणस्तम ।
इन्द्र यथा चिन्नाविथ वाजेषु पुरुमाय्यम् १० [२]

यस्य ते स्वादु सख्यं स्वाद्वी प्रणीतिरद्रिवः । यज्ञो वितन्तसाय्यः ११
उरु णस्तन्वे३ तनं उरु क्षयाय नस्कृधि । उरु णो यन्धि जीवसे १२
उरुं नृभ्य उरु गव उरु रथाय पन्थाम् । देववीतिं मनामहे १३
उप मा षड् द्वाद्वा नरः सोमस्य हर्ष्या । तिष्ठन्ति स्वादुरातयः १४
ऋज्राविन्द्रोत आ ददे हरी ऋक्षस्य सूनवि । आश्वमेधस्य रोहिता १५ [३]

सुरथाँ आतिथिग्वे स्वभीशूँरार्क्षे । आश्वमेधे सुपेशसः १६
षळश्वाँ आतिथिग्व इन्द्रोते वधूमतः । सचा पूतक्रतौ सनम् १७
ऐषु चेतद्वृषण्वत्यन्तर्ऋज्रेष्वरुषी । स्वभीशुः कशावती १८
न युष्मे वाजबन्धवो निनित्सुश्चन मर्त्यः । अवद्यमधि दीधरत् १९ [४] (११५१)

(६९)

१८ प्रियमेध आङ्गिरसः । इन्द्रः, ११ (अर्धर्चस्य) विश्वे देवाः, ११ (उत्तरार्धस्य)– १२ वरुणः ।
अनुष्टुप् २ उष्णिक् ४-६ गायत्री, ११, १६ पङ्क्तिः, १७-१८ बृहती ।

प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषं मन्दद्वीरायेन्दवे । धिया वो मेधसातये पुरंध्या विवासति १
नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम् । पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि २
ता अस्य सूददोहसः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ३
अभि प्र गोपतिं गिरे न्द्रमर्च यथा विदे । सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ४
आ हरयः ससृज्रिरे ऽरुषीरधि बर्हिषि । यत्राभि संनवामहे ५ [५]

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु । यत् सीमुपह्वरे विदत् ६
उद्यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि ।
मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे ७
अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत । अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ८
अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत् ।
पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् ९ (११५८)

आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन् विश्वा शविष्ठ शवसा ।
अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः ६
न सीमदेव आपु दिषं दीर्घायो मर्त्यः ।
एतग्वा चिद्य एतशा युयोजते हरी इन्द्रो युयोजते ७
तं वो महो महाय्य मिन्द्रं दानाय सक्षणिम् ।
यो गाधेषु य आरणेषु हव्यो वाजेष्वस्ति हव्यः ८
उदू षु णो वसो महे मृशस्व शूर राधसे ।
उदू षु मह्यै मघवन् मघत्तय उदिन्द्र श्रवसे महे ९
त्वं न इन्द्र ऋतयु स्त्वानिदो नि तृम्पसि ।
मध्ये वसिष्व तुविनृम्णोर्वो र्नि दासं शिश्नथो हथैः १० [९]

अन्यव्रतममानुष मयज्वानमदेवयुम् ।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ११
त्वं न इन्द्रासां हस्ते शविष्ठ दावने । धानानां न सं गृभायास्मयु र्द्विः सं गृभायास्मयुः १२
सखायः क्रतुमिच्छत कथा राधाम शरस्य । उपस्तुतिं भोजः सूरिर्यो अह्रयः १३
भूरिभिः समह ऋषिभि र्बर्हिष्मद्भिः स्तविष्यसे ।
यदित्थमेकमेकमि च्छर वत्सान् पराददः १४
कर्णगृह्या मघवा शौरदेव्यो वत्सं नस्त्रिभ्य आनयत् । अजां सूरिर्न धातवे १५ [१०] (१२९२)

(७१)

१५ सुदीति-पुरुमीळ्हावाङ्गिरसौ, तयोर्वान्यतरः । अग्निः । गायत्री, १०-१५ प्रगाथः= (विषमा बृहती, समा सतोबृहती) ।

त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः । उत द्विषो मर्त्यस्य १
नहि मन्युः पौरुषेय ईशे हि वः प्रियजात । त्वमिदसि क्षपावान् २
स नो विश्वेभिर्देवेभि रूर्जो नपाद्भद्रशोचे । रयिं देहि विश्ववारम् ३
न तमग्ने अरातयो मर्तं युवन्त रायः । यं त्रायसे दाश्वांसम् ४
यं त्वं विप्र मेधसाता वग्ने हिनोषि धनाय । स तवोती गोषु गन्ता ५ [११]

त्वं रयिं पुरुवीर मग्ने दाशुषे मर्ताय । प्र णो नय वस्यो अच्छ ६
उरुष्या णो मा परा दा अघायते जातवेदः । [illegible]

गाव उपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा । उभा कर्णा हिरण्यया १२
आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम् । रसा दधीत वृषभम् १३
ते जानत स्वमोक्यं सं वत्सासो न मातृभिः । मिथो नसन्त जामिभिः १४
उप स्रक्वेषु बप्सतः कृण्वते धरुणं दिवि । इन्द्रे अग्ना नमः स्वः १५ [१६]

अधुक्षत् पिप्युषीमिषमूर्जं सप्तपदीमरिः । सूर्यस्य सप्त रश्मिभिः १६
सोमस्य मित्रावरुणोदिता सूर आ ददे । तदातुरस्य भेषजम् १७
उतो न्वस्य यत् पदं हर्यतस्य निधान्यम् । परि द्यां जिह्वयातनत् १८[१७](१३०१)

(७३)

१८ गोपवन आत्रेय सप्तवध्रिर्वा । अश्विनौ । गायत्री ।

उदीराथामृतायते युञ्जाथामश्विना रथम् । अन्ति षद्भूतु वामवः १
निमिषश्चिज्जवीयसा रथेना यातमश्विना । अन्ति षद्भूतु वामवः २
उप स्तृणीतमत्रये हिमेन घर्ममश्विना । अन्ति षद्भूतु वामवः ३
कुह स्थः कुह जग्मथुः कुह श्येनेव पेतथुः । अन्ति षद्भूतु वामवः ४
यदद्य कर्हि कर्हि चिच्छुश्रूयातमिमं हवम् । अन्ति षद्भूतु वामवः ५ [१८]

अश्विना यामहूतमा नेदिष्ठं याम्याप्यम् । अन्ति षद्भूतु वामवः ६
अवन्तमत्रये गृहं कृणुतं युवमश्विना । अन्ति षद्भूतु वामवः ७
वरेथे अग्निमातपो वदते वल्ग्वत्रये । अन्ति षद्भूतु वामवः ८
प्र सप्तवध्रिराशसा धारामग्नेरशायत । अन्ति षद्भूतु वामवः ९
इहा गतं वृषण्वसू शृणुतं म इमं हवम् । अन्ति षद्भूतु वामवः १० [१९]

किमिदं वां पुराणवज्जरतोरिव शस्यते । अन्ति षद्भूतु वामवः ११
समानं वां सजात्यं समानो बन्धुरश्विना । अन्ति षद्भूतु वामवः १२
यो वां रजांस्यश्विना रथो वियाति रोदसी । अन्ति षद्भूतु वामवः १३
आ नो गव्येभिरश्व्यैः सहस्रैरुप गच्छतम् । अन्ति षद्भूतु वामवः १४
मा नो गव्येभिरश्व्यैः सहस्रेभिरति ख्यतम् । अन्ति षद्भूतु वामवः १५
अरुणप्सुरुषा अभूदकर्ज्योतिरृतावरी । अन्ति षद्भूतु वामवः १६
अश्विना सु विचाकशद्वृक्षं परशुमाँ इव । अन्ति षद्भूतु वामवः १७
पुरं न धृष्णवा रुज कृष्णया बाधितो विशा । अन्ति षद्भूतु वामवः १८[२०](१३४३)

त्वं ह यद्यविष्ठ्य सहसः सूनवाहुत । ऋतावा यज्ञियो भुवः ३
अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः । मूर्धा कवी रयीणाम् ४
तं नेमिमृभवो यथा ऽऽ नमस्व सहूतिभिः । नेदीयो यज्ञमङ्गिरः ५ [२४]

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया । वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् ६
कमु ष्विदस्य सेनया ऽग्नेरपाकचक्षसः । पणिं गोषु स्तरामहे ७
मा नो देवानां विशः प्रस्नातीरिवोस्राः । कृशं न हासुरघ्न्याः ८
मा नः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसो अंहतिः । ऊर्मिर्न नावमा वधीत् ९
नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः । अमैरमित्रमर्दय १० [२५]

कुवित् सु नो गविष्टये ऽग्ने संवेषिषो रयिम् । उरुकृदुरु णस्कृधि ११
मा नो अस्मिन् महाधने परा वर्ग्भारभृद्यथा । संवर्गं सं रयिं जय १२
अन्यमस्मद्भिया इय मग्ने सिषक्तु दुच्छुना । वर्धा नो अमवच्छवः १३
यस्याजुषन्नमस्विनः शमीमदुर्मखस्य वा । तं घेदग्निर्वृधावति १४
परस्या अधि संवतो ऽवराँ अभ्या तर । यत्राहमस्मि ताँ अव १५
विद्मा हि ते पुरा वय मग्ने पितुर्यथावसः । अधा ते सुम्नमीमहे १६ [२६] (१२७४)

(७६)

१२ कुरुसुतिः काण्वः । इन्द्रः । गायत्री ।

इमं नु मायिनं हुव इन्द्रमीशानमोजसा । मरुत्वन्तं न वृञ्जसे १
अयमिन्द्रो मरुत्सखा वि वृत्रस्याभिनच्छिरः । वज्रेण शतपर्वणा २
वावृधानो मरुत्सखे न्द्रो वि वृत्रमैरयत् । सृजन् त्समुद्रिया अपः ३
अयं ह येन वा इदं स्वर्मरुत्वता जितम् । इन्द्रेण सोमपीतये ४
मरुत्वन्तमृजीषिण मोजस्वन्तं विरप्शिनम् । इन्द्रं गीर्भिर्हवामहे ५
इन्द्रं प्रत्नेन मन्मना मरुत्वन्तं हवामहे । अस्य सोमस्य पीतये ६ [२७]

मरुत्वाँ इन्द्र मीढ्वः पिबा सोमं शतक्रतो । अस्मिन् यज्ञे पुरुष्टुत ७
तुभ्येदिन्द्र मरुत्वते सुताः सोमासो अद्रिवः । हृदा हूयन्त उक्थिनः ८
पिबेदिन्द्र मरुत्सखा सुतं सोमं दिविष्टिषु । वज्रं शिशान ओजसा ९
उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः । सोममिन्द्र चमू सुतम् १०
अनु त्वा रोदसी उभे क्रक्षमाणमकृपेताम् । इन्द्र यद्दस्युहाभवः ११
वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम् । इन्द्रात् परि तन्वं ममे १२ [२८] (१२८६)

(७९)

९ कृत्नुर्भार्गवः । सोमः । गायत्री, ९ अनुष्टुप् ।

अयं कृत्नुरगृभीतो विश्वजिदुद्भिदित् सोमः । ऋषिर्विप्रः काव्येन १
अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत् तुरम् । प्रेमन्धः ख्यन्निः श्रोणो भूत् २
त्वं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यः । उरु यन्तासि वरूथम् ३
त्वं चित्ती तव दक्षैर्दिव आ पृथिव्या ऋजीषिन् । यावीरघस्य चिद् द्वेषः ४
अर्थिनो यन्ति चेदर्थं गच्छानिद् ददुषो रातिम् । ववृज्युस्तृष्यतः कामम् ५ [२३]

विदद् यत् पूर्व्यं नष्टमुदीमृतायुमीरयत् । प्रेमायुस्तारीदतीर्णम् ६
सुशेवो नो मृळयाकुरदृप्तक्रतुरवातः । भवा नः सोम शं हृदे ७
मा नः सोम सं वीविजो मा वि बीभिषथा राजन् । मा नो हार्दि त्विषा वधीः ८
अव यत् स्वे सधस्थे देवानां दुर्मतीरीक्षे ।
राजन्नप द्विषः सेध मीढ्वो अप स्रिधः सेध ९ [२४] (१४१६)

(८०)

१० एकद्यूर्नौधसः । इन्द्रः, १० देवाः । गायत्री, १० त्रिष्टुप् ।

नह्यन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो । त्वं न इन्द्र मृळय १
यो नः शश्वत् पुराविथामृध्रो वाजसातये । स त्वं न इन्द्र मृळय २
किमङ्ग रध्रचोदनः सुन्वानस्यावितेदसि । कुवित् स्विन्द्र णः शकः ३
इन्द्र प्र णो रथमव पश्चाच्चित् सन्तमद्रिवः । पुरस्तादेनं मे कृधि ४
हन्तो नु किमाससे प्रथमं नो रथं कृधि । उपमं वाजयु श्रवः ५ [२५]

अवा नो वाजयुं रथं सुकरं ते किमित् परि । अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृधि ६
इन्द्र दृह्यस्व पूरसि भद्रा त एति निष्कृतम् । इयं धीर्ऋत्वियावती ७
मा सीमवद्य आ भागुर्वी काष्ठा हितं धनम् । अपावृक्ता अरत्नयः ८
तुरीयं नाम यज्ञियं यदा करस्तदुश्मसि । आदित् पतिर्न ओहसे ९
अवीवृधद्वो अमृता अमन्दीदेकद्यूर्देवा उत याश्च देवीः ।
तस्मा उ राधः कृणुत प्रशस्तं प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् १० [२६] (१४२६)
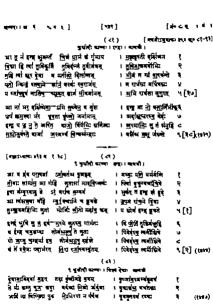
वाम नो अस्त्वर्यमन् वाम वरुण शम्यम् । वाम ह्यावृणीमहे ४
वामस्य हि प्रचेतस ईशानासो रिशादसः । नेमादित्या अवस्य यत ५ [३]

यूयमिद्वः सुदानव' क्षियन्तो यान्तो अध्वन्ना । देवा वृधाय हूमहे ६
अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम् । इता मरुतो अश्विना ७
प्र भ्रातृत्व सुदानवो ऽध द्विता समान्या । मातुर्गर्भे भरामहे ८
यूयं हि ष्ठा सुदानव इन्द्रज्येष्ठा अभिद्यवः । अधा चिद्व उत ब्रुवे ९ [४] (१४५३

(८४)

९ उशना काव्यः । अग्नि । गायत्री ।

प्रेष्ठं वो अतिथि स्तुषे मित्रमिव प्रियम् । अग्नि रथ न वेद्यम् १
कविमिव प्रचेतसं य देवासो अध द्विता । नि मर्त्येष्वादधुः २
त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः । रक्षा तोकमुत त्मना ३
कया ते अग्ने अङ्गिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम् । वराय देव मन्यवे ४
दाशेम कस्य मनसा यज्ञस्य सहसो यहो । कदु वोच इदं नमः ५ [५]

अधा त्व हि नस्करो विश्वा अस्मभ्यं सुक्षितीः । वाजद्रविणसो गिरः ६
कस्य नून परीणसो धियो जिन्वसि दम्पते । गोषाता यस्य ते गिरः ७
तं मर्जयन्त सुक्रतुं पुरोयावानमाजिषु । स्वेषु क्षयेषु वाजिनम् ८
क्षेति क्षेमेभिः साधुभि र्नकिर्यं घ्नन्ति हन्ति यः । अग्ने सुवीर एधते ९ [६] (१४६२)

(८५)

९ कृष्ण आङ्गिरसः । अश्विनौ । गायत्री ।

आ मे हवं नासत्या ऽश्विना गच्छतं युवम् । मध्वः सोमस्य पीतये १
इमं मे स्तोममश्विने म मे शृणुतं हवम् । मध्व' सोमस्य पीतये २
अय वां कृष्णो अश्विना हवते वाजिनीवसू । मध्वः सोमस्य पीतये ३
शृणुतं जरितुर्हवं कृष्णस्य स्तुवतो नरा । मध्वः सोमस्य पीतये ४
छर्दिर्यन्तमदाभ्य विप्राय स्तुवते नरा । मध्वः सोमस्य पीतये ५ [७]

गच्छतं दाशुषो गृह मित्था स्तुवतो अश्विना । मध्वः सोमस्य पीतये ६
युञ्जाथां रासभं रथे वीड्वङ्गे वृषण्वसू । मध्वः सोमस्य पीतये ७ (१४६९)

वयं हि वां हवामहे विपन्यवो विप्रासो वाजसातये ।
ता वल्गू दस्रा पुरुदंससा धिया ऽश्विना श्रुष्ट्या गतम् ६ [१०] (१४८२)

(८८)

६ नोधा गौतम । इन्द्रः । प्रगाथ = (विषमा बृहती, समा सतोबृहती) ।

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे १

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे २

न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीळवः ।
यद्दित्ससि स्तुवते मावते वसु नकिष्टदा मिनाति ते ३

योद्धासि क्रत्वा शवसोत दंसना विश्वा जाताभि मज्मना ।
आ त्वायमर्क ऊतये ववर्तति यं गोतमा अजीजनन् ४

प्र हि रिरिक्ष ओजसा दिवो अन्तेभ्यस्परि ।
न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिव मनु स्वधां ववक्षिथ ५

नकिः परिष्टिर्मघवन् मघस्य ते यद्दाशुषे दशस्यसि ।
अस्माकं बोध्युचथस्य चोदिता मंहिष्ठो वाजसातये ६ [११] (१४८८)

(८९)

७ नृमेध-पुरुमेधावाङ्गिरसौ । इन्द्रः । १-४ प्रगाथः= (विषमा बृहती, समा सतोबृहती), ५-६ अनुष्टुप्, ७ बृहती ।

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि १

अपाधमदभिशस्तीरशस्तिहा ऽथेन्द्रो द्युम्न्याभवत् ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे बृहद्भानो मरुद्गण २

प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत ।
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतु र्वज्रेण शतपर्वणा ३

अभि प्र भर धृषता धृषन्मनः श्रवश्चित् ते असद्बृहत् ।
अर्षन्त्वापो जवसा वि मातरो हनो वृत्रं जया स्वः ४ (१४९१)

आ चन त्वा चिकित्सामो ऽधि चन त्वा नेमसि ।
शनैरिव शनकैरिवे न्द्रायेन्दो परि स्रव　　३
कुविच्छकत् कुवित् करत् कुविन्नो वस्यसस्करत् ।
कुवित् पतिद्विषो यती रिन्द्रेण संगमामहै　　४
इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय ।
शिरस्ततस्योर्वरा मादिदं म उपोदरे　　५
असौ च या न उर्वरा दिमां तन्वं मम ।
अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि　　६
खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो ।
अपालामिन्द्र त्रिष्पू त्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्　　७ [१४] (१५०८)

(९२)

३३ श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः । इन्द्रः । गायत्री, १ अनुष्टुप् ।

पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत । विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् १
पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्यं सनश्रुतम् । इन्द्र इति ब्रवीतन　　२
इन्द्र इन्नो महानां दाता वाजानां नृतुः । महाँ अभिज्ञ्वा यमत्　　३
अपादु शिप्र्यन्धसः सुदक्षस्य प्रहोषिणः । इन्दोरिन्द्रो यवाशिरः　　४
तम्वभि प्रार्चते न्द्रं सोमस्य पीतये । तदिद्ध्यस्य वर्धनम्　　५ [१५]

अस्य पीत्वा मदानां देवो देवस्यौजसा । विश्वाभि भुवना भुवत्　　६
त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम् । आ च्यावयस्यूतये　　७
युध्मं सन्तमनर्वाणं सोमपामनपच्युतम् । नरमवार्यक्रतुम्　　८
शिक्षा ण इन्द्र राय आ पुरु विद्वाँ ऋचीषम । अवा नः पार्ये धने　　९
अतश्चिदिन्द्र ण उपा ऽऽ याहि शतवाजया । इषा सहस्रवाजया　　१० [१६]

अयाम धीवतो धियो ऽर्वद्भिः शक्र गोदरे । जयेम पृत्सु वज्रिवः　　११
वयमु त्वा शतक्रतो गावो न यवसेष्वा । उक्थेषु रणयामसि　　१२
विश्वा हि मर्त्यत्वना ऽनुकामा शतक्रतो । अगन्म वज्रिन्नाशसः　　१३
त्वे सु पुत्र शवसो ऽवृत्रन् कामकातयः । न त्वामिन्द्राति रिच्यते　　१४
स नो वृषन् त्सनिष्ठया स घोरया द्रवित्न्वा । धियाविड्ढि पुरंध्या　　१५ [१७] (१५२३)

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः । द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ८
गिरा वज्रो न सम्भृतः सबलो अनपच्युतः । ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ९
दुर्गे चिन्नः सुगं कृधि गृणान इन्द्र गिर्वणः । त्वं च मघवन् वशः १० [२२]

यस्य ते नू चिदादिशं न मिनन्ति स्वराज्यम् । न देवो नाध्रिगुर्जनः ११
अधा ते अप्रतिष्कुतं देवी शुष्मं सपर्यतः । उभे सुशिप्र रोदसी १२
त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च । परुष्णीषु रुशत् पयः १३
वि यदहेरध त्विषो विश्वे देवासो अक्रमुः । विदन्मृगस्य ताँ अमः १४
आदु मे निवरो भुवद्वृत्रहादिष्ट पौंस्यम् । अजातशत्रुरस्तृतः १५ [२३]

श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्धं चर्षणीनाम् । आ शुषे राधसे महे १६
अया धिया च गव्यया पुरुणामन् पुरुष्टुत । यत् सोमेसोम आभवः १७
बोधिन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः । शृणोतु शक्र आशिषम् १८
कया त्वं न ऊत्या ऽभि प्र मन्दसे वृषन् । कया स्तोतृभ्य आ भर १९
कस्य वृषा सुते सचा नियुत्वान् वृषभो रणत् । वृत्रहा सोमपीतये २० [२४]

अभी षु णस्त्वं रयिं मन्दसानः सहस्रिणम् । प्रयन्ता बोधि दाशुषे २१
पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये । अपां जग्मिर्निचुम्पुणः २२
इष्टा होत्रा असृक्षतेन्द्रं वृधासो अध्वरे । अच्छावभृथमोजसा २३
इह त्या सधमाद्या हरी हिरण्यकेश्या । वोळ्हामभि प्रयो हितम् २४
तुभ्यं सोमाः सुता इमे स्तीर्णं बर्हिर्विभावसो । स्तोतृभ्य इन्द्रमा वह २५ [२५]

आ ते दक्षं वि रोचना दधद्रत्ना वि दाशुषे । स्तोतृभ्य इन्द्रमर्चत २६
आ ते दधामीन्द्रियमुक्था विश्वा शतक्रतो । स्तोतृभ्य इन्द्र मृळय २७
भद्रम्भद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो । यदिन्द्र मृळयासि नः २८
स नो विश्वान्या भर सुवितानि शतक्रतो । यदिन्द्र मृळयासि नः २९
त्वामिद्वृत्रहन्तम सुतावन्तो हवामहे । यदिन्द्र मृळयासि नः ३० [२६]

उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते । उप नो हरिभिः सुतम् ३१
द्विता यो वृत्रहन्तमो विद इन्द्रः शतक्रतुः । उप नो हरिभिः सुतम् ३२
त्वं हि वृत्रहन्नेषां पाता सोमानामसि । उप नो हरिभिः सुतम् ३३
इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम् । वाजी ददातु वाजिनम् ३४ [२७] (१५५५)

एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्ध आशीर्वान् ममत्तु ॥ ७

इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः ।
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः ॥ ८

इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ॥ ९ [३१] (१५९६)

(९६)

२१ तिरश्चीराङ्गिरसो, द्युतानो वा मारुत । इन्द्रः, १४ इन्द्रामरुतः १५ इन्द्राबृहस्पती ।
त्रिष्टुप्, ४ विराट्, २१ पुरस्ताज्ज्योतिः ।

अस्मा उषास आतिरन्त याममिन्द्राय नक्तमूर्म्याः सुवाचः ।
अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुर्नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः ॥ १

अतिविद्धा विथुरेणा चिदस्त्रा त्रिः सप्त सानु संहिता गिरीणाम् ।
न तद्देवो न मर्त्यस्तुतुर्याद्यानि प्रवृद्धो वृषभश्चकार ॥ २

इन्द्रस्य वज्र आयसो निमिश्ल इन्द्रस्य बाह्वोर्भूयिष्ठमोजः ।
शीर्षन्निन्द्रस्य क्रतवो निरेक आसन्नेषन्त श्रुत्या उपाके ॥ ३

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम् ।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम् ॥ ४

आ यद्वज्रं बाह्वोरिन्द्र धत्से मदच्युतमहये हन्तवा उ ।
प्र पर्वता अनवन्त प्र गावः प्र ब्रह्माणो अभिनक्षन्त इन्द्रम् ॥ ५ [३२]

तमु ष्टवाम य इमा जजान विश्वा जातान्यवराण्यस्मात् ।
इन्द्रेण मित्रं दिधिषेम गीर्भिरुपो नमोभिर्वृषभं विशेम ॥ ६

वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः ।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि ॥ ७

त्रिः षष्टिस्त्वा मरुतो वावृधाना उस्रा इव राशयो यज्ञियासः ।
उप त्वेमः कृधि नो भागधेयं शुष्मं त एना हविषा विधेम ॥ ८

तिग्ममायुधं मरुतामनीकं कस्त इन्द्र प्रति वज्रं दधर्ष ।
अनायुधासो असुरा अदेवाश्चक्रेण ताँ अप वप ऋजीषिन् ॥ ९

मह उग्राय तवसे सुवृक्तिं प्रेरय शिवतमाय पश्वः ।
गिर्वाहसे गिर इन्द्राय पूर्वीर्धेहि तन्वे कुविदङ्ग वेदत् ॥ १० [३३] (१६०६)

यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम् ।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा पणौ २
य इन्द्र सस्त्यव्रतोऽनुष्वापमदेवयुः ।
स्वैः ष एवैर्मुमुरत् पोष्यं रयिं सनुतर्धेहि तं ततः ३
यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन् ।
अतस्त्वा गीर्भिर्द्युगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ आ विवासति ४
यद्वासि रोचने दिवः समुद्रस्याधि विष्टपि ।
यत् पार्थिवे सदने वृत्रहन्तम यदन्तरिक्ष आ गहि ५ [३६]

स नः सोमेषु सोमपाः सुतेषु शवसस्पते ।
मादयस्व राधसा सूनृतावतेन्द्र राया परीणसा ६
मा न इन्द्र परा वृणग्भवा नः सधमाद्यः ।
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परा वृणक् ७
अस्मे इन्द्र सचा सुते नि षदा पीतये मधु ।
कृधी जरित्रे मघवन्नवो महदस्मे इन्द्र सचा सुते ८
न त्वा देवास आशत न मर्त्यासो अद्रिवः ।
विश्वा जातानि शवसाभिभूरसि न त्वा देवास आशत ९
विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे ।
क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम् १० [३७]

समीं रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये ।
स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः ११
नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा ।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः १२
तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि ।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद्राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री १३
त्वं पुर इन्द्र चिकिदेना व्योजसा शविष्ठ शक्र नाशयध्यै ।
त्वद्विश्वानि भुवनानि वज्रिन् द्यावा रेजेते पृथिवी च भीषा १४
तन्म ऋतमिन्द्र शूर चित्र पात्वपो न वज्रिन् दुरिताति पर्षि भूरि ।
कदा न इन्द्र राय आ दशस्येर्विश्वप्स्न्यस्य स्पृहयाय्यस्य राजन् १५[३८](१६३२)

अनु॑ ते॒ शुष्मं॑ तु॒रय॑न्तमीयतुः क्षो॒णी शिशुं॒ न मा॒तरा॑ ।
विश्वा॑स्ते॒ स्पृधः॑ श्नथयन्त म॒न्यवे॑ वृ॒त्रं यदि॑न्द्र॒ तूर्व॑सि ६

इ॒त ऊ॒ती वो॑ अ॒जरं॑ प्रहे॒तार॒मप्र॑हितम् ।
आ॒शुं जेता॑रं॒ हेता॑रं र॒थीत॑म॒मतू॑र्तं तुग्र्या॒वृध॑म् ७

इ॒ष्क॒र्तार॒मनि॑ष्कृतं॒ सह॑स्कृतं श॒तमू॑तिं श॒तक्र॑तुम् ।
स॒मा॒नमिन्द्र॒मव॑से हवामहे॒ वस॑वानं वसू॒जुव॑म् ८ [३](१६५२)

(१००)

(११) १-३,६-१२ नेमो भार्गवः, ४-५ इन्द्रः । इन्द्रः, ८ सुपर्णः, ९ वज्रो वा, १०-११ वाक् ।
त्रिष्टुप्, ६ जगती, ७-९ अनुष्टुप् ।

अ॒यं त॑ एमि त॒न्वा॑ पु॒रस्ता॒द्विश्वे॑ दे॒वा अ॒भि मा॑ यन्ति प॒श्चात् ।
य॒दा मह्यं॒ दीध॑रो भा॒गमि॒न्द्रा॒ऽऽदिन्मया॑ कृणवो वी॒र्या॑णि १

दधा॑मि ते॒ मधु॑नो भ॒क्षमग्रे॑ हि॒तस्ते॑ भा॒गः सु॒तो अ॑स्तु॒ सोमः॑ ।
अस॑श्च॒ त्वं द॑क्षिण॒तः सखा॒ मे॒ऽधा॑ वृ॒त्राणि॑ जङ्घनाव॒ भूरि॑ २

प्र सु स्तोमं॑ भरत वाज॒यन्त॒ इन्द्रा॑य स॒त्यं यदि॑ स॒त्यमस्ति॑ ।
नेन्द्रो॑ अ॒स्तीति॒ नेम॑ उ त्व आह॒ क ईं॑ ददर्श॒ कम॒भि ष्ट॑वाम ३

अ॒यम॑स्मि जरितः॒ पश्य॑ मे॒ह विश्वा॑ जा॒तान्य॒भ्य॑स्मि म॒ह्ना ।
ऋ॒तस्य॑ मा प्र॒दिशो॑ वर्धय॒न्त्या॒द॒र्दि॒रो भुव॑ना दर्दरीमि ४

आ यन्मा॑ वे॒ना अरु॑हन्नृ॒तस्यँ॒ एक॒मासी॑नं हर्य॒तस्य॑ पृ॒ष्ठे ।
मन॑श्चिन्मे हृ॒द आ प्रत्य॑वोच॒दचि॑क्रद॒ञ्छिशु॑मन्तः॒ सखा॑यः ५

विश्वेत्ता ते॒ सव॑नेषु प्र॒वाच्या॒ या च॒कर्थ॑ मघवन्निन्द्र सुन्व॒ते ।
पारा॑वतं॒ यत्पु॑रुसम्भृ॒तं व॒स्व॒पावृ॑णोः श॒रभा॑य॒ ऋषि॑बन्धवे ६ [४]

प्र नू॒नं धा॑वता॒ पृथ॒ङ्नेह यो वो॒ अवा॑वरीत् ।
नि षीं॑ वृ॒त्रस्य॒ मर्म॑णि॒ वज्र॒मिन्द्रो॑ अपीपतत् ७

मनो॑जवा॒ अय॑मान आय॒सीम॑तर॒त्पुर॑म् ।
दिवं॑ सुप॒र्णो ग॒त्वाय॒ सोमं॑ व॒ज्रिण॒ आभ॑रत् ८

स॒मु॒द्रे अ॒न्तः श॑यत उ॒द्ना वज्रो॑ अ॒भीवृ॑तः ।
भर॑न्त्यस्मै सं॒यतः॑ पु॒रःप्र॑स्रवणा ब॒लिम् ९ (१६६१)

वेत्यध्वर्युः पथिभी रजिष्ठैः प्रति हव्यानि वीतये ।
अधा नियुत्व उभयस्य नः पिब शुचिं सोमं गवाशिरम् १० [७]

बण्महाँ असि सूर्य बळादित्य महाँ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ११

बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि ।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् १२

इयं या नीच्यर्किणी रूपा रोहिण्या कृता ।
चित्रेव प्रत्यदर्श्यायत्यन्तर्दशसु बाहुषु १३

प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे ।
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश १४
माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट १५
वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम् ।
देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेता १६ [८] (१९८०)

(१०२)

२२ भार्गवः प्रयोगः, अग्निर्बार्हस्पत्यः, पावको वा, सहसः पुत्रौ गृहपति-यविष्ठौ तयोर्वान्यतरः । अग्निः । गायत्री ।

त्वमग्ने बृहद्वयो दधासि देव दाशुषे ।
कविर्गृहपतिर्युवा १
स न ईळानया सह देवाँ अग्ने दुवस्युवा ।
चिकिद्विभानवा वह २
त्वया ह स्विद्युजा वयं चोदिष्ठेन यविष्ठ्य ।
अभि ष्मो वाजसातये ३
और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदा हुवे ।
अग्निं समुद्रवाससम् ४
हुवे वातस्वनं कविं पर्जन्यक्रन्द्यं सहः ।
अग्निं समुद्रवाससम् ५ [९] (१९८५)

यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि ।
ता जुषस्व यविष्ठ्य २०

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति ।
सर्वं तदस्तु ते घृतम् २१

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमीधे विवस्वभिः २२ [१२](१७०१)

(१०३)

१४ सोभरिः काण्व । अग्निः, १४ अग्नामरुतः । बृहती, ५ विराड्रूपा, ७, ९, ११, १३ सतोबृहती, ८, १२ ककुप्, १० ह्रसीयसी, १४ अनुष्टुप् ।

अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्त नो गिरः १

प्र दैवोदासो अग्निर्देवाँ अच्छा न मज्मना ।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य सानवि २

यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृण्वतः ।
सहस्रसां मेधसाताविव त्मनाग्निं धीभिः सपर्यत ३

प्र यं राये निनीषसि मर्तो यस्ते वसो दाशत् ।
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम् ४

स दृळ्हे चिदभि तृणत्ति वाजमर्वता स धत्ते अक्षिति श्रवः ।
त्वे देवत्रा सदा पुरूवसो विश्वा वामानि धीमहि ५ [१३]

यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्यग्नये ६

अश्वं न गीर्भी रथ्यं सुदानवो मर्मृज्यन्ते देवयवः ।
उभे तोके तनये दस्म विश्पते पर्षि राधो मघोनाम् ७

प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे ।
उपस्तुतासो अग्नये ८

आ वंसते मघवा वीरवद्यशः समिद्धो द्युम्न्याहुतः ।
कुविन्नो अस्य सुमतिर्नवीयस्यच्छा वाजेभिरागमत् ९ (१७११)

अथ नवमं मण्डलम् ।

(१) [प्रथमोऽनुवाकः ॥१॥ सू० १-२४]

१० मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया । इन्द्राय पातवे सुतः १
रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहतम् । द्रुणा सधस्थमासदत् २
वरिवोधातमो भव मंहिष्ठो वृत्रहन्तमः । पर्षि राधो मघोनाम् ३
अभ्यर्ष महानां देवानां वीतिमन्धसा । अभि वाजमुत श्रवः ४
त्वामच्छा चरामसि तदिदर्थं दिवेदिवे । इन्दो त्वे न आशसः ५ [१६]

पुनाति ते परिस्रुतं सोम सूर्यस्य दुहिता । वारेण शश्वता तना ६
तमीमण्वीः समर्य आ गृभ्णन्ति योषणो दश । स्वसारः पार्ये दिवि ७
तमीं हिन्वन्त्यग्रुवो धमन्ति बाकुरं दृतिम् । त्रिधातु वारण मधु ८
अभीममघ्न्या उत श्रीणन्ति धेनवः शिशुम् । सोममिन्द्राय पातवे ९
अस्येदिन्द्रो मदेष्वा विश्वा वृत्राणि जिघ्नते । शूरो मघा च मंहते १० [१७] (१०)

(२)

१० मेधातिथिः काण्वः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

पवस्व देववीरति पवित्रं सोम रंह्या । इन्द्रमिन्दो वृषा विश १
आ वच्यस्व महि प्सरो वृषेन्दो द्युम्नवत्तमः । आ योनिं धर्णसिः सदः २
अधुक्षत प्रियं मधु धारा सुतस्य वेधसः । अपो वसिष्ट सुक्रतुः ३
महान्तं त्वा महीरन्वापो अर्षन्ति सिन्धवः । यद्गोभिर्वासयिष्यसे ४
समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः । सोमः पवित्रे अस्मयुः ५ [१८]

अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान् मित्रो न दर्शतः । स सूर्येण रोचते ६
गिरस्त इन्द ओजसा मर्मृज्यन्ते अपस्युवः । याभिर्मदाय शुम्भसे ७
तं त्वा मदाय घृष्वय उ लोककृत्नुमीमहे । तव प्रशस्तयो महीः ८
अस्मभ्यमिन्दविन्द्रयुर्मध्वः पवस्व धारया । पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ९
गोषा इन्दो नृषा अस्यश्वसा वाजसा उत । आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः १० [१९] (२०)

(५)

११ काश्यपोऽसितो देवलो वा । आप्रीसूक्तम्= (१ इध्मः समिद्धोऽग्निर्वा, २ तनूनपात्, ३ इळः, ४ बर्हिः, ५ देवीर्द्वारः, ६ उषासानक्ता, ७ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ, ८ तिस्रो देव्यः सरस्वतीळाभारत्यः, ९ त्वष्टा, १० वनस्पतिः, ११ स्वाहाकृतयः) । गायत्री, ८-११ अनुष्टुप् ।

समिद्धो विश्वतस्पतिः पवमानो वि राजति । प्रीणन् वृषा कनिक्रदत् १
तनूनपात् पवमानः शृङ्गे शिशानो अर्षति । अन्तरिक्षेण रारजत् २
ईळेन्यः पवमानो रयिर्वि राजति द्युमान् । मधोर्धाराभिरोजसा ३
बर्हिः प्राचीनमोजसा पवमानः स्तृणन् हरिः । देवेषु देव ईयते ४
उदातैर्जिहते बृहद् द्वारो देवीर्हिरण्ययीः । पवमानेन सुष्टुताः ५ [२४]

सुशिल्पे बृहती मही पवमानो वृषण्यति । नक्तोषासा न दर्शते ६
उभा देवा नृचक्षसा होतारा दैव्या हुवे । पवमान इन्द्रो वृषा ७
भारती पवमानस्य सरस्वतीळा मही ।
इमं नो यज्ञमा गमन् तिस्रो देवीः सुपेशसः ८
त्वष्टारमग्रजां गोपां पुरोयावानमा हुवे ।
इन्दुरिन्द्रो वृषा हरिः पवमानः प्रजापतिः ९
वनस्पतिं पवमान मध्वा समङ्ग्धि धारया ।
सहस्रवल्शं हरितं भ्राजमानं हिरण्ययम् १०
विश्वे देवाः स्वाहाकृतिं पवमानस्या गत ।
वायुर्बृहस्पतिः सूर्यो ऽग्निरिन्द्रः सजोषसः ११ [२५] (५१)

(६)

९ काश्यपोऽसितो देवलो वा । पवमानः सोमः । गायत्री ।

मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः । अव्यो वारेष्वस्मयुः १
अभि त्यं मद्यं मदमिन्दविन्द्र इति क्षर । अभि वाजिनो अर्वतः २
अभि त्यं पूर्व्यं मदं सुवानो अर्ष पवित्र आ । अभि वाजमुत श्रवः ३
अनु द्रप्सास इन्दव आपो न प्रवतासरन् । पुनाना इन्द्रमाशत ४
यमत्यमिव वाजिनं मृजन्ति योषणो दश । वने क्रीळन्तमत्यविम् ५ [२६]

तं गोभिर्वृषणं रसं मदाय देववीतये । सुतं भराय सं सृज ६

(९)

९ काश्यपोऽसितो देवलो वा । पवमानः सोमः । गायत्री ।

परि प्रिया दिवः कवि—र्वयांसि नप्त्योर्हितः । सुवानो याति कविक्रतुः १
प्रप्र क्षयाय पन्यसे जनाय जुष्टो अद्रुहे । वीत्यर्ष चनिष्ठया २
स सूनुर्मातरा शुचि—र्जातो जाते अरोचयत् । महान्मही ऋतावृधा ३
स सप्त धीतिभिर्हितो नद्यो अजिन्वदद्रुहः । या एकमक्षि वावृधुः ४
ता अभि सन्तमस्तृतं महे युवानमा दधुः । इन्दुमिन्द्र तव व्रते ५ [३२]

अभि वह्निरमर्त्यः सप्त पश्यति वावहिः । क्रिविर्देवीरतर्पयत् ६
अवा कल्पेषु नः पुम—स्तमांसि सोम योध्या । तानि पुनान जङ्घनः ७
नू नव्यसे नवीयसे सूक्ताय साधया पथः । प्रत्नवद्रोचया रुचः ८
पवमान महि श्रवो गामश्वं रासि वीरवत् । सना मेधां सना स्वः ९ [३३] (८७)

(१०)

९ काश्यपोऽसितो देवलो वा । पवमानः सोमः । गायत्री ।

प्र स्वानासो रथा इवा—र्वन्तो न श्रवस्यवः । सोमासो राये अक्रमुः १
हिन्वानासो रथा इव दधन्विरे गभस्त्योः । भरासः कारिणामिव २
राजानो न प्रशस्तिभिः सोमासो गोभिरञ्जते । यज्ञो न सप्त धातृभिः ३
परि सुवानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा । सुता अर्षन्ति धारया ४
आपानासो विवस्वतो जनन्त उषसो भगम् । सूरा अण्वं वि तन्वते ५ [३४]

अप द्वारा मतीनां प्रत्ना ऋण्वन्ति कारवः । वृष्णो हरस आयवः ६
समीचीनास आसते होतारः सप्तजामयः । पदमेकस्य पिप्रतः ७
नाभा नाभिं न आ ददे चक्षुश्चित्सूर्ये सचा । कवेरपत्यमा दुहे ८
अभि प्रिया दिवस्पद—मध्वर्युभिर्गुहा हितम् । सूरः पश्यति चक्षसा ९ [३५] (९६)

(११)

९ काश्यपोऽसितो देवलो वा । पवमानः सोमः । गायत्री ।

उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे । अभि देवाँ इयक्षते १
अभि ते मधुना पयो ऽथर्वाणो अशिश्रयुः । देवं देवाय देवयु २
स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते । शं राजन्नोषधीभ्यः ३
(९०)

(१४)

८ काश्यपोऽसितो देवलो वा । पवमानः सोमः । गायत्री ।

परि प्रासिष्यदत् कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः । कारं बिभ्रत् पुरुस्पृहम् १
गिरा यदी सबन्धवः पञ्च व्राता अपस्यवः । परिष्कृण्वन्ति धर्णसिम् २
आदस्य शुष्मिणो रसे विश्वे देवा अमत्सत । यदी गोभिर्वसायते ३
निरिणानो वि धावति जहच्छर्याणि तान्वा । अत्रा सं जिघ्रते युजा ४
नप्तीभिर्यो विवस्वतः शुभ्रो न मामृजे युवा । गाः कृण्वानो न निर्णिजम् ५ [३]

अति श्रिती तिरश्चता गव्या जिगात्यण्व्या । वग्नुमियर्ति यं विदे ६
अभि क्षिपः समग्मत मर्जयन्तीरिषस्पतिम् । पृष्ठा गृभ्णत वाजिनः ७
परि दिव्यानि मर्मृशद् विश्वानि सोम पार्थिवा । वसूनि याह्यस्मयुः ८ [४] (१३१)

(१५)

८ काश्यपोऽसितो देवलो वा । पवमानः सोमः । गायत्री ।

एष धिया यात्यण्व्या शूरो रथेभिराशुभिः । गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् १
एष पुरू धियायते बृहते देवतातये । यत्रामृतास आसते २
एष हितो वि नीयते ऽन्तः शुभ्रावता पथा । यदी तुञ्जन्ति भूर्णयः ३
एष शृङ्गाणि दोधुव च्छिशीते यूथ्यो३ वृषा । नृम्णा दधान ओजसा ४
एष रुक्मिभिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभिः । पतिः सिन्धूनां भवन् ५
एष वसूनि पिब्दना परुषा ययिवाँ अति । अव शादेषु गच्छति ६
एतं मृजन्ति मर्ज्य मुप द्रोणेष्वायवः । प्रचक्राणं महीरिषः ७
एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सप्त धीतयः । स्वायुधं मदिन्तमम् ८ [५] (१३९)

(१६)

८ काश्यपोऽसितो देवलो वा । पवमानः सोमः । गायत्री ।

प्र ते सोतार ओण्यो३ रसं मदाय घृष्वये । सर्गो न तक्त्येतशः १
क्रत्वा दक्षस्य रथ्य मपो वसानमन्धसा । गोषामण्वेषु सश्चिम २
अनप्तमप्सु दुष्टरं सोमं पवित्र आ सृज । पुनीहीन्द्राय पातवे ३
प्र पुनानस्य चेतसा सोमः पवित्रे अर्षति । क्रत्वा सधस्थमासदत् ४ (१४३)

(१४)

८ काश्यपोऽसितो देवलो वा। पवमानः सोमः। गायत्री।

परि प्रासिष्यदत् कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः। कारं बिभ्रत् पुरुस्पृहम् १
गिरा यदी सबन्धवः पञ्च व्राता अपस्यवः। परिष्कृण्वन्ति धर्णसिम् २
आदस्य शुष्मिणो रसे विश्वे देवा अमत्सत। यदी गोभिर्वसायते ३
निरिणानो वि धावति जहच्छर्याणि तान्वा। अत्रा सं जिघ्नते युजा ४
नप्तीभिर्यो विवस्वतः शुभ्रो न मामृजे युवा। गाः कृण्वानो न निर्णिजम् ५ [३]

अति श्रिती तिरश्चता गव्या जिगात्यण्व्या। वग्नुमियर्ति यं विदे ६
अभि क्षिपः समग्मत मर्जयन्तीरिषस्पतिम्। पृष्ठा गृभ्णत वाजिनः ७
परि दिव्यानि मर्मृशद् विश्वानि सोम पार्थिवा। वसूनि याह्यस्मयुः ८ [४] (१३१)

(१५)

८ काश्यपोऽसितो देवलो वा। पवमानः सोमः। गायत्री।

एष धिया यात्यण्व्या शूरो रथेभिराशुभिः। गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् १
एष पुरू धियायते बृहते देवतातये। यत्रामृतास आसते २
एष हितो वि नीयतेऽन्तः शुभ्रावता पथा। यदी तुञ्जन्ति भूर्णयः ३
एष शृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो३ वृषा। नृम्णा दधान ओजसा ४
एष रुक्मिभिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभिः। पतिः सिन्धूनां भवन् ५
एष वसूनि पिब्दना परुषा ययिवाँ अति। अव शादेषु गच्छति ६
एतं मृजन्ति मर्ज्यमुप द्रोणेष्वायवः। प्रचक्राणं महीरिषः ७
एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सप्त धीतयः। स्वायुधं मदिन्तमम् ८ [५] (१३९)

(१६)

८ काश्यपोऽसितो देवलो वा। पवमानः सोमः। गायत्री।

प्र ते सोतार ओण्यो३ रसं मदाय घृष्वये। सर्गो न तक्त्येतशः १
क्रत्वा दक्षस्य रथ्यमपो वसानमन्धसा। गोषामण्वेषु सश्चिम २
अनप्तमप्सु दुष्टरं सोमं पवित्र आ सृज। पुनीहीन्द्राय पातवे ३
प्र पुनानस्य चेतसा सोमः पवित्रे अर्षति। क्रत्वा सधस्थमासदत् ४ (१४३)

वृषा पुनान आयुषु स्तनयन्नधि बर्हिषि । हरिः सन् योनिमासदत् ३
अवावशन्त धीतयो वृषभस्याधि रेतसि । सूनोर्वत्सस्य मातरः ४
कुविद्वृषण्यन्तीभ्यः पुनानो गर्भमादधत् । याः शुक्रं दुहते पयः ५
उप शिक्षापतस्थुषो भियसमा धेहि शत्रुषु । पवमान विदा रयिम् ६
नि शत्रोः सोम वृष्ण्यं नि शुष्मं नि वयस्तिर । दूरे वा सतो अन्ति वा ७ [९] (१६९)

(२०)

७ काश्यपोऽसितो देवलो वा । पवमानः सोमः । गायत्री ।

प्र कविर्देववीतयेऽव्यो वारेभिरर्षति । साह्वान् विश्वा अभि स्पृधः १
स हि ष्मा जरितृभ्य आ वाजं गोमन्तमिन्वति । पवमानः सहस्रिणम् २
परि विश्वानि चेतसा मृशसे पवसे मती । स नः सोम श्रवो विदः ३
अभ्यर्ष बृहद्यशो मघवद्भ्यो ध्रुवं रयिम् । इषं स्तोतृभ्य आ भर ४
त्वं राजेव सुव्रतो गिरः सोमा विवेशिथ । पुनानो वह्ने अद्भुत ५
स वह्निरप्सु दुष्टरो मृज्यमानो गभस्त्योः । सोमश्चमूषु सीदति ६
क्रीळुर्मखो न मंहयुः पवित्रं सोम गच्छसि । दधत् स्तोत्रे सुवीर्यम् ७ [१०] (१७६)

(२१)

७ काश्यपोऽसितो देवलो वा । पवमानः सोमः । गायत्री ।

एते धावन्तीन्दवः सोमा इन्द्राय घृष्वयः । मत्सरासः स्वर्विदः १
प्रवृण्वन्तो अभियुजः सुष्वये वरिवोविदः । स्वयं स्तोत्रे वयस्कृतः २
वृथा क्रीळन्त इन्दवः सधस्थमभ्येकमित् । सिन्धोरूर्मा व्यक्षरन् ३
एते विश्वानि वार्या पवमानास आशत । हिता न सप्तयो रथे ४
आस्मिन् पिशङ्गमिन्दवो दधाता वेनमादिशे । यो अस्मभ्यमरावा ५
ऋभुर्न रथ्यं नवं दधाता केतमादिशे । शुक्राः पवध्वमर्णसा ६
एत उ त्ये अवीवशन् काष्ठां वाजिनो अक्रत । सतः प्रासाविषुर्मतिम् ७ [११] (१८३)

(२२)

७ काश्यपोऽसितो देवलो वा । पवमानः सोमः । गायत्री ।

एते सोमास आशवो रथा इव प्र वाजिनः । सर्गाः सृष्टा अहेषत १
एते वाता इवोरवः पर्जन्यस्येव वृष्टयः । अग्नेरिव भ्रमा वृथा २ (१८५)

स देवैः शोभते वृषा　कविर्योनावधि प्रियः　। वृत्रहा देववीतमः　३
विश्वा रूपाण्याविशन्　पुनानो याति हर्यतः　। यत्रामृतास आसते　४
अरुषो जनयन् गिरः　सोमः पवत आयुषक्　। इन्द्रं गच्छन् कविक्रतुः　५
आ पवस्व मदिन्तम　पवित्रं धारया कवे　। अर्कस्य योनिमासदम्　६ [१५] (२१०)

(२६)

६ इध्मवाहो दार्ढच्युतः। पवमानः सोमः। गायत्री।

तममृक्षन्त वाजिन मुपस्थे अदितेरधि　। विप्रासो अण्व्या धिया　१
तं गावो अभ्यनूषत　सहस्रधारमक्षितम्　। इन्दुं धर्तारमा दिवः　२
तं वेधां मेधयाह्यन्　पवमानमधि द्यवि　। धर्णसिं भूरिधायसम्　३
तमह्यन् भुरिजोर्धिया　संवसानं विवस्वतः　। पतिं वाचो अदाभ्यम्　४
तं सानावधि जामयो　हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः　। हर्यतं भूरिचक्षसम्　५
तं त्वा हिन्वन्ति वेधसः　पवमान गिरावृधम्　। इन्दविन्द्राय मत्सरम्　६ [१६](२१६)

(२७)

६ नृमेध आङ्गिरसः। पवमानः सोमः। गायत्री।

एष कविरभिष्टुतः　पवित्रे अधि तोशते　। पुनानो घ्नन्नप स्रिधः　१
एष इन्द्राय वायवे　स्वर्जित् परि षिच्यते　। पवित्रे दक्षसाधनः　२
एष नृभिर्वि नीयते　दिवो मूर्धा वृषा सुतः　। सोमो वनेषु विश्ववित्　३
एष गव्युरचिक्रदत्　पवमानो हिरण्ययुः　। इन्दुः सत्राजिदस्तृतः　४
एष सूर्येण हासते　पवमानो अधि द्यवि　। पवित्रे मत्सरो मदः　५
एष शुष्म्यसिष्यद दन्तरिक्षे वृषा हरिः　। पुनान इन्दुरिन्द्रमा　६ [१७] (२२२)

(२८)

६ प्रियमेध आङ्गिरसः। पवमानः सोमः। गायत्री।

एष वाजी हितो नृभि र्विश्वविन्मनसस्पतिः　। अव्यो वारं वि धावति　१
एष पवित्रे अक्षरत्　सोमो देवेभ्यः सुतः　। विश्वा धामान्याविशन्　२
एष देवः शुभायते ऽधि योनावमर्त्यः　। वृत्रहा देववीतमः　३
एष वृषा कनिक्रद द्दशभिर्जामिभिर्यतः　। अभि द्रोणानि धावति　४　(२२६)

एते पूता विपश्चितः सोमासो दध्याशिरः। विपा व्यानशुर्धियः ३
एते मृष्टा अमर्त्याः ससृवांसो न शश्रमुः। इयक्षन्तः पथो रजः ४
एते पृष्ठानि रोदसोर्विप्रयन्तो व्यानशुः। उतेदमुत्तमं रजः ५
तन्तुं तन्वानमुत्तममनु प्रवत आशत। उतेदमुत्तमाय्यम् ६
त्वं सोम पणिभ्य आ वसु गव्यानि धारयः। ततं तन्तुमचिक्रदः ७ [१२] ([illegible])

(२३)

७ काश्यपोऽसितो देवलो वा। पवमानः सोमः। गायत्री।

सोमा असृग्रमाशवो मधोर्मदस्य धारया। अभि विश्वानि काव्या १
अनु प्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः। रुचे जनन्त सूर्यम् २
आ पवमान नो भरार्यो अदाशुषो गयम्। कृधि प्रजावतीरिषः ३
अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम्। अभि कोशं मधुश्चुतम् ४
सोमो अर्षति धर्णसिर्दधान इन्द्रियं रसम्। सुवीरो अभिशस्तिपाः ५
इन्द्राय सोम पवसे देवेभ्यः सधमाद्यः। इन्दो वाजं सिषाससि ६
अस्य पीत्वा मदानामिन्द्रो वृत्राण्यप्रति। जघान जघनच्च नु ७ [१३] ([illegible])

(२४)

७ काश्यपोऽसितो देवलो वा। पवमानः सोमः। गायत्री।

प्र सोमासो अधन्विषुः पवमानास इन्दवः। श्रीणाना अप्सु मृञ्जत १
अभि गावो अधन्विषुरापो न प्रवता यतीः। पुनाना इन्द्रमाशत २
प्र पवमान धन्वसि सोमेन्द्राय पातवे। नृभिर्यतो वि नीयसे ३
त्वं सोम नृमादनः पवस्व चर्षणीसहे। सस्निर्यो अनुमाद्यः ४
इन्दो यदद्रिभिः सुतः पवित्रं परिधावसि। अरमिन्द्रस्य धाम्ने ५
पवस्व वृत्रहन्तमोक्थेभिरनुमाद्यः। शुचिः पावको अद्भुतः ६
शुचिः पावक उच्यते सोमः सुतस्य मध्वः। देवावीरघशंसहा ७ [१४] ([illegible])

(२[illegible])   [द्वितीयोऽनुवाकः ॥२॥ सू० २५–[illegible]]

६ दृळ्हच्युत आगस्त्यः। पवमानः सोमः। गायत्री।

पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे। मरुद्भ्यो वायवे मदः १
पवमान धिया हितोऽभि योनिं कनिक्रदत्। धर्मणा वायुमा विश २ ([illegible])

स देवैः शोभते वृषा कविर्योनावधि प्रियः । वृत्रहा देववीतमः ३
विश्वा रूपाण्याविशन् पुनानो याति हर्यतः । यत्रामृतास आसते ४
अरुषो जनयन् गिरः सोमः पवत आयुषक् । इन्द्रं गच्छन् कविक्रतुः ५
आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे । अर्कस्य योनिमासदम् ६ [१५] (२१०)

(२६)

६ इध्मवाहो दार्ढच्युतः । पवमानः सोम । गायत्री ।

तममृक्षन्त वाजिनमुपस्थे अदितेरधि । विप्रासो अण्व्या धिया १
तं गावो अभ्यनूषत सहस्रधारमक्षितम् । इन्दुं धर्तारमा दिवः २
तं वेधां मेधयाह्यन् पवमानमधि द्यवि । धर्णसिं भूरिधायसम् ३
तमह्यन् भुरिजोर्धिया संवसानं विवस्वतः । पतिं वाचो अदाभ्यम् ४
तं सानावधि जामयो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः । हर्यतं भूरिचक्षसम् ५
तं त्वा हिन्वन्ति वेधसः पवमान गिरावृधम् । इन्दविन्द्राय मत्सरम् ६ [१६] (२१६)

(२७)

६ नृमेध आङ्गिरसः । पवमानः सोम । गायत्री ।

एष कविरभिष्टुतः पवित्रे अधि तोशते । पुनानो घ्नन्नप स्रिधः १
एष इन्द्राय वायवे स्वर्जित् परि षिच्यते । पवित्रे दक्षसाधनः २
एष नृभिर्वि नीयते दिवो मूर्धा वृषा सुतः । सोमो वनेषु विश्ववित् ३
एष गव्युरचिक्रदत् पवमानो हिरण्ययुः । इन्दुः सत्राजिदस्तृतः ४
एष सूर्येण हासते पवमानो अधि द्यवि । पवित्रे मत्सरो मदः ५
एष शुष्म्यसिष्यददन्तरिक्षे वृषा हरिः । पुनान इन्दुरिन्द्रमा ६ [१७] (२२२)

(२८)

६ प्रियमेध आङ्गिरसः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

एष वाजी हितो नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः । अव्यो वारं वि धावति १
एष पवित्रे अक्षरत् सोमो देवेभ्यः सुतः । विश्वा धामान्याविशन् २
एष देवः शुभायतेऽधि योनावमर्त्यः । वृत्रहा देववीतमः ३
एष वृषा कनिक्रदद्दशभिर्जामिभिर्यतः । अभि द्रोणानि धावति ४ (२२६)

(३२)

६ श्यावाश्व आत्रेयः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनः । सुता विदथे अक्रमुः १
आदीं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः । इन्दुमिन्द्राय पीतये २
आदीं हंसो यथा गणं विश्वस्यावीवशन्मतिम् । अत्यो न गोभिरज्यते ३
उभे सोमावचाकशन् मृगो न तक्तो अर्षसि । सीदन्नृतस्य योनिमा ४
अभि गावो अनूषत योषा जारमिव प्रियम् । अगन्नाजिं यथा हितम् ५
अस्मे धेहि द्युमद्यशो मघवद्भ्यश्च मह्यं च । सनिं मेधामुत श्रवः ६ [२२] (५५१)

(३३)

६ त्रित आप्त्यः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

प्र सोमासो विपश्चितोऽपां न यन्त्यूर्मयः । वनानि महिषा इव १
अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया । वाजं गोमन्तमक्षरन् २
सुता इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः । सोमा अर्षन्ति विष्णवे ३
तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः । हरिरेति कनिक्रदत् ४
अभि ब्रह्मीरनूषत यह्वीरृतस्य मातरः । मर्मृज्यन्ते दिवः शिशुम् ५
रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः । आ पवस्व सहस्रिणः ६ [२३] (५५८)

(३४)

६ त्रित आप्त्यः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

प्र सुवानो धारया तनेन्दुर्हिन्वानो अर्षति । रुजद्दृळ्हा व्योजसा १
सुत इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः । सोमो अर्षति विष्णवे २
वृषाणं वृषभिर्यतं सुन्वन्ति सोममद्रिभिः । दुहन्ति शक्मना पयः ३
भुवत् त्रितस्य मर्ज्यो भुवदिन्द्राय मत्सरः । सं रूपैरज्यते हरिः ४
अभीमृतस्य विष्टपं दुहते पृश्निमातरः । चारु प्रियतमं हविः ५
समेनमह्रुता इमा गिरो अर्षन्ति सस्रुतः । धेनूर्वाश्रो अवीवशत् ६ [२४] (५६४)

(३५)

६ प्रभूवसुराङ्गिरसः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

आ नः पवस्व धारया पवमान रयिं पृथुम् । यया ज्योतिर्विदासि नः १
इन्दो समुद्रमीङ्खय पवस्व विश्वमेजय । रायो धर्ता न ओजसा २ (५६६)

(३९)

६ बृहन्मतिराङ्गिरसः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

आशुर॑र्ष बृहन्मते परि॑ प्रि॒येण॒ धाम्ना॑ । यत्र॑ दे॒वा इति॒ ब्रव॑न् १
परि॒ष्कृ॒ण्वन्ननि॑ष्कृतं॒ जना॑य या॒तय॒न्निष॑: । वृ॒ष्टिं दि॒वः परि॑ स्रव २
सु॒त ए॑ति प॒वित्र॒ आ त्विषिं॒ दधा॑न॒ ओज॑सा । वि॒चक्षा॒णो वि॒रोच॑यन् ३
अ॒यं स यो दि॒वस्परि॑ रघु॒यामा॑ प॒वित्र॒ आ । सिन्धो॑रू॒र्मा व्यक्ष॑रत् ४
आ॒वि॒वास॑न् परा॒वतो॒ अथो॑ अर्वा॒वत॑: सु॒तः । इन्द्रा॑य सिच्यते॒ मधु॑ ५
स॒मी॒ची॒ना अ॑नूषत॒ हरिं॑ हिन्व॒न्त्यद्रि॑भिः । योना॑वृ॒तस्य॑ सीदत ६ [२९] (२९४)

(४०)

६ बृहन्मतिराङ्गिरसः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

पु॒ना॒नो अ॑क्रमीद॒भि विश्वा॒ मृधो॒ विच॑र्षणिः । शु॒म्भन्ति॒ विप्रं॑ धी॒तिभि॑ः १
आ योनि॑मरु॒णो रु॑ह॒द्गम॒दिन्द्रं॒ वृषा॑ सु॒तः । ध्रु॒वे सद॑सि सीदति २
नू नो॑ र॒यिं म॒हामि॑न्दो॒ऽस्मभ्यं॑ सोम वि॒श्वत॑: । आ प॑वस्व सह॒स्रिण॑म् ३
विश्वा॑ सोम पवमान द्यु॒म्नानी॑न्द॒वा भ॑र । वि॒दाः स॑ह॒स्रिणी॒रिष॑: ४
स न॑: पुना॒न आ भ॑र र॒यिं स्तो॒त्रे सु॒वीर्य॑म् । ज॒रि॒तुर्व॑र्धया॒ गिर॑: ५
पु॒ना॒न इ॑न्द॒वा भ॑र॒ सोम॑ द्वि॒बर्ह॑सं र॒यिम् । वृष॑न्निन्दो न उ॒क्थ्य॑म् ६ [३०] (३००)

(४१)

६ मेध्यातिथिः काण्वः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

प्र ये गावो॒ न भूर्ण॑यस्त्वे॒षा अ॒यासो॒ अक्र॑मुः । घ्नन्त॑: कृ॒ष्णामप॒ त्वच॑म् १
सु॒वि॒तस्य॑ मनाम॒हेऽति॒ सेतुं॑ दुरा॒व्य॑म् । सा॒ह्वांसो॒ दस्यु॑मव्र॒तम् २
शृ॒ण्वे वृ॒ष्टेरि॑व स्व॒नः पव॑मानस्य शु॒ष्मिण॑: । चर॑न्ति वि॒द्युतो॑ दि॒वि ३
आ प॑वस्व म॒हीमिषं॒ गोम॑दिन्दो॒ हिर॑ण्यवत् । अश्वा॑वद्वाज॑वत्सु॒तः ४
स प॑वस्व विचर्षण॒ आ म॒ही रोद॑सी पृण । उ॒षाः सूर्यो॒ न र॒श्मिभि॑ः ५
परि॑ णः शर्म॒यन्त्या॒ धार॑या सोम वि॒श्वत॑: । सरा॑ र॒सेव॑ वि॒ष्टप॑म् ६ [३१] (३०६)

(४२)

६ मेध्यातिथिः काण्वः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

ज॒नय॑न् रोच॒ना दि॒वो ज॒नय॑न्न॒प्सु सूर्य॑म् । वसा॑नो॒ गा अ॒पो हरि॑ः १
ए॒ष प्र॒त्नेन॒ मन्म॑ना दे॒वो दे॒वेभ्य॒स्परि॑ । धार॑या पवते सु॒तः २ (३०८)

(४६)

६ अयास्य आङ्गिरस । पवमानः सोम । गायत्री ।

असृग्रन् देववीतये ऽत्यासः कृत्व्या इव । क्षरन्तः पर्वतावृधः ॥ १
परिष्कृतास इन्दवो योषेव पित्र्यावती । वायुं सोमा असृक्षत ॥ २
एते सोमास इन्दवः प्रयस्वन्तश्चमू सुताः । इन्द्रं वर्धन्ति कर्मभिः ॥ ३
आ धावता सुहस्त्यः शुक्रा गृभ्णीत मन्थिना । गोभिः श्रीणीत मत्सरम् ॥ ४
स पवस्व धनंजय प्रयन्ता राधसो महः । अस्मभ्यं सोम गातुवित् ॥ ५
एतं मृजन्ति मर्ज्यं पवमानं दश क्षिपः । इन्द्राय मत्सरं मदम् ॥ ६ [३] (३३६)

(४७)

५ कविर्भार्गवः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

अया सोमः सुकृत्यया महश्चिदभ्यवर्धत । मन्दान उद्वृषायते ॥ १
कृतानीदस्य कर्त्वा चेतन्ते दस्युतर्हणा । ऋणा च धृष्णुश्चयते ॥ २
आत् सोम इन्द्रियो रसो वज्रः सहस्रसा भुवत् । उक्थं यदस्य जायते ॥ ३
स्वयं कविर्विधर्तरि विप्राय रत्नमिच्छति । यदी मर्मृज्यते धियः ॥ ४
सिषासतू रयीणां वाजेष्वर्वतामिव । भरेषु जिग्युषामसि ॥ ५ [४] (३४१)

(४८)

५ कविर्भार्गवः । पवमानः सोम । गायत्री ।

तं त्वा नृम्णानि बिभ्रतं सधस्थेषु महो दिवः । चारुं सुकृत्ययेमहे ॥ १
संवृक्तधृष्णुमुक्थ्यं महामहिव्रतं मदम् । शतं पुरो रुरुक्षणिम् ॥ २
अतस्त्वा रयिमभि राजानं सुक्रतो दिवः । सुपर्णो अव्यथिर्भरत् ॥ ३
विश्वस्मा इत् स्वर्दृशे साधारणं रजस्तुरम् । गोपामृतस्य विर्भरत् ॥ ४
अधा हिन्वान इन्द्रियं ज्यायो महित्वमानशे । अभिष्टिकृद्विचर्षणिः ॥ ५ [५] (३४६)

(४९)

५ कविर्भार्गवः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

पवस्व वृष्टिमा सु नोऽपामूर्मिं दिवस्परि । अयक्ष्मा बृहतीरिषः ॥ १
तया पवस्व धारया यया गाव इहागमन् । जन्यास उप नो गृहम् ॥ २
घृतं पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः । अस्मभ्यं वृष्टिमा पव ॥ ३
स न ऊर्जे व्यव्ययं पवित्रं धाव धारया । देवासः शृणवन् हि कम् ॥ ४
पवमानो असिष्यदद्रक्षांस्यपजङ्घनत् । प्रत्नवद्रोचयन् रुचः ॥ ५ [६] (३५१)

(५४)

४ अवत्सारः काश्यप । पवमानः सोम । गायत्री ।

अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः । पयः सहस्रसामृषिम् १
अयं सूर्य इवोपदृगयं सरांसि धावति । सप्त प्रवत आ दिवम् २
अयं विश्वानि तिष्ठति पुनानो भुवनोपरि । सोमो देवो न सूर्यः ३
परि णो देववीतये वाजाँ अर्षसि गोमतः । पुनान इन्दविन्द्रयुः ४ [११] (३७४)

(५५)

४ अवत्सार काश्यप । पवमानः सोम । गायत्री ।

यवंयवं नो अन्धसा पुष्टंपुष्टं परि स्रव । सोम विश्वा च सौभगा १
इन्दो यथा तव स्तवो यथा ते जातमन्धसः । नि बर्हिषि प्रिये सदः २
उत नो गोविदश्ववित् पवस्व सोमान्धसा । मक्षूतमेभिरहभिः ३
यो जिनाति न जीयते हन्ति शत्रुमभीत्य । स पवस्व सहस्रजित् ४ [१२] (३७८)

(५६)

४ अवत्सार काश्यपः । पवमान सोमः । गायत्री ।

परि सोम ऋतं बृहदाशुः पवित्रे अर्षति । विघ्नन् रक्षांसि देवयुः १
यत् सोमो वाजमर्षति शतं धारा अपस्युवः । इन्द्रस्य सख्यमाविशन् २
अभि त्वा योषणो दश जारं न कन्यानूषत । मृज्यसे सोम सातये ३
त्वमिन्द्राय विष्णवे स्वादुरिन्दो परि स्रव । नॄन् त्स्तोतॄन् पाह्यंहसः ४ [१३] (३८२)

(५७)

४ अवत्सारः काश्यपः । पवमान सोमः । गायत्री ।

प्र ते धारा असश्चतो दिवो न यन्ति वृष्टयः । अच्छा वाजं सहस्रिणम् १
अभि प्रियाणि काव्या विश्वा चक्षाणो अर्षति । हरिस्तुञ्जान आयुधा २
स मर्मृजान आयुभिरिभो राजेव सुव्रतः । श्येनो न वंसु षीदति ३
स नो विश्वा दिवो वसूतो पृथिव्या अधि । पुनान इन्दवा भर ४ [१४] (३८६)

(५८)

४ अवत्सारः काश्यपः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः । तरत् स मन्दी धावति १
उस्रा वेद वसूनां मर्तस्य देव्यवसः । तरत् स मन्दी धावति २ (३८८)

स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः । वरिवोवित् परि स्रव १२
उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् । इन्दुं देवा अयासिषुः १३
तमिद्वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव । य इन्द्रस्य हृदंसनिः १४
अर्षा णः सोम शं गवे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम् । वर्धा समुद्रमुक्थ्यम् १५ [२०]

पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं न तन्यतुम् । ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् १६
पवमानस्य ते रसो मदो राजन्नदुच्छुनः । वि वारमव्यमर्षति १७
पवमान रसस्तव दक्षो वि राजति द्युमान् । ज्योतिर्विश्वं स्वर्दृशे १८
यस्ते मदो वरेण्य स्तेना पवस्वान्धसा । देवावीरघशंसहा १९
जघ्निर्वृत्रममित्रियं सस्निर्वाजं दिवेदिवे । गोषा उ अश्वसा असि २० [२१]

संमिश्लो अरुषो भव सूपस्थाभिर्न धेनुभिः । सीदञ्छ्येनो न योनिमा २१
स पवस्व य आविथे न्द्रं वृत्राय हन्तवे । ववव्रांसं महीरपः २२
सुवीरासो वयं धना जयेम सोम मीढ्वः । पुनानो वर्ध नो गिरः २३
त्वोतासस्तवावसा स्याम वन्वन्त आमुरः । सोम व्रतेषु जागृहि २४
अपघ्नन् पवते मृधो ऽप सोमो अराव्णः । गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् २५ [२२]

महो नो राय आ भर पवमान जही मृधः । रास्वेन्दो वीरवद्यशः २६
न त्वा शतं चन ह्रुतो राधो दित्सन्तमा मिनन् । यत् पुनानो मखस्यसे २७
पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने । विश्वा अप द्विषो जहि २८
अस्य ते सख्ये वयं तवेन्दो द्युम्न उत्तमे । सासह्याम पृतन्यतः २९
या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे । रक्षा समस्य नो निदः ३० [२३] (४१८)

(६२)

३० जमदग्निर्भार्गवः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

एते असृग्रमिन्दव स्तिरः पवित्रमाशवः । विश्वान्यभि सौभगा १
विघ्नन्तो दुरिता पुरु सुगा तोकाय वाजिनः । तना कृण्वन्तो अर्वते २
कृण्वन्तो वरिवो गवे ऽभ्यर्षन्ति सुष्टुतिम् । इळामस्मभ्यं संयतम् ३
असाव्यंशुर्मदाया ऽप्सु दक्षो गिरिष्ठाः । श्येनो न योनिमासदत् ४
शुभ्रमन्धो देववात मप्सु धूतो नृभिः सुतः । स्वदन्ति गावः पयोभिः ५ [२४]

आदीमश्वं न हेतारो ऽशूशुभन्नमृताय । मध्वो रसं सधमादे ६ (४३४)

सुत इन्द्राय विष्णवे सोमः कुलशे अक्षरत् । मधुमाँ अस्तु वायवे ३
एते असृग्रमाशवो ऽति ह्वरांसि बभ्रवः । सोमा ऋतस्य धारया ४
इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तो अराव्णः ५ [३०]
सुता अनु स्वमा रजो ऽभ्यर्षन्ति बभ्रवः । इन्द्रं गच्छन्त इन्दवः ६
अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः । हिन्वानो मानुषीरपः ७
अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि । अन्तरिक्षेण यातवे ८
उत त्या हरितो दश सूरो अयुक्त यातवे । इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन् ९
परीतो वायवे सुत गिर इन्द्राय मत्सरम् । अव्यो वारेषु सिञ्चत १० [३१]

पवमान विदा रयि मस्मभ्यं सोम दुष्टरम् । यो दूणाशो वनुष्यता ११
अभ्यर्ष सहस्रिणं रयिं गोमन्तमश्विनम् । अभि वाजमुत श्रवः १२
सोमो देवो न सूर्यो ऽद्रिभिः पवते सुतः । दधानः कलशे रसम् १३
एते धामान्यार्या शुक्रा ऋतस्य धारया । वाजं गोमन्तमक्षरन् १४
सुता इन्द्राय वज्रिणे सोमासो दध्याशिरः । पवित्रमत्यक्षरन् १५ [३२]
प्र सोम मधुमत्तमो राये अर्ष पवित्र आ । मदो यो देववीतमः १६
तमी मृजन्त्यायवो हरिं नदीषु वाजिनम् । इन्दुमिन्द्राय मत्सरम् १७
आ पवस्व हिरण्यव दश्वावत् सोम वीरवत् । वाजं गोमन्तमा भर १८
परि वाजे न वाजयु मव्यो वारेषु सिञ्चत । इन्द्राय मधुमत्तमम् १९
कविं मृजन्ति मर्ज्यं धीभिर्विप्रा अवस्यवः । वृषा कनिक्रदर्षति २० [३३]

वृषणं धीभिरप्तुरं सोममृतस्य धारया । मती विप्राः समस्वरन् २१
पवस्व देवायुष गिन्द्रं गच्छतु ते मदः । वायुमा रोह धर्मणा २२
पवमान नि तोशसे रयिं सोम श्रवाय्यम् । प्रियः समुद्रमा विश २३
अपघ्नन् पवसे मृधः क्रतुवित् सोम मत्सरः । नुदस्वादेवयुं जनम् २४
पवमाना असृक्षत सोमाः शुक्रास इन्दवः । अभि विश्वानि काव्या २५ [३४]
पवमानास आशवः शुभ्रा असृग्रमिन्दवः । घ्नन्तो विश्वा अप द्विषः २६
पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत । पृथिव्या अधि सानवि २७
पुनानः सोम धारये न्दो विश्वा अप स्रिधः । जहि रक्षांसि सुक्रतो २८
अपघ्नन् त्सोम रक्षसो ऽभ्यर्ष कनिक्रदत् । द्युमन्तं शुष्ममुत्तमम् २९
अस्मे वसूनि धारय सोम दिव्यानि पार्थिवा । इन्दो विश्वानि वार्या ३० [३५] (४८८)

(६४)

१ कश्यपो मारीचः । पवमानः सोमः । गायत्री ।

वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः । वृषा धर्माणि दधिषे ॥ १

वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा मदः । सत्यं वृषन्वृषेदसि ॥ २

अश्वो न चक्रदो वृषा सं गा इन्दो समर्वतः । वि नो राये दुरो वृधि ॥ ३

असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया । शुक्रासो वीरयाशवः ॥ ४

शुम्भमाना ऋतायुभिर्मृज्यमाना गभस्त्योः । पवन्ते वारे अव्यये ॥ ५ [२१]

ते विश्वा दाशुषे वसु सोमा दिव्यानि पार्थिवा । पवन्तामान्तरिक्ष्या ॥ ६

पवमानस्य विश्ववित्प्र ते सर्गा असृक्षत । सूर्यस्येव न रश्मयः ॥ ७

केतुं कृण्वन्दिवस्परि विश्वा रूपाभ्यर्षसि । समुद्रः सोम पिन्वसे ॥ ८

हिन्वानो वाचमिष्यसि पवमान विधर्मणि । अक्रान्देवो न सूर्यः ॥ ९

इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मती । सृजदश्वं रथीरिव ॥ १० [२२]

ऊर्मिर्यस्ते पवित्र आ देवावीः पर्यक्षरत् । सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ ११

स नो अर्ष पवित्र आ मदो यो देववीतमः । इन्दविन्द्राय पीतये ॥ १२

इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः । इन्दो रुचाभि गा इहि ॥ १३

पुनानो वरिवस्कृध्यूर्जं जनाय गिर्वणः । हरे सृजान आशिरम् ॥ १४

पुनानो देववीतय इन्द्रस्य याहि निष्कृतम् । द्युतानो वाजिभिर्यतः ॥ १५ [२३]

प्र हिन्वानास इन्दवोऽच्छा समुद्रमाशवः । धिया जूता असृक्षत ॥ १६

मर्मृजानास आयवो वृथा समुद्रमिन्दवः । अग्मन्नृतस्य योनिमा ॥ १७

परि णो याह्यस्मयुर्विश्वा वसून्योजसा । पाहि नः शर्म वीरवत् ॥ १८

मिमाति वह्निरेतशः पदं युजान ऋक्वभिः । प्र यत्समुद्र आहितः ॥ १९

आ यद्योनिं हिरण्ययमाशुर्ऋतस्य सीदति । जहात्यप्रचेतसः ॥ २० [२४]

अभि वेना अनूषतेयक्षन्ति प्रचेतसः । मज्जन्त्यविचेतसः ॥ २१

इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः । ऋतस्य योनिमासदम् ॥ २२

तं त्वा विप्रा वचोविदः परि ष्कृण्वन्ति वेधसः । सं त्वा मृजन्त्यायवः ॥ २३

रसं ते मित्रो अर्यमा पिबन्ति वरुणः कवे । पवमानस्य मरुतः ॥ २४

त्वं सोम विपश्चितं पुनानो वाचमिष्यसि । इन्दो सहस्रभर्णसम् ॥ २५ [४] (७११)

उतो सहस्रभर्णसं वाचं सोम मखस्युवम् । पुनान इन्दवा भर २६
पुनान इन्दवेषा पुरुहूत जनानाम् । प्रियः समुद्रमा विश २७
दविद्युतत्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा । सोमाः शुक्रा गवाशिरः २८
हिन्वानो हेतृभिर्यत आ वाजं वाज्यक्रमीत् । सीदन्तो वनुषो यथा २९
ऋधक् सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवः कविः । पवस्व सूर्यो दृशे ३० [४१] (१२८)

-<>-

[द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥ व० १-३३] (६५)

३० भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्भार्गवो वा । पवमानः सोमः । गायत्री ।

हिन्वन्ति सूरमुस्रयः स्वसारो जामयस्पतिम् । महामिन्दुं महीयुवः १
पवमान रुचारुचा देवो देवेभ्यस्परि । विश्वा वसून्या विश २
आ पवमान सुष्टुतिं वृष्टिं देवेभ्यो दुवः । इषे पवस्व संयतम् ३
वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे । पवमान स्वाध्यः ४
आ पवस्व सुवीर्यं मन्दमानः स्वायुध । इहो ष्विन्दवा गहि ५ [१]

यदद्भिः परिषिच्यसे मृज्यमानो गभस्त्योः । द्रुणा सधस्थमश्नुषे ६
प्र सोमाय व्यश्ववत् पवमानाय गायत । महे सहस्रचक्षसे ७
यस्य वर्णं मधुश्चुतं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः । इन्दुमिन्द्राय पीतये ८
तस्य ते वाजिनो वयं विश्वा धनानि जिग्युषः । सखित्वमा वृणीमहे ९
वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः । विश्वा दधान ओजसा १० [२]

तं त्वा धर्तारमोण्योः पवमान स्वर्दृशम् । हिन्वे वाजेषु वाजिनम् ११
अया चित्तो विपानया हरिः पवस्व धारया । युजं वाजेषु चोदय १२
आ न इन्दो महीमिषं पवस्व विश्वदर्शतः । अस्मभ्यं सोम गातुवित् १३
आ कलशा अनूषतेन्दो धाराभिरोजसा । एन्द्रस्य पीतये विश १४
यस्य ते मद्यं रसं तीव्रं दुहन्त्यद्रिभिः । स पवस्वाभिमातिहा १५ [३]

राजा मेधाभिरीयते पवमानो मनावधि । अन्तरिक्षेण यातवे १६
आ न इन्दो शतग्विनं गवां पोषं स्वश्व्यम् । वहा भगत्तिमूतये १७
आ नः सोम सहो जुवो रूपं न वर्चसे भर । सुष्वाणो देववीतये १८
अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत् । सीदञ्छ्येनो न योनिमा १९
अप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः । सोमो अर्षति विष्णवे २० [४] (१३८)

महाँ असि सोम ज्येष्ठ उग्राणामिन्द्र ओजिष्ठ । युध्वा सञ्छश्वज्जिगेथ १६
य उग्रेभ्यश्चिदोजीया ञ्छूरेभ्यश्चिच्छूरतर । मयोदाभ्यश्चिन्महीयान् १७
त्व सोम सूर एष स्तोकस्य साता तनूनाम् । वृणीमहे सख्याय वृणीमहे युज्याय १८
अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनाम् १९
अग्निर्ऋषिः पवमान पाञ्चजन्यः पुरोहित । तमीमहे महागयम् २० [१०]

अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्च सुवीर्यम् । दधद्रयि मयि पोषम् २१
पवमानो अति स्रिधो ऽभ्यर्षति सुष्टुतिम् । सूरो न विश्वदर्शत २२
स मर्मृजान आयुभि प्रयस्वान् प्रयसे हित । इन्दुरत्यो विचक्षण २३
पवमान ऋत बृह च्छुक्र ज्योतिरजीजनत् । कृष्णा तमांसि जङ्घनत् २४
पवमानस्य जङ्घ्नतो हरेश्चन्द्रा असृक्षत । जीरा अजिरशोचिष २५ [११]

पवमानो रथीतम शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तम । हरिश्चन्द्रो मरुद्गण २६
पवमानो व्यश्नव द्रश्मिभिर्वाजसातम । दधत् स्तोत्रे सुवीर्यम् २७
प्र सुवान इन्दुरक्षा पवित्रमत्यव्ययम् । पुनान इन्दुरिन्द्रमा २८
एष सोमो अधि त्वचि गवां क्रीळत्यद्रिभि । इन्द्र मदाय जोहुवत् २९
यस्य ते द्युम्नवत् पय पवमानाभृत दिव । तेन नो मृळ जीवसे ३० [१२] (५७८)

(६७)

(१-३२) १-३ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः, ४-६ कश्यपो मारीच, ७-९ गोतमो राहूगण १०-१२ अत्रिर्भौमः, १३-१५ विश्वामित्रो गाथिनः, १६-१८ जमदग्निर्भार्गव, १९-२१ वासिष्ठो मैत्रावरुणिः, २२-३२ पवित्र आङ्गिरसो वा वसिष्ठो वा उभौ वा । पवमान सोम, १०-१२ पवमान पूषा वा, २३-२७ पवमानोऽग्नि, २५ पवमान सविता वा २६ पवमानाग्निसवितार, २७ विश्वे देवा वा, ३१-३२ पावमान्यध्येता । गायत्री, १६-१८ नित्यद्विपदा गायत्री ३० पुरउष्णिक्, २७, ३१, ३२, अनुष्टुप् ।

त्व सोमासि धारयु र्मन्द्र ओजिष्ठो अध्वरे । पवस्व मंहयद्रयि १
त्व सुतो नृमादनो दधन्वान् मत्सरिन्तमः । इन्द्राय सूरिरन्धसा २
त्व सुष्वाणो अद्रिभि रभ्यर्ष कनिक्रदत् । द्युमन्त शुष्ममुत्तमम् ३
इन्दुर्हिन्वानो अर्षति तिरो वाराण्यव्यया । हरिर्वाजमचिक्रदत ४
इन्दो व्यव्यमर्षसि वि श्रवांसि वि सौभगा । वि वाजान् त्सोम गोमत ५ [१३]

आ न इन्दो शतग्विन रयि गोमन्तमश्विनम् । भरा सोम सहस्रिणम् ६
पवमानास इन्दव स्तिर पवित्रमाशव । इन्द्र यामेभिराशत ७ (५८५)

*

महाँ असि सोम ज्येष्ठ उग्राणामिन्द्र ओजिष्ठः । युध्वा सञ्छश्वज्जिगेथ १६
य उग्रेभ्यश्चिदोजीया ञ्छूरेभ्यश्चिच्छूरतरः । भूरिदाभ्यश्चिन्महीयान् १७
त्वं सोम सूर एष स्तोकस्य साता तनूनाम् । वृणीमहे सख्याय वृणीमहे युज्याय १८
अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनाम् १९
अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः । तमीमहे महागयम् २० [१०]

अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषम् २१
पवमानो अति स्रिधो ऽभ्यर्षति सुष्टुतिम् । सूरो न विश्वदर्शतः २२
स मर्मृजान आयुभिः प्रयस्वान् प्रयसे हितः । इन्दुरत्यो विचक्षणः २३
पवमान ऋतं बृह च्छुक्रं ज्योतिरजीजनत् । कृष्णा तमांसि जङ्घनत् २४
पवमानस्य जङ्घ्नतो हरेश्चन्द्रा असृक्षत । जीरा अजिरशोचिषः २५ [११]

पवमानो रथीतमः शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः । हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः २६
पवमानो व्यश्नव द्रश्मिभिर्वाजसातमः । दधत् स्तोत्रे सुवीर्यम् २७
प्र सुवान इन्दुरक्षाः पवित्रमत्यव्ययम् । पुनान इन्दुरिन्द्रमा २८
एष सोमो अधि त्वचि गवां क्रीळत्यद्रिभिः । इन्द्रं मदाय जोहुवत् २९
यस्य ते द्युम्नवत् पयः पवमानाभृतं दिवः । तेन नो मृळ जीवसे ३० [१२] (५७८)

(६७)

(१-३२) १-३ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः, ४-६ कश्यपो मारीचः, ७-९ गोतमो राहूगणः १०-१२ अत्रिर्भौम, १३-१५ विश्वामित्रो गाथिनः, १६-१८ जमदग्निर्भार्गव, १९-२१ वासिष्ठा मैत्रावरुणिः, २२-३२ पवित्र आङ्गिरसो वा वसिष्ठो वा उभौ वा । पवमानः सोम, १०-१२ पवमानः पूषा वा, २३-२७ पवमानोऽग्नि, २१ पवमानः सविता वा, २६पवमानाग्निसवितार, २७ विश्वे देवा वा, ३१-३२ पावमान्यध्येता । गायत्री, १६-१८ नित्यद्विपदा गायत्री, ३० पुरउष्णिक्, २७, ३१, ३२, अनुष्टुप् ।

त्वं सोमासि धारयु र्मन्द्र ओजिष्ठो अध्वरे । पवस्व मंहयद्रयिः १
त्वं सुतो नृमादनो दधन्वान् मत्सरिन्तमः । इन्द्राय सूरिरन्धसा २
त्वं सुष्वाणो अद्रिभि रभ्यर्ष कनिक्रदत् । द्युमन्तं शुष्ममुत्तमम् ३
इन्दुर्हिन्वानो अर्षति तिरो वाराण्यव्यया । हरिर्वाजमचिक्रदत् ४
इन्दो व्यव्यमर्षसि वि श्रवांसि वि सौभगा । वि वाजान् त्सोम गोमतः ५ [१३]

आ न इन्दो शतग्विनं रयिं गोमन्तमश्विनम् । भरा सोम सहस्रिणम् ६
पवमानास इन्दव स्तिरः पवित्रमाशवः । इन्द्रं यामेभिराशत ७

ककुहः सोम्यो रस इन्दुरिन्द्राय पूर्व्यः । आयुः पवत आयवे ८
हिन्वन्ति सूरमुस्रयः पवमानं मधुश्चुतम् । अभि गिरा समस्वरन् ९
अविता नो अजाश्वः पूषा यामनियामनि । आ भक्षत् कन्यासु नः १० [१४]

अयं सोमः कपर्दिने घृतं न पवते मधु । आ भक्षत् कन्यासु नः ११
अयं त आघृणे सुतो घृतं न पवते शुचि । आ भक्षत् कन्यासु नः १२
वाचो जन्तुः कवीनां पवस्व सोम धारया । देवेषु रत्नधा असि १३
आ कलशेषु धावति श्येनो वर्म वि गाहते । अभि द्रोणा कनिक्रदत् १४
परि प्र सोम ते रसोऽसर्जि कलशे सुतः । श्येनो न तक्तो अर्षति १५ [१५]

पवस्व सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तमः १६
असृग्रन् देववीतये वाजयन्तो रथा इव १७
ते सुतासो मदिन्तमाः शुक्रा वायुमसृक्षत १८
ग्राव्णा तुन्नो अभिष्टुतः पवित्रं सोम गच्छसि । दधत् स्तोत्रे सुवीर्यम् १९
एष तुन्नो अभिष्टुतः पवित्रमति गाहते । रक्षोहा वारमव्ययम् २० [१६]

यदन्ति यच्च दूरके भयं विन्दति मामिह । पवमान वि तज्जहि २१
पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः । यः पोता स पुनातु नः २२
यत् ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा । ब्रह्म तेन पुनीहि नः २३
यत् ते पवित्रमर्चिवदग्ने तेन पुनीहि नः । ब्रह्मसवैः पुनीहि नः २४
उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च । मां पुनीहि विश्वतः २५ [१७]

त्रिभिष्ट्वं देव सवितर्वर्षिष्ठैः सोम धामभिः । अग्ने दक्षैः पुनीहि नः २६
पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया ।
विश्वे देवाः पुनीत मा जातवेदः पुनीहि मा २७
प्र प्यायस्व प्र स्यन्दस्व सोम विश्वेभिरंशुभिः । देवेभ्य उत्तमं हविः २८
उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम् । अगन्म बिभ्रतो नमः २९
अलाय्यस्य परशुर्ननाश तमा पवस्व देव सोम । आखुं चिदेव देव सोम ३०
यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ३१
पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ३२ [१८] (११)

(६८)   [चतुर्थोऽनुवाकः ॥४॥ सू० ६८-८६]

१० वत्सप्रिर्भालन्दनः । पवमानः सोमः । जगती, १० त्रिष्टुप् ।

प्र दे॒वमच्छा॒ मधु॑मन्त॒ इन्द॒वो ऽसि॑ष्यदन्त॒ गाव॒ आ न धे॒नवः॑ ।
ब॒र्हि॒षदो॑ वच॒नाव॑न्त॒ ऊध॑भिः प॒रि॒स्रुत॑मु॒स्रिया॑ नि॒र्णिजं॑ धिरे ॥ १

स रोरु॑वद॒भि पूर्वा॑ अचिक्रद दुपा॒रुहः॑ श्र॒थय॑न् त्स्वादते॒ हरिः॑ ।
ति॒रः प॒वित्रं॑ परि॒यन्नु॒रु ज्रयो॒ नि शर्या॑णि दधते दे॒व आ वर॑म् ॥ २

वि यो म॒मे य॒म्या॑ संय॒ती मदः॑ साकं॒वृधा॒ पय॑सा पिन्व॒दक्षि॑ता ।
म॒ही अ॑पा॒रे रज॑सी वि॒वेवि॑द द॒भिव्रज॒न्नक्षि॑तं॒ पाज॒ आ द॑दे ॥ ३

स मा॒तरा॑ वि॒चर॑न् वा॒जय॑न्न॒पः प्र मेधि॑रः स्व॒धया॑ पिन्वते प॒दम् ।
अं॒शुर्यवे॑न पिपिशे य॒तो नृभिः॒ सं जा॒मिभि॒र्नस॑ते॒ रक्ष॑ते॒ शिरः॑ ॥ ४

सं दक्षे॑ण॒ मन॑सा जायते क॒वि ॠ॒तस्य॒ गर्भो॒ निहि॑तो य॒मा प॒रः ।
यूना॑ ह॒ सन्ता॑ प्रथ॒मं वि ज॑ज्ञतु॒ र्गुहा॑ हि॒तं जनि॑म॒ नेम॒मुद्य॑तम् ॥ ५ [१९]

म॒न्द्रस्य॑ रू॒पं वि॑विदुर्मनी॒षिणः॑ श्ये॒नो यदन्धो॒ अभ॑रत् परा॒वतः॑ ।
तं म॑र्जयन्त सु॒वृधं॑ न॒दीष्वाँ उ॒शन्त॑मं॒शुं प॑रि॒यन्त॑मृ॒ग्मिय॑म् ॥ ६

त्वां मृ॑जन्ति॒ दश॒ योष॑णः सु॒तं सोम॒ ऋषि॑भिर्म॒तिभि॑र्धी॒तिभि॑र्हि॒तम् ।
अव्यो॒ वारे॑भिरु॒त दे॒वहू॑तिभि॒ र्नृभि॑र्यतो॒ वाज॒मा द॑र्षि सा॒तये॑ ॥ ७

प॒रि॒प्रय॑न्तं व॒य्यं॑ सुष॒ंसदं॒ सोमं॑ मनी॒षा अ॒भ्य॑नूषत॒ स्तुभः॑ ।
यो धार॑या॒ मधु॑माँ ऊ॒र्मिणा॑ दि॒व इय॑र्ति॒ वाचं॑ रयि॒षाळम॑र्त्यः ॥ ८

अ॒यं दि॒व इ॑यर्ति॒ विश्व॒मा रजः॒ सोमः॑ पुना॒नः क॒लशे॑षु सीदति ।
अ॒द्भिर्गोभि॑र्मृज्यते॒ अद्रि॑भिः सु॒तः पु॑ना॒न इन्दु॒र्वरि॑वो विदत् प्रि॒यम् ॥ ९

ए॒वा नः॑ सोम परिषि॒च्यमा॑नो॒ वयो॒ दध॑च्चि॒त्रत॑मं पवस्व ।
अ॒द्वे॒षे द्यावा॑पृथि॒वी हु॑वेम॒ देवा॑ ध॒त्त र॒यिम॒स्मे सु॒वीर॑म् ॥ १० [२०] (६१०)

(६९)

१० हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । पवमानः सोमः । जगती, ९-१० त्रिष्टुप् ।

इषु॒र्न धन्व॒न् प्रति॑ धीयते म॒ति र्व॒त्सो न मा॒तुरुप॑ स॒र्ज्यूध॑नि ।
उ॒रुधा॑रेव दुहे॒ अग्र॑ आय॒ त्यस्य॑ व्र॒तेष्वपि॒ सोम॑ इष्यते ॥ १

उपो॑ म॒तिः पृ॒च्यते॑ सि॒च्यते॒ मधु॑ म॒न्द्राज॑नी चोदते अ॒न्तरा॒सनि॑ ।
पव॑मानः सन्त॒निः प्र॑घ्न॒तामि॑व॒ मधु॑मान् द्र॒प्सः परि॒ वार॑मर्षति ॥ २ (६१२)

स मातरा न ददृशान उस्रियो नानददेति मरुतामिव स्वन ।
जानन्नृत प्रथम यत् स्वर्णर प्रशस्तये कमवृणीत सुक्रतु ६
रुवति भीमो वृषभस्तविष्यया शृङ्गे शिशानो हरिणी विचक्षणः ।
आ योनि सोमः सुकृत नि षीदति गव्ययी त्वग्भवति निर्णिगव्ययी ७
शुचि पुनानस्तन्वमरेपस मव्ये हरिर्न्यधाविष्ट सानवि ।
जुष्टो मित्राय वरुणाय वायवे त्रिधातु मधु क्रियते सुकर्मभि ८
पवस्व सोम देववीतये वृषे न्द्रस्य हार्दि सोमधानमा विश ।
पुरा नो बाधाद्दुरितांति पारय क्षेत्रविद्धि दिश आहा विपृच्छते ९
हितो न सप्तिरभि वाजमर्षे न्द्रस्येन्दो जठरमा पवस्व ।
नावा न सिन्धुमति पर्षि विद्वा ञ्छूरो न युध्यन्नव नो निद स्पः. १० [२४] (६४०)

(७१)

९ ऋषभो वैश्वामित्र । पवमानः सोमः । जगती, ९ त्रिष्टुप् ।

आ दक्षिणा सृज्यते शुष्म्या ऽऽसद वेति द्रुहो रक्षसः पाति जागृवि. ।
हरिरोपश कृणुते नभस्पय उपस्तिरे चम्वोऽर्ब्रह्म निर्णिजे १
प्र कृष्टिहेव शूष एति रोरुव दसुर्यं१ वर्णं नि रिणीते अस्य तम् ।
जहाति वव्रिं पितुरेति निष्कृत मुपप्रुतं कृणुते निर्णिज तना २
अद्रिभि सुत पवते गभस्त्यो वृषायते नभसा वेपते मती ।
स मोदते नसते साधते गिरा नेनिक्ते अप्सु यजते परीमणि ३
परि द्युक्ष सहस पर्वतावृध मध्व सिञ्चन्ति हर्म्यस्य सक्षणिम् ।
आ यस्मिन् गाव सुहुताद ऊधनि मूर्धञ्छ्रीणन्त्यग्रियं वरीमभि ४
समी रथ न भुरिजोरहेषत दश स्वसारो अदितेरुपस्थ आ ।
जिगादुप ज्रयति गोरपीच्यं पद यदस्य मतुथा अजीजनन् ५ [२५]

श्येनो न योनि सदनं धिया कृत हिरण्ययमासदं देव एषति ।
ए रिणन्ति बर्हिषि प्रियं गिरा ऽश्वो न देवाँ अप्येति यज्ञियः. ६
परा व्यक्तो अरुषो दिव कवि र्वृषा त्रिपृष्ठो अनविष्ट गा अभि ।
सहस्रणीतिर्यतिः परायती रेभो न पूर्वीरुषसो वि राजति ७
त्वेष रूप कृणुते वर्णो अस्य स यत्राशयत् समृता सेधति स्रिध ।
अप्सा याति स्वधया दैव्य जन स सुष्टुती नसते स गोअग्रया ८ (६४८)
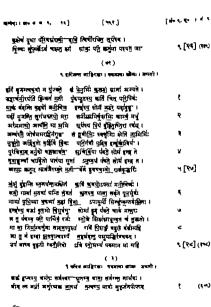
सम्यक् सम्यञ्चो महिषा अहेषत सिन्धोरूर्मावधि वेना अवीविपन् ।
मधोर्धाराभिर्जनयन्तो अर्कमित् प्रियामिन्द्रस्य तन्वमवीवृधन् २

पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितैषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम् ।
महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम् ३

सहस्रधारेऽव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
अस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवः ४

पितुर्मातुरध्या ये समस्वर—न्नृचा शोचन्तः संदहन्तो अव्रतान् ।
इन्द्रद्विष्टामप धमन्ति मायया त्वचमसिक्नीं भूमनो दिवस्परि ५ [२९]

प्रत्नान्मानादध्या ये समस्वर—ञ्छ्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः ।
अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ६

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः ।
रुद्रास एषामिषिरासो अद्रुहः स्पशः स्वञ्चः सुदृशो नृचक्षसः ७

ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतु—स्त्री ष पवित्रा हृद्यन्तरा दधे ।
विद्वान् त्स विश्वा भुवनाभि पश्य—त्यवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान् ८

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया ।
धीराश्चित् तत् समिनक्षन्त आशता—त्रा कर्तमव पदात्यप्रभुः ९ [३०] (१२७)

(७४)

१ कक्षीवान् दैर्घतमसः । पवमानः सोमः । जगती, ८ त्रिष्टुप् ।

शिशुर्न जातोऽव चक्रदद्वने स्वर्यद्वाज्यरुषः सिषासति ।
दिवो रेतसा सचते पयोवृधा तमीमहे सुमती शर्म सप्रथः १

दिवो यः स्कम्भो धरुणः स्वातत आपूर्णो अंशुः पर्येति विश्वतः ।
सेमे मही रोदसी यक्षदावृता समीचीने दाधार समिषः कविः २

महि प्सरः सुकृतं सोम्यं मधू—र्वी गव्यूतिरदितेरृतं यते ।
ईशे यो वृष्टेरित उस्रियो वृषा—ऽपां नेता य इतऊतिरृग्मियः ३

आत्मन्वन्नभो दुह्यते घृतं पय ऋतस्य नाभिरमृतं वि जायते ।
समीचीनाः सुदानवः प्रीणन्ति तं नरो हितमव मेहन्ति पेरवः ४

अराविदंशुः सचमान ऊर्मिणा देवाव्यं मनुषे पिन्वति त्वचम् ।
दधाति गर्भमदितेरुपस्थ आ येन तोकं च तनयं च धामहे ५ [३१] (६७०)

इन्द्रस्य सोम पवमान ऊर्मिणा तविष्यमाणो जठरेष्वा विश ।
प्र णः पिन्व विद्युदभ्रेव रोदसी धिया न वाजाँ उप मासि शश्वतः ३
विश्वस्य राजा पवते स्वर्दृश ऋतस्य धीतिमृषिषाळवीवशत् ।
यः सूर्यस्यासिरेण मृज्यते पिता मतीनामसमष्टकाव्यः ४
वृषेव यूथा परि कोशमर्षस्यपामुपस्थे वृषभः कनिक्रदत् ।
स इन्द्राय पवसे मत्सरिन्तमो यथा जेषाम समिथे त्वोतयः ५ [१] (६८६)

(७७)

५ कविर्भार्गवः । पवमानः सोमः । जगती ।

एष प्र कोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टरः ।
अभीमृतस्य सुदुघा घृतश्चुतो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः १
स पूर्व्यः पवते यं दिवस्परि श्येनो मथायदिषितस्तिरो रजः ।
स मध्व आ युवते वेविजान इत्कृशानोरस्तुर्मनसाह बिभ्युषा २
ते नः पूर्वास उपरास इन्दवो महे वाजाय धन्वन्तु गोमते ।
ईक्षेण्यासो अह्यो न चारवो ब्रह्मब्रह्म ये जुजुषुर्हविर्हविः ३
अयं नो विद्वान्वनवद्वनुष्यत इन्दुः सत्राचा मनसा पुरुष्टुतः ।
इनस्य यः सदने गर्भमादधे गवामुरुब्जमभ्यर्षति व्रजम् ४
चक्रिर्दिवः पवते कृत्व्यो रसो महाँ अदब्धो वरुणो हुरुग्यते ।
असावि मित्रो वृजनेषु यज्ञियोऽत्यो न यूथे वृषयुः कनिक्रदत् ५ [२] (६९१)

(७८)

५ कविर्भार्गवः । पवमानः सोमः । जगती ।

प्र राजा वाचं जनयन्नसिष्यददपो वसानो अभि गा इयक्षति ।
गृभ्णाति रिप्रमविरस्य तान्वा शुद्धो देवानामुप याति निष्कृतम् १
इन्द्राय सोम परि षिच्यसे नृभिर्नृचक्षा ऊर्मिः कविरज्यसे वने ।
पूर्वीर्हि ते स्रुतयः सन्ति यातवे सहस्रमश्वा हरयश्चमूषदः २
समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणमासीना अन्तरभि सोममक्षरन् ।
ता ईं हिन्वन्ति हर्म्यस्य सक्षणिं याचन्ते सुम्नं पवमानमक्षितम् ३ (६९४)

(८१)

५ वसुर्भारद्वाजः । पवमानः सोमः । जगती, ५ त्रिष्टुप् ।

प्र सोम॑स्य॒ पव॑मानस्यो॒र्मय॒ इन्द्र॑स्य यन्ति ज॒ठरं॑ सु॒पेश॑सः ।
द॒ध्ना यदी॒मुन्नी॑ता य॒शसा॒ गवां॑ दा॒नाय॒ शूर॑मु॒दम॑न्दिषुः सु॒ताः ॥ १
अच्छा॒ हि सोमः॑ क॒लशाँ॒ असि॑ष्यद॒दत्यो॒ न वोळ्हा॑ र॒घुव॑र्तनि॒र्वृषा॑ ।
अथा॑ दे॒वाना॑मु॒भय॑स्य॒ जन्म॑नो वि॒द्वाँ अ॑श्नोत्य॒मुत॑ इ॒तश्च॒ यत् ॥ २
आ नः॑ सोम॒ पव॑मानः किरा॒ वस्विन्दो॒ भव॑ म॒घवा॒ राध॑सो म॒हः ।
शिक्षा॑ वयोधो॒ वस॑वे॒ सु चे॒तुना॒ मा नो॒ गय॑मा॒रे अ॒स्मत् परा॑ सिचः ॥ ३
आ नः॑ पू॒षा पव॑मानः सु॒रात॑यो मि॒त्रो ग॑च्छन्तु॒ वरु॑णः स॒जोष॑सः ।
बृह॒स्पति॑र्म॒रुतो॑ वा॒युर॒श्विना॒ त्वष्टा॑ सवि॒ता सु॒यमा॒ सर॑स्वती ॥ ४
उ॒भे द्यावा॑पृथि॒वी वि॑श्वमि॒न्वे अ॑र्य॒मा दे॒वो अदि॑तिर्विधा॒ता ।
भगो॒ नृशंस॑ उ॒र्व१॒॑न्तरि॑क्षं॒ विश्वे॑ दे॒वाः पव॑मान जुषन्त ॥ ५ [६] (७११)

(८२)

५ वसुर्भारद्वाजः । पवमानः सोमः । जगती ५ त्रिष्टुप् ।

अस॑वि॒ सोमो॑ अरु॒षो वृषा॒ हरी॒ राजे॑व द॒स्मो अ॒भि गा अ॑चिक्रदत् ।
पु॒ना॒नो वारं॒ पर्ये॑त्य॒व्ययं॑ श्ये॒नो न योनिं॑ घृ॒तव॑न्तमा॒सद॑म् ॥ १
क॒विर्वे॑ध॒स्या पर्ये॑षि॒ माहि॑न॒मत्यो॒ न मृ॒ष्टो अ॒भि वाज॑मर्षसि ।
अ॒प॒सेध॑न् दुरि॒ता सो॑म मृळय घृ॒तं वसा॑नः॒ परि॑ यासि नि॒र्णिज॑म् ॥ २
प॒र्जन्यः॑ पि॒ता म॑हि॒षस्य॑ प॒र्णिनो॒ नाभा॑ पृथि॒व्या गि॒रिषु॒ क्षयं॑ दधे ।
स्वसा॑र॒ आपो॑ अ॒भि गा उ॒तास॑र॒न्त्सं ग्राव॑भिर्नसते वी॒ते अ॑ध्व॒रे ॥ ३
जा॒येव॒ पत्या॒वधि॒ शेव॑ मंहसे॒ पज्रा॑या गर्भ शृणु॒हि ब्रवी॑मि ते ।
अ॒न्तर्वाणी॑षु॒ प्र च॑रा॒ सु जी॒वसे॑ऽनि॒न्द्यो वृ॒जने॑ सोम जागृहि ॥ ४
यथा॒ पूर्वे॑भ्यः शत॒सा अमृ॑ध्रः सहस्र॒साः प॒र्यया॒ वाज॑मिन्दो ।
ए॒वा प॑वस्व सुवि॒ताय॒ नव्य॑से॒ तव॑ व्र॒तमन्वापः॑ सचन्ते ॥ ५ [७] (७१६)

(८३)

५ पवित्र आङ्गिरसः । पवमानः सोमः । जगती ।

प॒वित्रं॑ ते॒ वित॑तं ब्रह्मणस्पते प्र॒भुर्गात्रा॑णि॒ पर्ये॑षि वि॒श्वतः॑ ।
अत॑प्ततनू॒र्न तदा॒मो अ॑श्नुते शृ॒तास॒ इद्वह॑न्त॒स्तत् समा॑शत ॥ १ (७१७)

(८१)

५ वसुर्भारद्वाजः । पवमानः सोमः । जगती, ५ त्रिष्टुप् ।

प्र सोमस्य पवमानस्योर्मय इन्द्रस्य यन्ति जठरं सुपेशसः ।
दध्ना यदीमुन्नीता यशसा गवां दानाय शूरमुदमन्दिषुः सुताः १

अच्छा हि सोमः कलशाँ असिष्यद—दत्यो न वोळ्हा रघुवर्तनिर्वृषा ।
अथा देवानामुभयस्य जन्मनो विद्वाँ अश्नोत्यमुत इतश्च यत् २

आ नः सोम पवमानः किरा व—स्विन्दो भव मघवा राधसो महः ।
शिक्षा वयोधो वसवे सु चेतुना मा नो गयमारे अस्मत् परा सिचः ३

आ नः पूषा पवमानः सुरातयो मित्रो गच्छन्तु वरुणः सजोषसः ।
बृहस्पतिर्मरुतो वायुरश्विना त्वष्टा सविता सुयमा सरस्वती ४

उभे द्यावापृथिवी विश्वमिन्वे अर्यमा देवो अदितिर्विधाता ।
भगो नृशंस उर्व१न्तरिक्षं विश्वे देवाः पवमान जुषन्त ५ [६] (७११)

(८२)

५ वसुर्भारद्वाजः । पवमानः सोमः । जगती, ५ त्रिष्टुप् ।

असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत् ।
पुनानो वारं पर्येत्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदम् १

कविर्वेधस्या पर्येषि माहिन—मत्यो न मृष्टो अभि वाजमर्षसि ।
अपसेधन् दुरिता सोम मृळय घृत वसान' परि यासि निर्णिजम् २

पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या गिरिषु क्षयं दधे ।
स्वसार आपो अभि गा उतासरन् त्सं ग्रावभिर्नसते वीते अध्वरे ३

जायेव पत्यावधि शेव मंहसे पज्राया गर्भ शृणुहि ब्रवीमि ते ।
अन्तर्वाणीषु प्र चरा सु जीवसे ऽनिन्द्यो वृजने सोम जागृहि ४

यथा पूर्वेभ्यः शतसा अमृध्रः सहस्रसा' पर्यया वाजमिन्दो ।
एवा पवस्व सुविताय नव्यसे तव व्रतमन्वापः सचन्ते ५ [७] (७१६)

(८३)

५ पवित्र आङ्गिरसः । पवमानः सोमः । जगती ।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत १ (७१७)

अदब्ध इन्दो पवसे मदिन्तम आत्मेन्द्रस्य भवसि धासिरुत्तमः ।
अभि स्वरन्ति बहवो मनीषिणो राजानमस्य भुवनस्य निंसते ३

सहस्रणीथः शतधारो अद्भुत इन्द्रायेन्दुः पवते काम्यं मधु ।
जयन् क्षेत्रमभ्यर्षा जयन्नप उरु नो गातुं कृणु सोम मीढ्वः ४

कनिक्रदत् कलशे गोभिरज्यसे व्य१व्ययं समया वारमर्षसि ।
मर्मृज्यमानो अत्यो न सानसि- रिन्द्रस्य सोम जठरे समक्षरः ५

स्वादुः पवस्व दिव्याय जन्मने स्वादुरिन्द्राय सुहवीतुनाम्ने ।
स्वादुर्मित्राय वरुणाय वायवे बृहस्पतये मधुमाँ अदाभ्यः ६ [१०]

अत्यं मृजन्ति कलशे दश क्षिपः प्र विप्राणां मतयो वाच ईरते ।
पवमाना अभ्यर्षन्ति सुष्टुति- मेन्द्रं विशन्ति मदिरास इन्दवः ७

पवमानो अभ्यर्षा सुवीर्य- मुर्वीं गव्यूतिं महि शर्म सप्रथः ।
माकिर्नो अस्य परिषूतिरीशते- न्दो जयेम त्वया धनंधनम् ८

अधि द्यामस्थाद् वृषभो विचक्षणो ऽरूरुचद् वि दिवो रोचना कविः ।
राजा पवित्रमत्येति रोरुवद् दिवः पीयूषं दुहते नृचक्षसः ९

दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतो वेना दुहन्त्युक्षणं गिरिष्ठाम् ।
अप्सु द्रप्सं वावृधानं समुद्र आ सिन्धोरूर्मा मधुमन्तं पवित्र आ १०

नाके सुपर्णमुपपप्तिवांसं गिरो वेनानामकृपन्त पूर्वीः ।
शिशुं रिहन्ति मतयः पनिप्नतं हिरण्ययं शकुनं क्षामणि स्थाम् ११

ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपा प्रतिचक्षाणो अस्य ।
भानुः शुक्रेण शोचिषा व्यद्यौत् प्रारूरुचद् रोदसी मातरा शुचिः १२ [११] (७१८)

(८६) [पञ्चमोऽनुवाकः ॥५॥ सू० ८६-९६]

(१-४८) १-१० अकृष्टा माषाः, ११-२० सिकता निवावरी, २१-३० पृश्नयोऽजाः, ३१-४० अत्रयः, ४१-४५ भौमोऽत्रिः, ४६-४८ गृत्समदः शौनकः । पवमानः सोमः । जगती ।

प्र त आशवः पवमान धीजवो मदा अर्षन्ति रघुजा इव त्मना ।
दिव्याः सुपर्णा मधुमन्त इन्दवो मदिन्तमासः परि कोशमासते १

प्र ते मदासो मदिरास आशवो ऽसृक्षत रथ्यासो यथा पृथक् ।
धेनुर्न वत्सं पयसाभि वज्रिण- मिन्द्रमिन्दवो मधुमन्त ऊर्मयः २ (७२०)

प्र वो धियो मन्द्रयुवो विपन्युवः पनस्युवः संवसनेष्वक्रमुः ।
सोमं मनीषा अभ्यनूषत स्तुभो ऽभि धेनवः पयसेमशिश्रयुः १७
आ नः सोम संयतं पिप्युषीमिष—मिन्दो पवस्व पवमानो अस्रिधम् ।
या नो दोहते त्रिरहन्नसश्चुषी क्षुमद्वाजवन्मधुमत् सुवीर्यम् १८
वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नः प्रतरीतोषसो दिवः ।
क्राणा सिन्धूनां कलशाँ अवीवश—दिन्द्रस्य हार्द्याविशन् मनीषिभिः १९
मनीषिभिः पवते पूर्व्यः कवि—र्नृभिर्यतः परि कोशाँ अचिक्रदत् ।
त्रितस्य नाम जनयन् मधु क्षर—दिन्द्रस्य वायोः सख्याय कर्तवे २० [१५]

अयं पुनान उषसो वि रोचय—दयं सिन्धुभ्यो अभवदु लोककृत् ।
अयं त्रिः सप्त दुदुहान आशिरं सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः २१
पवस्व सोम दिव्येषु धामसु सृजान इन्दो कलशे पवित्र आ ।
सीदन्निन्द्रस्य जठरे कनिक्रद—न्नृभिर्यतः सूर्यमारोहयो दिवि २२
अद्रिभिः सुतः पवसे पवित्र आँ इन्दविन्द्रस्य जठरेष्वाविशन् ।
त्वं नृचक्षा अभवो विचक्षण सोम गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरप २३
त्वां सोम पवमानं स्वाध्यो ऽनु विप्रासो अमदन्नवस्यवः ।
त्वां सुपर्ण आभरद् दिवस्परी—न्दो विश्वाभिर्मतिभिः परिष्कृतम् २४
अव्ये पुनानं परि वार ऊर्मिणा हरिं नवन्ते अभि सप्त धेनवः ।
अपामुपस्थे अध्यायवः कवि—मृतस्य योना महिषा अहेषत २५ [१६]

इन्दुः पुनानो अति गाहते मृधो विश्वानि कृण्वन् त्सुपथानि यज्यवे ।
गाः कृण्वानो निर्णिजं हर्यतः कवि—रत्यो न क्रीळन् परि वारमर्षति २६
असश्चतः शतधारा अभिश्रियो हरिं नवन्तेऽव ता उदन्युवः ।
क्षिपो मृजन्ति परि गोभिरावृतं तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः २७
तवेमाः प्रजा दिव्यस्य रेतस—स्त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसि ।
अथेदं विश्वं पवमान ते वशे त्वमिन्दो प्रथमो धामधा असि २८
त्वं समुद्रो असि विश्ववित् कवे तवेमाः पञ्च प्रदिशो विधर्मणि ।
त्वं द्यां च पृथिवीं चाति जभ्रिषे तव ज्योतींषि पवमान सूर्यः २९
त्वं पवित्रे रजसो विधर्मणि देवेभ्यः सोम पवमान पूयसे ।
त्वामुशिजः प्रथमा अगृभ्णत तुभ्येमा विश्वा भुवनानि येमिरे ३० [१७] (७७८)

अग्रेगो राजाप्यस्तविष्यते विमानो अह्नां भुवनेष्वर्पितः ।
हरिर्घृतस्नुः सुदृशीको अर्णवो ज्योतीरथः पवते राय ओक्यः　　४५ [२०]

असर्जि स्कम्भो दिव उद्यतो मदः परि त्रिधातुर्भुवनान्यर्षति ।
अंशुं रिहन्ति मतयः पनिप्नतं गिरा यदि निर्णिजमृग्मिणो ययुः　　४६
प्र ते धारा अत्यण्वानि मेष्यः पुनानस्य संयतो यन्ति रंहयः ।
यद्गोभिरिन्दो चम्वोः समज्यस आ सुवानः सोम कलशेषु सीदसि　　४७
पवस्व सोम क्रतुविन्न उक्थ्योऽव्यो वारे परि धाव मधु प्रियम् ।
जहि विश्वान् रक्षस इन्दो अत्रिणो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः　　४८ [२१](७८६)

(८७)

१ उशना काव्य । पवमानः सोम । त्रिष्टुप् ।

प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष ।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्ही रशनाभिर्नयन्ति　　१
स्वायुधः पवते देव इन्दुरशस्तिहा वृजना रक्षमाणः ।
पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः　　२
ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन ।
स चिद्विवेद निहितं यदासामपीच्यं गुह्यं नाम गोनाम्　　३
एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा वृष्णे परि पवित्रे अक्षाः ।
सहस्रसाः शतसा भूरिदावा शश्वत्तमं बर्हिरा वाज्यस्थात्　　४
एते सोमा अभि गव्या सहस्रा महे वाजायामृताय श्रवांसि ।
पवित्रेभिः पवमाना असृग्रञ्छ्रवस्यवो न पृतनाजो अत्याः　　५ [२२]

परि हि ष्मा पुरुहूतो जनानां विश्वासरद्भोजना पूयमानः ।
अथा भर श्येनभृत प्रयांसि रयिं तुञ्जानो अभि वाजमर्ष　　६
एष सुवानः परि सोमः पवित्रे सर्गो न सृष्टो अदधावदर्वा ।
तिग्मे शिशानो महिषो न शृङ्गे गा गव्यन्नभि शूरो न सत्वा　　७
एषा ययौ परमादन्तरद्रेः कूचित् सतीरूर्वे गा विवेद ।
दिवो न विद्युत् स्तनयन्त्यभ्रैः सोमस्य ते पवत इन्द्र धारा　　८
उत स्म राशिं परि यासि गोनामिन्द्रेण सोम सरथं पुनानः ।
पूर्वीरिषो बृहतीर्जीरदानो शिक्षा शचीवस्तव ता उपष्टुत्　　९ [२३] (७९५)

मधुपृष्ठं घोरमयासमश्वं रथे युञ्जन्त्युरुचक्र ऋष्वम् ।
स्वसार ईं जामयो मर्जयन्ति सनाभयो वाजिनमूर्जयन्ति ४
चतस्र ईं घृतदुहः सचन्ते समाने अन्तर्धरुणे निषत्ताः ।
ता ईमर्षन्ति नमसा पुनाना स्ता ईं विश्वतः परि षन्ति पूर्वीः ५
विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्या विश्वा उत क्षितयो हस्ते अस्य ।
असत् त उत्सो गृणते नियुत्वान् मध्वो अंशुः पवत इन्द्रियाय ६
वन्वन्नवातो अभि देववीति मिन्द्राय सोम वृत्रहा पवस्व ।
शग्धि महः पुरुश्चन्द्रस्य रायः सुवीर्यस्य पतयः स्याम ७ [२५] (८१०)

(९०)

६ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । पवमानः सोमः । त्रिष्टुप् ।

प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं सनिष्यन्नयासीत् ।
इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशिशानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः १
अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधा माङ्गूषाणामवावशन्त वाणीः ।
वना वसानो वरुणो न सिन्धून् वि रत्नधा दयते वार्याणि २
शूरग्रामः सर्ववीरः सहावा ञ्जेता पवस्व सनिता धनानि ।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्व षाळ्हः साह्वान् पृतनासु शत्रून् ३
उरुगव्यूतिरभयानि कृण्वन् त्समीचीने आ पवस्वा पुरंधी ।
अपः सिषासन्नुषसः स्व१र्गाः सं चिक्रदो महो अस्मभ्यं वाजान् ४
मत्सि सोम वरुणं मत्सि मित्रं मत्सीन्द्रमिन्दो पवमान विष्णुम् ।
मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान् मत्सि महामिन्द्रमिन्दो मदाय ५
एवा राजेव क्रतुमाँ अमेन विश्वा घनिघ्नद्दुरिता पवस्व ।
इन्दो सूक्ताय वचसे वयो धा यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ६ [२६] (८११)

[चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥ व० १-२८] (९१)

६ कश्यपो मारीचः । पवमानः सोमः । त्रिष्टुप् ।

असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता प्रथमो मनीषी ।
दश स्वसारो अधि सानो अव्ये ऽजन्ति वह्निं सदनान्यच्छ १
वीती जनस्य दिव्यस्य कव्यै रधि सुवानो नहुष्येभिरिन्दुः ।
प्र यो नृभिरमृतो मर्त्येभि र्मर्मृजानोऽविभिर्गोभिरद्भिः २ (८१८)

मधुपृष्ठं घोरमयासमश्वं रथे युञ्जन्त्युरुचक्र ऋष्वम् ।
स्वसार ईं जामयो मर्जयन्ति सनाभयो वाजिनमूर्जयन्ति ४
चतस्र ईं घृतदुहः सचन्ते समाने अन्तर्धरुणे निषत्ताः ।
ता ईमर्षन्ति नमसा पुनाना स्ता ईं विश्वतः परि षन्ति पूर्वीः ५
विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्या विश्वा उत क्षितयो हस्ते अस्य ।
असत् त उत्सो गृणते नियुत्वान् मध्वो अंशुः पवत इन्द्रियाय ६
वन्वन्नवातो अभि देववीति मिन्द्राय सोम वृत्रहा पवस्व ।
शग्धि महः पुरुश्चन्द्रस्य रायः सुवीर्यस्य पतयः स्याम ७ [२५] (८१०)

(९०)

६ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः । पवमानः सोमः । त्रिष्टुप् ।

प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं सनिष्यन्नयासीत् ।
इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशिशानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः १
अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधा माङ्गूषाणामवावशन्त वाणीः ।
वना वसानो वरुणो न सिन्धून् वि रत्नधा दयते वार्याणि २
शूरग्रामः सर्ववीरः सहावा ञ्जेता पवस्व सनिता धनानि ।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्व षाळ्हः साह्वान् पृतनासु शत्रून् ३
उरुगव्यूतिरभयानि कृण्वन् त्समीचीने आ पवस्वा पुरंधी ।
अपः सिषासन्नुषसः स्व१र्गाः सं चिक्रदो महो अस्मभ्यं वाजान् ४
मत्सि सोम वरुणं मत्सि मित्रं मत्सीन्द्रमिन्दो पवमान विष्णुम् ।
मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान् मत्सि महामिन्द्रमिन्दो मदाय ५
एवा राजेव क्रतुमाँ अमेन विश्वा घनिघ्नद्दुरिता पवस्व ।
इन्दो सूक्ताय वचसे वयो धा यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ६ [२६] (८११)

[चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥ व० १-२८] (९१)

६ कश्यपो मारीचः । पवमानः सोमः । त्रिष्टुप् ।

असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता प्रथमो मनीषी ।
दश स्वसारो अधि सानो अव्ये ऽजन्ति वह्निं सदनान्यच्छ १
वीती जनस्य दिव्यस्य कव्यै रधि सुवानो नहुष्येभिरिन्दुः ।
प्र यो नृभिरमृतो मर्त्येभि र्मर्मृजानोऽविभिर्गोभिरद्भिः २ (८१८)

उत प्र पिप्य ऊधरघ्न्याया इन्दुर्धाराभिः सचते सुमेधाः ।
मूर्धानं गावः पयसा चमू ष्वभि श्रीणन्ति वसुभिर्न निक्तैः ॥ ३

स नो देवेभिः पवमान रदे न्दो रयिमश्विनं वावशानः ।
रथिरायतामुशती पुरंधि रस्मद्र्य१गा दावने वसूनाम् ॥ ४

नू नो रयिमुप मास्व नृवन्तं पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम् ।
प्र वन्दितुरिन्दो तार्यायुः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥ ५ [३] (८३३)

(९४)

५ कण्वो घोरः । पवमानः सोमः । त्रिष्टुप् ।

अधि यदस्मिन् वाजिनीव शुभः स्पर्धन्ते धियः सूर्ये न विशः ।
अपो वृणानः पवते कवीयन् व्रजं न पशुवर्धनाय मन्म ॥ १

द्विता व्यूर्ण्वन्नमृतस्य धाम स्वर्विदे भुवनानि प्रथन्त ।
धियः पिन्वानाः स्वसरे न गाव ऋतायन्तीरभि वावश्र इन्दुम् ॥ २

परि यत् कविः काव्या भरते शूरो न रथो भुवनानि विश्वा ।
देवेषु यशो मर्ताय भूषन् दक्षाय रायः पुरुभूषु नव्यः ॥ ३

श्रिये जातः श्रिय आ निरियाय श्रियं वयो जरितृभ्यो दधाति ।
श्रियं वसाना अमृतत्वमायन् भवन्ति सत्या समिथा मितद्रौ ॥ ४

इषमूर्जमभ्य१र्षाश्वं गा मुरु ज्योतिः कृणुहि मत्सि देवान् ।
विश्वानि हि सुषहा तानि तुभ्यं पवमान बाधसे सोम शत्रून् ॥ ५ [४] (८३८)

(९५)

५ प्रस्कण्वः काण्वः । पवमानः सोमः । त्रिष्टुप् ।

कनिक्रन्ति हरिरा सृज्यमानः सीदन् वनस्य जठरे पुनानः ।
नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं गा अतो मतीर्जनयत स्वधाभिः ॥ १

हरिः सृजानः पथ्यामृतस्ये यर्ति वाचमरितेव नावम् ।
देवो देवानां गुह्यानि नामा ऽऽविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे ॥ २

अपामिवेदूर्मयस्तर्तुराणाः प्र मनीषा ईरते सोममच्छ ।
नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं चा ऽऽ च विशन्त्युशतीरुशन्तम् ॥ ३ (८४१)

यथापवथा मनवे वयोधा अमित्रहा वरिवोविद्धविष्मान् ।
एवा पवस्व द्रविणं दधान इन्द्रे सं तिष्ठ जनयायुधानि	१२

पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावा ऽपो वसानो अधि सानो अव्ये ।
अव द्रोणानि घृतवान्ति सीद मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपानः	१३

वृष्टिं दिवः शतधारः पवस्व सहस्रसा वाजयुर्देववीतौ ।
स सिन्धुभिः कलशे वावशानः समुस्रियाभिः प्रतिरन् न आयुः	१४

एष स्य सोमो मतिभिः पुनानो ऽत्यो न वाजी तरतीदरातीः ।
पयो न दुग्धमदितेरिषिर मुर्विव गातुः सुयमो न वोळ्हा	१५[८]

स्वायुधः सोतृभिः पूयमानो ऽभ्यर्ष गुह्यं चारु नाम ।
अभि वाजं सप्तिरिव श्रवस्या ऽभि वायुमभि गा देव सोम	१६

शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति वह्निं मरुतो गणेन ।
कविर्गीर्भिः काव्येना कविः सन् त्सोमः पवित्रमत्येति रेभन्	१७

ऋषिमना य ऋषिकृत् स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम् ।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन् त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्	१८

चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत् ।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति	१९

मर्यो न शुभ्रस्तन्वं मृजानो ऽत्यो न सृत्वा सनये धनानाम् ।
वृषेव यूथा परि कोशमर्षन् कनिक्रदच्चम्वो३रा विवेश	२० [९]

पवस्वेन्दो पवमानो महोभिः कनिक्रदत् परि वाराण्यर्ष ।
क्रीळञ्चम्वो३रा विश पूयमान इन्द्रं ते रसो मदिरो ममत्तु	२१

प्रास्य धारा बृहतीरसृग्र न्नक्तो गोभिः कलशाँ आ विवेश ।
साम कृण्वन् त्सामन्यो विपश्चित् क्रन्दन्नेत्यभि सख्युर्न जामिम्	२२

अपघ्नन्नेषि पवमान शत्रून् प्रियां न जारो अभिगीत इन्दो ।
सीदन् वनेषु शकुनो न पत्वा सोमः पुनानः कलशेषु सत्ता	२३

आ ते रुचः पवमानस्य सोम योषेव यन्ति सुदुघाः सुधाराः ।
हरिरानीतः पुरुवारो अप्स्व चिक्रदत् कलशे देवयूनाम्	२४[१०](८६७)

अक्रान् त्समुद्रः प्रथमे विधर्मं जनयन् प्रजा भुवनस्य राजा ।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत् सोमो वावृधे सुवान इन्दुः　　४० [१८]

महत् तत् सोमो महिषश्चकारा ऽपां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजो ऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः　　४१
मत्सि वायुमिष्टये राधसे च मत्सि मित्रावरुणा पूयमानः ।
मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान् मत्सि द्यावापृथिवी देव सोम　　४२
ऋजुः पवस्व वृजिनस्य हन्ता ऽपामीवां बाधमानो मृधश्च ।
अभिश्रीणन् पयः पयसाभि गोना मिन्द्रस्य त्वं तव वयं सखायः　　४३
मध्वः सूदं पवस्व वस्व उत्सं वीरं च न आ पवस्वा भगं च ।
स्वदस्वेन्द्राय पवमान इन्दो रयिं च न आ पवस्वा समुद्रात्　　४४
सोमः सुतो धारयात्यो न हित्वा सिन्धुर्न निम्नमभि वाज्यक्षाः ।
आ योनिं वन्यमसदत् पुनानः समिन्दुर्गोभिरसरत् समद्भिः　　४५ [१९]

एष स्य ते पवत इन्द्र सोम श्चमूषु धीर उशते तवस्वान् ।
स्वर्चक्षा रथिरः सत्यशुष्मः कामो न यो देवयतामसर्जि　　४६
एष प्रत्नेन वयसा पुनान स्तिरो वर्पांसि दुहितुर्दधानः ।
वसानः शर्म त्रिवरूथमप्सु होतेव याति समनेषु रेभन्　　४७
नू नस्त्वं रथिरो देव सोम परि स्रव चम्वोः पूयमानः ।
अप्सु स्वादिष्ठो मधुमाँ ऋतावा देवो न यः सविता सत्यमन्मा　　४८
अभि वायुं वीत्यर्षा गृणानो ऽभि मित्रावरुणा पूयमानः ।
अभी नरं धीजवनं रथेष्ठा मभीन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम्　　४९
अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षा ऽभि धेनूः सुदुघाः पूयमानः ।
अभि चन्द्रा भर्तवे नो हिरण्या ऽभ्यश्वान् रथिनो देव सोम　　५० [२०]

अभी नो अर्ष दिव्या वसू न्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमानः
अभि येन द्रविणमश्नवामा ऽभ्यार्षेयं जमदग्निवन्नः　　५१
अया पवा पवस्वैना वसूनि माँश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व ।
ब्रध्नश्चिदत्र वातो न जूतः पुरुमेधश्चित् तकवे नरं दात्　　५२
उत न एना पवया पवस्वा ऽधि श्रुते श्रवाय्यस्य तीर्थे ।
षष्टिं सहस्रा नैगुतो वसूनि वृक्षं न पक्वं धूनवद्रणाय　　५३

अक्रान् त्समुद्रः प्रथमे विधर्मं जनयन् प्रजा भुवनस्य राजा ।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत् सोमो वावृधे सुवान इन्दुः   ४० [१८]

महत् तत् सोमो महिषश्चकारा ऽपां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजो ऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः   ४१
मत्सि वायुमिष्टये राधसे च मत्सि मित्रावरुणा पूयमानः ।
मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान् मत्सि द्यावापृथिवी देव सोम   ४२
ऋजुः पवस्व वृजिनस्य हन्ता ऽपामीवां बाधमानो मृधश्च ।
अभिश्रीणन् पयः पयसाभि गोना मिन्द्रस्य त्वं तव वयं सखायः   ४३
मध्वः सूदं पवस्व वस्व उत्सं वीरं च न आ पवस्वा भगं च ।
स्वदस्वेन्द्राय पवमान इन्दो रयिं च न आ पवस्वा समुद्रात्   ४४
सोमः सुतो धारयात्यो न हित्वा सिन्धुर्न निम्नमभि वाज्यक्षाः ।
आ योनिं वन्यमसदत् पुनानः समिन्दुर्गोभिरसरत् समद्भिः   ४५ [१९]

एष स्य ते पवत इन्द्र सोम श्चमूषु धीर उशते तवस्वान् ।
स्वर्चक्षा रथिरः सत्यशुष्मः कामो न यो देवयतामसर्जि   ४६
एष प्रत्नेन वयसा पुनान स्तिरो वर्पांसि दुहितुर्दधानः ।
वसानः शर्म त्रिवरूथमप्सु होतेव याति समनेषु रेभन्   ४७
नू नस्त्वं रथिरो देव सोम परि स्रव चम्वोः पूयमानः ।
अप्सु स्वादिष्ठो मधुमाँ ऋतावा देवो न यः सविता सत्यमन्मा   ४८
अभि वायुं वीत्यर्षा गृणानो ३ ऽभि मित्रावरुणा पूयमानः ।
अभी नरं धीजवनं रथेष्ठा मभीन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम्   ४९
अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षा ऽभि धेनूः सुदुघाः पूयमानः ।
अभि चन्द्रा भर्तवे नो हिरण्या ऽभ्यश्वान् रथिनो देव सोम   ५० [२०]

अभी नो अर्ष दिव्या वसू न्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमानः
अभि येन द्रविणमश्नवामा ऽभ्यार्षेयं जमदग्निवन्नः   ५१
अया पवा पवस्वैना वसूनि माँश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व ।
ब्रध्नश्चिदत्र वातो न जूतः पुरुमेधश्चित् तकवे नरं दात्   ५२
उत न एना पवया पवस्वा ऽधि श्रुते श्रवाय्यस्य तीर्थे ।
षष्टिं सहस्रा नैगुतो वसूनि वृक्षं न पक्वं धूनवद्रणाय   ५३

सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ४

इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।
वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा ५ [१]

सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः ।
सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ६

अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति ।
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे ७

समु प्रिया अनूषत गावो मदाय घृष्वयः ।
सोमासः कृण्वते पथः पवमानास इन्दवः ८

य ओजिष्ठस्तमा भर पवमान श्रवाय्यम् ।
यः पञ्च चर्षणीरभि रयिं येन वनामहे ९

सोमाः पवन्त इन्दवो ऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।
मित्राः सुवाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः १० [२]

सुष्वाणासो व्यद्रिभि-श्चिताना गोरधि त्वचि ।
इषमस्मभ्यमभितः समस्वरन् वसुविदः ११

एते पूता विपश्चितः सोमासो दध्याशिरः ।
सूर्यासो न दर्शतासो जिगत्नवो ध्रुवा घृते १२

प्र सुन्वानस्यान्धसो मर्तो न वृत तद्वचः ।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः १३

आ जामिरत्के अव्यत भुजे न पुत्र ओण्योः ।
सरज्जारो न योषणां वरो न योनिमासदम् १४

स वीरो दक्षसाधनो वि यस्तस्तम्भ रोदसी ।
हरिः पवित्रे अव्यत वेधा न योनिमासदम् १५

अव्यो वारेभिः पवते सोमो गव्ये अधि त्वचि ।
कनिक्रदद्वृषा हरि-रिन्द्रस्याभ्येति निष्कृतम् १६ [३](२७०)

(१०५)

६ पर्वतनारदौ काण्वौ । पवमानः सोमः । उष्णिक् ।

त वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत । शिशुं न यज्ञैः स्वदयन्त गूर्तिभिः १
स वत्स इव मातृभि रिन्दुर्हिन्वानो अज्यते । देवावीर्मदो मतिभिः परिष्कृतः २
अयं दक्षाय साधनो ऽयं शर्धाय वीतये । अयं देवेभ्यो मधुमत्तमः सुतः ३
गोमन्न इन्दो अश्ववत् सुतः सुदक्ष धन्व । शुचिं ते वर्णमधि गोषु दीधरम् ४
स नो हरीणां पत इन्दो देवप्सरस्तमः । सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव ५
सनेमि त्वमस्मदाँ अदेवं कं चिदत्रिणम् । साह्वाँ इन्दो परि बाधो अप द्वयुम् ६ [८] (९९६)

(१०६)

(१४) १-३,१०-१४ अग्निश्चाक्षुषः, ४-६ चक्षुर्मानवः, ७-९ मनुराप्सवः । पवमानः सोमः । उष्णिक् ।

इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः । श्रुष्टी जातास इन्दवः स्वर्विदः १
अयं भराय सानसि रिन्द्राय पवते सुतः । सोमो जैत्रस्य चेतति यथा विदे २
अस्येदिन्द्रो मदेष्वा ग्राभं गृभ्णीत सानसिम् । वज्रं च वृषणं भरत् समप्सुजित् ३
प्र धन्वा सोम जागृवि रिन्द्रायेन्दो परि स्रव । द्युमन्तं शुष्ममा भरा स्वर्विदम् ४
इन्द्राय वृषणं मदं पवस्व विश्वदर्शतः । सहस्रयामा पथिकृद्विचक्षणः ५ [९]

अस्मभ्यं गातुवित्तमो देवेभ्यो मधुमत्तमः । सहस्रं याहि पथिभिः कनिक्रदत् ६
पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा । आ कलशं मधुमान् त्सोम नः सदः ७
तव द्रप्सा उदप्रुत इन्द्रं मदाय वावृधुः । त्वां देवासो अमृताय कं पपुः ८
आ नः सुतास इन्दवः पुनाना धावता रयिम् । वृष्टिद्यावो रीत्यापः स्वर्विदः ९
सोमः पुनान ऊर्मिणा ऽव्यो वारं वि धावति । अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् १० [१०]

धीभिर्हिन्वन्ति वाजिनं वने क्रीळन्तमत्यविम् । अभि त्रिपृष्ठं मतयः समस्वरन् ११
असर्जि कलशाँ अभि मीळ्हे सप्तिर्न वाजयुः । पुनानो वाचं जनयन्नसिष्यदत् १२
पवते हर्यतो हरि रति ह्वरांसि रंह्या । अभ्यर्षन् त्स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः १३
अया पवस्व देवयु र्मधोर्धारा असृक्षत । रेभन् पवित्रं पर्येषि विश्वतः १४ [११] (१०१०)

आ हर्यतो अर्जुने अत्के अव्यत प्रियः सूनुर्न मर्ज्यः ।
तमीं हिन्वन्त्यपसो यथा रथं नदीष्वा गभस्त्योः ॥ १३

अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम् ।
समुद्रस्याधि विष्टपि मनीषिणो मत्सरासः स्वर्विदः ॥ १४

तरत्समुद्रं पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत् ।
अर्षन्मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋतं बृहत् ॥ १५ [१४]

नृभिर्येमानो हर्यतो विचक्षणो राजा देवः समुद्रियः ॥ १६

इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः ।
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमीं मृजन्त्यायवः ॥ १७

पुनानश्चमू जनयन्मतिं कविः सोमो देवेषु रण्यति ।
अपो वसानः परि गोभिरुत्तरः सीदन्वनेष्वव्यत ॥ १८

तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे ।
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति मामव परिधींरति ताँ इहि ॥ १९

उताहं नक्तमुत सोम ते दिवा सख्याय बभ्र ऊधनि ।
घृणा तपन्तमति सूर्यं परः शकुना इव पप्तिम ॥ २० [१५]

मृज्यमानः सुहस्त्य समुद्रे वाचमिन्वसि ।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥ २१

मृजानो वारे पवमानो अव्यये वृषाव चक्रदो वने ।
देवानां सोम पवमान निष्कृतं गोभिरञ्जानो अर्षसि ॥ २२

पवस्व वाजसातयेऽभि विश्वानि काव्या ।
त्वं समुद्रं प्रथमो वि धारयो देवेभ्यः सोम मत्सरः ॥ २३

स तू पवस्व परि पार्थिवं रजो दिव्या च सोम धर्मभिः ।
त्वां विप्रासो मतिभिर्विचक्षण शुभ्रं हिन्वन्ति धीतिभिः ॥ २४

पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया ।
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभि प्रयांसि च ॥ २५

अपो वसानः परि कोशमर्षतीन्दुर्हियानः सोतृभिः ।
जनयञ्ज्योतिर्मन्दना अवीवशद्गाः कृण्वानो न निर्णिजम् ॥ २६ [१६] (१०३६)

(१०९)

२२ अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वरयः । पवमानः सोमः । द्विपदा विराट् ।

परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय १
इन्द्रस्ते सोम सुतस्य पेयाः क्रत्वे दक्षाय विश्वे च देवाः ॥१॥ २
एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्यः पीयूषः ३
पवस्व सोम महान् त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥२॥ ४
शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम दिवे पृथिव्यै शं च प्रजायै ५
दिवो धर्तासि शुक्रः पीयूषः सत्ये विधर्मन् वाजी पवस्व ॥३॥ ६
पवस्व सोम द्युम्नी सुधारो महामवीनामनु पूर्व्यः ७
नृभिर्येमानो जज्ञानः पूतः क्षरद्विश्वानि मन्द्रः स्वर्वित् ॥४॥ ८
इन्दुः पुनानः प्रजामुराणः करद्विश्वानि द्रविणानि नः ९
पवस्व सोम क्रत्वे दक्षायाऽश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥५॥ १० [२०]

तं ते सोतारो रसं मदाय पुनन्ति सोमं महे द्युम्नाय ११
शिशुं जज्ञानं हरिं मृजन्ति पवित्रे सोमं देवेभ्य इन्दुम् ॥६॥ १२
इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायाऽपामुपस्थे कविर्भगाय १३
बिभर्ति चार्विन्द्रस्य नाम येन विश्वानि वृत्रा जघान ॥७॥ १४
पिबन्त्यस्य विश्वे देवासो गोभिः श्रीतस्य नृभिः सुतस्य १५
प्र सुवानो अक्षाः सहस्रधारस्तिरः पवित्रं वि वारमव्यम् ॥८॥ १६
स वाज्यक्षाः सहस्ररेता अद्भिर्मृजानो गोभिः श्रीणानः १७
प्र सोम याहीन्द्रस्य कुक्षा नृभिर्येमानो अद्रिभिः सुतः ॥९॥ १८
असर्जि वाजी तिरः पवित्रमिन्द्राय सोमः सहस्रधारः १९
अञ्जन्त्येनं मध्वो रसेनेन्द्राय वृष्ण इन्दुं मदाय ॥१०॥ २०
देवेभ्यस्त्वा वृथा पाजसेऽपो वसानं हरिं मृजन्ति २१
इन्दुरिन्द्राय तोशते नि तोशते श्रीणन्नुग्रो रिणन्नपः ॥११॥ २२ [२१] (१०७४)

(१११)

३ अनानतः पारुच्छेपिः । पवमानः सोमः । अत्यष्टिः ।

अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति स्वयुग्वभिः सूरो न स्वयुग्वभिः ।
धारा सुतस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः ।
विश्वा यद्रूपा परियात्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः १
त्वं त्यत् पणीनां विदो वसु सं मातृभिर्मर्जयसि स्व आ दम ऋतस्य धीतिभिर्दमे ।
परावतो न साम तद् यत्रा रणन्ति धीतयः ।
त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे २
पूर्वामनु प्रदिशं याति चेकितत् सं रश्मिभिर्यतते दर्शतो रथो दैव्यो दर्शतो रथः ।
अग्मन्नुक्थानि पौंस्येन्द्रं जैत्राय हर्षयन् ।
वज्रश्च यद्भवथो अनपच्युता समत्स्वनपच्युता ३ [२४] (१०८९)

(११२)

४ शिशुराङ्गिरसः । पवमानः सोमः । पङ्क्तिः ।

नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम् ।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव १
जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम् ।
कार्मारो अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव २
कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव ३
अश्वो वोळ्हा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः ।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव ४ [२५] (१०९३)

(११३)

११ कश्यपो मारीचः । पवमानः सोमः । पङ्क्तिः ।

शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा ।
बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परि स्रव १
आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः ।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव २
पर्जन्यवृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिताभरत् ।
तं गन्धर्वाः प्रत्यगृभ्णन् तं सोमे रसमादधुरिन्द्रायेन्दो परि स्रव ३ (१०९६)

अथ दशमं मण्डलम् ।

(१) [प्रथमोऽनुवाकः ॥१॥ सू० १-१६]

७ त्रित आप्त्यः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

अग्रे॑ बृहन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वो अ॑स्था॒न्निर्ज॑ग॒न्वान् तम॑सो॒ ज्योति॒षागा॑त् ।
अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ग॒ आ जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॑न्यप्राः ॥ १
स जा॒तो गर्भो॑ असि॒ रोद॑स्यो॒रग्ने॒ चारु॒र्विभृ॑त॒ ओष॑धीषु ।
चि॒त्रः शिशु॒ः परि॒ तमां॑स्य॒क्तून् प्र मा॒तृभ्यो॒ अधि॒ कनि॑क्रदद्गाः ॥ २
विष्णु॑रि॒त्था प॑र॒मम॑स्य वि॒द्वाञ्जा॒तो बृ॒हन्न॒भि पा॑ति तृ॒तीय॑म् ।
आ॒सा यद॑स्य॒ पयो॒ अक्र॑त॒ स्वं सचे॑तसो अ॒भ्य॑र्च॒न्त्यत्र॑ ॥ ३
अत॑ उ त्वा पितु॒भृतो॒ जनि॑त्रीरन्ना॒वृधं॒ प्रति॑ चर॒न्त्यन्नैः॑ ।
ता ईं॒ प्रत्ये॑षि॒ पुन॑र॒न्यरू॑पा॒ असि॒ त्वं वि॒क्षु मानु॑षीषु॒ होता॑ ॥ ४
होता॑रं चि॒त्ररथमध्व॒रस्य॑ य॒ज्ञस्य॑यज्ञस्य के॒तुं रुश॑न्तम् ।
प्रत्य॑र्धिं दे॒वस्य॑देवस्य म॒ह्ना श्रि॒या त्व॒१॒॑ग्निमति॑थिं॒ जना॑नाम् ॥ ५
स तु वस्त्रा॒ण्यध॒ पेश॑नानि॒ वसा॑नो अ॒ग्निर्नाभा॑ पृथि॒व्याः ।
अ॒रु॒षो जा॒तः प॒द इळा॑याः पु॒रोहि॑तो राजन् यक्षी॒ह दे॒वान् ॥ ६
आ हि द्यावा॑पृथि॒वी अ॑ग्न उ॒भे सदा॑ पु॒त्रो न मा॒तरा॑ त॒तन्थ॑ ।
प्र या॒ह्यच्छो॑श॒तो य॑विष्ठा॒था व॑ह सहस्ये॒ह दे॒वान् ॥ ७ [२९] (७)

(२)

७ त्रित आप्त्यः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

पि॒प्री॒हि दे॒वाँ उ॑श॒तो य॑विष्ठ वि॒द्वाँ ऋ॒तूँर्ऋ॑तुपते यजे॒ह ।
ये दैव्या॑ ऋ॒त्विज॒स्तेभि॑रग्ने॒ त्वं होतॄ॑णाम॒स्याय॑जिष्ठः ॥ १
वेषि॑ हो॒त्रमु॒त पो॒त्रं जना॑नां मन्धा॒तासि॑ द्रविणो॒दा ऋ॒तावा॑ ।
स्वाहा॑ व॒यं कृ॒णवा॑मा ह॒वींषि॑ दे॒वो दे॒वान् य॑जत्व॒ग्निरर्ह॑न् ॥ २
आ दे॒वाना॒मपि॒ पन्था॑मगन्म॒ यच्छ॒क्नवा॑म॒ तदनु॒ प्रवो॑ळ्हुम् ।
अ॒ग्निर्वि॒द्वान् त्स य॑जा॒त् सेदु॒ होता॒ सो अ॑ध्व॒रान् त्स ऋ॒तून् क॑ल्पयाति ॥ ३ (१०)

य त्वा जनासो अभि सुचरन्ति गाव उष्णमिव व्रज यविष्ठ ।
दूतो देवानामसि मर्त्याना मन्तर्महाँश्चरसि रोचनेन २
शिशु न त्वा जेन्यं वर्धयन्ती माता बिभर्ति सचनस्यमाना ।
धनोरधि प्रवता यासि हर्य न्जिगीषसे पशुरिवावसृष्टः ३
मूरा अमूर न वय चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से ।
शये वव्रिश्चरति जिह्वयादन् रेरिह्यते युवति विश्पतिः सन् ४
कूचिज्जायते सनयासु नव्यो वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः ।
अस्नातापो वृषभो न प्र वेति सचेतसो य प्रणयन्त मर्ता. ५
तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् ।
इय ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथ न शुचयद्भिरङ्गै. ६
ब्रह्म च ते जातवेदो नमश्चे य च गीः सदमिद्वर्धनी भूत् ।
रक्षा णो अग्ने तनयानि तोका रक्षोत नस्तन्वोऽ अप्रयुच्छन् ७ [३२] (२८)

(५)

७ त्रित आप्त्यः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

एक॰ समुद्रो धरुणो रयीणा मस्मद्धृदो भूरिजन्मा वि चष्टे ।
सिषक्त्यूधर्निण्योरुपस्थ उत्सस्य मध्ये निहित पदं वे १
समान नीळ वृषणो वसाना॰ स जग्मिरे महिषा अर्वतीभिः ।
ऋतस्य पदं कवयो नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि २
ऋतायिनी मायिनी स दधाते मित्वा शिशु जज्ञतुर्वर्धयन्ती ।
विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित् तन्तु मनसा वियन्त. ३
ऋतस्य हि वर्तनय॰ सुजात मिषो वाजाय प्रदिव सचन्ते ।
अधीवास रोदसी वावसाने घृतैरन्नैर्वावृधाते मधूनाम् ४
सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानो विद्वान् मध्व उज्जभारा दृशे कम् ।
अन्तर्येमे अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन् वव्रिमविदत् पूषणस्य ५
सप्त मर्यादा॰ कवयस्ततक्षु स्तासामेकामिदभ्यहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथा विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ६
असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे ।
अग्निर्ह न प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनु॰ ७ [३३] (३५)

द्युभिर्हितं मित्रमिव प्रयोगं प्रत्नमृत्विजमध्वरस्य जारम् ।
बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनन्त विक्षु होतारं न्यसादयन्त ५

स्वयं यजस्व दिवि देव देवान् किं ते पाकः कृणवदप्रचेताः ।
यथायज ऋतुभिर्देव देवा नेवा यजस्व तन्वं सुजात ६

भवा नो अग्नेऽवितोत गोपा भवा वयस्कृदुत नो वयोधाः ।
रास्वा च नः सुमहो हव्यदातिं त्रास्वोत नस्तन्वो३ अप्रयुच्छन् ७ [२] (४१)

(८)

१ त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः । अग्निः, ७-९ इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

प्र केतुना बृहता यात्यग्नि रा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्ताँ उपमाँ उदान ळपामुपस्थे महिषो ववर्ध १

मुमोद गर्भो वृषभः ककुद्मा नस्रेमा वत्सः शिमीवाँ अरावीत् ।
स देवतात्युद्यतानि कृण्वन् त्स्वेषु क्षयेषु प्रथमो जिगाति २

आ यो मूर्धानं पित्रोररब्ध न्यध्वरे दधिरे सूरो अर्णः ।
अस्य पत्मन्नरुषीरश्वबुध्ना ऋतस्य योनौ तन्वो जुषन्त ३

उषउषो हि वसो अग्रमेषि त्वं यमयोरभवो विभावा ।
ऋताय सप्त दधिषे पदानि जनयन् मित्रं तन्वे३ स्वायै ४

भुवश्चक्षुर्मह ऋतस्य गोपा भुवो वरुणो यदृताय वेषि ।
भुवो अपां नपाज्जातवेदो भुवो दूतो यस्य हव्यं जुजोषः ५ [३]

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ६

अस्य त्रितः क्रतुना वव्रे अन्त रिच्छन् धीतिं पितुरेवैः परस्य ।
सचस्यमानः पित्रोरुपस्थे जामि ब्रुवाण आयुधानि वेति ७

स पित्र्याण्यायुधानि विद्वा निन्द्रेषित आप्त्यो अभ्ययुध्यत् ।
त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान् त्वाष्ट्रस्य चिन्निः ससृजे त्रितो गाः ८

भूरीदिन्द्र उदिनक्षन्तमोजो ऽवाभिनत् सत्पतिर्मन्यमानम् ।
त्वाष्ट्रस्य चिद्विश्वरूपस्य गोना माचक्राणस्त्रीणि शीर्षा परा वर्क् ९ [४] (५८)

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत् ।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ६

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय ।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ७

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ८

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि ९

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् १० [७]

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।
काममूता बह्वे३तद्रपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिपृग्धि ११

न वा उ ते तन्वा तन्वं१ सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् १२

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् १३

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाऽधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् १४ [८] (८१)

(११)

९ आङ्गिर्हविर्धानः । अग्निः । जगती, ७-९ त्रिष्टुप् ।

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः ।
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजतु यज्ञियाँ ऋतून् १

रपद्गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु मे मनः ।
इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति २

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती ।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन् ३ (८४)

यस्मिन् देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते ।
सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्य१क्तून् परि द्योतनिं चरतो अजस्रा ७
यस्मिन् देवा मन्मनि सचरन्त्यपीच्येऽ न वयमस्य विद्म ।
मित्रो नो अत्रादितिरनागान् त्सविता देवो वरुणाय वोचत् ८
श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम् ।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः ९ [१२] (९९)

(१३)

५ आग्निर्हविर्धानः, विवस्वानादित्यो वा । हविर्धाने । त्रिष्टुप्, ५ जगती ।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः १
यमे इव यतमाने यदैतं प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तः ।
आ सीदतं स्वमु लोकं विदाने स्वासस्थे भवतमिन्दवे नः २
पञ्च पदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन ।
अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि ३
देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्व१ं प्रारिरेचीत् ४
सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवतन्नृतम् ।
उभे इदस्योभयस्य राजत उभे यतेते उभयस्य पुष्यतः ५ [१३] (१०४)

(१४)

१६ वैवस्वतो यमः । यमः, ६ अङ्गिरःपितृअथर्वभृगुसोमाः, ७-९ लिङ्गोक्तदेवताः, पितरो वा, १०-१२ श्वानौ । त्रिष्टुप् १३, १४, १६, अनुष्टुप् १५ बृहती ।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य १
यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्याऽ अनु स्वाः २
मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान् त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ३ (१०७)

(१५)

१४ शङ्खो यामायन । पितरः। त्रिष्टुप्, ११ जगती ।

उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञा—स्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु १
इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु २
आहं पितॄन् त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ३
बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वा—गिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आ गतावसा शंतमेना—ऽथा नः शं योररपो दधात ४
उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्व—धि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ५ [१७]

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्ये—मं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ६
आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ७
ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासो ऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्यु—शन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ८
ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ९
ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः १० [१८]

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्य—था रयिं सर्ववीरं दधातन ११
त्वमग्न ईळितो जातवेदो ऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्ष—न्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि १२
ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व १३

य त्वमग्ने समदहुस्तमु निर्वापया पुनः ।
कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा १३
शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्या३ सु सं गम इमं स्व१ग्निं हर्षय १४ [२२] (१४८)

(१७) [द्वितीयोऽनुवाकः ॥२॥ सू० १७-२९]

१४ देवश्रवा यामायनः । १-२ सरण्यूः ३-६ पूषा, ७-९ सरस्वती, १०-१४ आपः, ११-१३ सोमो वा । त्रिष्टुप्, १३-१४ अनुष्टुप्, १३ पुरस्ताद्बृहती वा ।

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश १
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः २
पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ३
आयुर्विश्वायुः परि पासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ४
पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ५ [२३]

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ६
सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ७
सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आ धेह्यस्मे ८
सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि ९
आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि १० [२४] (१५८)

अनुहस्ताद्वाददानो मृतस्या—ऽस्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा　विश्वाः स्पृधो अभिमातीर्जयेम　९

उप सर्प मातरं भूमिमेता—मुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।
ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत　एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात्　१० [२७]

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः　सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना ।
माता पुत्रं यथा सिचा　ऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि　११

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु　सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् ।
ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु　विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र　१२

उत ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परी—मं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु　तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु　१३

प्रतीचीने मामहनी—ष्वाः पर्णमिवा दधुः ।
प्रतीचीं जग्रभा वाच—मश्वं रशनया यथा　१४ [२८] (१७६)

[सप्तमोऽध्यायः ॥७॥ व० १-३०]　　(१९)

८ मथितो यामायन, भृगुर्वारुणिर्वा, भार्गवश्च्यवनो वा। आपः गावो वा,
१ उत्तरार्धर्चस्य अग्नीषोमौ। अनुष्टुप्, ६ गायत्री।

नि वर्तध्वं मानु गाता—ऽस्मान् त्सिषक्त रेवतीः ।
अग्नीषोमा पुनर्वसू　अस्मे धारयतं रयिम्　१

पुनरेना नि वर्तय　पुनरेना न्या कुरु ।
इन्द्र एणा नि यच्छ—त्वग्निरेना उपाजतु　२

पुनरेता नि वर्तन्ता—मस्मिन् पुष्यन्तु गोपतौ ।
इहैवाग्ने नि धारये—ह तिष्ठतु या रयिः　३

यन्नियानं न्ययनं　संज्ञानं यत् परायणम् ।
आवर्तनं निवर्तनं　यो गोपा अपि तं हुवे　४

य उदानड् व्ययनं　य उदानट् परायणम् ।
आवर्तनं निवर्तन—मपि गोपा नि वर्तताम्　५

आ निवर्त नि वर्तय　पुनर्न इन्द्र गा देहि । जीवाभिर्भुनजामहै　६　(३८२)

यदग्ने मन्यसे रयिं सहसावन्नमर्त्य ।
तमा नो वाजसातये वि वो मदे यज्ञेषु चित्रमा भरा विवक्षसे ४

अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या ।
भुवद्दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे ५ [४]

त्वां यज्ञेष्वीळतेऽग्ने प्रयत्यध्वरे ।
त्वं वसूनि काम्या वि वो मदे विश्वा दधासि दाशुषे विवक्षसे ६

त्वां यज्ञेष्वृत्विजं चारुमग्ने नि षेदिरे ।
घृतप्रतीकं मनुषो वि वो मदे शुक्रं चेतिष्ठमक्षभिर्विवक्षसे ७

अग्ने शुक्रेण शोचिषोरु प्रथयसे बृहत् ।
अभिक्रन्दन्वृषायसे वि वो मदे गर्भं दधासि जामिषु विवक्षसे ८ [५] (२०१)

(२२)

१५ ऐन्द्रो विमदः प्राजापत्यो वा, वासुक्रो वसुकृद्वा । इन्द्रः । पुरस्ताद्बृहती, ५,७,९ अनुष्टुप्, १५ त्रिष्टुप् ।

कुह श्रुत इन्द्रः कस्मिन्नद्य जने मित्रो न श्रूयते ।
ऋषीणां वा यः क्षये गुहा वा चर्कृषे गिरा १

इह श्रुत इन्द्रो अस्मे अद्य स्तवे वज्र्यृचीषमः ।
मित्रो न यो जनेष्वा यशश्चक्रे असाम्या २

महो यस्पतिः शवसो असाम्या महो नृम्णस्य तूतुजिः ।
भर्ता वज्रस्य धृष्णोः पिता पुत्रमिव प्रियम् ३

युजानो अश्वा वातस्य धुनी देवो देवस्य वज्रिव ।
स्यन्ता पथा विरुक्मता सृजानः स्तोष्यध्वनः ४

त्वं त्या चिद्वातस्याश्वागा ऋज्रा त्मना वहध्यै ।
ययोर्देवो न मर्त्यो यन्ता नकिर्विदाय्यः ५ [६]

अध ग्मन्तोशना पृच्छते वां कदर्था न आ गृहम् ।
आ जग्मथुः पराकाद्दिवश्च ग्मश्च मर्त्यम् ६

आ न इन्द्र पृक्षसेऽस्माकं ब्रह्मोद्यतम् ।
तत्त्वा याचामहेऽवः शुष्णं यद्धन्नमानुषम् ७ (२०९)

स्तोमं त इन्द्र विमदा अजीजनन्नपूर्व्यं पुरुतमं सुदानवे ।
विद्मा ह्यस्य भोजनमिनस्य यदा पशुं न गोपाः करामहे ६
माकिर्न एना सख्या वि यौषु स्तव चेन्द्र विमदस्य च ऋषेः ।
विद्मा हि ते प्रमतिं देव जामिवदस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि ७ [९] (२२४)

(२४)

६ ऐन्द्रो विमदः, प्राजापत्यो वा, वासुक्रो वसुकृद्वा । इन्द्रः, ४-६ अश्विनौ ।
आस्तारपङ्क्तिः, ४-६ अनुष्टुप् ।

इन्द्र सोममिमं पिब मधुमन्तं चमू सुतम् ।
अस्मे रयिं नि धारय वि वो मदे सहस्रिणं पुरूवसो विवक्षसे १
त्वां यज्ञेभिरुक्थैरुप हव्येभिरीमहे ।
शचीपते शचीनां वि वो मदे श्रेष्ठं नो धेहि वार्यं विवक्षसे २
यस्पतिर्वार्याणामसि रध्रस्य चोदिता ।
इन्द्र स्तोतॄणामविता वि वो मदे द्विषो नः पाह्यंहसो विवक्षसे ३
युवं शक्रा मायाविना समीची निरमन्थतम् ।
विमदेन यदीळिता नासत्या निरमन्थतम् ४
विश्वे देवा अकृपन्त समीच्योर्निष्पतन्त्योः ।
नासत्यावब्रुवन् देवाः पुनरा वहतादिति ५
मधुमन्मे परायणं मधुमत् पुनरायनम् ।
ता नो देवा देवतया युवं मधुमतस्कृतम् ६ [१०] (२३०)

(२५)

११ ऐन्द्रो विमदः, प्राजापत्यो वा वासुक्रो वसुकृद्वा । सोमः । आस्तारपङ्क्तिः ।

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ।
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणन् गावो न यवसे विवक्षसे १
हृदिस्पृशस्त आसते विश्वेषु सोम धामसु ।
अधा कामा इमे मम वि वो मदे वि तिष्ठन्ते वसूयवो विवक्षसे २
उत व्रतानि सोम ते प्राहं मिनामि पाक्या ।
अधा पितेव सूनवे वि वो मदे मृळा नो अभि चिद्वधाद्विवक्षसे ३ (२३३)

देवाना माने प्रथमा अतिष्ठन् कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन् ।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम् २३
सा ते जीवातुरुत तस्य विद्धि मा स्मैतादृगप गूहः समर्ये ।
आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते २४ [१९] (७७४)

(२८)

(१२) १ इन्द्रस्नुषा वसुक्रपत्नी ऋषिका २,६,८,१०,१२ इन्द्र ऋषिः, ३,४,५,७,९,११ ऐन्द्रो वसुक्र ऋषि । २,६,८,१०,१२ ऐन्द्रो वसुक्रो देवता १,३,४,५,७,९,११ इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप् ।

विश्वो ह्य१न्यो अरिराजगाम ममेदह श्वशुरो ना जगाम ।
जक्षीयाद्धाना उत सोमं पपीयात् स्वाशितः पुनरस्तं जगायात १
स रोरुवद्वृषभस्तिग्मशृङ्गो वर्ष्मन् तस्थौ वरिमन्ना पृथिव्याः ।
विश्वेष्वेनं वृजनेषु पामि यो मे कुक्षी सुतसोमः पृणाति २
अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान् त्सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वमेषाम् ।
पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः ३
इदं सु मे जरितरा चिकिद्धि प्रतीपं शापं नद्यो वहन्ति ।
लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः क्रोष्टा वराहं निरतक्त कक्षात् ४
कथा त एतदहमा चिकेतं गृत्सस्य पाकस्तवसो मनीषाम् ।
त्वं नो विद्वाँ ऋतुथा वि वोचो यमर्धं ते मघवन् क्षेम्या धूः ५
एवा हि मां तवसं वर्धयन्ति दिवश्चिन्मे बृहत उत्तरा धूः ।
पुरू सहस्रा नि शिशामि साकमशत्रुं हि मा जनिता जजान ६ [२०]

एवा हि मां तवसं जज्ञुरुग्रं कर्मन्कर्मन् वृषणमिन्द्र देवाः ।
वधीं वृत्रं वज्रेण मन्दसानो ऽप व्रजं महिना दाशुषे वम् ७
देवास आयन् परशूँरबिभ्रन् वना वृश्चन्तो अभि विड्भिरायन् ।
नि सुद्र्व१ं दधतो वक्षणासु यत्रा कृपीटमनु तद्दहन्ति ८
शशः क्षुरं प्रत्यञ्चं जगारा ऽद्रिं लोगेन व्यभेदमारात् ।
बृहन्तं चिदृहते रन्धयानि वयद्वत्सो वृषभं शूशुवानः ९
सुपर्ण इत्था नखमा सिषाया ऽवरुद्धः परिपदं न सिंहः ।
निरुद्धश्चिन्महिषस्तर्ष्यावान् गोधा तस्मा अयथं कर्षदेतत् १० (२८४)

अध्वर्यवो हविष्मन्तो हि भूताऽच्छाप इतोशतीरुशन्तः ।
अव याश्चष्टे अरुणः सुपर्णस्तमास्यध्वमूर्मिमद्या सुहस्ताः ॥ २

अध्वर्यवोऽप इता समुद्रमपां नपातं हविषा यजध्वम् ।
स वो ददूर्मिमद्या सुपूतं तस्मै सोमं मधुमन्तं सुनोत ॥ ३

यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु ।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय ॥ ४

याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः ।
ता अध्वर्यो अपो अच्छा परेहि यदासिञ्चा ओषधीभिः पुनीतात् ॥ ५ [२४]

एवेद्यूने युवतयो नमन्त यदीमुशन्नुशतीरेत्यच्छ ।
सं जानते मनसा सं चिकित्रेऽध्वर्यवो धिषणापश्च देवीः ॥ ६

यो वो वृताभ्यो अकृणोदु लोकं यो वो मह्या अभिशस्तेरमुञ्चत् ।
तस्मा इन्द्राय मधुमन्तमूर्मिं देवमादनं प्र हिणोतनापः ॥ ७

प्रास्मै हिनोत मधुमन्तमूर्मिं गर्भो यो वः सिन्धवो मध्व उत्सः ।
घृतपृष्ठमीड्यमध्वरेष्वाऽऽपो रेवतीः शृणुता हवं मे ॥ ८

तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानमूर्मिं प्र हेत य उभे इयर्ति ।
मदच्युतमौशानं नभोजां परि त्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम् ॥ ९

आवर्वृततीरध नु द्विधारा गोषुयुधो न नियवं चरन्तीः ।
ऋषे जनित्रीर्भुवनस्य पत्नीरपो वन्दस्व सवृधः सयोनीः ॥ १० [२५]

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम् ।
ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः ॥ ११

आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च ।
रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद्गृणते वयो धात् ॥ १२

प्रति यदापो अदृश्रमायतीर्घृतं पयांसि बिभ्रतीर्मधूनि ।
अध्वर्युभिर्मनसा संविदाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तीः ॥ १३

एमा अग्मन्रेवतीर्जीवधन्या अध्वर्यवः सादयता सखायः ।
नि बर्हिषि धत्तन सोम्यासोऽपां नप्त्रा संविदानास एनाः ॥ १४

आग्मन्नाप उशतीर्बर्हिरेदं न्यध्वरे असदन्देवयन्तीः ।
अध्वर्यवः सुनुतेन्द्राय सोममभूदु वः सुशका देवयज्या ॥ १५ [२६] (३०)

वीन्द्र यासि दिव्यानि रोचना वि पार्थिवानि रजसा पुरुष्टुत ।
ये त्वा वहन्ति मुहुरध्वराँ उप ते सु वन्वन्तु वग्वनाँ अराधसः ॥ २

तदिन्मे छन्त्सद्वपुषो वपुष्टरं पुत्रो यज्जानं पित्रोरधीयति ।
जाया पतिं वहति वग्नुना सुमत्पुंस इद्भद्रो वहतुः परिष्कृतः ॥ ३

तदित्सधस्थमभि चारु दीधय गावो यच्छासन्वहतुं न धेनवः ।
माता यन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्याभि वाणस्य सप्तधातुरिज्जनः ॥ ४

प्र वोऽच्छा रिरिचे देवयुष्पदमेको रुद्रेभिर्याति तुर्वणिः ।
जरा वा येष्वमृतेषु दावने परि व ऊमेभ्यः सिञ्चता मधु ॥ ५ [२९]

निधीयमानमपगूळ्हमप्सु प्र मे देवानां व्रतपा उवाच ।
इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम् ॥ ६

अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः ।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम् ॥ ७

अद्येदु प्राणीदममन्निमाहापीवृतो अधयन्मातुरूधः ।
एमेनमाप जरिमा युवानमहेळन्वसुः सुमना बभूव ॥ ८

एतानि भद्रा कलश क्रियाम कुरुश्रवण ददतो मघानि ।
दान इद्वो मघवानः सो अस्त्वयं च सोमो हृदि यं बिभर्मि ॥ ९ [३०] (२३९)

—※०※—

[अष्टमोऽध्यायः ॥८॥ व० १-२९] (३३)

१ कवष ऐलूषः । १ विश्वे देवाः, २-३ इन्द्रः, ४-५ कुरुश्रवणस्त्रासदस्यवः, ६-९ उपमश्रवा मैत्रातिथिः ।
१ त्रिष्टुप्, प्रगाथः= (२ बृहती, ३ सतोबृहती), ४-९ गायत्री ।

प्र मा युयुज्रे प्रयुजो जनानां वहामि स्म पूषणमन्तरेण ।
विश्वे देवासो अध मामरक्षन्दुःशासुरागादिति घोष आसीत् ॥ १

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
नि बाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेर्न वेवीयते मतिः ॥ २

मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव ॥ ३

कुरुश्रवणमावृणि राजानं त्रासदस्यवम् । मंहिष्ठं वाघतामृषिः ॥ ४

यस्य मा हरितो रथे तिस्रो वहन्ति साधुया । स्तवै सहस्रदक्षिणे ॥ ५ [१] (२४०)

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम् ।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥ ११
यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव ।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥ १२
अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥ १३
मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु ।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥ १४ [५] (३५९)

(३५)

१४ लुशो धानाकः । विश्वे देवाः । जगती, १३-१४ त्रिष्टुप् ।

अबुध्रमु त्य इन्द्रवन्तो अग्नयो ज्योतिर्भरन्त उषसो व्युष्टिषु ।
मही द्यावापृथिवी चेततामपोऽद्या देवानामव आ वृणीमहे ॥ १
दिवस्पृथिव्योरव आ वृणीमहे मातॄन्त्सिन्धून्पर्वताञ्छर्यणावतः ।
अनागास्त्वं सूर्यमुषासमीमहे भद्रं सोमः सुवानो अद्या कृणोतु नः ॥ २
द्यावा नो अद्य पृथिवी अनागसो मही त्रायेतां सुविताय मातरा ।
उषा उच्छन्त्यप बाधतामघं स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ३
इयं न उस्रा प्रथमा सुदेव्यं रेवत्सनिभ्यो रेवती व्युच्छतु ।
आरे मन्युं दुर्विदत्रस्य धीमहि स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ४
प्र याः सिस्रते सूर्यस्य रश्मिभिर्ज्योतिर्भरन्तीरुषसो व्युष्टिषु ।
भद्रा नो अद्य श्रवसे व्युच्छत स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ५ [६]

अनमीवा उषस आ चरन्तु न उदग्नयो जिहतां ज्योतिषा बृहत् ।
आयुक्षातामश्विना तूतुजिं रथं स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ६
श्रेष्ठं नो अद्य सवितर्वरेण्यं भागमा सुव स हि रत्नधा असि ।
रायो जनित्रीं धिषणामुप ब्रुवे स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ७
पिपर्तु मा तदृतस्य प्रवाचनं देवानां यन्मनुष्या अमन्महि ।
विश्वा इदुस्राः स्पळुदेति सूर्यः स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ८ (३६०)

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम् ।
पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून् त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥ ११
यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव ।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥ १२
अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥ १३
मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु ।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥ १४ [५] (३५१)

(३५)

१४ लुशो धानाकः । विश्वे देवाः । जगती १३-१४ त्रिष्टुप् ।

अबुध्रमु त्य इन्द्रवन्तो अग्नयो ज्योतिर्भरन्त उषसो व्युष्टिषु ।
मही द्यावापृथिवी चेततामपोऽद्या देवानामव आ वृणीमहे ॥ १
दिवस्पृथिव्योरव आ वृणीमहे मातॄन् त्सिन्धून् पर्वताञ्छर्यणावतः ।
अनागास्त्वं सूर्यमुषासमीमहे भद्रं सोमः सुवानो अद्या कृणोतु नः ॥ २
द्यावा नो अद्य पृथिवी अनागसो मही त्रायेतां सुविताय मातरा ।
उषा उच्छन्त्यप बाधतामघं स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ३
इयं न उस्रा प्रथमा सुदेव्यं रेवत् सनिभ्यो रेवती व्युच्छतु ।
आरे मन्युं दुर्विदत्रस्य धीमहि स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ४
प्र याः सिस्रते सूर्यस्य रश्मिभिर्ज्योतिर्भरन्तीरुषसो व्युष्टिषु ।
भद्रा नो अद्य श्रवसे व्युच्छत स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ५ [६]

अनमीवा उषस आ चरन्तु न उदग्नयो जिहतां ज्योतिषा बृहत् ।
आयुक्षातामश्विना तूतुजिं रथं स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ६
श्रेष्ठं नो अद्य सवितर्वरेण्यं भागमा सुव स हि रत्नधा असि ।
रायो जनित्रीं धिषणामुप ब्रुवे स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ७
पिपर्तु मा तदृतस्य प्रवाचनं देवानां यन्मनुष्या अमन्महि ।
विश्वा इदुस्राः स्पळुदेति सूर्यः स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ ८ (३९०)

उप॑ ह्वये सु॒हवं॒ मारु॑तं ग॒णं पा॑व॒कमृ॒ष्वं स॒ख्याय॑ श॒म्भुव॑म् ।
रा॒यस्पोषं॑ सौश्रव॒साय॑ धीमहि॒ तद् दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे　　७

अ॒पां पेरुं॑ जी॒वध॑न्यं भरामहे दे॒वा॒व्यं॑ सु॒हव॑मध्व॒र॒श्रिय॑म् ।
सु॒र॒श्मिं सोम॑मिन्द्रि॒यं य॑मीमहि॒ तद् दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे　　८

स॒नेम॒ तत् सु॑स॒नितां॑ स॒नित्व॑भि॒र्व॒यं जी॒वा जी॒वपु॑त्रा॒ अना॑गसः ।
ब्र॒ह्म॒द्विषो॒ विष्व॒गेनो॑ भरेरत॒ तद् दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे　　९

ये स्था मनो॑र्य॒ज्ञिया॒स्ते शृ॑णोतन॒ यद्वो॑ देवा॒ ईम॑हे॒ तद्द॑दातन ।
जै॒त्रं क्रतुं॑ र॒यिम॑द्वी॒रव॒द्यश॒स्तद् दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे　　१० [१०]

म॒हद॒द्य म॑ह॒ताम॒ा वृ॑णीम॒हेऽवो॑ दे॒वानां॑ बृह॒ताम॑न॒र्वणा॑म् ।
यथा॒ वसु॑ वी॒रजा॑तं॒ नशा॑महै॒ तद् दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे　　११

म॒हो अ॒ग्नेः स॑मिधा॒नस्य॒ शर्म॒ण्यना॑गा मि॒त्रे वरु॑णे स्व॒स्तये॑ ।
श्रेष्ठे॑ स्याम सवि॒तुः सवी॑मनि॒ तद् दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे　　१२

ये स॑वि॒तुः स॒त्यस॑वस्य॒ विश्वे॑ मि॒त्रस्य॑ व्र॒ते वरु॑णस्य दे॒वाः ।
ते सौभ॑गं वी॒रव॒द्गोम॒दप्नो॒ दधा॑तन॒ द्रवि॑णं चि॒त्रम॒स्मे　　१३

स॒वि॒ता प॒श्चाता॑त् सवि॒ता पु॒रस्ता॑त् सवि॒तोत्त॒रात्ता॑त् सवि॒ताध॒रात्ता॑त् ।
स॒वि॒ता नः॑ सुवतु स॒र्वता॑तिं सवि॒ता नो॑ रासतां दी॒र्घमायुः॑　　१४ [११] (३८०)

(३७)

१२ सौर्योऽभितपाः । सूर्यः । जगती, १० त्रिष्टुप् ।

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तं स॑पर्यत ।
दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य शंसत　　१

सा मा॑ स॒त्योक्तिः॒ परि॑ पातु वि॒श्वतो॒ द्यावा॑ च॒ यत्र॑ त॒तन॒न्नहा॑नि च ।
विश्व॑म॒न्यन्नि वि॑शते॒ यदेज॑ति वि॒श्वाहापो॑ वि॒श्वाहोदे॑ति॒ सूर्यः॑　　२

न ते॒ अदे॑वः प्र॒दिवो॒ नि वा॑सते॒ यदे॑त॒शेभिः॑ पत॒रै र॑थ॒र्यसि॑ ।
प्रा॒चीन॑म॒न्यदनु॑ वर्तते॒ रज॒ उद॒न्येन॒ ज्योति॑षा यासि सूर्य　　३

येन॑ सूर्य॒ ज्योति॑षा॒ बाध॑से॒ तमो॒ जग॑च्च॒ विश्व॑मुदि॒यर्षि॑ भा॒नुना॑ ।
तेना॒स्मद्विश्वा॒मनि॑रा॒मना॑हुति॒मपामी॑वा॒मप॑ दु॒ष्वप्न्यं॑ सुव　　४

विश्व॑स्य॒ हि प्रेषि॑तो॒ रक्ष॑सि व्र॒तमहे॑ळयन्नु॒च्चर॑सि स्व॒धा अनु॑ ।
यद॒द्य त्वा॑ सूर्योप॒ब्रवा॑महै॒ तं नो॑ दे॒वा अनु॑ मंसीरत॒ क्रतु॑म्　　५　　(३८१)

(३९)

१४ काक्षीवती घोषा । अश्विनौ । जगती, १४ त्रिष्टुप् ।

यो वां परिज्मा सुवृदश्विना रथो दोषामुषासो हव्यो हविष्मता ।
शश्वत्तमासस्तमु वामिदं वयं पितुर्न नाम सुहवं हवामहे १
चोदयतं सूनृताः पिन्वतं धिय उत् पुरंधीरीरयतं तदुश्मसि ।
यशसं भागं कृणुतं नो अश्विना सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम् २
अमाजुरश्चिद्भवथो युवं भगोऽनाशोश्चिदवितारापमस्य चित् ।
अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद्युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित् ३
युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः ।
निष्टौग्र्यमूहथुरद्भ्यस्परि विश्वेत् ता वां सवनेषु प्रवाच्या ४
पुराणा वां वीर्या३ प्र ब्रवा जनेऽथो हासथुर्भिषजा मयोभुवा ।
ता वां नु नव्याववसे करामहेऽयं नासत्या श्रदरिर्यथा दधत् ५ [१५]

इयं वामह्वे शृणुतं मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम् ।
अनापिरज्ञा असजात्यामतिः पुरा तस्या अभिशस्तेरव स्पृतम् ६
युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम् ।
युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतं युवं सुषुतिं चक्रथुः पुरंधये ७
युवं विप्रस्य जरणामुपेयुषः पुनः कलेरकृणुतं युवद्वयः ।
युवं वन्दनमृश्यदादुदूपथुर्युवं सद्यो विश्पलामेतवे कृथः ८
युवं ह रेभं वृषणा गुहा हितमुदैरयतं ममृवांसमश्विना ।
युवमृबीसमुत तप्तमत्रय ओमन्वन्तं चक्रथुः सप्तवध्रये ९
युवं श्वेतं पेदवेऽश्विनाश्वं नवभिर्वाजैर्नवती च वाजिनम् ।
चर्कृत्यं ददथुर्द्रावयत्सखं भगं न नृभ्यो हव्यं मयोभुवम् १० [१६]

न तं राजानावदिते कुतश्चन नांहो अश्नोति दुरितं नकिर्भयम् ।
यमश्विना सुहवा रुद्रवर्तनी पुरोरथं कृणुथः पत्न्या सह ११
आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना ।
यस्य योगे दुहिता जायते दिव उभे अहनी सुदिने विवस्वतः १२
ता वर्तिर्यातं जयुषा वि पर्वतमपिन्वतं शयवे धेनुमश्विना ।
वृकस्य चिद्वर्तिकामन्तरास्याद्युवं शचीभिर्ग्रसितामभुञ्चतम् १३

(३९)

१४ काक्षीवती घोषा । अश्विनौ । जगती, १४ त्रिष्टुप् ।

यो वां परिज्मा सुवृदश्विना रथो दोषामुषासो हव्यो हविष्मता ।
शश्वत्तमासस्तमु वामिदं वयं पितुर्न नाम सुहवं हवामहे १
चोदयतं सूनृताः पिन्वतं धिय उत् पुरंधीरीरयतं तदुश्मसि ।
यशसं भागं कृणुतं नो अश्विना सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम् २
अमाजुरश्चिद्भवथो युवं भगोऽनाशोश्चिदवितारापमस्य चित् ।
अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद्युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित् ३
युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः ।
निष्टौग्र्यमूहथुरद्भ्यस्परि विश्वेत् ता वां सवनेषु प्रवाच्या ४
पुराणा वां वीर्या३ प्र ब्रवा जनेऽथो हासथुर्भिषजा मयोभुवा ।
ता वां नु नव्याववसे करामहेऽयं नासत्या श्रदरिर्यथा दधत् ५ [१५]

इयं वामह्वे शृणुतं मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम् ।
अनापिरज्ञा असजात्यामतिः पुरा तस्या अभिशस्तेरव स्पृतम् ६
युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम् ।
युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतं युवं सुषुतिं चक्रथुः पुरंधये ७
युवं विप्रस्य जरणामुपेयुषः पुनः कलेरकृणुतं युवद्वयः ।
युवं वन्दनमृश्यदादुदूपथुर्युवं सद्यो विश्पलामेतवे कृथः ८
युवं ह रेभं वृषणा गुहा हितमुदैरयतं ममृवांसमश्विना ।
युवमृबीसमुत तप्तमत्रय ओमन्वन्तं चक्रथुः सप्तवध्रये ९
युवं श्वेतं पेदवेऽश्विनाश्वं नवभिर्वाजैर्नवती च वाजिनम् ।
चर्कृत्यं ददथुर्द्रावयत्सखं भगं न नृभ्यो हव्यं मयोभुवम् १० [१६]

न तं राजानावदिते कुतश्चन नांहो अश्नोति दुरितं नकिर्भयम् ।
यमश्विना सुहवा रुद्रवर्तनी पुरोरथं कृणुथः पत्न्या सह ११
आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना ।
यस्य योगे दुहिता जायते दिव उभे अहनी सुदिने विवस्वतः १२
ता वर्तिर्यातं जयुषा वि पर्वतमपिन्वतं शयवे धेनुमश्विना ।
वृकस्य चिद्वर्तिकामन्तरास्याद्युवं शचीभिर्ग्रसितामभुञ्चतम् १३

ता मन्दसाना मनुषो दुरोण आ धत्तं रयिं सहवीरं वचस्यवे ।
कृतं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथेष्ठामप दुर्मतिं हतम्   १३
क्व स्विदद्य कतमास्वश्विना विक्षु दस्रा मादयेते शुभस्पती ।
क ईं नि येमे कतमस्य जग्मतु र्विप्रस्य वा यजमानस्य वा गृहम्   १४ [२०] (४२५)

(४१)

१ सुहस्त्यो घौषेय । अश्विनौ । जगती ।

समानमु त्यं पुरुहूतमुक्थ्यं रथं त्रिचक्रं सवना गनिग्मतम् ।
परिज्मानं विदथ्यं सुवृक्तिभि र्वयं व्युष्टा उषसो हवामहे   १
प्रातर्युजं नासत्याधि तिष्ठथः प्रातर्यावाणं मधुवाहनं रथम् ।
विशो येन गच्छथो यज्वरीर्नरा कीरेश्चिद्यज्ञं होतृमन्तमश्विना   २
अध्वर्युं वा मधुपाणिं सुहस्त्यं मग्निधं वा धृतदक्षं दमूनसम् ।
विप्रस्य वा यत् सवनानि गच्छथो ऽत आ यातं मधुपेयमश्विना   ३ [२१] (४२८)

(४२)

११ कृष्ण आङ्गिरस । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन् भूषन्निव प्र भरा स्तोममस्मै ।
वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यो नि रामय जरितः सोम इन्द्रम्   १
दोहेन गामुप शिक्षा सखायं प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम् ।
कोशं न पूर्णं वसुना न्यृष्ट मा च्यावय मघदेयाय शूरम्   २
किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि ।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः   ३
त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके ।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मा न्नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः   ४
धनं न स्पन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसुनोति प्रयस्वान् ।
तस्मै शत्रून्त्सुतुकान् प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान् युवति हन्ति वृत्रम्   ५ [२२]

यस्मिन् वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मघवा काममस्मे ।
आराच्चित् सन् भयतामस्य शत्रु र्न्यस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम्   ६ (४३४)

वृषा न क्रुद्धः पतयद्रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः ।
स सुन्वते मघवा जीरदानवे ऽविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते ८
उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत् ।
वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्वर्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः ९
गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम १०
बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ११ [२५] (४५०)

(४४)

११ कृष्ण आङ्गिरस । इन्द्रः । जगती, १-३, १०-११ त्रिष्टुप् ।

आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान् ।
प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन १
सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ ।
शीभं राजन् त्सुपथा याह्यर्वाङ् वर्धाम ते पपुषो वृष्ण्यानि २
एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुमुग्रमुग्रासस्तविषास एनम् ।
प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशुष्ममेमस्मत्रा सधमादो वहन्तु ३
एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्जः स्कम्भं धरुण आ वृषायसे ।
ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपानामिनो वृधे ४
गमन्नस्मे वसून्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिनः ।
त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा ५ [२६]

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयो ऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ६
एवैवापागपरे सन्तु दूढ्यो ऽश्वा येषां दुर्युज आयुयुज्रे ।
इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना ७
गिरीँरज्रान् रेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत् ।
समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति ८ (४५८)

आ तं भज सौश्रवसेष्वग्न उक्थउक्थ आ भज शस्यमाने ।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवा त्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वैः   १०
त्वामग्ने यजमाना अनु द्यून् विश्वा वसु दधिरे वार्याणि ।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः   ११
अस्ताव्यग्निर्नरां सुशेवो वैश्वानर ऋषिभिः सोमगोपाः ।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम्   १२ [२९] (४७३)

॥इति सप्तमोऽष्टकः ॥७॥

॥ अथाष्टमोऽष्टकः ॥८॥

[प्रथमोऽध्यायः ॥१॥ व० १-३०]   (४६)

१० वत्सप्रिर्भालन्दनः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

प्र होता जातो महान् नभोवि न्नृषद्वा सीदद्पामुपस्थे ।
दधिर्यो धायि स ते वयांसि यन्ता वसूनि विधते तनूपाः   १
इमं विधन्तो अपां सधस्थे पशुं न नष्टं पदैरनु ग्मन् ।
गुहा चतन्तमुशिजो नमोभि रिच्छन्तो धीरा भृगवोऽविन्दन्   २
इमं त्रितो भूर्यविन्ददिच्छन् वैभूवसो मूर्धन्यघ्न्यायाः ।
स शेवृधो जात आ हर्म्येषु नाभिर्युवा भवति रोचनस्य   ३
मन्द्रं होतारमुशिजो नमोभिः प्राञ्चं यज्ञं नेतारमध्वराणाम् ।
विशामकृण्वन्नरतिं पावकं हव्यवाहं दधतो मानुषेषु   ४
प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरा अमूरं पुरां दर्माणम् ।
नयन्तो गर्भं वनां धियं धु र्हिरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम्   ५ [१]
नि पस्त्यासु त्रितः स्तभूयन् परिवीतो योनौ सीददन्तः ।
अतः संगृभ्या विशां दमूना विधर्मणायन्त्रैरीयते नॄन्   ६
अस्याजरासो दमामरित्रा अर्चद्धूमासो अग्नयः पावकाः ।
श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः   ७
प्र जिह्वया भरते वेपो अग्निः प्र वयुनानि चेतसा पृथिव्याः ।
तमायवः शुचयन्तं पावकं मन्द्रं होतारं दधिरे यजिष्ठम्   ८
द्यावा यमग्निं पृथिवी जनिष्टा मापस्त्वष्टा भृगवो यं सहोभिः ।
ईळेन्यं प्रथमं मातरिश्वा देवास्ततक्षुर्मनवे यजत्रम्   ९
यं त्वा देवा दधिरे हव्यवाहं पुरुस्पृहो मानुषासो यजत्रम् ।
स यामन्नग्ने स्तुवते वयो धाः प्र देवयन् यशसः सं हि पूर्वीः   १० [२] (४८३)

आ तं भज सौश्रवसेष्वग्न उक्थउक्थ आ भज शस्यमाने ।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वैः ॥ १०

त्वामग्ने यजमाना अनु द्यून्विश्वा वसु दधिरे वार्याणि ।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥ ११

अस्ताव्यग्निर्नरां सुशेवो वैश्वानर ऋषिभिः सोमगोपाः ।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम् ॥ १२ [२९] (४७१)

इति सप्तमोऽष्टकः ।७।

॥ अथाष्टमोऽष्टकः ॥८॥

[प्रथमोऽध्यायः । व० १-३०]

(४६)

१० वत्सप्रिर्भालन्दनः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्वा सीददपामुपस्थे ।
दधिर्यो धायि स ते वयांसि यन्ता वसूनि विधते तनूपाः ॥ १

इमं विधन्तो अपां सधस्थे पशुं न नष्टं पदैरनु ग्मन् ।
गुहा चतन्तमुशिजो नमोभिरिच्छन्तो धीरा भृगवोऽविन्दन् ॥ २

इमं त्रितो भूर्यविन्ददिच्छन्वैभूवसो मूर्धन्यघ्न्यायाः ।
स शेवृधो जात आ हर्म्येषु नाभिर्युवा भवति रोचनस्य ॥ ३

मन्द्रं होतारमुशिजो नमोभिः प्राञ्चं यज्ञं नेतारमध्वराणाम् ।
विशामकृण्वन्नरतिं पावकं हव्यवाहं दधतो मानुषेषु ॥ ४

प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरा अमूरं पुरां दर्माणम् ।
नयन्तो गर्भं वनां धियं धुर्हिरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम् ॥ ५ [१]

नि पस्त्यासु त्रितः स्तभूयन्परिवीतो योनौ सीददन्तः ।
अतः संगृभ्या विशां दमूना विधर्मणायन्त्रैरीयते नॄन् ॥ ६

अस्याजरासो दमामरित्रा अर्चद्धूमासो अग्नयः पावकाः ।
श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः ॥ ७

प्र जिह्वया भरते वेपो अग्निः प्र वयुनानि चेतसा पृथिव्याः ।
तमायवः शुचयन्तं पावकं मन्द्रं होतारं दधिरे यजिष्ठम् ॥ ८

द्यावा यमग्निं पृथिवी जनिष्टामापस्त्वष्टा भृगवो यं सहोभिः ।
ईळेन्यं प्रथमं मातरिश्वा देवास्ततक्षुर्मनवे यजत्रम् ॥ ९

यं त्वा देवा दधिरे हव्यवाहं पुरुस्पृहो मानुषासो यजत्रम् ।
स यामन्नग्ने स्तुवते वयो धाः प्र देवयन्यशसः सं हि पूर्वीः ॥ १० [२] (४८१)

अहमेत गव्ययमश्व्यं पशुं पुरीषिणं सायकेना हिरण्ययम् ।
पुरू सहस्रा नि शिशामि दाशुषे यन्मा सोमास उक्थिनो अमन्दिषुः ४

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ५ [५]

अहमेताञ्छाश्वसतो द्वाद्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत ।
आह्वयमानाँ अव हन्मनाहनं दृळ्हा वदन्ननमस्युर्नमस्विनः ६

अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति ।
खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ७

अहं गुङ्गुभ्यो अतिथिग्वमिष्करमिषं न वृत्रतुरं विक्षु धारयम् ।
यत्पर्णयघ्न उत वा करञ्जहे प्राहं महे वृत्रहत्ये अशुश्रवि ८

प्र मे नमी साप्य इषे भुजे भूद्गवामेषे सख्या कृणुत द्विता ।
दिद्युं यदस्य समिथेषु मंहयमादिदेनं शंस्यमुक्थ्यं करम् ९

प्र नेमस्मिन्ददृशे सोमो अन्तर्गोपा नेममाविरस्था कृणोति ।
स तिग्मशृङ्गं वृषभं युयुत्सन्द्रुहस्तस्थौ बहुले बद्धो अन्तः १०

आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम ।
ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळ्हम् ११ [६] (५०२)

(४९)

११ वैकुण्ठ इन्द्रः । इन्द्रः । जगती २, ११ त्रिष्टुप् ।

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम् ।
अहं भुवं यजमानस्य चोदिताऽयज्वनः साक्षि विश्वस्मिन्भरे १

मां धुरिन्द्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः ।
अहं हरी वृषणा विव्रता रघू अहं वज्रं शवसे धृष्ण्वा ददे २

अहमत्कं कवये शिश्नथं हथैरहं कुत्समावमाभिरूतिभिः ।
अहं शुष्णस्य श्नथिता वधर्यमं न यो रर आर्यं नाम दस्यवे ३

अहं पितेव वेतसूँरभिष्टये तुग्रं कुत्साय स्मदिभं च रन्धयम् ।
अहं भुवं यजमानस्य राजनि प्र यद्भरे तुजये न प्रियाधृषे ४ (५०६)

एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे ।
वराय ते पात्रं धर्मणे तना यज्ञो मन्त्रो ब्रह्मोद्यतं वचः ६

ये ते विप्र ब्रह्मकृतः सुते सचा वसूनां च वसुनश्च दावने ।
प्र ते सुम्नस्य मनसा पथा भुवन् मदे सुतस्य सोम्यस्यान्धसः ७ [९] (५२०)

(५१)

(९) १, ३, ५, ७, ९ देवाः, २ ४, ६, ८ सौचीकोऽग्निः । १, ४, ६, ८ देवा,
१ ३, ५, ७, ९ अग्नि । त्रिष्टुप् ।

महत् तदुल्बं स्थविरं तदासीद्येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः ।
विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः १

को मा ददर्श कतमः स देवो यो मे तन्वो बहुधा पर्यपश्यत् ।
क्वाह मित्रावरुणा क्षियन्त्यग्नेर्विश्वाः समिधो देवयानीः २

ऐच्छाम त्वा बहुधा जातवेदः प्रविष्टमग्ने अप्स्वोषधीषु ।
तं त्वा यमो अचिकेच्चित्रभानो दशान्तरुष्यादतिरोचमानम् ३

होत्रादहं वरुण बिभ्यदायं नेदेव मा युनजन्नत्र देवाः ।
तस्य मे तन्वो बहुधा निविष्टा एतमर्थं न चिकेताहमग्निः ४

एहि मनुर्देवयुर्यज्ञकामोऽरंकृत्या तमसि क्षेष्यग्ने ।
सुगान् पथः कृणुहि देवयानान् वह हव्यानि सुमनस्यमानः ५ [१०]

अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानमन्वावरीवुः ।
तस्माद्भिया वरुण दूरमायं गौरो न क्षेप्नोरविजे ज्यायाः ६

कुर्मस्त आयुरजरं यदग्ने यथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः ।
अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात ७

प्रयाजान् मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम् ।
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः ८

तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः ।
तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः ९ [११] (५२१)

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् ।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ६

अक्षानहो नह्यतनोत सोम्या इष्कृणुध्वं रशना ओत पिंशत ।
अष्टावन्धुरं वहताभितो रथं येन देवासो अनयन्नभि प्रियम् ७

अश्मन्वती रीयते सं रभध्व- मुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् । ८

त्वष्टा माया वेदपसामपस्तमो बिभ्रत् पात्रा देवपानानि शंतमा ।
शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चादेतशो ब्रह्मणस्पतिः ९

सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः १०

गर्भे योषामदधुर्वत्समास- न्यपीच्येन मनसोत जिह्वया ।
स विश्वाहा सुमना योग्या अभि सिषासनिर्वनते कार इज्जितिम् ११ [१४](५४६)

(५४)

१ बृहदुक्थो वामदेव्यः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

तां सु ते कीर्तिं मघवन् महित्वा यत् त्वा भीते रोदसी अह्वयेताम् ।
प्रावो देवाँ आतिरो दासमोजः प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र १

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु ।
मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहु- र्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से २

क उ नु ते महिमनः समस्या- स्मत् पूर्व ऋषयोऽन्तमापुः ।
यन्मातरं च पितरं च साक- मजनयथास्तन्वः स्वायाः ३

चत्वारि ते असुर्याणि नामा- दाभ्यानि महिषस्य सन्ति ।
त्वमङ्ग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवञ्चकर्थ ४

त्वं विश्वा दधिषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि ।
काममिन्मे मघवन् मा वि तारी- स्त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता ५

यो अदधाज्ज्योतिषि ज्योतिरन्त- र्यो असृजन्मधुना सं मधूनि ।
अध प्रियं शूषमिन्द्राय मन्म ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि ६ [१५](५५१)

सहोभिर्विश्वं परि चक्रमू रजः पूर्वा धामान्यमिता मिमानाः ।
तनूषु विश्वा भुवना नि येमिरे प्रासारयन्त पुरुध प्रजा अनु ५
द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा ।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्ववधुस्तन्तुमाततम् ६
नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा ।
स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वा ऽऽवरेष्वदधादा परेषु ७ [१८] (५६७)

(५७)

६ बन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुर्गौपायनाः । विश्वे देवाः । गायत्री ।

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः । मान्तः स्थुर्नो अरातयः १
यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः । तमाहुतं नशीमहि २
मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन । पितॄणां च मन्मभिः ३
आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे । ज्योक् च सूर्यं दृशे ४
पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः । जीवं व्रातं सचेमहि ५
वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः । प्रजावन्तः सचेमहि ६ [१९] (५७३)

(५८)

१२ बन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुर्गौपायनाः । मन आवर्तनम् । अनुष्टुप् ।

यत् ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् । तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे १
यत् ते दिवं यत् पृथिवीं मनो जगाम दूरकम् । तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे २
यत् ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम् । तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ३
यत् ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् । तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ४
यत् ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम् । तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ५
यत् ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम् । तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ६ [२०]
यत् ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम् । तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ७
यत् ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम् । तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ८
यत् ते पर्वतान् बृहतो मनो जगाम दूरकम् । तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ९
यत् ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम् । तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे १०
यत् ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम् । तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ११
यत् ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् । तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे १२
[२१] (५८५)

यो जनान् महिषाँ इवा॑ऽतितस्थौ पवीरवान् । उतापवीरवान् युधा ३
यस्येक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान् मराय्येधते । दिवीव पञ्च कृष्टयः ४
इन्द्र क्षत्रासमातिषु रथप्रोष्ठेषु धारय । दिवीव सूर्यं दृशे ५
अगस्त्यस्य नद्भ्यः सप्ती युनक्षि रोहिता ।
पणीन् न्यक्रमीरभि विश्वान् राजन्नराधसः ६ [२४]

अयं माताऽयं पिता ऽयं जीवातुरागमत् । इदं तव प्रसर्पणं सुबन्धवेहि निरिहि ७
यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम् ।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवे ऽथो अरिष्टतातये ८
यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् ।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवे ऽथो अरिष्टतातये ९
यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम् । जीवातवे न मृत्यवे ऽथो अरिष्टतातये १०
न्य१ग्वातोऽव वाति न्यक् तपति सूर्यः । नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग्भवतु ते रपः ११
अयं मे हस्तो भगवा॑नयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजो ऽयं शिवाभिमर्शनः १२
[२५] (६०७)

(६१) [पञ्चमोऽनुवाकः ॥५॥ सू० ६१-६८]

२७ नाभानेदिष्ठो मानवः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् ।

इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा ब्रह्म क्रत्वा शच्यामन्तराजौ ।
क्राणा यदस्य पितरा मंहनेष्ठाः पर्षत् पक्थे अहन्ना सप्त होतॄन् १
स इद्दानाय दभ्याय वन्वञ्च्यवानः सूदैरमिमीत वेदिम् ।
तूर्वयाणो गूर्तवचस्तमः क्षोदो न रेत इतऊति सिञ्चत् २
मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता ।
आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्या॑ऽश्रीणीतादिशं गभस्तौ ३
कृष्णा यद्गोष्वरुणीषु सीदद् दिवो नपाताश्विना हुवे वाम् ।
वीतं मे यज्ञमा गतं मे अन्नं ववन्वांसा नेषमस्मृतध्रू ४
प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णदनुष्ठितं नु नर्यो अपौहत् ।
पुनस्तदा वृहति यत् कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा ५ [२६]

मध्या यत् कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम् ।
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ ६

अधा गाव उपमातिं कनाया अनु श्वान्तस्य कस्य चित् परेयुः ।
श्रुधि त्वं सुद्रविणो नस्त्वं याळाश्वघ्नस्य वावृधे सूनृताभिः २१
अध त्वमिन्द्र विद्ध्यस्मान् महो राये नृपते वज्रबाहुः ।
रक्षा च नो मघोनः पाहि सूरीननेहसस्ते हरिवो अभिष्टौ २२
अध यद्राजाना गविष्टौ सरत् सरण्युः कारवे जरण्युः ।
विप्रः प्रेष्ठः स ह्येषां बभूव परा च वक्षदुत पर्षदेनान् २३
अधा न्वस्य जेन्यस्य पुष्टौ वृथा रेभन्त ईमहे तदू नु ।
सरण्युरस्य सूनुरश्वो विप्रश्चासि श्रवसश्च सातौ २४
युवोर्यदि सख्यायास्मे शर्धाय स्तोमं जुजुषे नमस्वान् ।
विश्वत्र यस्मिन्ना गिरः समीचीः पूर्वीव गातुर्दाशत् सूनृतायै २५
स गृणानो अद्भिर्देववानिति सुबन्धुर्नमसा सूक्तैः ।
वर्धदुक्थैर्वचोभिरा हि नूनं व्यध्वैति पयस उस्रियायाः २६
त ऊ षु णो महो यजत्रा भूत देवास ऊतये सजोषाः ।
ये वाजाँ अनयता वियन्तो ये स्था निचेतारो अमूराः २७ [२०] (६३४)

[द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ व० १-२४] (६२)

११ नाभानेदिष्ठो मानवः । विश्वे देवाः, १-६ अङ्गिरसो वा, ८-११ सावर्णेर्दानम् । जगती, ५, ८, ९ अनुष्टुप्, प्रगाथः= (३ बृहती, ७ सतोबृहती), १० गायत्री, ११ त्रिष्टुप् ।

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश ।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः १
य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम् ।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः २
य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि ।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ३
अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन ।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ४
विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः । ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ५ [१]

ये अग्नेः परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि ।
नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते ६ (६४०)

भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहे ऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् ।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ९
सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागस मस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये १० [४]

विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः ।
सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ११
अपामीवामप विश्वामनाहुति मपारातिं दुर्विदत्रामघायतः ।
आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनो रु णः शर्म यच्छता स्वस्तये १२
अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि ।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभि रति विश्वानि दुरिता स्वस्तये १३
यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसि मरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये १४
स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्य१प्सु वृजने स्वर्वति ।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन १५
स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति ।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा १६
एवा प्लतेः सूनुरवीवृधद्वो विश्व आदित्या अदिते मनीषी ।
ईशानासो नरो अमर्त्येना ऽस्तावि जनो दिव्यो गयेन १७ [५] (६६२)

(६४)

१७ गयः प्लातः । विश्वे देवाः । जगती १२, १६, १७ त्रिष्टुप् ।

कथा देवानां कतमस्य यामनि सुमन्तु नाम शृण्वतां मनामहे ।
को मृळाति कतमो नो मयस्करत् कतम ऊती अभ्या ववर्तति १
क्रतूयन्ति क्रतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्या दिशः ।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधि कामा अयंसत २
नरा वा शंसं पूषणमगोह्य मग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा ।
सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना ३ (६६५)

(६५)

१५ वसुकर्णो वासुक्र । विश्वे देवाः । जगती, १५ त्रिष्टुप् ।

अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा   वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः ।
आदित्या विष्णुर्मरुतः स्वर्बृहत्   सोमो रुद्रो अदितिर्ब्रह्मणस्पतिः   १
इन्द्राग्नी वृत्रहत्येषु सत्पती   मिथो हिन्वाना तन्वा३ समोकसा ।
अन्तरिक्षं मह्या पप्रुरोजसा   सोमो घृतश्रीर्महिमानमीरयन्   २
तेषां हि मह्ना महतामनर्वणां   स्तोमाँ इयर्म्यृतज्ञा ऋतावृधाम् ।
ये अप्सवमर्णवं चित्रराधस   स्ते नो रासन्तां महये सुमित्र्याः   ३
स्वर्णरमन्तरिक्षाणि रोचना   द्यावाभूमी पृथिवीं स्कम्भुरोजसा ।
पृक्षा इव महयन्तः सुरातयो   देवाः स्तवन्ते मनुषाय सूरयः   ४
मित्राय शिक्ष वरुणाय दाशुषे   या सम्राजा मनसा न प्रयुच्छतः ।
ययोर्धाम धर्मणा रोचते बृहद्   ययोरुभे रोदसी नाधसी वृतौ   ५ [९]

या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं   पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे   देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते   ६
दिवक्षसो अग्निजिह्वा ऋतावृध   ऋतस्य योनिं विमृशन्त आसते ।
द्यां स्कभित्व्य१प आ चक्रुरोजसा   यज्ञं जनित्वी तन्वी३ नि मामृजुः   ७
परिक्षिता पितरा पूर्वजावरी   ऋतस्य योना क्षयतः समोकसा ।
द्यावापृथिवी वरुणाय सव्रते   घृतवत् पयो महिषाय पिन्वतः   ८
पर्जन्यावाता वृषभा पुरीषिणे   न्द्रवायू वरुणो मित्रो अर्यमा ।
देवाँ आदित्याँ अदितिं हवामहे   ये पार्थिवासो दिव्यासो अप्सु ये   ९
त्वष्टारं वायुमृभवो य ओहते   दैव्या होतारा उषसं स्वस्तये ।
बृहस्पतिं वृत्रखादं सुमेधस   मिन्द्रियं सोमं धनसा उ ईमहे   १० [१०]

ब्रह्म गामश्वं जनयन्त ओषधी   र्वनस्पतीन् पृथिवीं पर्वताँ अपः ।
सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव   आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि   ११
भुज्युमंहसः पिपृथो निरश्विना   श्यावं पुत्रं वध्रिमत्या अजिन्वतम् ।
कमद्युवं विमदायोहथुर्युवं   विष्णाप्व१ं विश्वकायाव सृजथः   १२
पावीरवी तन्यतुरेकपादजो   दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः ।
विश्वे देवासः शृणवन् वचांसि मे   सरस्वती सह धीभिः पुरंध्या   १३   (६९२)

स॒मु॒द्रः सिन्धू॒ रजो॑ अ॒न्तरि॑क्ष॒—म॒ज एक॑पात् तन॒यि॒त्नुर॑र्ण॒वः ।
अहि॑र्बु॒ध्न्यः॒ शृणव॒द्वचां॑सि॒ मे॒ विश्वे॑ दे॒वास॑ उ॒त सू॒रयो॑ मम॑ ११
स्याम॑ वो॒ मन॑वो दे॒ववी॑तये॒ प्राञ्चं॑ नो य॒ज्ञं प्र ण॑यत साधु॒या ।
आदि॑त्या॒ रुद्रा॒ वस॑वः सु॒दा॑नव इ॒मा ब्रह्म॑ श॒स्यमा॑नानि जिन्वत १२
दैव्या॒ होता॑रा प्रथ॒मा पु॒रोहि॑त ऋ॒तस्य॒ पन्था॒मन्वे॑मि साधु॒या ।
क्षेत्र॑स्य॒ पतिं॒ प्रति॑वेशमीमहे॒ विश्वा॑न् दे॒वाँ अ॒मृता॒ँ अप्र॑युच्छत १३
वसि॑ष्ठास पितृ॒वद्वाच॑मक्रत दे॒वाँ ईळा॑ना ऋषि॒वत् स्व॒स्तये॑ ।
प्री॒ता इ॑व ज्ञा॒तयः॒ काम॒मेत्या॒—ऽस्मे दे॑वा॒सोऽव॑ धूनु॒ता वसु॑ १४
दे॒वान् वसि॑ष्ठो अ॒मृता॑न् ववन्दे॒ ये विश्वा॒ भुव॑ना॒भि प्र॑त॒स्थुः ।
ते नो॑ रासन्तामुरुगा॒यम॒द्य यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः १५[१४](७०१)

(६७)

१२ अयास्य आङ्गिरस । बृहस्पति । त्रिष्टुप् ।

इ॒मां धियं॑ स॒प्तशी॑र्ष्णीं पि॒ता न॑ ऋ॒तप्र॑जातां बृह॒तीम॑विन्दत् ।
तु॒रीयं॑ स्विज्जनयद्वि॒श्वज॑न्यो॒ ऽयास्य॑ उ॒क्थमिन्द्रा॑य॒ शंस॑न् १
ऋ॒तं शंस॑न्त ऋ॒जु दीध्या॑ना दि॒वस्पु॒त्रासो॒ असु॑रस्य वी॒राः ।
विप्रं॑ प॒दमङ्गि॑रसो॒ दधा॑ना य॒ज्ञस्य॒ धाम॑ प्रथ॒मं म॑नन्त २
हं॒सैरि॑व॒ सखि॑भि॒र्वाव॑दद्भि॒—रश्म॒न्मया॑नि॒ नह॑ना॒ व्यस्य॑न् ।
बृह॒स्पति॑रभि॒कनि॑क्रद॒द्गा उ॒त प्रास्तौ॒दुच्च॑ वि॒द्वाँ अ॑गायत् ३
अ॒वो द्वाभ्यां॑ प॒र एक॑या॒ गा गुहा॒ तिष्ठ॑न्ती॒रनृ॑तस्य॒ सेतौ॑ ।
बृह॒स्पति॒स्तम॑सि॒ ज्योति॑रि॒च्छ—न्नुदु॒स्रा आक॒र्वि हि ति॒स्र आवः॑ ४
वि॒भिद्या॒ पुरं॑ श॒यथे॒मपा॑चीं॒ निस्त्रीणि॑ सा॒कमु॑द॒धेर॑कृन्तत् ।
बृह॒स्पति॑रु॒षसं॒ सूर्यं॒ गा—म॒र्कं वि॑वेद स्त॒नय॑न्निव॒ द्यौः ५
इन्द्रो॑ व॒लं र॑क्षि॒तारं॒ दुघा॑नां क॒रेणे॑व॒ वि च॑कर्ता॒ रवे॑ण ।
स्वेदा॑ञ्जिभिरा॒शिर॑मि॒च्छमा॑नो ऽरो॑दयत् प॒णिमा गा अ॑मुष्णात् ६[१५]

स ईं॑ स॒त्येभिः॒ सखि॑भिः शु॒चद्भि॒—र्गोधा॑यसं॒ वि ध॑न॒सैर॑दर्दः ।
ब्रह्म॑ण॒स्पति॒र्वृष॑भि॒र्वरा॑है॒—र्घर्मस्वे॑दे॒भि॒र्द्रवि॑णं॒ व्या॑नट् ७
ते स॒त्येन॒ मन॑सा॒ गोप॑तिं॒ गा इ॑या॒नास॑ इषणयन्त धी॒भिः ।
बृह॒स्पति॑र्मि॒थोअ॑वद्यपेभि॒—रुदु॒स्रिया॑ असृजत स्व॒युग्भिः॑ ८ (७१७)

सोपामविन्दत् स स्वः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि ।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ९
हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः ।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात् सूर्यामासा मिथ उच्चरात १०
अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन् ।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः ११
इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति ।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात् १२ [१८] (७३१

(६९) [षष्ठोऽनुवाकः ॥६॥ सू० ६९-८४]

१२ सुमित्रो वाध्र्यश्वः । अग्निः । त्रिष्टुप् १-२ जगती ।

भद्रा अग्नेर्वध्र्यश्वस्य संदृशो वामी प्रणीतिः सुरणा उपेतयः ।
यदीं सुमित्रा विशो अग्र इन्धते घृतेनाहुतो जरते दविद्युतत् १
घृतमग्नेर्वध्र्यश्वस्य वर्धनं घृतमन्नं घृतम्वस्य मेदनम् ।
घृतेनाहुत उर्विया वि पप्रथे सूर्य इव रोचते सर्पिरासुतिः २
यत् ते मनुर्यदनीकं सुमित्रः समीधे अग्ने तदिदं नवीयः ।
स रेवच्छोच स गिरो जुषस्व स वाजं दर्षि स इह श्रवो धाः ३
यं त्वा पूर्वमीळितो वध्र्यश्वः समीधे अग्ने स इदं जुषस्व ।
स नः स्तिपा उत भवा तनूपा दात्रं रक्षस्व यदिदं ते अस्मे ४
भवा द्युम्नी वाध्र्यश्वोत गोपा मा त्वा तारीदभिमातिर्जनानाम् ।
शूर इव धृष्णुश्च्यवनः सुमित्रः प्र नु वोचं वाध्र्यश्वस्य नाम ५
समज्र्या पर्वत्या३ वसूनि दासा वृत्राण्यार्या जिगेथ ।
शूर इव धृष्णुश्च्यवनो जनानां त्वमग्ने पृतनायूँरभि ष्याः ६ [१९]

दीर्घतन्तुर्बृहदुक्षायमग्निः सहस्रस्तरीः शतनीथ ऋभ्वा ।
द्युमान् द्युमत्सु नृभिर्मृज्यमानः सुमित्रेषु दीदयो देवयत्सु ७
त्वे धेनुः सुदुघा जातवेदो ऽसश्चतेव समना सबर्धुक् ।
त्वं नृभिर्दक्षिणावद्भिरग्ने सुमित्रेभिरिध्यसे देवयद्भिः ८
देवाश्चित् ते अमृता जातवेदो महिमानं वाध्र्यश्व प्र वोचन् ।
यत् संपृच्छं मानुषीर्विश आयन् त्वं नृभिरजयस्त्वावृधेभिः ९ (७४०)

वनस्पते रशनया नियूया देवानां पाथ उप वक्षि विद्वान् ।
स्वदाति देवः कृणवद्धवींष्यवतां द्यावापृथिवी हवं मे ॥ १० ॥
आग्ने वह वरुणमिष्टये न इन्द्रं दिवो मरुतो अन्तरिक्षात् ।
सीदन्तु बर्हिर्विश्व आ यजत्राः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ॥ ११ [२२] (७५६)

(७१)

११ बृहस्पतिराङ्गिरसः। ज्ञानम्। त्रिष्टुप्, ९ जगती।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ १ ॥
सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ २ ॥
यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥ ३ ॥
उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ४ ॥
उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ५ [२३]

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥ ६ ॥
अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ ७ ॥
हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥ ८ ॥
इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥ ९ ॥
सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः ।
किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥ १० ॥
ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥ ११ [२४] (७६७)

सुमना तूर्णिरुपं यासि युज्ञ–मा नासत्या सुख्याय वक्षि ।
वुसाव्यामिन्द्र धारयः सुहस्रा ऽश्विना शूर ददतुर्मुघानि　　४
मन्दमान ऋतादधि प्रजायै सखिभिरिन्द्र इषिरेभिरर्थम् ।
आभिर्हि माया उप दस्युमागा न्मिहः प्र तुम्रा अवपुत् तमांसि　　५　[३]

सनामाना चिद्ध्वसयो न्यस्मा अवाहुन्निन्द्र उषसो यथानः ।
ऋष्वैरगच्छः सखिभिर्निकामैः साकं प्रतिष्ठा हृद्या जघन्थ　　६
त्वं जघन्थ नमुचिं मखस्युं दासं कृण्वान ऋषये विमायम् ।
त्वं चकर्थ मनवे स्योनान् पथो देवत्राञ्जसेव यानान्　　७
त्वमेतानि पप्रिषे वि नामे–शान इन्द्र दधिषे गभस्तौ ।
अनु त्वा देवाः शवसा मद–न्त्युपरिबुध्नान् वनिनश्चकर्थ　　८
चक्रं यदस्याप्स्वा निषत्त–मुतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात् ।
पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोष्वदधा ओषधीषु　　९
अश्वादियायेति यद्वद–न्त्योजसो जातमुत मन्य एनम् ।
मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद　　१०
वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षु–र्मुमुग्ध्य१स्मान् निधयेव बद्धान्　　११　[४]　(७८०)

(७४)

६ गौरिवीतिः शाक्त्यः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

वसूनां वा चर्कृष इयक्षन् धिया वा यज्ञैर्वा रोदस्योः ।
अर्वन्तो वा ये रयिमन्तः सातौ वनुं वा ये सुश्रुणं सुश्रुतो धुः　　१
हव एषामसुरो नक्षत द्यां श्रवस्यता मनसा निंसत क्षाम् ।
चक्षाणा यत्र सुविताय देवा द्यौर्न वारेभिः कृणवन्त स्वैः　　२
इयमेषाममृतानां गीः सर्वताता ये कृपणन्त रत्नम् ।
धियं च यज्ञं च साधन्त–स्ते नो धान्तु वसव्य१मसामि　　३
आ तत् त इन्द्रायवः पनन्ता–ऽभि य ऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान् ।
सकृत्स्व१ं ये पुरुपुत्रां महीं सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन्　　४　(७८४)

(७६)

८ सर्प ऐरावतो जरत्कर्णः । ग्रावाण । जगती ।

आ वं ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिष्विन्द्रं मुरुतो रोदसी अनक्तन ।
उुभे यथा नो अहनी सचाभुवा सदं:सदो वरिवस्यातं उद्भिदां १
तदु श्रेष्ठुं सवनं सुनोतुनाऽत्यो न हस्तयतो अद्रिः सोतरिं ।
विदद्ध्यर्यो अभिभूंति पौंस्यं मुहो राये चित् तरुते यदर्वत २
तदिद्ध्यस्य सवनं विवेरुपो यथां पुरा मनवे गातुमश्रेत् ।
गोअर्णसि त्वाष्ट्रे अश्वनिर्णिजि प्रेमध्वरेष्वध्वराँ अंशिश्रयु ३
अपं हत रक्षसों भङ्गुरावतः स्कभायत निर्ऋतिं सेधतामंतिम् ।
आ नों रयिं सर्ववीरं सुनोतन देवाव्यं भरत श्लोकंमद्रय ४
दिवश्चिदा वोऽमवत्तरेभ्यो विभ्वनां चिदाश्वपस्तरेभ्य: ।
वायोश्चिदा सोमरभस्तरेभ्यो ऽग्नेश्चिदर्च पितुकृत्तरेभ्य ५ [८]

भुरन्तु नो युशस: सोत्वन्धसो ग्रावाणो वाचा दिविता दिवित्मंता ।
नरो यत्र दुहते काम्यं मध्वाघोषयन्तो अभितो मिथस्तुरं ६
सुन्वन्ति सोमं रथिरासो अद्रयो निरस्य रसं गविषों दुहन्ति ते ।
दुहन्त्यूधरुपसेचनाय कं नरों हव्या न मर्जयन्त आसभिं ७
एते नरः स्वपसो अभूतन य इन्द्राय सुनुथ सोमंमद्रय ।
वामवाम वो दिव्याय धाम्ने वसुवसु व: पार्थिवाय सुन्वते ८ [९] (८१०)

(७७)

८ स्यूमरश्मिर्भार्गव । मरुत । त्रिष्टुप्, ५ जगती ।

अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषा वसुं हविष्मन्तो न युज्ञा विजानुष: ।
सुमारुतं न ब्रह्माणमर्हसे गणमस्तोष्येषां न शोभसे १
श्रिये मर्यासो अञ्जीँरकृण्वत सुमारुतं न पूर्वीरति क्षप: ।
दिवस्पुत्रास एता न येतिर आदित्यासस्ते अक्रा न वावृधु: २
प्र ये दिवः पृथिव्या न बर्हणा त्मना रिरिच्रे अभ्रान्न सूर्य: ।
पाजस्वन्तो न वीराः पनस्यवों रिशादसो न मर्या अभिद्यव: ३ (८१३)

(७६)

८ सर्प ऐरावतो जरत्कर्णः । ग्रावाण । जगती ।

आ व ऋञ्जस ऊर्जा व्युष्टिष्विन्द्रं मरुतो रोदसी अनक्तन ।
उभे यथा नो अहनी सचाभुवा सदःसदो वरिवस्यात उद्भिदा　　१
तदु श्रेष्ठ सवन सुनोतनात्यो न हस्तयतो अद्रिः सोतरि ।
विदद्ध्यर्यो अभिभूति पौस्य महो राये चित्तरुते यदर्वत　　२
तदिद्ध्यस्य सवन विवेरपो यथा पुरा मनवे गातुमश्रेत ।
गोअर्णसि त्वाष्ट्रे अश्वनिर्णिजि प्रेमध्वरेष्वध्वराँ अशिश्रयु　　३
अप हत रक्षसो भङ्गुरावत स्कभायत निर्ऋति सेधतामतिम् ।
आ नो रयि सर्ववीर सुनोतन देवाव्य भरत श्लोकमद्रय　　४
दिवश्चिदा वोऽमवत्तरेभ्यो विभ्वना चिदाश्वपस्तरेभ्य ।
वायोश्चिदा सोमरभस्तरेभ्यो ऽग्नेश्चिदर्च पितुकृत्तरेभ्य　　५ [८]

भुरन्तु नो यशस सोत्वन्धसो ग्रावाणो वाचा दिविता दिवित्मता ।
नरो यत्र दुहते काम्य मध्वाघोषयन्तो अभितो मिथस्तुर　　६
सुन्वन्ति सोम रथिरासो अद्रयो निरस्य रस गविषो दुहन्ति ते ।
दुहन्त्यूधरुपसेचनाय क नरो हव्या न मर्जयन्त आसभि　　७
एते नर स्वपसो अभूतन य इन्द्राय सुनुथ सोममद्रय ।
वामवाम वो दिव्याय धाम्ने वसुवसु व पार्थिवाय सुन्वते　　८ [९] (८१०)

(७७)

८ स्यूमरश्मिर्भार्गव । मरुत । त्रिष्टुप्, ५ जगती ।

अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषा वसु हविष्मन्तो न यज्ञा विजानुष ।
सुमारुत न ब्रह्माणमर्हसे गणमस्तोष्येषा न शोभसे　　१
श्रिये मर्यासो अञ्जीँरकृण्वत सुमारुत न पूर्वीरति क्षप ।
दिवस्पुत्रास एता न येतिर आदित्यासस्ते अक्रा न वावृधु　　२
प्र ये दिव पृथिव्या न बर्हणा त्मना रिरिच्रे अभ्रान्न सूर्य ।
पाजस्वन्तो न वीरा पनस्यवो रिशादसो न मर्या अभिद्यव　　३ (८१३)

(७९)

७ सौचीकोऽग्निर्वैश्वानरो वा, सप्तिर्वाजंभरो वा । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

अपश्यमस्य महतो महित्व—ममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु ।
नाना हनू विभृते सं भरेते असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः १
गुहा शिरो निहितमृधगक्षी असिन्वन्नत्ति जिह्वया वनानि ।
अत्राण्यस्मै पड्भिः सं भर—न्त्युत्तानहस्ता नमसाधि विक्षु २
प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः ।
ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः ३
तद्वामृतं रोदसी प्र ब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति ।
नाहं देवस्य मर्त्यश्चिकेता—ऽग्निरङ्ग विचेताः स प्रचेताः ४
यो अस्मा अन्नं तृष्वाऽदधा—त्याज्यैर्घृतैर्जुहोति पुष्यति ।
तस्मै सहस्रमक्षभिर्वि चक्षे ऽग्ने विश्वतः प्रत्यङ्ङसि त्वम् ५
किं देवेषु त्यज एनश्चकर्था—ऽग्ने पृच्छामि नु त्वामविद्वान् ।
अक्रीळन्क्रीळन्हरिरत्तवेऽदन् वि पर्वशश्चकर्त गामिवासिः ६
विषूचो अश्वान्युयुजे वनेजा ऋजीतिभी रशनाभिर्गृभीतान् ।
चक्षदे मित्रो वसुभिः सुजातः समानृधे पर्वभिर्वावृधानः ७ [१४] (८३३)

(८०)

७ सौचीकोऽग्निः वैश्वानरो वा, सप्तिर्वाजंभरो वा । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

अग्निः सप्तिं वाजंभरं ददा—त्यग्निर्वीरं श्रुत्यं कर्मनिष्ठाम् ।
अग्नी रोदसी वि चरत्समञ्ज—न्नग्निर्नारीं वीरकुक्षिं पुरंधिम् १
अग्नेरप्नसः समिदस्तु भद्रा ऽग्निर्मही रोदसी आ विवेश ।
अग्निरेकं चोदयत्समत्स्व—ग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि २
अग्निर्ह त्यं जरतः कर्णमावा—ऽग्निरद्भ्यो निरदहज्जरूथम् ।
अग्निरत्रिं घर्म उरुष्यदन्त—रग्निर्नृमेधं प्रजयासृजत्सम् ३
अग्निर्दाद्द्रविणं वीरपेशा अग्निरृषिं यः सहस्रा सनोति ।
अग्निर्दिवि हव्यमा ततान—ऽग्नेर्धामानि विभृता पुरुत्रा ४ (८३७)

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ३

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना ।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ४

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ५

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ६

न तं विदाथ य इमा जजाना॒ऽन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चा॒ऽसुतृप उक्थशासश्चरन्ति ७ [१७] (८५४)

(८३)

७ मन्युस्तापसः । मन्युः । त्रिष्टुप्, १ जगती ।

यस्ते मन्योऽविधद्वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक् ।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता १

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युं विश ईळते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः २

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ३

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहावा॒नस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ४

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळा॒हं स्वा तनूर्बलदेयाय मेहि ५

अयं ते अस्म्युप मेह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वधायः ।
मन्यो वज्रिन्नभि मामा ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ६

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा मे ऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्र॑मुभा उपांशु प्रथमा पिबाव ७ [१८] (८६१)

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ३

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना ।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ४

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ५

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ६

न तं विदाथ य इमा जजाना ऽन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चा ऽसुतृप उक्थशासश्चरन्ति ७ [१७] (८५४)

(८३)

७ मन्युस्तापसः । मन्युः । त्रिष्टुप्, २ जगती ।

यस्ते मन्योऽविधद्वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक् ।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता १

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युं विश ईळते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः २

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ३

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयम्भूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहावा नस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ४

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळा ऽहं स्वा तनूर्बलदेयाय मेहि ५

अयं ते अस्म्युप मेह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वधायः ।
मन्यो वज्रिन्नभि मामा ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ६

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा मे ऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्र मुभा उपांशु प्रथमा पिबाव ७ [१८] (८६१)

यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुन. ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समाना मास आकृति ५ [२०]

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी । सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् ६
चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् । द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ७
स्तोमा आसन् प्रतिधय' कुरीरं छन्द ओपश. ।
सूर्याया अश्विना वरा ऽग्निरासीत् पुरोगव ८
सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा । सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात् ९
मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदि । शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या गृहम् १० [२१]

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावित ।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचर ११
शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहत. । अनो मनस्मयं सूर्या ऽऽरोहत् प्रयती पतिम् १२
सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् । अघासु हन्यन्ते गावो ऽर्जुन्यो' पर्युह्यते १३
यदश्विना पृच्छमानावयात त्रिचक्रेण वहतु सूर्यायाः ।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन् पुत्र' पितराववृणीत पूषा १४
यदयात शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप । क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथु' १५ [२२]

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदु. । अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः १६
सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च । ये भूतस्य प्रचेतस इदं तेभ्योऽकरं नम' १७
पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुन' १८
नवोनवो भवति जायमानो ऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायु १९
सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व २० [२३]

उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येषा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीळे ।
अन्यामिच्छ पितृषदं व्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि २१
उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेळामहे त्वा ।
अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं सं जायां पत्या सृज २२

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्याऽ३ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ३७

तुभ्यमग्रे पर्यवहन् त्सूर्यां वहतुना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ३८

पुनः पत्नीमग्निरदा दायुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पति र्जीवाति शरदः शतम् ३९

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पति स्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ४० [२७]

सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददग्नये ।
रयिं च पुत्राँश्चादा दग्निर्मह्यमथो इमाम् ४१

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभि र्मोदमानौ स्वे गृहे ४२

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापति राजरसाय समनक्त्वर्यमा ।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ४३

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ४४

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ४५

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ४६

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ४७ [२८](९१५)

[चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥ व० १-३१] (८६)

(२३) इन्द्रः, ७, १३, २३ वैन्द्रो वृषाकपिः, २-६, ९-१०, १५-१८ इन्द्राणी । इन्द्र । पङ्क्तिः ।

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद्वृषाकपि रर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः १ (९१६)

न सेशे यस्य रम्बते ऽन्तरा सक्थ्या३ कपृत ।
सेदीशे यस्य रोमश निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः १६
न सेशे यस्य रोमश निषेदुषो विजृम्भते ।
सेदीशे यस्य रम्बते ऽन्तरा सक्थ्या३ कपृद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः १७
अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत् ।
असिं सूनां नवं चरु मादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः १८
अयमेमि विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम् ।
पिबामि पाकसुत्वनो ऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः १९
धन्व च यत् कृन्तत्रं च कति स्वित् ता वि योजना ।
नेदीयसो वृषाकपे ऽस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः २०
पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै ।
य एष स्वप्ननंशनो ऽस्तमेषि पथा पुन र्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः २१
यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन ।
क्व१ स्य पुल्वघो मृगः कमगञ्जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः २२
पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम् ।
भद्रं भल त्यस्या अभूद् यस्या उदरमामयद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः २३ [४] (९३८)

(८७)

२५ पायुर्भारद्वाजः । रक्षोहाग्निः । त्रिष्टुप्, २२-२५ अनुष्टुप् ।

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म ।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् १
अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधाना नुप स्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृक्त्व्यपि धत्स्वासन् २
उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रा हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च ।
उतान्तरिक्षे परि याहि राज ञ्जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ३
यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः ।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ध्येषाम् ४
अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम् ।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोतु वृक्णम् ५ [५] (९४३)

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तात् त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् ।
प्रति ते ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु २० [८]

पश्चात् पुरस्तादधरादुदक्तात् कविः काव्येन परि पाहि राजन् ।
सखे सखायमजरो जरिम्णे ऽग्ने मर्ताँ अमर्त्यस्त्वं नः २१
परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावताम् २२
विषेण भङ्गुरावतः प्रति ष्म रक्षसो दह ।
अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुरग्राभिर्ऋष्टिभिः २३
प्रत्यग्ने मिथुना दह यातुधाना किमीदिना ।
सं त्वा शिशामि जागृह्यदब्धं विप्र मन्मभिः २४
प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि विश्वतः प्रति ।
यातुधानस्य रक्षसो बलं वि रुज वीर्यम् २५ [९] (१६९)

(८८)

१९ आङ्गिरसो मूर्धन्वान् वामदेव्यो वा । सूर्य-वैश्वानरोऽग्निः । त्रिष्टुप् ।

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधया पप्रथन्त १
गीर्णं भुवनं तमसापगूळ्हमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ ।
तस्य देवाः पृथिवी द्यौरुतापो ऽरणयन्नोषधीः सख्ये अस्य २
देवेभिर्न्विषितो यज्ञियेभिरग्निं स्तोषाण्यजरं बृहन्तम् ।
यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम् ३
यो होतासीत् प्रथमो देवजुष्टो यं समाञ्जन्नाज्येना वृणानाः ।
स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः ४
यज्जातवेदो भुवनस्य मूर्धन्नतिष्ठो अग्ने सह रोचनेन ।
तं त्वाहेम मतिभिर्गीर्भिरुक्थैः स यज्ञियो अभवो रोदसिप्राः ५ [१०]

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् ।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत् तूर्णिश्चरति प्रजानन् ६
दृशेन्यो यो महिना समिद्धो ऽरोचत दिवियोनिर्विभावा ।
तस्मिन्नग्नौ सूक्तवाकेन देवा हविर्विश्व आजुहवुस्तनूपाः ७ (१७०)

स सूर्यः पर्युरू वरांस्ये—न्द्रो ववृत्याद्रथ्येव चक्रा ।
अतिष्ठन्तमपस्यं न सर्गं　कृष्णा तमांसि त्विष्या जघान　२
समानमस्मा अनपावृदर्च　क्ष्मया दिवो असमं ब्रह्म नव्यम् ।
वि यः पृष्ठेव जनिमान्यर्य　इन्द्रश्चिकाय न सखायमीषे　३
इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा　अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात् ।
यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभि—र्विष्वक् तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम्　४
आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा　धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी ।
सोमो विश्वान्यतसा वनानि　नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः　५　[१४]

न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व　नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः ।
यदस्य मन्युरधिनीयमानः　शृणाति वीळु रुजति स्थिराणि　६
जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव　रुरोज पुरो अरदन्न सिन्धून् ।
बिभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भ—मा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः　७
त्वं ह त्यदृणया इन्द्र धीरो　ऽसिर्न पर्व वृजिना शृणासि ।
प्र ये मित्रस्य वरुणस्य धाम　युजं न जना मिनन्ति मित्रम्　८
प्र ये मित्रं प्रार्यमणं दुरेवाः　प्र संगिरः प्र वरुणं मिनन्ति ।
न्यमित्रेषु वधमिन्द्र तुम्रं　वृषन् वृषाणमरुषं शिशीहि　९
इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या　इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम् ।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणा—मिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः　१०　[१५]

प्राक्तुभ्य इन्द्रः प्र वृधो अहभ्यः　प्रान्तरिक्षात् प्र समुद्रस्य धासेः ।
प्र वातस्य प्रथसः प्र ज्मो अन्तात्　प्र सिन्धुभ्यो रिरिचे प्र क्षितिभ्यः　११
प्र शोशुचत्या उषसो न केतु—रसिन्वा ते वर्ततामिन्द्र हेतिः ।
अश्मेव विध्य दिव आ सृजान—स्तपिष्ठेन हेषसा द्रोघमित्रान्　१२
अन्वह मासा अन्विद्वनान्य—न्वोषधीरनु पर्वतासः ।
अन्विन्द्रं रोदसी वावशाने　अन्वापो अजिहत जायमानम्　१३
कर्हि स्वित् सा त इन्द्र चेत्यास—दघस्य यद्भिनदो रक्ष एषत् ।
मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः　पृथिव्या आपृगमुया शयन्ते　१४
शत्रूयन्तो अभि ये नस्ततस्रे　महि व्राधन्त ओगणास इन्द्र ।
अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ता　सुज्योतिषो अक्तवस्ताँ अभि ष्युः　१५

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते　　११
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत　　१२
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत　　१३
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्　　१४
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्　　१५
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः　　१६ [१९] (१०१६)

(९१)

[अष्टमोऽनुवाकः ॥८॥ सू० ९१-९९]

१५ अरुणो वैतहव्यः । अग्निः । जगती, १५ त्रिष्टुप् ।

सं जागृवद्भिर्जरमाण इध्यते दमे दमूना इषयन्निळस्पदे ।
विश्वस्य होता हविषो वरेण्यो विभुर्विभावा सुषखा सखीयते　　१
स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे वनेवने शिश्रिये तक्ववीरिव ।
जनंजनं जन्यो नाति मन्यते विश आ क्षेति विश्यो३ विशंविशम्　　२
सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुरग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित् ।
वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इद् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः　　३
प्रजानन्नग्ने तव योनिमृत्वियमिळायास्पदे घृतवन्तमासदः ।
आ ते चिकित्र उषसामिवेतयोऽरेपसः सूर्यस्येव रश्मयः　　४
तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतश्चित्राश्चिकित्र उषसां न केतवः ।
यदोषधीरभिसृष्टो वनानि च परि स्वयं चिनुषे अन्नमास्ये　　५ [२०]

तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः ।
तमित् समानं वनिनश्च वीरुधोऽन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा　　६
वातोपधूत इषितो वशाँ अनु तृषु यदन्ना वेविषद्वितिष्ठसे ।
आ ते यतन्ते रथ्यो३ यथा पृथक् शर्धांस्यग्ने अजराणि धक्षतः　　७　　(१०२३)

क्राणा रुद्रा मरुतो विश्वकृष्टयो दिवः श्येनासो असुरस्य नीळयः ।
तेभिश्चष्टे वरुणो मित्रो अर्यमे न्द्रो देवेभिरर्वशेभिरर्वशः ६
इन्द्रे भुजं शशमानास आशत सूरो दृशीके वृषणश्च पौंस्ये ।
प्र ये न्वस्याहणा ततक्षिरे युजं वज्रं नृषदनेषु कारवः ७
सूरश्चिदा हरितो अस्य रीरम दिन्द्रादा कश्चिद्भयते तवीयसः ।
भीमस्य वृष्णो जठरादभिश्वसो दिवेदिवे सहुरिः स्तन्नबाधितः ८
स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन ।
येभिः शिवः स्ववाँ एवयावभि र्दिवः सिषक्ति स्वयशा निकामभिः ९
ते हि प्रजाया अभरन्त वि श्रवो बृहस्पतिर्वृषभः सोमजामयः ।
यज्ञैरथर्वा प्रथमो वि धारय द्देवा दक्षैर्भृगवः सं चिकित्रिरे १० [२४]

ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः ।
देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्र रोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे ११
उत स्य न उशिजामुर्विया कवि रहिः शृणोतु बुध्न्यो३ हवीमनि ।
सूर्यामासा विचरन्ता दिविक्षिता धिया शमीनहुषी अस्य बोधतम् १२
प्र नः पूषा चरथं विश्वदेव्यो ऽपां नपादवतु वायुरिष्टये ।
आत्मानं वस्यो अभि वातमर्चत तदश्विना सुहवा यामनि श्रुतम् १३
विशामासामभयानामधिक्षितं गीर्भिरु स्वयशसं गृणीमसि ।
ग्नाभिर्विश्वाभिरदितिमनर्वण मक्तोर्युवानं नृमणा अधा पतिम् १४
रेभदत्र जनुषा पूर्वो अङ्गिरा ग्रावाण ऊर्ध्वा अभि चक्षुरध्वरम् ।
येभिर्विहाया अभवद्विचक्षणः पाथः सुमेकं स्वधितिर्वनन्वति १५ [२५] (१०४९)

(९३)

१५ तान्वः पार्थ्यः । विश्वे देवाः । प्रस्तारपङ्क्तिः, २, ३, १३ अनुष्टुप्, ९ अक्षरैः पङ्क्तिः, ११ न्यङ्कुसारिणी, १५ पुरस्ताद्बृहती ।

महि द्यावापृथिवी भूतमुर्वी नारी यह्वी न रोदसी सदं नः ।
तेभिर्नः पातं सह्यस एभिर्नः पातं शूषणि १
यज्ञेयज्ञे स मर्त्यो देवान्त्सपर्यति । यः सुम्नैर्दीर्घश्रुत्तम आविवासात्येनान् २
विश्वेषामिरज्यवो देवानां वार्महः । विश्वे हि विश्वमहसो विश्वे यज्ञेषु यज्ञियाः ३ (१०५१)

एते वदन्ति शतवत् सहस्रव वृमि कन्दन्ति हरितेभिरासभिं ।
विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत २
एते वदन्त्यविदन्नना मधु न्यूङ्खयन्ते अधि पक्क आमिषि ।
वृक्षस्य शाखामरुणस्य बप्सत स्ते सूभर्वा वृषभाः प्रेमराविषु ३
बृहद्वदन्ति मदिरेण मन्दिने न्द्रं क्रोशन्तोऽविदन्नना मधु ।
सरम्या धीराः स्वसृभिरनर्तिषु राघोषयन्तः पृथिवीमुपब्दिभिः ४
सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्या खरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषु ।
न्यङ्नि यन्त्युपरस्य निष्कृतं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्वितः ५ [२९]

उग्रा इव प्रवहन्तः समायमुः साकं युक्ता वृषणो बिभ्रतो धुरः ।
यच्छ्वसन्तो जग्रसाना अराविषुः शृण्व एषां प्रोथथो अर्वतामिव ६
दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः ।
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः ७
ते अद्रयो दशयन्त्रास आशव स्तेषामाधानं पर्येति हर्यतम् ।
त ऊ सुतस्य सोम्यस्यान्धसो ऽशोः पीयूषं प्रथमस्य भेजिरे ८
ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निंसते ऽशुं दुहन्तो अध्यासते गवि ।
तेभिर्दुग्धं पपिवान् त्सोम्यं मध्वि न्द्रो वर्धते प्रथते वृषायते ९
वृषा वो अंशुर्न किला रिषाथने ळावन्तः सदमित् स्थनाशिताः ।
रैवत्येव महसा चारवः स्थन यस्य ग्रावाणो अजुषध्वमध्वरम् १० [३०]

तृदिला अतृदिलासो अद्रयो ऽश्रमणा अशृथिता अमृत्यवः ।
अनातुरा अजराः स्थामविष्णवः सुपीवसो अतृषिता अतृष्णजः ११
ध्रुवा एव वः पितरो युगेयुगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते ।
अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः १२
तदिद्वदन्त्यद्रयो विमोचने यामन्नञ्जस्पा इव घेदुपब्दिभिः ।
वपन्तो बीजमिव धान्याकृतः पृञ्चन्ति सोमं न मिनन्ति बप्सतः १३
सुते अध्वरे अधि वाचमक्रता ऽऽक्रीळयो न मातरं तुदन्तः ।
वि षू मुञ्चा सुषुवुषो मनीषां वि वर्तन्तामद्रयश्चायमानाः १४ [३१] (१०७५)

∽∾∽

प्रति ब्रवाणि वर्तयते अश्रु चक्रन् न क्रन्ददाध्ये शिवायै ।
प्र तत् ते हिनवा यत् ते अस्मे परेह्यस्तं नहि मूर मापः १३
सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः १४
पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन् ।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता १५ [३]

यद्विरूपाचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्रः ।
घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नां तादेवेदं तातृपाणा चरामि १६
अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः ।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे १७
इति त्वा देवा इम आहुरैळ यथेमेतद्भवसि मृत्युबन्धुः ।
प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे १८ [४] (१०९३)

(९६)

१-१३ बरुराङ्गिरसः सर्वहरिर्वा ऐन्द्रः । हरिः । जगती, १२-१३ त्रिष्टुप् ।

प्र ते महे विदथे शंसिषं हरी प्र ते वन्वे वनुषो हर्यतं मदम् ।
घृतं न यो हरिभिश्चारु सेचत आ त्वा विशन्तु हरिवर्पसं गिरः १
हरिं हि योनिमभि ये समस्वरन् हिन्वन्तो हरी दिव्यं यथा सदः ।
आ यं पृणन्ति हरिभिर्न धेनव इन्द्राय शूषं हरिवन्तमर्चत २
सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरा गभस्त्योः ।
द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे ३
दिवि न केतुरधि धायि हर्यतो विव्यचद्वज्रो हरितो न रंह्या ।
तुददहिं हरिशिप्रो य आयसः सहस्रशोका अभवद्धरिम्भरः ४
त्वंत्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः ।
त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्यमसामि राधो हरिजात हर्यतम् ५ [५]

ता वज्रिणं मन्दिनं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी ।
पुरूण्यस्मै सवनानि हर्यत इन्द्राय सोमा हरयो दधन्विरे ६
अरं कामाय हरयो दधन्विरे स्थिराय हिन्वन् हरयो हरी तुरा ।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्जोषमीयते सो अस्य कामं हरिवन्तमानशे ७ (११००)

अश्वावतीं सोमावती॑मूर्जयन्तीमुदोजसम्। आवित्सि सर्वा ओषधी॑रस्मा अरिष्टतातये ७
उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते। धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष ८
इष्कृतिर्नाम वो माता ऽथो यूयं स्थ निष्कृतीः।
सीराः पतत्रिणीः स्थन यदामयति निष्कृथ ९
अति विश्वाः परिष्ठा स्तेन इव व्रजमक्रमुः। ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत् किं च तन्वो३ रपः १०[९]

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे। आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ११
यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं वि बाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव १२
साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया १३
अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत।
ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः १४
याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः १५[१०]

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्बीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात् १६
अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि। यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः १७
या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। तासां त्वमस्युत्तमारं कामाय शं हृदे १८
या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु। बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्यम् १९
मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः। द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् २०
याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः। सर्वाः संगत्य वीरुधो ऽस्यै सं दत्त वीर्यम् २१
ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा। यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि २२
त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सो३ऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति २३[११](१२२९)

(९८)

१२ आर्ष्टिषेणो देवापिः (वृष्टिकामः)। देवाः। त्रिष्टुप्।

बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा।
आदित्यैर्वा यद्वसुभिर्मरुत्वान् त्स पर्जन्यं शंतनवे वृषाय १ (१२३०)

स वाजं यातापदुष्पदा यन् त्स्वर्षाता परि षदत् सनिष्यन् ।
अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत् ३

स यह्व्योऽवनीर्गोष्वर्वा ऽऽजुहोति प्रधन्यासु सस्त्रिः ।
अपादो यत्र युज्यासोऽरथा द्रोण्यश्वास ईरते घृतं वाः ४

स रुद्रेभिरशस्तवार ऋभ्वा हित्वी गयमारेअवद्य आगात् ।
वम्रस्य मन्ये मिथुना विवव्री अन्नमभीत्यारोदयन्मुषायन् ५

स इद्दासं तुवीरवं पतिर्दन् षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत् ।
अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयोअग्रया हन् ६ [१४]

स द्रुह्वणे मनुष ऊर्ध्वसान आ साविषदर्शसानाय शरुम् ।
स नृतमो नहुषोऽस्मत् सुजातः पुरोऽभिनदर्हन् दस्युहत्ये ७

सो अभ्रियो न यवस उदन्यन् क्षयाय गातुं विदन्नो अस्मे ।
उप यत् सीदादिन्दुं शरीरैः श्येनोऽयोपाष्टिर्हन्ति दस्यून् ८

स व्राधतः शवसानेभिरस्य कुत्साय शुष्णं कृपणे परादात् ।
अयं कविमनयच्छस्यमान मत्कं यो अस्य सनितोत नृणाम् ९

अयं दशस्यन् नर्येभिरस्य दस्मो देवेभिर्वरुणो न मायी ।
अयं कनीन ऋतुपा अवेद्यमिमीताररुं यश्चतुष्पात् १०

अस्य स्तोमेभिरौशिज ऋजिश्वा व्रजं दरयद्वृषभेण पिप्रोः ।
सुत्वा यद्यजतो दीदयद्गीः पुर इयानो अभि वर्पसा भूत् ११

एवा महो असुर वक्षथाय वम्रकः पड्भिरुप सर्पदिन्द्रम् ।
स इयानः करति स्वस्तिमस्मा इषमूर्जं सुक्षितिं विश्वमाभाः १२ [१५] (११५३)

(१००) [नवमोऽनुवाकः ॥९॥ सू० १००-११२]

१२ दुवस्युर्वान्दनः । विश्वे देवाः । जगती, १२ त्रिष्टुप् ।

इन्द्र दृह्य मघवन् त्वावदिद्भुज इह स्तुतः सुतपा बोधि नो वृधे ।
देवेभिर्नः सविता प्रावतु श्रुतमा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे १

भराय सु भरत भागमृत्वियं प्र वायवे शुचिपे क्रन्दिष्टये ।
गौरस्य यः पयसः पीतिमानश आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे २ (११५५)

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमेयात् ३

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नया ४

निराहावान् कृणोतन सं वरत्रा दधातन ।
सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम् ५

इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम् । उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम् ६ [१८]

प्रीणीताश्वान् हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित् कृणुध्वम् ।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्र मंसत्रकोश सिञ्चता नृपाणम् ७

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ८

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजता यज्ञियामिह ।
सा नो दुहीयद्यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः ९

आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः ।
परि ष्वजध्वं दश कक्ष्याभिरुभे धुरौ प्रति वह्निं युनक्त १०

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः ।
वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम् ११

कपृन्नरः कपृथमुद्दधातन चोदयत खुदत वाजसातये ।
निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये १२[१९](११७७)

(१०२)

१२ मुद्गलो भार्म्यश्वः । द्रुघण, इन्द्रो वा । त्रिष्टुप्, १, ३, १२ बृहती ।

प्र ते रथं मिथूकृतमिन्द्रोऽवतु धृष्णुया ।
अस्मिन्नाजौ पुरुहूत श्रवाय्ये धनभक्षेषु नोऽव १

उत स्म वातो वहति वासो अस्या अधिरथं यदजयत् सहस्रम् ।
रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना २

अन्तर्यच्छ जिघांसतो वज्रमिन्द्राभिदासतः ।
दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम् ३ (११८०)

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः ।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जय न्नस्माकमेध्यविता रथानाम् ४
बलविज्ञाय स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित् ५
गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ।
इमं सजाता अनु वीरयध्व मिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ६ [२२]

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानो ऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवनः पृतनाषाळयुध्यो ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ७
इन्द्र आसां नेता बृहस्पति र्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ८
इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम् ।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ९
उद्धर्षय मघवन्नायुधा न्युत् सत्वनां मामकानां मनांसि ।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिना न्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः १०
अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजे ष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भव न्त्वस्माँ उ देवा अवता हवेषु ११
अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकै रन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् १२
प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवो ऽनाधृष्या यथासथ १३ [२३] (११०२)

(१०४)

११ अष्टको वैश्वामित्रः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

असावि सोमः पुरुहूत तुभ्यं हरिभ्यां यज्ञमुप याहि तूयम् ।
तुभ्यं गिरो विप्रवीरा इयाना दधन्विर इन्द्र पिबा सुतस्य १
अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य जठरं पृणस्व ।
मिमिक्षुर्यमद्रय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वर्धस्व मदमुक्थवाहः २
प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम् ।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ३ (११०५)

(१०८)

११ पणयोऽसुराः । सरमा देवता । २, ४, ६, ८, १०-११ सरमा देवशुनी ऋषिका । पणयो देवता । त्रिष्टुप् ।

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः ।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत् कथं रसाया अतरः पयांसि ॥ १

इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन् वः ।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत् तथा रसाया अतरं पयांसि ॥ २

कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात् ।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामा ऽथा गवां गोपतिर्नो भवाति ॥ ३

नाहं तं वेद दभ्यं दभत् स यस्येदं दूतीरसरं पराकात् ।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे ॥ ४

इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान् सुभगे पतन्ती ।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्यु ताऽस्माकमायुधा सन्ति तिग्मा ॥ ५ [५]

असेन्या वः पणयो वचांस्य निषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः ।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात् ॥ ६

अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्न्यृष्टः ।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ ॥ ७

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः ।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोना मथैतद्वचः पणयो वमन्नित् ॥ ८

एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन ।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ॥ ९

नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्व मिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः ।
गोकामा मे अच्छदयन् यदाय मपात इत पणयो वरीयः ॥ १०

दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन ।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः ॥ ११ [६] (१२५७)

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ५ [८]

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ६

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै ।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ७

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु ८

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा ।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ९

उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन १०

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः ।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ११ [९] (१०७१)

(१११)

१० वैरूपोऽष्टादंष्ट्रः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

मनीषिणः प्र भरध्वं मनीषां यथायथा मतयः सन्ति नृणाम् ।
इन्द्रं सत्यैरेरयामा कृतेभिः स हि वीरो गिर्वणस्युर्विदानः १

ऋतस्य हि सदसो धीतिरद्यौत् सं गार्ष्टेयो वृषभो गोभिरानट् ।
उदतिष्ठत् तविषेणा रवेण महान्ति चित् सं विव्याचा रजांसि २

इन्द्रः किल श्रुत्या अस्य वेद स हि जिष्णुः पथिकृत् सूर्याय ।
आन्मेनां कृण्वन्नच्युतो भुवद्गोः पतिर्दिवः सनजा अप्रतीतः ३

इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य व्रतामिनादङ्गिरोभिर्गृणानः ।
पुरूणि चिन्नि तताना रजांसि दाधार यो धरुणं सत्यताता ४

इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्या विश्वा वेद सवना हन्ति शुष्णम् ।
महीं चिद् द्यामातनोत् सूर्येण चास्कम्भ चित् कम्भनेन स्कभीयान् ५ [१०]

वज्रेण हि वृत्रहा वृत्रमस्तरदेवस्य शूशुवानस्य मायाः ।
वि धृष्णो अत्र धृषता जघन्थाऽथाभवो मघवन् बाह्वोजाः ६ (१०८१)

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ९
अभिख्या नो मघवन् नाधमानान् त्सखे बोधि वसुपते सखीनाम् ।
रणं कृधि रणकृत् सत्यशुष्मा ऽभक्ते चिदा भजा राये अस्मान् १० [१३](१२९५)

(११३) [दशमोऽनुवाकः ॥१०॥ सू० ११३-१२८]

१० वैरूपः शतप्रभेदन । इन्द्रः । जगती, १० त्रिष्टुप् ।

तमस्य द्यावापृथिवी सचेतसा विश्वेभिर्देवैरनु शुष्ममावताम् ।
यदैत् कृण्वानो महिमानमिन्द्रियं पीत्वी सोमस्य क्रतुमाँ अवर्धत १
तमस्य विष्णुर्महिमानमोजसा ऽंशुं दधन्वान् मधुनो वि रप्शते ।
देवेभिरिन्द्रो मघवा सयावभि र्वृत्रं जघन्वाँ अभवद्वरेण्यः २
वृत्रेण यदहिना बिभ्रदायुधा समस्थिथा युधये शंसमाविदे ।
विश्वे ते अत्र मरुतः सह त्मना ऽवर्धन्नुग्र महिमानमिन्द्रियम् ३
जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभि पौंस्यं रणम् ।
अवृश्चदद्रिमव सस्यदः सृज दस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम् ४
आदिन्द्रः सत्रा तविषीरपत्यत वरीयो द्यावापृथिवी अबाधत ।
अवाभरद्धृषितो वज्रमायसं शेवं मित्राय वरुणाय दाशुषे ५ [१४]

इन्द्रस्यात्र तविषीभ्यो विरप्शिन ऋघायतो अरंहयन्त मन्यवे ।
वृत्रं यदुग्रो व्यवृश्चदोजसा ऽपो बिभ्रतं तमसा परीवृतम् ६
या वीर्याणि प्रथमानि कर्त्वा महित्वेभिर्यतमानौ समीयतुः ।
ध्वान्तं तमोऽव दध्वसे हत इन्द्रो मह्ना पूर्वहूतावपत्यत ७
विश्वे देवासो अध वृष्ण्यानि ते ऽवर्धयन्त्सोमवत्या वचस्यया ।
रद्धं वृत्रमहिमिन्द्रस्य हन्मना ऽग्निर्न जम्भैस्तृष्वन्नमावयत् ८
भूरि दक्षेभिर्वचनेभिर्ऋक्वभिः सख्येभिः सख्यानि प्र वोचत ।
इन्द्रो धुनिं च चुमुरिं च दम्भय ञ्छ्रद्धामनस्या शृणुते दभीतये ९
त्वं पुरूण्या भरा स्वश्व्या येभिर्मंसै निवचनानि शंसन् ।
सुगेभिर्विश्वा दुरिता तरेम विदो षु ण उर्विया गाधमद्य १० [१५](१३०५)

तं वो विं न द्रुषदं देवमन्धस इन्दुं प्रोथन्तं प्रवपन्तमर्णवम् ।
आसा वह्निं न शोचिषा विरप्शिनं महिव्रतं न सरजन्तमध्वनः ३

वि यस्य ते ज्रयसानस्याजर धक्षोर्न वाताः परि सन्त्यच्युताः ।
आ रण्वासो युयुधयो न सत्वनं त्रितं नशन्त प्र शिषन्त इष्टये ४

स इदग्निः कण्वतमः कण्वसखा ऽर्यः परस्यान्तरस्य तरुषः ।
अग्निः पातु गृणतो अग्निः सूरी नग्निर्ददातु तेषामवो नः ५ [१८]

वाजिन्तमाय सह्यसे सुपित्र्य तृषु च्यवानो अनु जातवेदसे ।
अनुद्रे चिद्यो धृषता वरं सते महिन्तमाय धन्वनेदविष्यते ६

एवाग्निर्मर्तैः सह सूरिभि र्वसुः ष्टवे सहसः सूनरो नृभिः ।
मित्रासो न ये सुधिता ऋतायवो द्यावो न द्युम्नैरभि सन्ति मानुषान् ७

ऊर्जो नपात् सहसावन्निति त्वो पस्तुतस्य वन्दते वृषा वाक् ।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ८

इति त्वाग्ने वृष्टिहव्यस्य पुत्रा उपस्तुतास ऋषयोऽवोचन् ।
तांश्च पाहि गृणतश्च सूरीन् वषड्वषळित्यूर्ध्वासो अनक्षन् नमो नम इत्यूर्ध्वासो अनक्षन् ९ [१९]

(११६) (१३०८)

९ स्थौरोऽग्नियुत स्थौरोऽग्नियूपो वा । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

पिबा सोमं महत इन्द्रियाय पिबा वृत्राय हन्तवे शविष्ठ ।
पिब राये शवसे हूयमानः पिब मध्वस्तृपदिन्द्रा वृषस्व १

अस्य पिब क्षुमतः प्रस्थितस्ये न्द्र सोमस्य वरमा सुतस्य ।
स्वस्तिदा मनसा मादयस्वा ऽर्वाचीनो रेवते सौभगाय २

ममत्तु त्वा दिव्यः सोम इन्द्र ममत्तु यः सूयते पार्थिवेषु ।
ममत्तु येन वरिवश्चकर्थ ममत्तु येन निरिणासि शत्रून् ३

आ द्विबर्हा अमिनो यात्विन्द्रो वृषा हरिभ्यां परिषिक्तमन्धः ।
गव्या सुतस्य प्रभृतस्य मध्वः सत्रा खेदामरुशहा वृषस्व ४

नि तिग्मानि भ्राशयन् भ्राश्या न्यव स्थिरा तनुहि यातुजूनाम् ।
उग्राय ते सहो बलं ददामि प्रतीत्या शत्रून् विगदेषु वृश्च ५ [२०] (१३११)

*

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः ९ [२३] (१३४२)

(११८)

९ उरुक्षय आमहीयवः । रक्षोहाऽग्निः । गायत्री ।

अग्ने हंसि न्यत्रिणं दीद्यन्मर्त्येष्वा । स्वे क्षये शुचिव्रत १
उत्तिष्ठसि स्वाहुतो घृतानि प्रति मोदसे । यत् त्वा स्रुचः समस्थिरन् २
स आहुतो वि रोचतेऽग्निरीळेन्यो गिरा । स्रुचा प्रतीकमज्यते ३
घृतेनाग्निः समज्यते मधुप्रतीक आहुतः । रोचमानो विभावसुः ४
जरमाणः समिध्यसे देवेभ्यो हव्यवाहन । तं त्वा हवन्त मर्त्याः ५ [२४]

तं मर्ता अमर्त्यं घृतेनाग्निं सपर्यत । अदाभ्यं गृहपतिम् ६
अदाभ्येन शोचिषाऽग्ने रक्षस्त्वं दह । गोपा ऋतस्य दीदिहि ७
स त्वमग्ने प्रतीकेन प्रत्योष यातुधान्यः । उरुक्षयेषु दीद्यत् ८
तं त्वा गीर्भिरुरुक्षया हव्यवाहं समीधिरे । यजिष्ठं मानुषे जने ९ [२५] (१३५१)

(११९)

१३ ऐन्द्रो लवः । आत्मा (इन्द्रः)। गायत्री ।

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति । कुवित् सोमस्यापामिति १
प्र वाता इव दोधत उन्मा पीता अयंसत । कुवित् सोमस्यापामिति २
उन्मा पीता अयंसत रथमश्वा इवाशवः । कुवित् सोमस्यापामिति ३
उप मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम् । कुवित् सोमस्यापामिति ४
अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम् । कुवित् सोमस्यापामिति ५
नहि मे अक्षिपच्चनाऽच्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः । कुवित् सोमस्यापामिति ६ [२६]

नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति । कुवित् सोमस्यापामिति ७
अभि द्यां महिना भुवमभीमां पृथिवीं महीम् । कुवित् सोमस्यापामिति ८
हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा । कुवित् सोमस्यापामिति ९
ओषमित् पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा । कुवित् सोमस्यापामिति १०
दिवि मे अन्यः पक्षोऽधो अन्यमचीकृपम् । कुवित् सोमस्यापामिति ११ (१३६२)

य॑: प्राण॒तो नि॑मिष॒तो म॑हि॒त्वैक॒ इद्राजा॒ जग॑तो ब॒भूव॑ ।
य ईशे॑ अ॒स्य द्वि॒पद॒श्चतु॑ष्पद॒: कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ३

यस्ये॒मे हि॒मव॑न्तो महि॒त्वा यस्य॑ समु॒द्रं र॒सया॑ स॒हाहु॒: ।
यस्ये॒माः प्र॒दिशो॒ यस्य॑ बा॒हू कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ४

येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ळ्हा येन॒ स्व॑: स्तभि॒तं येन॒ नाक॑: ।
यो अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मान॒: कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ५ [३]

यं क्रन्द॑सी॒ अव॑सा तस्तभा॒ने अ॒भ्यैक्षे॑तां॒ मन॑सा॒ रेज॑माने ।
यत्राधि॒ सूर॒ उदि॑तो वि॒भाति॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ६

आपो॑ ह॒ यद्बृ॑ह॒तीर्विश्व॒माय॒न्गर्भं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर॒ग्निम् ।
ततो॑ दे॒वानां॒ सम॑वर्त॒तासु॒रेक॒: कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ७

यश्चि॒दापो॑ महि॒ना प॒र्यप॑श्य॒द्दक्षं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर्य॒ज्ञम् ।
यो दे॒वेष्वधि॑ दे॒व एक॒ आसी॒त्कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ८

मा नो॑ हिंसीज्जनि॒ता यः पृ॑थि॒व्या यो वा॒ दिवं॑ स॒त्यध॑र्मा ज॒जान॑ ।
यश्चा॒पश्च॒न्द्रा बृ॑ह॒तीर्ज॒जान॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ९

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ जा॒तानि॒ परि॒ ता ब॑भूव ।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् १० [४] (१३८३)

(१२२)

८ चित्रमहा वासिष्ठः । अग्निः । जगती; १, ५ त्रिष्टुप् ।

वसुं॒ न चि॒त्रम॑हसं गृणीषे वा॒मं शे॒वमति॑थिमद्वि॒षेण्य॑म् ।
स रा॑सते शु॒रुधो॑ वि॒श्वधा॑यसो॒ऽग्निर्होता॑ गृ॒हप॑तिः सु॒वीर्य॑म् १

जु॒षा॒णो अ॑ग्ने॒ प्रति॑ हर्य मे॒ वचो॒ विश्वा॑नि वि॒द्वान्व॒युना॑नि सुक्रतो ।
घृत॑निर्णि॒ग्ब्रह्म॑णे गा॒तुमेर॑य॒ तव॑ दे॒वा अ॑जनय॒न्ननु॑ व्र॒तम् २

स॒प्त धामा॑नि परि॒यन्नम॑र्त्यो॒ दाश॑द्दा॒शुषे॑ सु॒कृते॑ मामहस्व ।
सु॒वीरे॑ण र॒यिणा॑ग्ने स्वा॒भुवा॒ यस्त॒ आन॑ट् स॒मिधा॒ तं जु॑षस्व ३

य॒ज्ञस्य॑ के॒तुं प्र॑थ॒मं पु॒रोहि॑तं ह॒विष्म॑न्त ईळते स॒प्त वा॒जिन॑म् ।
शृ॒ण्वन्त॑म॒ग्निं घृ॒तपृ॑ष्ठमु॒क्षणं॑ पृ॒णन्तं॑ दे॒वं पृ॑ण॒ते सु॒वीर्य॑म् ४ (१३८७)

(१२४)

१ अग्निः, २, ५-९ अग्नि-वरुण-सोमाः । १ अग्नि, २-८ अग्नेरात्मा; १, ७-८ वरुण; ६ सोमः ९ इन्द्र । त्रिष्टुप्, ७ जगती ।

इमं नो अग्न उप यज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम् ।
असो हव्यवाळुत नः पुरोगा ज्योगेव दीर्घं तम आशयिष्ठाः ॥ १
अदेवाद्देवः प्रचता गुहा यन् प्रपश्यमानो अमृतत्वमेमि ।
शिवं यत् सन्तमशिवो जहामि स्वात् सख्यादरणीं नाभिमेमि ॥ २
पश्यन्नन्यस्या अतिथिं वयाया ऋतस्य धाम वि मिमे पुरूणि ।
शंसामि पित्रे असुराय शेवमयज्ञियाद्यज्ञियं भागमेमि ॥ ३
बह्वीः समा अकरमन्तरस्मिन्निन्द्रं वृणानः पितरं जहामि ।
अग्निः सोमो वरुणस्ते च्यवन्ते पर्यावर्द्राष्ट्रं तदवाम्यायन् ॥ ४
निर्माया उ त्ये असुरा अभूवन् त्वं च मा वरुण कामयासे ।
ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन् मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि ॥ ५ [९]

इदं स्वरिदमिदास वाममयं प्रकाश उर्व१न्तरिक्षम् ।
हनाव वृत्रं निरेहि सोम हविष्ट्वा सन्तं हविषा यजाम ॥ ६
कविः कवित्वा दिवि रूपमासजदप्रभूती वरुणो निरपः सृजत् ।
क्षेमं कृण्वाना जनयो न सिन्धवस्ता अस्य वर्णं शुचयो भरिभ्रति ॥ ७
ता अस्य ज्येष्ठमिन्द्रियं सचन्ते ता ईमा क्षेति स्वधया मदन्तीः ।
ता ईं विशो न राजानं वृणाना बीभत्सुवो अप वृत्रादतिष्ठन् ॥ ८
बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम् ।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं नि चिक्युः कवयो मनीषा ॥ ९ [१०] (१४०८)

(१२५)

८ वागाम्भृणी । आत्मा । त्रिष्टुप्, २ जगती ।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३ यजमानाय सुन्वते ॥ २ (१४१०)

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ३
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ [११]

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ६
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७
अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ ८ [१२](७)

(१२६)

८ ऐन्द्रो कुल्मलबर्हिषः शैलूषिर्वामदेव्योंऽहोमुग्वा । विश्वे देवाः । उपरिष्टाद्बृहती, ८ त्रिष्टुप् ।

न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम् ।
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयन्ति वरुणो अति द्विषः ॥ १
तद्धि वयं वृणीमहे वरुण मित्रार्यमन् ।
येना निरंहसो यूयं पाथ नेथा च मर्त्यमति द्विषः ॥ २
ते नूनं नोऽयमूतये वरुणो मित्रो अर्यमा ।
नयिष्ठा उ नो नेषणि पर्षिष्ठा उ नः पर्षण्यति द्विषः ॥ ३
यूयं विश्वं परि पाथ वरुणो मित्रो अर्यमा ।
युष्माकं शर्मणि प्रिये स्याम सुप्रणीतयोऽति द्विषः ॥ ४
आदित्यासो अति स्रिधो वरुणो मित्रो अर्यमा ।
उग्रं मरुद्भी रुद्रं हुवेमेन्द्रमग्निं स्वस्तयेऽति द्विषः ॥ ५
नेतार ऊ षु णस्तिरो वरुणो मित्रो अर्यमा ।
अति विश्वानि दुरिता राजानश्चर्षणीनामति द्विषः ॥ ६
शुनमस्मभ्यमूतये वरुणो मित्रो अर्यमा ।
शर्म यच्छन्तु सप्रथ आदित्यासो यदीमहे अति द्विषः ॥ ७

यथा ह त्यद्वसवो गौर्यं चित् पदि षिताममुञ्चता यजत्रा ।
एवो ष्व१स्मन्मुञ्चता व्यंहः प्र तार्यग्ने प्रतरं न आयुः ८ [१३] (१४२४)

(१२७)

८ कुशिक सौभर, रात्रिर्वा भारद्वाजी । रात्रि । गायत्री ।

रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्य१क्षभिः । विश्वा अधि श्रियोऽधित १
ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्यु१द्वतः । ज्योतिषा बाधते तमः २
निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती । अपेदु हासते तमः ३
सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविक्ष्महि । वृक्षे न वसतिं वयः ४
नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः । नि श्येनासश्चिदर्थिनः ५
यावया वृक्य१ं वृकं यवय स्तेनमूर्म्ये । अथा नः सुतरा भव ६
उप मा पेपिशत् तमः कृष्णं व्यक्तमस्थित । उष ऋणेव यातय ७
उप ते गा इवाकरं वृणीष्व दुहितर्दिवः । रात्रि स्तोमं न जिग्युषे ८ [१४] (१४३२)

(१२८)

९ विहव्य आङ्गिरसः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप्, ९ जगती ।

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम १
मम देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः ।
ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामे अस्मिन् २
मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः ।
दैव्या होतारो वनुषन्त पूर्वेऽरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः ३
मह्यं यजन्तु मम यानि हव्याकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु ।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवासो अधि वोचता नः ४
देवीः षळुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वम् ।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ५ [१५]

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन् परेषामदब्धो गोपाः परि पाहि नस्त्वम् ।
प्रत्यञ्चो यन्तु निगुतः पुनस्तेऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत् ६ (१४३८)

पुमाँ एनं तनुत उत् कृणत्ति पुमान् वि तत्ने अधि नाके अस्मिन् ।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे २
कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदान्माज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत् ।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ३
अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वो॒ष्णिहया सविता सं बभूव ।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ४
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्री॒रिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः ।
विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः ५
चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे ।
पश्यन् मन्ये मनसा चक्षसा तान् य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे ६
सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः ।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्योऽ न रश्मीन् ७ [१८] (१४५५)

(१३१)

७ सुकीर्तिः काक्षीवत । इन्द्र, ४-५ अश्विनौ । त्रिष्टुप्, ४ अनुष्टुप् ।

अप प्राच इन्द्र विश्वाँ अमित्रा॒नपापाचो अभिभूते नुदस्व ।
अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन् मदेम १
कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चि॒द्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय ।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः २
नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु ।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ३
युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा ।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ४
पुत्रमिव पितरावश्विनोभे॒न्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः ।
यत् सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ५
इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृळीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ६ (१४६१)

वि षु विश्वा अरातयो ऽर्यो नशन्त नो धियः ।
अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते रातिर्ददिर्वसु
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ३
यो न इन्द्राभितो जनो वृकायुरादिदेशति ।
अधस्पदं तमीं कृधि विबाधो असि सासहि र्नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ४
यो न इन्द्राभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः ।
अव तस्य बलं तिर महीव द्यौरध त्मना नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ५
वयमिन्द्र त्वायवः सखित्वमा रभामहे ।
ऋतस्य नः पथा नया ऽति विश्वानि दुरिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ६
अस्मभ्यं सु त्वमिन्द्र तां शिक्ष या दोहते प्रति वरं जरित्रे ।
अच्छिद्रोध्नी पीपयद्यथा नः सहस्रधारा पयसा मही गौः ७ [२१] (१४७६)

(१३४)

७, १-६ (पूर्वार्धस्य) मान्धाता यौवनाश्वः, ६ (उत्तरार्धस्य)- ७ गोधा ऋषिका । इन्द्रः ।
महापङ्क्तिः, ७ पङ्क्तिः ।

उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव ।
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनां देवी जनित्र्यजीजन द्भद्रा जनित्र्यजीजनत् १
अव स्म दुर्हणायतो मर्तस्य तनुहि स्थिरम् ।
अधस्पदं तमीं कृधि यो अस्माँ आदिदेशति देवी जनित्र्यजीजन द्भद्रा जनित्र्यजीजनत् २
अव त्या बृहतीरिषो विश्वश्चन्द्रा अमित्रहन् ।
शचीभिः शक्र धूनुही न्द्र विश्वाभिरूतिभि र्देवी जनित्र्यजीजन द्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ३
अव यत् त्वं शतक्रत विन्द्र विश्वानि धूनुषे ।
रयिं न सुन्वते सचा सहस्रिणीभिरूतिभि र्देवी जनित्र्यजीजन द्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ४
अव स्वेदा इवाभितो विष्वक् पतन्तु दिद्यवः ।
दूर्वाया इव तन्तवो व्य१स्मदेतु दुर्मति र्देवी जनित्र्यजीजन द्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ५
दीर्घं ह्यङ्कुशं यथा शक्तिं बिभर्षि मन्तुमः ।
पूर्वेण मघवन् पदा ऽजो वयां यथा यमो देवी जनित्र्यजीजन द्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ६
नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।
पक्षेभिरपिकक्षेभि रत्राभि सं रभामहे ७ [२२] (१४८३)

(१३७)

१ भरद्वाज, २ कश्यप, ३ गोतमः, ४ अत्रि, ५ विश्वामित्र, ६ जमदग्निः,
७ वसिष्ठः। विश्वे देवा। अनुष्टुप्।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १
द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ॥ २
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥ ३
आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं ते भद्रमाभार्षं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ४
त्रायन्तामिह देवास्त्रायतां मरुतां गणः।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ५
आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ६
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां त्वा ताभ्यां त्वोप स्पृशामसि ॥ ७ [२५](१५०४)

(१३८)

६ अङ्ग औरव। इन्द्रः। जगती।

तव त्य इन्द्र सख्येषु वह्नय ऋतं मन्वाना व्यदर्दिरुर्वलम्।
यत्रा दशस्यन्नुषसो रिणन्नपः कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः ॥ १
अवासृजः प्रस्वः श्वञ्चयो गिरीनुदाज उस्रा अपिबो मधु प्रियम्।
अवर्धयो वनिनो अस्य दंससा शुशोच सूर्य ऋतजातया गिरा ॥ २
वि सूर्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवो विदद्दासाय प्रतिमानमार्यः।
दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना ॥ ३
अनाधृष्टानि धृषितो व्यास्यन्निधीँरदेवाँ अमृणदयास्यः।
मासेव सूर्यो वसु पुर्यमा ददे गृणानः शत्रूँरशृणाद्विरुक्मता ॥ ४ (१५०८)

इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभि—रस्मे रायो अमर्त्य ।
स दर्शतस्य वपुषो वि राजसि पृणक्षि सानसि क्रतुम् ४
इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः ।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिम् ५
ऋतावानं महिषं विश्वदर्शत—मग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ।
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ६ [२८](१५२२)

(१४१)

६ अग्निस्तापसः । विश्वे देवाः । अनुष्टुप् ।

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।
प्र नो यच्छ विशस्पते धनदा असि नस्त्वम् १
प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः ।
प्र देवाः प्रोत सूनृता रायो देवी ददातु नः २
सोमं राजानमवसे ऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।
आदित्यान् विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ३
इन्द्रवायू बृहस्पतिं सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असत् ४
अर्यमणं बृहस्पति—मिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ५
त्वं नो अग्ने अग्निभि—र्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ६ [२९](१५२८)

(१४२)

८ शार्ङ्गाः– १-२ जरिता, ३-४ द्रोणः, ५-६ सारिसृक्वः, ७-८ स्तम्बमित्रः । अग्निः ।
त्रिष्टुप्, १-२ जगती, ७-८ अनुष्टुप् ।

अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहसः सूनो नह्य१न्यदस्त्याप्यम् ।
भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति त आरे हिंसानामप दिद्युमा कृधि १
प्रवत् ते अग्ने जनिमा पितूयतः साचीव विश्वा भुवना न्यृञ्जसे ।
प्र सप्तयः प्र सनिषन्त नो धियः पुरश्चरन्ति पशुपा इव त्मना २ (१५३०)

(१४४)

१ तार्क्ष्यः सुपर्ण, यामायन ऊर्ध्वकृशनो वा । इन्द्र । गायत्री, २ बृहती, ५ सतोबृहती, ६ विष्टारपङ्क्ति ।

अयं हि ते अमर्त्य इन्दुरत्यो न पत्यते । दक्षो विश्वायुर्वेधसे १
अयमस्मासु काव्य ऋभुर्वज्रो दास्वते ।
अयं बिभर्त्यूर्ध्वकृशनं मदमृभुर्न कृत्व्यं मदम् २
घृषुः श्येनाय कृत्वन आसु स्वासु वंसगः । अव दीधेदहीशुवः ३
यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत् । शतचक्रं योऽह्यो वर्तनिः ४
यं ते श्येनश्चारुमवृकं पदाभरदरुणं मानमन्धसः ।
एना वयो वि तार्यायुर्जीवस एना जागार बन्धुता ५
एवा तदिन्द्र इन्दुना देवेषु चिद्धारयाते महि त्यजः ।
क्रत्वा वयो वि तार्यायुः सुक्रतो क्रत्वायमस्मदा सुतः ६ [२] (१५४८)

(१४५)

६ इन्द्राणी । सपत्नीबाधनम् (उपनिषत्) । अनुष्टुप्, ६ पङ्क्ति ।

इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् १
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु २
उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।
अधा सपत्नी या ममाऽधरा साधराभ्यः ३
नह्यस्या नाम गृभ्णामि नो अस्मिन् रमते जने ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ४
अहमस्मि सहमानाऽथ त्वमसि सासहिः ।
उभे सहस्वती भूत्वी सपत्नीं मे सहावहै ५
उप तेऽधां सहमानामभि त्वाधां सहीयसा ।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ६ [३] (१५५४)

(१४८)

५ पृथुर्वैन्यः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा ससवांसश्च तुविनृम्ण वाजम् ।
आ नो भर सुवितं यस्य चाकन् त्मना तना सनुयाम त्वोताः १
ऋष्वस्त्वमिन्द्र शूर जातो दासीर्विशः सूर्येण सह्याः ।
गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्सु बिभृमसि प्रस्रवणे न सोमम् २
अर्यो वा गिरो अभ्यर्च विद्वा नृषीणां विप्रः सुमतिं चकानः ।
ते स्याम ये रणयन्त सोमै रेनोत तुभ्यं रथोळ्ह भक्षैः ३
इमा ब्रह्मेन्द्र तुभ्यं शंसि दा नृभ्यो नृणां शूर शवः ।
तेभिर्भव सक्रतुर्येषु चाक न्नुत त्रायस्व गृणत उत स्तीन् ४
श्रुधी हवमिन्द्र शूर पृथ्या उत स्तवसे वेन्यस्यार्कैः ।
आ यस्ते योनिं घृतवन्तमस्वा रूर्मिर्न निम्नैर्द्रवयन्त वक्वाः ५ [६] (१५७०)

(१४९)

५ अर्चन् हैरण्यस्तूपः । सविता । त्रिष्टुप् ।

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णा दस्कम्भने सविता द्यामदृंहत् ।
अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्ष मतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम् १
यत्रा समुद्रः स्कभितो व्यौन दपां नपात् सविता तस्य वेद ।
अतो भूरत आ उत्थितं रजो ऽतो द्यावापृथिवी अप्रथेताम् २
पश्चेदमन्यदभवद्यजत्र ममर्त्यस्य भुवनस्य भूना ।
सुपर्णो अङ्ग सवितुर्गरुत्मान् पूर्वो जातः स उ अस्यानु धर्म ३
गाव इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान् वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना ।
पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः ४
हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वा ऽङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन् ।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम् ५ [७] (१५७५)

(१५०)

५ मृळीको वासिष्ठः । अग्निः । बृहती, ४-५ उपरिष्टाज्ज्योतिः, ४ जगती वा ।

समिद्धश्चित् समिध्यसे देवेभ्यो हव्यवाहन ।
आदित्यै रुद्रैर्वसुभिर्न आ गहि मृळीकाय न आ गहि १ (१५७६)

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रह न्नमित्रस्याभिदासतः ३
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
यो अस्माँ अभिदास त्यधरं गमया तमः ४
अपेन्द्र द्विषतो मनो ऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि मन्योः शर्म यच्छ वरीयो यवया वधम् ५ [१०] (१५९०)

(१५३)

५ देवजामय इन्द्रमातरः। इन्द्रः। गायत्री।

ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते । भेजानासः सुवीर्यम् १
त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः । त्वं वृषन् वृषेदसि २
त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्यन्तरिक्षमतिरः । उद् द्यामस्तभ्ना ओजसा ३
त्वमिन्द्र सजोषस मर्कं बिभर्षि बाह्वोः । वज्रं शिशान ओजसा ४
त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा । स विश्वा भुव आभवः ५ [११] (१५९५)

(१५४)

५ यमी वैवस्वती । भाववृत्तम् । अनुष्टुप् ।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते ।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात् १
तपसा ये अनाधृष्या स्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे मह स्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् २
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणा स्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ३
ये चित् पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः ।
पितॄन् तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ४
सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ५ [१२] (१६००)

(१५८)

५ चक्षु सौर्य । सूर्य॑ः । गायत्री, २ स्वराट् ।

सूर्यो॑ नो दि॒वस्पा॑तु वातो॑ अ॒न्तरि॑क्षात् । अ॒ग्निर्नः॒ पार्थि॑वेभ्यः १

जोषा॑ सवित॒र्यस्य॑ ते॒ हरः॑ श॒तं स॒वाँ अर्ह॑ति । पा॒हि नो॑ दि॒द्युतः॒ पत॑न्त्याः २

चक्षु॑र्नो दे॒वः स॑वि॒ता चक्षु॑र्न उ॒त पर्व॑तः । चक्षु॑र्धा॒ता द॑धातु नः ३

चक्षु॑र्नो धेहि॒ चक्षु॑षे॒ चक्षु॑र्वि॒ख्यै त॒नूभ्यः॑ । सं चे॒दं वि च॑ पश्येम ४

सु॒सं॒दृशं॑ त्वा व॒यं प्रति॑ पश्येम सूर्य । वि प॑श्येम नृ॒चक्ष॑सः ५ [१६] (१९१०)

(१५९)

६ पौलोमी शची । शची (आत्मान तुष्टाव) । अनुष्टुप् ।

उद॒सौ सूर्यो॑ अगा॒दुद॒यं मा॑म॒को भगः॑ ।
अ॒हं तद्वि॑द्व॒ला पति॑म॒भ्य॑साक्षि विषास॒हिः १

अ॒हं के॒तुर॒हं मू॒र्धा ऽहमु॒ग्रा वि॒वाच॑नी ।
ममेद॑नु॒ क्रतुं॒ पतिः॑ सेहा॒नाया॑ उ॒पाच॑रेत् २

मम॑ पु॒त्राः श॑त्रु॒हणो ऽथो॑ मे दुहि॒ता वि॒राट् ।
उ॒ताहम॑स्मि संज॒या पत्यौ॑ मे॒ श्लोक॑ उत्त॒मः ३

येनेन्द्रो॑ ह॒विषा॑ कृ॒त्व्य॑भवद् द्यु॒म्न्यु॑त्त॒मः ।
इ॒दं तद॑क्रि देवा असप॒त्ना किला॑भुवम् ४

अ॒स॒प॒त्ना स॑पत्न॒घ्नी जय॑न्त्यभि॒भूव॑री ।
आवृ॑क्षम॒न्यासां॒ वर्चो॒ राधो॒ अस्थे॑यसामिव ५

सम॑जैषमि॒मा अ॒हं स॒पत्नी॑रभि॒भूव॑री ।
यथा॒हम॒स्य वी॒रस्य॑ वि॒राजा॑नि॒ जन॑स्य च ६ [१७] (१९१६)

(१६०)

५ पूरणो वैश्वामित्रः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

ती॒व्रस्या॒भिव॑यसो अ॒स्य पा॑हि सर्वर॒था वि हरी॑ इ॒ह मु॑ञ्च ।
इन्द्र॒ मा त्वा॒ यज॑मानासो अ॒न्ये नि री॑रम॒न् तुभ्य॑मि॒मे सु॒तासः॑ १

तुभ्यं॑ सु॒तास्तुभ्य॑मु॒ सोत्वा॑स॒स्त्वां गिरः॒ श्वात्र्या॒ आ ह्व॑यन्ति ।
इन्द्रे॒दम॒द्य सव॑नं जुषा॒णो विश्व॑स्य वि॒द्वाँ इ॒ह पा॑हि॒ सोम॑म् २

य उ॑श॒ता मन॑सा॒ सोम॑मस्मै सर्वहृ॒दा दे॒वका॑मः सु॒नोति॑ ।
न गा इन्द्र॒स्तस्य॒ परा॑ ददाति प्रश॒स्तमिच्चारु॑मस्मै कृणोति ३ (१९१९)

यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते ।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ६ [२०] (१६४२)

(१६३)

६ विवृहा काश्यपः । यक्ष्मनाशनम् । अनुष्टुप् ।

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते १
ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते २
आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोर्हृदयादधि ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो वि वृहामि ते ३
ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भंससो वि वृहामि ते ४
मेहनाद्वनंकरणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ५
अङ्गादङ्गाल्लोम्नोलोम्नो जातं पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ६ [२१] (१६४८)

(१६४)

५ प्रचेता आङ्गिरसः । दुःस्वप्ननाशनम् । अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्, ५ पङ्क्तिः ।

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः १
भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम् ।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः २
यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ३
यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि ।
प्रचेता न आङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः ४
अजैष्माद्यासनाम चाभूमानागसो वयम् ।
जाग्रत्स्वप्नः संकल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु ५ [२२] (१६५३)

स्वर्जितं महि मन्दानमन्धसो हवामहे परि शक्रं सुताँ उप ।
इमं नो यज्ञमिह बोध्या गहि स्पृधो जयन्तं मघवानमीमहे २
सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि ।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम् ३
प्रसूतो भक्षमकरं चरावपि स्तोमं चेमं प्रथमः सूरिरुन्मृजे ।
सुते सातेन यद्यागमं वां प्रति विश्वामित्रजमदग्नी दमे ४ [२५](१६६७)

(१६८)

४ अनिलो वातायनः । वायुः । त्रिष्टुप् ।

वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः ।
दिविस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् १
सं प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः ।
ताभिः सयुक्सरथं देव ईयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा २
अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः ।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव ३
आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ४ [२६](१६७१)

(१६९)

४ शबरः काक्षीवतः । गावः । त्रिष्टुप् ।

मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम् ।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृळ १
याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामानि वेद ।
या अङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्म यच्छ २
या देवेषु तन्वमैरयन्त यासां सोमो विश्वा रूपाणि वेद ।
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः प्रजावतीरिन्द्र गोष्ठे रिरीहि ३
प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः ।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम ४ [२७](१६७५)

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः ।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥ २

इममिन्द्रो अदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवत् तस्मा उ ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे ।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ ४

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ ५

ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ऽभि सोमं मृशामसि ।
अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत् ॥ ६ [३१](१६९३)

(१७४)

५ अभीवर्त आङ्गिरसः । राजा । अनुष्टुप् ।

अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृते ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पते ऽभि राष्ट्राय वर्तय ॥ १

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाऽभि यो न इरस्यति ॥ २

अभि त्वा देवः सविता ऽभि सोमो अवीवृतत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३

येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः ।
इदं तदक्रि देवा असपत्नः किलाभुवम् ॥ ४

असपत्नः सपत्नहा ऽभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां भूतानां विराजानि जनस्य च ॥ ५ [३२](१६९८)

(१७५)

४ ऊर्ध्वग्रावा सर्प आर्बुदिः । ग्रावाणः । गायत्री ।

प्र वो ग्रावाणः सविता देवः सुवतु धर्मणा । धूर्षु युज्यध्वं सुनुत ॥ १

ग्रावाणो अप दुच्छुनामप सेधत दुर्मतिम् । उस्राः कर्तन भेषजम् ॥ २ (१७००)

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान ।
सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम् ३ [३६](१७१२)

(१७९)

३ क्रमेण- शिबिरौशीनरः, काशिराज प्रतर्दनः, रौहिदश्वो वसुमनाः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् १ अनुष्टुप् ।

उत्तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातो जुहोतन यद्यश्रातो ममत्तन १
श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो विमध्यम् ।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम् २
श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुश्रातं मन्ये तदृतं नवीयः ।
माध्यंदिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन्पुरुकृज्जुषाणः ३ [३७](१७१५)

(१८०)

३ जय ऐन्द्रः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

प्र ससाहिषे पुरुहूत शत्रूञ्ज्येष्ठस्ते शुष्म इह रातिरस्तु ।
इन्द्रा भर दक्षिणेना वसूनि पतिः सिन्धूनामसि रेवतीनाम् १
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताळ्हि वि मृधो नुदस्व २
इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम् ।
अपानुदो जनममित्रयन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ३ [३८](१७१८)

(१८१)

३ क्रमेण- प्रथो वासिष्ठः, सप्रथो भारद्वाजः, घर्मः सौर्यः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् ।

प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामाऽऽनुष्टुभस्य हविषो हविर्यत् ।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः १
अविन्दन्ते अतिहितं यदासीद्यज्ञस्य धाम परमं गुहा यत् ।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोर्भरद्वाजो बृहदा चक्रे अग्नेः २
तेऽविन्दन्मनसा दीध्याना यजु ष्कन्नं प्रथमं देवयानम् ।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोरा सूर्यादभरन्घर्ममेते ३ [३९](१७२१)

*

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुरघशंसः २
यस्मै पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ३ [४३](१७३३)

(१८६)

३ वातायन उलः । वायुः । गायत्री ।

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे । प्र ण आयूंषि तारिषत् १
उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा । स नो जीवातवे कृधि २
यदुदो वात ते गृहे ऽमृतस्य निधिर्हितः । ततो नो देहि जीवसे ३ [४४](१७३६)

(१८७)

५ आग्नेयो वत्सः । अग्निः । गायत्री ।

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् । स नः पर्षदति द्विषः १
यः परस्याः परावत स्तिरो धन्वातिरोचते । स नः पर्षदति द्विषः २
यो रक्षांसि निजूर्वत्य ग्निस्तिग्मेन शोचिषा । स नः पर्षदति द्विषः ३
यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति । स नः पर्षदति द्विषः ४
यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत । स नः पर्षदति द्विषः ५ [४५](१७४१)

(१८८)

३ आग्नेयः श्येनः । जातवेदा अग्निः । गायत्री ।

प्र नूनं जातवेदस मश्वं हिनोत वाजिनम् । इदं नो बर्हिरासदे १
अस्य प्र जातवेदसो विप्रवीरस्य मीळ्हुषः । महीमियर्मि सुष्टुतिम् २
या रुचो जातवेदसो देवत्रा हव्यवाहनीः । ताभिर्नो यज्ञमिन्वतु ३ [४६](१७४४)

(१८९)

३ सार्पराज्ञी । आत्मा, सूर्यो वा । गायत्री ।

आयं गौः पृश्निरक्रमी दसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः १
अन्तश्चरति रोचना ऽस्य प्राणादपानती । व्यख्यन्महिषो दिवम् २
त्रिंशद्धाम वि राजति वाक् पतङ्गाय धीयते । प्रति वस्तोरह द्युभिः ३ [४७](१७४७)

अथ परिशिष्टानि ।

(अथ खिलसूक्तानि ।)

(१) [ऋ० अ० १-४-८] [ऋ० म० १।५० सूक्तस्यानन्तरम्]

शनैर्श्चित्व्य सूर्येणाऽऽवित्येन सहीयसा । अहं यशस्विना यशो विश्वारूपमुषा दवे १
उपश्च वि नो भज पिता पुत्रेभ्यो यथा । दीर्घायुत्वस्य हेशिषे तस्य नो धेहि सूर्य २
उद्यन्तं त्वा मित्रमह आरोहन्त विचक्षण । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् ३

(२) [ऋ० अ० २-५-१६] [ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्यान्ते ।]

मा बिभेर्न मरिष्यसि परि त्वा पामि सर्वतः । घनेन हन्मि वृश्चिकं महिं दण्डेनागतम् १
आदित्यरथवेगेन विष्णुबाहुबलेन च । गरुडपक्षनिपातेन भूमिं गच्छ महायशा २
गरुडस्य पातमात्रेण त्रयो लोकाः प्रकम्पिताः । प्रकम्पिता मही सर्वा सशैलवनकानना ३
गगनं नष्टचन्द्रार्कं ज्योतिषं न प्रकाशति ।
देवता भयभीताश्च मारुतो न प्लवायति [मारुतो न प्लवायत्यो नमः] ४
भो सर्प भद्र भद्रं ते दूरं गच्छ महाविष । जन्मेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीकवचनं स्मर ५
आस्तीकवचनं श्रुत्वा यः सर्पो न निवर्तते । शतधा भिद्यते मूर्ध्नि शिंशवृक्षफलं यथा ६
नर्मदायै नमः प्रातर्नर्मदायै नमो निशि । नमोऽस्तु नर्मदे तुभ्यं त्राहि मां विषसर्पतः ७
यो जरत्कारुणा जातो जरत्कार्वां महायशाः । तस्य सर्पाभि भद्रं ते दूरं गच्छ महाविष ८
[असितं चार्थसिद्धिं च सुनीतिं चापि यः स्मरेत् । दिवा वा यदि वा रात्रौ नास्ति सर्पभयं भवेत् ९+
अगस्तिर्माधवश्चैव मुचुकुन्दो महामुनिः । कपिलो मुनिरास्तीकः पञ्चैते सुखशायिनः १०+]

खिललक्षण= ' परशाखीय स्वशाखायामपेक्षावशात्पठ्यते तत्खिलमुच्यते । "
[म० भा० शां० ३२३।१० (कु०) नीलकण्ठ-टीका]

सू० १ पाठभेदाः— १ शनैर्श्चित्सूर्येण आ० । ०रूपाण्या दवे । २ । देहि (तै० ब्रा० ७।६।२२) ।
सू० २ पाठभेदाः– १–०मर्हं दण्डेना० । [१ घनेन० । अथर्व० १०।४।९] ३ जातमात्रेण । ४ भयवित्रस्ता ।
५ महायशाः । जनमेजयस्य । १० अगस्त्यो माधव० । [+ ९-१० बहुषु पुस्तकेषु नोपलभ्येते ।]
(५-६ महाभारते आदि० ५८।१५-१६ कु०)—
सर्पापसर्प भद्रं ते गच्छ सर्प महाविष । जनमेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीकवचनं स्मर ॥
आस्तीकस्य वचः श्रुत्वा यः सर्पो न निवर्तते । शतधा भिद्यते मूर्धा शिंशवृक्षफलं यथा ॥
८ जरत्कारुणाज्जातो, जगत्कारणाज्जातो । भूमिं गच्छ । महायशा ।
(महाभारते आदि० ५८।२४ कु०) यो जरत्कारुणा जातो जरत्कारौ महायशाः ।
८-९ हरेत् । (महाभारते आदि० ५८।२३ कु०)
असितं चार्तिमन्तं च सुनीथं चापि यः स्मरेत् । दिवा वा यदि रात्रौ वा नास्य सर्पभयं भवेत् ॥

ऋग्वेदे मण्डलानुसारेण मन्त्रसंख्या ।

मण्डलानि ।	सूक्तसंख्या ।	मन्त्रसंख्या ।
प्रथममण्डलस्य	१९१	२००६
द्वितीयमण्डलस्य	४३	४२९
तृतीयमण्डलस्य	६२	६१७
चतुर्थमण्डलस्य	५८	५८९
पञ्चममण्डलस्य	८७	७२७
षष्ठमण्डलस्य	७५	७६५
सप्तममण्डलस्य	१०४	८४१
अष्टममण्डलस्य	९२	१६३६
नवममण्डलस्य	११४	११०८
दशममण्डलस्य	१९१	१७५४
	१०१७	१०४७२
वालखिल्यसूक्तानाम्	११	८०
	१०२८	१०५५२

अष्टकानुसारेण मन्त्रसंख्या ।

अष्टकानाम् ।	सूक्तानि ।	वर्गाः ।	ऋचः ।	अक्षराणि ।
प्रथमाष्टकस्य	१२१	२६५	१३७०	४८९३१
द्वितीयाष्टकस्य	११९	२२१	११४७	५१७१८
तृतीयाष्टकस्य	१२२	२२५	१२०९	४७६३६
चतुर्थाष्टकस्य	१४०	२५०	१२८९	४९७६२
पञ्चमाष्टकस्य	१२९	२३८	१२६३	४८०२२
षष्ठाष्टकस्य	१२४	३१३	१६५०	४८८११
सप्तमाष्टकस्य	११६	२४८	१२६३	४७५६२
अष्टमाष्टकस्य	१४६	२४६	१२८१	५११७८
	१०१७	२००६	१०४७२	३९४२२१
वालखिल्यसूक्तानाम्	११	१८	८०	३०४४
	१०२८	२०२४	१०५५२	३९७२६५

अथ परिशिष्टानि ।

(अथ खिलसूक्तानि ।)

(१) [ऋ० अ० १-४-८] [ऋ० म० १।५० सूक्तस्यानन्तरम्]

शुनेश्चिद्वय सूर्येणा॒ऽऽदि॒त्येन॒ सही॑यसा । अ॒हं य॒श॒स्विनां॒ यशो॑ वि॒श्वारू॑पमु॒पा द॑दे १
उ॒धमु॒ष वि नो॑ मज पि॒ता पु॒त्रेभ्यो॑ य॒था । दी॒र्घायु॒त्वस्य॑ हेशि॒पे तस्य॑ नो धेहि सूर्य २
उ॒द्यन्तं॑ त्वा मित्रमह आ॒रोह॑न्त विचक्षण । पश्ये॑म श॒रद॑: श॒तं जीवे॑म श॒रद॑ श॒तम ३

(२) [ऋ० अ० २-५-१६] [ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्यान्ते ।]

मा बि॒भेर्न॑ मरि॒ष्यसि॒ परि॑ त्वा पामि स॒र्वत॑: । घ॒नेन॑ ह॒न्मि वृश्चि॒क॒॑महि॑ द॒ण्डेनाग॑तम् १
आ॒दि॒त्यरथ॒वेगे॑न वि॒ष्णुबा॑हु॒बले॑न च । ग॒रु॒डप॒क्षनि॑पाते॑न भू॒मिं ग॑च्छ म॒हाय॑शाः २
ग॒रु॒ड॒स्य॒ पात॑मा॒त्रेण॒ त्र॒यो लो॑काः प्रक॒म्पि॑ताः । प्र॒कं॑पि॒ता म॒ही स॒र्वा स॒शैल॑वन॒काननाः ३
ग॒ग॑नं न॒ष्टच॑न्द्रा॒र्कं ज्यो॒तिषं॑ न प्र॒काश॑ति ।
दे॒व॒ता म॑र्य॑भीता॒श्च मा॒रुतो॑ न प्लुवाय॑ति [मा॒रुतो॑ न प्लुवा॒यत्यो नम॑] ४
मो स॒र्प भ॒द्र भ॒द्रं ते॑ दू॒रं ग॑च्छ म॒हावि॑ष । ज॒न्मेज॒यस्य॑ य॒ज्ञान्ते आ॒स्तीक॑वच॒न स्म॑र ५
आ॒स्तीक॒वच॑नं श्रु॒त्वा य॒: स॒र्पो न नि॒वर्त॑ते । श॒त॒धा भि॒द्यते मू॒र्ध्नि शि॒शवृ॒क्षफ॒ल यथा ६
न॒र्म॒दा॒यै नम॑: प्रा॒त॒र्न॒र्म॒दा॒यै न॒मो निशि । नमो॑ऽस्तु न॒र्म॒दे तु॒भ्य॒ त्रा॒हि मां॑ वि॒षस॒र्पत ७
यो ज॒रत्का॑रुणा जा॒तो ज॒रत्का॒र्वां म॒हाय॑शाः । तस्य॑ स्म॒रामि॑ भ॒द्रं ते दू॒रं ग॑च्छ म॒हावि॑ष ८
[असि॑तिं चा॒र्थसि॑द्धिं च सुनी॑तिं चा॒पि य॒: स्म॑रेत् । दि॒वा वा॒ यदि॑ वा रा॒त्रौ ना॒स्ति स॒र्पभ॒य भ॑वेत् ९*
अगस्ति॒र्माध॑वश्चै॒व मु॒चुकुं॑दो म॒हामु॑नि॑ । कपि॑लो मु॒निरा॒स्ती॒कः प॒ञ्चैते॑ सु॒ख॒शायि॑न. १०*]

खिललक्षण= ' परशाखीय स्वशाखायामपेक्षावशात्पठ्यते तत्खिलमुच्यते । "

[म० भा० शां० ३२३।१० (कु०) नीलकण्ठ-टीका]

सू० १ पाठभेदाः— १ शनैश्चित्सूर्येण आ० । ०रूपाण्या ददे । २ । देहि (तै० ब्रा० ७।६।२२) ।
सू० २ पाठभेदाः– १-०महि दण्डेना० । [१ घनेन० । अथर्व० १०।४।९] ३ आतमात्रेण । ४ भयविभ्रस्ता । ५ महायशाः । जनमेजयस्य । १० अगस्त्यो माधव० । [* ९-१० बहुषु पुस्तकेषु नोपलभ्येते ।]
(५-६ महाभारते आदि० ५८।२५-२६ कु०)—

सर्पापसर्प भद्रं ते गच्छ सर्प महाविष । जनमेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीकवचनं स्मर ॥
आस्तीकस्य वचः श्रुत्वा यः सर्पो न निवर्तते । शतधा भिद्यते मूर्धा शिंशवृक्षफलं यथा ॥

८ जरत्कारुणाज्जातो, जगत्कारण्याज्जातो । भूमिं गच्छ । महायशाः ।
(महाभारते आदि० ५८।२४ कु०) यो जरत्कारुणा जातो जरत्कारौ महायशाः ।
८-९ हरेत् । (महाभारते आदि० ५८।२३ कु०)
असितं चार्तिमन्तं च सुनीथं चापि यः स्मरेत् । दिवा वा यदि रात्रौ वा नास्य सर्पभयं भवेत् ॥

(५) [ऋ० भ० ४-१-२५] [भ० म० ५।४४ सूक्तस्यानन्तरम् ।]

जागर्षि त्वं भुवने जातवेदो जागर्षि यत्र यजते हविष्मान् ।
इदं हविः श्रद्दधानो जुहोमि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम् १

(६) [ऋ० भ० ४-३ ३] [ऋ० म० ५।४९ सूक्तस्यानन्तरम् ।]

सुक्रान्तेऽस्येत्तृणान्युग्रा विरिणं योवृकेऽपि या । यत्रुस्तृणैरधीत तत तृणानि भवति ध्रुवम् १
मार्पीकूपतडागानां समुद्रं गच्छ स्वाहा [अग्निं गच्छ स्वाहा] २

(७) [ऋ० भ० ४-३-७] (ऋ० म० ५।५१ सूक्तस्यानन्तरम् ।]
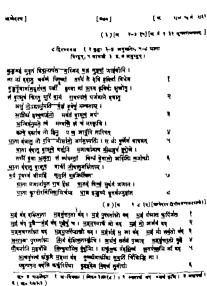
स्वस्त्ययनं ताक्ष्यमरिष्टनेमिं महद्भूतं वायस देवतानाम् ।
असुरघ्नमिन्द्रसखं समत्सु बृहद्यशो नावमिवा रुहेम १
अंहोमुचमाङ्गिरसं गय च स्वस्त्यात्रेय मनसा च ताक्ष्यम् ।
प्रयतपाणि. शरणं प्र पद्ये स्वस्ति संबाधेष्वभय नो अस्तु २

(८) [ऋ० भ० ४ ४ २१] [ऋ० ५।८४ सूक्तस्यानन्तरम् ।]

वर्षन्तु ते विभावरि दिवो अभ्रस्य विद्युत । रोहन्तु सर्वबीजा न्यर्व ब्रह्मद्विषो जहि १

(९) [ऋ०भ०४-८-२४] [ऋग्वेदस्य पञ्चममण्डलस्यान्ते ।]

आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्य १
करोमि ते प्राजापत्य मा गर्भो योनिमेतु ते
अनूनः पूर्णो जायता मश्लोणोऽपिशाचधीत २
पुमाँस्ते पुत्रो नारि तं पुमाननुजायताम् ।
तानि भद्राणि बीजा न्यृषभा जनयन्ति नौ ३
यानि भद्राणि बीजा न्यृषभा जनयन्ति न ।
तैस्त्वं पुत्रान् विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ४

सू० ५।१ (ऋ० ५।३।२) तेन पासि०' । सू० ६ पाठभेदाः— १ [निक्षिपेत्तस्मयत्नेन त्यक्तेऽन्यत्र भयावहम् । (ऋतिधामे) । २ तृण हस्ते धृत्वा उदके निक्षिपेत् ।] यत् स्तृणैरध्ययन मधीत स्तृणानि भव ते भव । सू० ७ पाठभेदाः- १ महाद्भुत । १ ०मय च ना ।

आदित्यवर्णे तपसोऽधि जातो वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्वः ।
तस्य फलानि तपसा नुदन्तु या अन्तरा याश्च बाह्या अलक्ष्मीः ६
उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह । प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे ७
क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम् । अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात् ८
गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् । ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोप ह्वये श्रियम् ९
मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि । पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः १० [२]

कर्दमेन प्रजा भूता मयि सम्भव कर्दम । श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम् ११
आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे । नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले १२
आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिङ्गलां पद्ममालिनीम् । चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह १३
आर्द्रां यःकरिणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम् । सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह १४
तां म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावो दास्योऽश्वान् विन्देयं पुरुषानहम् १५ [३]

यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम् । सूक्तं पञ्चदशर्चं च श्रीकामः सततं जपेत् १६
पद्मानने पद्मविपद्मपत्रे पद्मप्रिये पद्मदलायताक्षि ।
विश्वप्रिये विष्णुमनोऽनुकूले त्वत्पादपद्मं मयि सं नि धत्स्व १७
पद्मानने पद्मऊरु पद्माक्षि पद्मसम्भवे । तन्मे भजसि पद्माक्षि येन सौख्यं लभाम्यहम् १८
अश्वदायि गोदायि धनदायि महाधने । धनं मे जुषतां देवि सर्वकामांश्च देहि मे १९
पुत्रपौत्रधनं धान्यं हस्त्यश्वाश्वतरी रथम् । प्रजानां भवसि माता आयुष्मन्तं करोतु मे २०
धनमग्निर्धनं वायुर्धनं सूर्यो धनं वसुः । धनमिन्द्रो बृहस्पतिर्वरुणो धनमश्विना २१ [४]

वैनतेय सोमं पिब सोमं पिबतु वृत्रहा । सोमं धनस्य सोमिनो मह्यं ददातु सोमिनः २२
न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्त्या श्रीसूक्तजापिनाम् । २३

---

६ मा यान्तरा०, ममान्तरा । ७ भूतःस्तु, ० भूतोऽस्तु, ०भूतोऽसि । ऋद्धिं, वृद्धिं । ११ मे गृहे । १२ स्रजन्तु स्रजन्ति । १३ यष्करि० । यष्टीं, पुष्टीं० । पिङ्गलां पद्म०, चन्द्रा हिर० । ममा वह । १४, ०यष्टीं, पुष्करिणीं यष्टीं, यःकरिणीं यष्टिं, पुष्करिणीं पुष्टीं, पुष्करिणीं पुष्टिं । १५, लक्ष्मी मलप० । प्रभूतिं । १६ श्रियः पञ्च० । १८ पद्मासने पद्म । पद्मिनि पद्मपात्रे० । १९ अश्वदाये च गोदाये धनदाये, लभता । २० हस्त्यश्वादिगवेडकम् । करोतु मां । २१ वरुण धनमस्तु मे, वरुण धनममस्तु ते, ०धनमश्नुते । २२ मघ । २३ श्रीसूक्तजपकारिणाम्; भक्तानां श्रीसूक्त जपेत् ।

(१२) [ऋ० अ० ४-७-१०] [ऋ० म० ६।४४ सूक्तस्यानन्तरम् ।]

चक्षुश्च श्रोत्रं च मनश्च वाक् च प्राणापानौ देह इदं शरीरम् ।
द्वौ प्रत्यञ्चावनुलोमौ विसर्गावेत तं मन्ये दशयन्त्रमुत्सम् १
नखाश्च पृष्ठश्च करौ च बाहू जंघे चोरू उदरं शिरश्च ।
रोमाणि मांसं रुधिरास्थिमज्जमेतच्छरीरं जलबुद्बुदोपमम् २
मूर्धा ललाटे च तथा च कर्णौ हनू कपोलौ छुबुकस्तथा च ।
ओष्ठौ च दन्ताश्च तथैव जिह्वा मे तच्छरीरं मुखरत्नकोशम् ३

(१३) [ऋ० अ० ४-८-४] [ऋ० म० ६।४८ सूक्तस्यानन्तरम् ।]

सूक्तान्तेऽस्येत्तृणान्यग्ना विरिणे वोवृकेऽपि वा । यद्वस्तृणैरधीत तत् तृणानि भवति ध्रुवम् १
वापीकूपतडागानां समुद्रं गच्छ स्वाहा [अग्निं गच्छ स्वाहा] २

(१४) [ऋ० अ० ५-३-३०] [ऋ० म० ७।३१ सूक्तस्यानन्तरम् ।]

शर्वतीः पारयन्त्येते त पृच्छन्ति वचो युजा । अभ्यार तं यमाकेतु य एवेदमिति ब्रवन् १
मासाकेतुं परिस्रुतं भारतीर्ब्रह्मवर्धनी. । सजानाना मही माता य एवेदमिति ब्रवत् २
इन्द्रस्त किं विभुं प्रभुं भानुनेय सरस्वतीम् । येन सूर्यमरोचय द्येनेमे रोदसी उभे ३
जुषस्वाग्ने अङ्गिरः काण्व मेध्यातिथिम् । मा त्वा सोमस्य बर्बृहत् सुतस्य मधुमत्तमः ४
त्वमग्ने अङ्गिर. शोचस्व देववीतम' । आ शंतम शंतमाभि रभिष्टिभिः शान्तिः स्वस्तिमकुर्वत ५
शं न. कनिक्रदद् देव' पर्जन्यो अभि वर्षतु ।
श नो द्यावापृथिवी श प्रजाभ्य शं न एधि द्विपदे श चतुष्पदे ६

(१५) [ऋ० अ० ५-४-२२] [ऋ० म० ७।५५ सूक्तस्यानन्तरम् ।]

स्वप्न स्वप्नाधिकरणे सर्वं नि ष्वापया जनम् । आसूर्यमन्यान् त्स्वापया व्युषं प जागृयामहम् १
अजगरो नाम सर्प. सर्पिरविषो महान् । तस्मिन् हि सर्प' सुधित स्तेन त्वा स्वापयामसि २
सर्प. सर्पो अजगर सर्पिरविषो महान् । तस्य सर्पात् सिन्धव स्तस्य गाधमशीमहि ३

सू० १२ पाठभेदाः- १ उरश्च पृष्ठीश्च, उरश्च पृष्ठश्च, उरश्च पृष्टिश्च । लोमानि । २ हनु ।
सू० १३ पाठभेदाः- १ यस्तृणैरध्ययन तदधीति ०, यस्तृणैरध्ययनस्तदधीत स्तृणानि भवते भव । स्तृणान्य ० । यस् स्तृणैरध्ययन० । सूक्तान्ते स्तृणान्यग्नौ० ॥ २ ॥ (पश्य षष्ठ परिशिष्टम्)
सू० १४ पाठभेदा - १ ०यन्त्येयेत त, यन्त्येतेद । अभ्यार स । ब्रवत् । २ पुरस्पृह । ३ सरस्वती । ५ शांति स्व०, शान्ति स्व० ।
सू० १५ पाठभेदा - १ स्वप्न०, यामिन । ०व्युषप यव्युषप्रभृह । २ यस्य शुष्कात्सिन्धव ० ।

प्राजापत्यं पवित्रं शतोद्यामं हिरण्मयम्। तेनं ब्रह्मविदो वयं पूतं ब्रह्मं पुनीमहे ४
इन्द्रः सुनीती सह मा पुनातु सोमः स्वस्त्या वरुणः समीच्या।
यमो राजा प्रमृणाभिः पुनातु मा जातवेदा मूर्जयन्त्या पुनातु ५
ऋषयस्तु तपस्तेपुः सर्वे स्वर्गजिगीषवः। तपन्तस्तपसोग्रेण पावमानीर्ऋचोऽब्रुवन् ६ [१]
यन्मे गर्भे वसतः पापमुग्रं यज्जायमानस्य च किञ्चिदन्यत्।
जातस्य च यच्चापि च वर्धतो मे तत् पावमानीभिरहं पुनामि ७
मातापित्रोर्यन्न कृतं वचो मे यत् स्थावरं जङ्गममाबभूव।
विश्वस्य तत् प्रहृषितं वचो मे तत् पावमानीभिरहं पुनामि ८
गोघ्नात् तस्करत्वात् स्त्रीवधाद्यच्च किल्बिषम्।
पापकं च चरणेभ्यस् तत् पावमानीभिरहं पुनामि ९
ब्रह्मवधात् सुरापानात् स्वर्णस्तेयाद् वृषलिगमनमैथुनसंगमात्।
गुरोर्दाराधिगमनाच्च तत् पावमानीभिरहं पुनामि १०
बालघ्नान्मातृपितृवधाद्भूमितस्करात् सर्ववर्णगमनमैथुनसंगमात्।
पापेभ्यश्च प्रतिग्रहात् सद्यः प्रहरति सर्वदुष्कृतं तत् पावमानीभिरहं पुनामि ११
क्रयविक्रयाद्योनिदोषाद् भक्षाद्भोज्यात् प्रतिग्रहात्।
असभोजनाच्चापि नृशंसं तत् पावमानीभिरहं पुनामि १२
दुरिष्टं दुरधीतं पापं यच्चाज्ञानतो कृतम्।
अयाजिताश्चासंयाज्यास् तत् पावमानीभिरहं पुनामि १३
अमन्त्रमन्नं यत् किंचि द्धूयते च हुताशने।
सर्वत्सरकृतं पापं तत् पावमानीभिरहं पुनामि १४
ऋतस्य योनयोऽमृतस्य धाम विश्वा देवेभ्यः पुण्यगन्धाः।
ता न आपः प्र वहन्तु पापं शुद्धा गच्छामि सुकृतामु लोकं तत् पावमानीभिरहं पुनामि १५[२]
पावमानीः स्वस्त्ययनी यांभिर्गच्छति नान्दनम्।
पुण्यांश्च भक्षान् भक्षय त्यमृतत्वं च गच्छति १६
पावमानीः पितृन् देवान् ध्यायेद्यश्च सरस्वतीम्। पितॄंस्तस्योप वर्तेत क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् १७

५ सुनीती, पुनीहि। मां। मोर्जयन्त्या, ऊर्जयन्त्या। १० वृषलि(ली)गमन०। १० दाराद्धि ग०, दाराभिग०।
१७ पावमानी:, पावमानीं, पावमान। ऋषींस्तस्योप तिष्ठे०।

प्राजापत्यं पवित्रं शतोद्यामं हिरण्मयम् । तेनं ब्रह्मविदों वयं पूतं ब्रह्मं पुनीमहे ४
इन्द्रः पुनीती सह मां पुनातु सोमः स्वस्त्या वरुणः समीच्यां ।
यमो राजा प्रमृणाभिः पुनातु मा जातवेदा मूर्जयन्त्या पुनातु ५
ऋषयस्तु तपस्तेपुः सर्वे स्वर्गजिगीषवः । तपन्तस्तपसोग्रेण पावमानीर्ऋचोऽब्रुवन् ६ [१]
यन्मे गर्भे वसतः पापमुग्रं यज्जायमानस्य च किञ्चिदन्यत् ।
जातस्य च यच्चापि च वर्धतो मे तत् पावमानीभिरहं पुनामि ७
मातापित्रोर्यच्च कृतं वचो मे यत् स्थावरं जङ्गममाबभूव ।
विश्वस्य तत् प्रहृषितं वचो मे तत् पावमानीभिरहं पुनामि ८
गोघ्नात् तस्करत्वात् स्त्रीवधाद्यच्च किल्बिषम् ।
पापकं च चरणेभ्यस् तत् पावमानीभिरहं पुनामि ९
ब्रह्मवधात् सुरापानात् स्वर्णस्तेयाद् वृषलिगमनमैथुनसंगमात् ।
गुरोर्दाराधिगमनाच्च तत् पावमानीभिरहं पुनामि १०
बालघ्नान्मातृपितृवधाद्भूमितस्करात् सर्ववर्णगमनमैथुनसंगमात् ।
पापेभ्यश्च प्रतिग्रहात् सद्यः प्रहरति सर्वदुष्कृतं तत् पावमानीभिरहं पुनामि ११
क्रयविक्रयाद्योनिदोषाद् भक्षाद्भोज्यात् प्रतिग्रहात् ।
असम्भोजनाच्चापि नृशंसं तत् पावमानीभिरहं पुनामि १२
दुरिष्टं दुरधीतं पापं यच्चाज्ञानतो कृतम् ।
अयाजिताश्चासयाज्यास् तत् पावमानीभिरहं पुनामि १३
अमन्त्रमन्नं यत् किंचि-ज्जूयते च हुताशने ।
संवत्सरकृतं पापं तत् पावमानीभिरहं पुनामि १४
ऋतस्य योनयोऽमृतस्य धाम विश्वा देवेभ्यः पुण्यगन्धा ।
ता न आपः प्र वहन्तु पापं शुद्धा गच्छामि सुकृतामु लोकं तत् पावमानीभिरहं पुनामि १५[२]
पावमानीः स्वस्त्ययनी-र्याभिर्गच्छति नान्दनम् ।
पुण्यांश्च भक्षान् भक्षय-त्यमृतत्वं च गच्छति १६
पावमानीः पितॄन् देवान् ध्यायेद्यश्च सरस्वतीम् । पितॄंस्तस्योप वर्तेत क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् १७

५ सुनीती, पुनीहि । मां । मोर्जयन्त्या, ऊर्जयन्त्या । १० वृषलि(ली)गमन० । १० दाराद्धि ग०, दाराभिग० ।
१७ पावमानीः, पावमानीं, पावमान । ऋषींस्तस्योप तिष्ठे० ।

(२२) [ऋ०अ०८।३।६] [म० १०।७५।५ मन्त्रस्यानन्तरम् ।]

सितासिते सरिते यत्र सगथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरा स्ते जनासो अमृतत्व भजन्ते १

(२३) [ऋ०अ०८।३।१८] [ऋ०म० १०।८५ सूक्तस्यानन्तरम् ।]

अविधवा भव वर्षाणि शत साग्र तु सुव्रता । तेजस्वी च यशस्वी च धर्मपत्नी पतिव्रता १
जनयद्बहुपुत्राणि मा च दुःख लभेत् क्वचित् । भर्ता ते सोमपा नित्य भवेद्धर्मपरायण २
अष्टपुत्रा भव त्व च सुभगा च पतिव्रता । भर्तुश्चैव पितुर्भ्रातु हृदयानन्दिनी सदा ३
इन्द्रस्य तु यथेन्द्राणी श्रीधरस्य यथा श्रिया । शङ्करस्य यथा गौरी तद्भर्तुरपि भर्तरि ४
अत्रेर्यथानुसूया स्याद् वसिष्ठस्याप्यरुन्धती । कौशिकस्य यथा सती तथा त्वमपि भर्तरि ५
ध्रुवैधि पोष्या मयि मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः । मया पत्या प्रजावती स जीव शरदः शतम् ६

(२४) [ऋ०अ०८।५।२३] [ऋ०म०१०।१०३ सूक्तस्यानन्तरम् ।]

असौ या सेना मरुत परेषाम् भ्येति न ओजसा स्पर्धमाना ।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथामीषामन्यो अन्य न जानात् १
अन्धा अमित्रा भवता शीर्षाणा अहय इव ।
तेषां वो अग्निदग्धाना मग्निमूळ्हानामि न्द्रो हन्तु वरंवरम् २

(२५) [ऋ०अ०८।६।१] [ऋ म० १०।१०६ सूक्तस्यानन्तरम् ।]

हविर्भिरेके स्वरित सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान् ।
शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभि र्नेज्जिह्मायन्त्यो नरके पताम १

(२६) [ऋ०अ०८।७।१४] [ऋ म० १०।१२७ सूक्तस्यानन्तरम् ।]

॥ अथ रात्रीसूक्तम् ॥

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितरः प्रायु धामभि ।
दिव सदांसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेष वर्तते तमः १
ये ते रात्रि नृचक्षसो युक्तासो नवतिर्नव । अशीतिं सन्त्वष्टा उतो ते सप्त सप्ततीः २
रात्रीं प्र पद्ये जननीं सर्वभूतनिवेशनीम् । भद्रां भगवतीं कृष्णां विश्वस्य जगतो निशाम् ३

सू० २२ पाठभेदा १ सरितो । संगते ।

सू० २३ पाठभेद - १ ०नदनी । [सू० २४] १ यथामीषा अन्यो । १ [अथ० ३।२।६; वा० य० १७।४७, साम० १८७०] २ [अथ० ६।६७।१; साम० १८७१] [सू० २५] नरक । सू० २६ पाठभेदा १ पितुरः प्रायि, पितरप्रायु पितुरप्रायि, पितुरः प्रायु । २ सन्त्यष्टा । सप्तति, सप्तति । ३ दिशा ।

क्षीरेण स्नापिता दुर्गा चन्दनेन विलेपिता
बिल्वपत्रकृतापीडा नमो दुर्गे नमो नमः १५ [३]

सर्वभूतपिशाचेभ्यः सर्वसर्पसरीसृपे ।
देवेभ्यो मानुषेभ्यश्च उभयेभ्योऽभिरक्ष मान् १६

या क्रग्वेदे स्तुता देवी काश्यपेन उदाहृता ।
जातवेदसमां गौरी जातवेदसे सुनवाम सोमम् १७

सुर्पन्नरैर्द्विजवरैः पिशाचोरगराक्षसैः ।
अरातिभये उत्पन्ने अरातीयतो नि दहाति वेदः १८

गजद्वारेऽपथे घोरे संग्रामेषु च गोत्रनी ।
सर्वं रक्षतु दुरित स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा १९

महाभये समुत्पन्ने स्मरन्ति च जपन्ति च ।
सर्वं तारयते दुर्गा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः २० [४]

य इमं दुर्गास्तवं पुण्यं शृण्वन्ति च जपन्ति च ।
त्रिषु लोकेषु विख्यात त्रिषु लोकेषु पूजितम् २१

अपुत्रो लभते पुत्रान् धनहीनो धन लभेत ।
अचक्षुर्लभते चक्षु बद्धो मुच्येत बन्धनात् २२

व्याधितो मुच्यते रोगा द्रोगी श्रियमाप्नुयात् ।
शांति कामित सर्वं कात्यायनि नमोऽस्तु ते २३ [५]

[उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र [ऋ० म० ७।१०४।२२] १
पिशङ्गभृष्टिमम्भृणं पिशाचिमिन्द्र सं मृण । सर्वं रक्षो निर्बर्हय] [ऋ० म० १।१३३।५] २

(२७) [ऋ० म० ८।७।१६] [ऋ० म० १०।१२८ सूक्तस्यानन्तरम् ।]

११ सनक-सनन्दन-सनातनादयः । हिरण्यम् । अनुष्टुप्, ५, ८ ९ त्रिष्टुप्, ७ अतिशक्वरी, ११ जगती ।

आयुष्यं वर्चस्यं रायस्पोषमौद्भिदम् । इदं हिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादिमाम् १
उच्चैर्वाजि पृतनाषाट् सभासाहं धनंजयम् ।
सर्वाः समग्रा ऋद्धयो हिरण्येऽस्मिन् समाहिताः २

[उलूकयातु० १-२ इमौ मन्त्रौ ऋग्वेदस्थौ खिलेषु गणितौ न योग्यौ ।]
सू० २७ पाठभेदाः- १ विशतादु मां० । (वा० य० ३४।५०) २ स्समाहिताः ।

येन विप्रेह वहसि प्रतिकूलमयायिनि ।
तमेवेतो निवर्तस्व मास्मान् मृच्छो अनागसः ३

अभिवर्तस्व कर्तारं निरस्तास्माभिरोजसा ।
आयुरस्य निकृन्तस्व प्रजां च पुरुषादिनि ४

यस्त्वा कृत्ये चकारेह तं त्वं गच्छ पुनर्नवे ।
अरातीः कृत्ये नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ५ [१]

क्षिप्रं कृत्ये निवर्तस्व कर्तुरेव गृहान् प्रति ।
पशूंश्चैवास्य नाशय वीरांश्चास्य नि बर्हय ६

यस्त्वा कृत्ये प्रजिघाय विद्वाँ अविदुषो गृहान् ।
तस्यैवेतः परेत्याशु तनु कृधि परुष्परुः ७

प्रतीचीं त्वापसेधतु ब्रह्म रोचिष्णवमित्रहा ।
अग्निश्च कृत्ये रक्षोहा रिप्रहा चाज एकपात् ८

यथा त्वाङ्गिरसः पूर्वे भृगवश्चाप सेधिरे ।
अत्रयश्च वसिष्ठाश्च तथैव त्वाप सेधिम ९

यस्ते परूंषि सन्दधौ रथस्येव विभुर्धिया ।
तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्ते अयं जनः १० [२]

यो नः कश्चिद्व्रणस्थो वा कश्चिद्ग्राम्योऽभि हिंसति ।
तस्य त्वं द्रोरिवेन्द्रोऽग्निस्तनूर्मृच्छस्व हेळिता ११

भवाशर्वा देवहेळिमस्यतं पापकृत्वने ।
हरस्वती त्वं च कृत्ये मोच्छिषस्तस्य किंचन १२

यो नः कश्चिद्व्यहारातिर्मनसा प्रतिभूषति ।
दूरस्थो वान्तिकस्थो वा तस्य हृद्यमसृक् पिब १३

येनासि कृत्ये प्रहिता वृक्णेनास्मज्जिघांसया ।
तस्य व्यानञ्चापानञ्च छिनत्तु हरसाशनिः १४

ये नः शिवासः पन्थानं परायन्ति परावतम् ।
तैर्दिवि रात्र्यां कृत्या नो गमयस्वानुकृत्तये १५ [३]

यदि वेपि द्विपद्यस्मान् यदि वेपि चतुष्पदी ।
निरस्तेतो व्रजास्माभि कर्तुरष्टापदी गृहान् १६

येन द्विष्टेह यहसि प्रतिकूलमुपायिनि ।
तमेवेतो निवर्तस्व मास्मान नृच्छो अनागस ३

अभिवर्तस्व कर्तार निरस्तास्माभिरोजसा ।
आयुरस्य निकृन्तस्व प्रजां च पुरुषादिनि ४

यस्त्वा कृत्ये चकारेह तं त्वं गच्छ पुनर्नव ।
अरातीः कृत्ये नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ५ [१]

क्षिप्रं कृत्ये निवर्तस्व कर्तुरेव गृहान् प्रति ।
पशूंश्चैवास्य नाशय वीरांश्चास्य नि बर्हय ६

यस्त्वा कृत्ये प्रजिघाय विद्वाँ अविदुषो गृहान् ।
तस्यैवेतु परेत्याशु तनुं कृधि परूंष्परु ७

प्रतीचीं त्वोपसेधतु ब्रह्म रोचिष्णवमित्रहा ।
अग्निश्च कृत्ये रक्षोहा रिपुहा चाज एकपात् ८

यथा त्वाङ्गिरसः पूर्वे भृगवश्चाप सेधिरे ।
अत्रयश्च वसिष्ठाश्च तथैव त्वाप सेधिम ९

यस्ते परूंषि सन्दधौ रथस्येव विभुर्धिया ।
तं गच्छ तत्र तेऽयन मज्ञातस्तेऽयं जनः १० [२]

यो नः कश्चिद्वनस्थो वा कश्चिद्ग्राम्योऽभिहिंसति ।
तस्य त्वं द्रोविद्धोऽग्नि स्तनूर्मृच्छस्व हेळिता ११

सर्वाशर्वा देवहेळि मुग्रत पापकृत्वने ।
हरस्वती त्वं च कृत्ये मोच्छिषस्तस्य किंचन १२

यो नु कश्चिन्नुहाराति र्मनसा प्रतिभूयति ।
दूरस्थो यान्तिकस्थो वा तस्य हृद्यमसृक् पिब १३

येनासि कृत्ये महिता दुर्ध्येनास्मज्जिघांसया ।
तस्य प्राणञ्चापानञ्च हिनस्तु हरसाशनिः १४

ये नः शिवासः पन्थानः परायन्ति परावतम् ।
तेभिर्वि रात्र्याः कृत्या नो गमयस्वानुकर्त्तये १५ [३]

यदि वेयि द्विपद्यस्मान् यदि वेयि चतुष्पदी ।
निरस्तितो मजास्माभिः कर्तुरष्टापदी गृहान् १६

अभ्यक्ताक्ता स्वलङ्कृता　सर्वं नो दुरितं दह ।
जानीथाश्चैव कृत्याना　कर्तॄन् नृन् पापचेतसं　३१
यथा हन्ति पुरासीन　तथैवेष्वा सुकृन्नर' ।
तथा त्वया युजा वय　निकृण्म स्थास्नु जङ्गमम्　३२
उत्तिष्ठैव परेहीतो　ऽज्ञाति किमिहेच्छसि ।
ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चाऽभि कर्त्स्यामि विद्रव　३३
स्वायसा सन्ति नोऽसयो　विद्म चैव परूंषि ते ।
तैस्ते निकृण्मस्तान्युग्रे　यदि नो जीवयस्वरीन्　३४
मास्योच्छिषो द्विपदु　मोत किञ्चिच्चतुष्पदम् ।
मा ज्ञातीननुजान् पूर्वान्　मा वैशि प्रतिवेशिनो　३५ [७]

शत्रुपता महितासि　वृद्ध्येनाभि यथायत ।
ततस्तथा त्वा नुदतु　योऽयमन्तर्मयि श्रित　३६
एव त्व निकृतास्माभि　र्ब्रह्मणा देवि सर्वश ।
यथेतमाभिता गत्वा　पापधीनिव नो जहि　३७
यथा विद्युद्धतो वृक्ष　आमूलादनु शुष्यति ।
एव स प्रतिशुष्यतु　यो मे पाप चिकीर्षति　३८
यथा प्रतिशुको मूत्वा　तमेव प्रतिधावति ।
पापं तमेव धावतु　यो मे पाप चिकीर्षति　३९
यो न' स्वो अरणो　यश्च निष्ट्यो जिघासति ।
देवास्त सर्वे धूर्वन्तु　ब्रह्म वर्म ममान्तरम्　+ ४० [८]

उत्त्वा मन्दन्तु स्तोमा'　कृणुष्व राधो अद्रिव' । अव ब्रह्मद्विषो जहि　४१
कुबेर ते मुख रौद्र　नन्दिन्नानन्दमावह ।
ज्वरमृत्युभयं घोरं　विश नाशय मे ज्वरम्　४२
यो मे करोति मद्वारे　यो गृहे यो निवेशने ।
यो मे केशनखे कुर्या　कृत्ने दन्तधावने　४३
प्रतिसर प्रतिधाव　कुमारीव पितुर्गृहान् ।
मूर्धानमेषा स्फोटय　पदमेषा कुले कृधि　४४

+ [११।४०] ऋ० ६।७५।१९; अथ० १।१९।२ (पाठभेदेन)

अभ्यक्ताक्ता स्वलङ्कृता सर्वं नो दुरितं दह ।
जानीथाश्चैवं कृत्याना कर्तृन् नृन् पापचेतसः ३१
यथा हन्ति पुरासीन तथैवेम्वा सुकृन्नरः ।
तथा त्वया युजा वय निर्कृण्म स्थास्नु जङ्गमम् ३२
उत्तिष्ठैव परेहीतो ऽज्ञाति किमिहेच्छसि ।
ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चाऽभि कर्त्स्यामि विद्रव ३३
स्वायसा मन्ति नोऽसयो विद्म चैव परूंषि ते ।
तैस्ते निर्कृण्मस्तान्युग्रे यदि नो जीवयस्वरीन् ३४
मास्योच्छिषो द्विपदृ मोत किञ्चिच्चतुष्पदम् ।
मा ज्ञातीननुजान् पूर्वान् मा वेशि प्रतिविशिनो ३५ [७]

शत्रूयता प्रहिनासि वृद्ध्येनाभि यथायतं ।
ततस्तथा त्वा नुवतु योऽयमन्तर्मयि श्रित. ३६
एव त्व निर्कृतास्माभिर्ब्रह्मणा देवि सर्वशः ।
यथेतमाश्रिता गत्वा पापधीनिव नो जहि ३७
यथा विद्युद्धतो वृक्ष आमूलादनु शुष्यति ।
एव स प्रतिशुष्यतु यो मे पापं चिकीर्षति ३८
यथा प्रतिशुको भूत्वा तमेव प्रतिधावति ।
पापं तमेव धावतु यो मे पाप चिकीर्षति ३९
यो नः स्वो अरणो यश्च निष्ट्यो जिघासति ।
देवास्त सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् + ४० [८]

उत्त्वा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः । अव ब्रह्मद्विषो जहि ४१
कुबेर ते मुख रौद्र नन्दिन्नानन्दमावह ।
ज्वरमृत्युभयं घोर विश नाशय मे ज्वरम् ४२
यो मे करोति मद्वारे यो गृहे यो निवेशने ।
यो मे केशनखे कुर्या वृस्त्रने दन्तधावने ४३
प्रतिसर प्रतिधाव कुमारीव पितुर्गृहान् ।
मूर्धानमेषां स्फोटय पदमेषां कुले कृधि ४४

+ [२१।४०] ऋ० ६।७५।१९। अथ० १।१९।३ (पाठभेदेन)

येन केन प्रकारेण को हि नाम नु जीवति ।
परेषामुपकारार्थं यज्जीवति स जीवति । एता वैश्वानरीं सर्वदेवान्नमोऽस्तु ते　　　१२
न चोरभय न च सर्पभय न च व्याघ्रभय न च मृत्युभयम् ।
यस्यापमृत्युर्न च मृत्यु सर्वं लभते सर्वं जयते　　　१३ [२]

(३१)　[ऋ०अ०८।८।९] [ऋ०म० १०।१५१सूक्तस्यानन्तरम्।]

अथ मेधा-सूक्तम् ।

मेधां मह्यमङ्गिरसो मेधा सप्त ऋषयो ददुः । मेधामिन्द्रश्चाग्निश्च मेधां धाता ददातु ते　　　१
मेधां ते वरुणो राजा मेधा देवी सरस्वती । मेधां ते अश्विनौ देवा—वा धत्ता पुष्करस्रजा २
या मेधा अप्सरस्सु गन्धर्वेषु च यन्मनः । दैवी या मानुषी मेधा सा मामा विशतादिमाम ३
यन्मे नोक्तं तद्रमतां शकेयं यदनुब्रुवे ।
निशामितं नि शामहै मयि व्रत सह व्रतेषु भूयास ब्रह्मणा स गमेमहि　　　४
शरीरं मे विचक्षणं वाङ् मे मधुमद् दुहाम् ।
अवृद्धमहमसौ सूर्यो ब्रह्मणानी स्थः श्रुतं मे मा प्र हासीः　　　५[१]
मेधां देवीं मनसा रेजमानां गन्धर्वजुष्टां प्रति नो जुषस्व ।
मह्यं मेधां वद मह्यं श्रियं वद मेधावी भूयासमजराजरिष्णु　　　६
सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषम्　　　७
यां मेधा देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्यमेधया—ऽग्ने मेधाविनं कुरु　　　८
मेधाव्य१हं सुमनाः सुप्रतीकः श्रद्धामना. सत्यमतिः सुशेवः ।
महायशा धारयिष्णुः प्रवक्ता भूयासमस्मै शरया प्रयोगे　　　९

सू० ३० पाठभेदाः–१२ विनामनु, हि नाम न, यीनामनु, हीनमनु। वैश्वानर०, वैश्वानरं देव सर्वदेव। मग्नि वैश्वानरं वन्दे सर्वदेव नमोऽस्तु ते। १३ यस्यापि मृ०। स सर्वं लभते स सर्वं जयते।

सू० ३० पाठभेदाः– १ मेधा मह्य० दधातु ते, ददातु मे। २ मेधा मे। ३ अप्सरासु अप्सरासो, अप्सरेषु। मानुषी युगा। सा माया, मेधा विशतासुमा, मामा विशतादिह। ४ तद्रमतां। यदनुब्रुवे। निशामह मयि मत सह ब्रह्मणा सगमेमहि, ०निशामयि मयि प्रियेण भूयास ब्र०। ५ विचक्षण, मधुमद्दुहा, ०मद्दहा, ०मद्रुहा, मधुमत्तमा। अभृतम०। प्र हासीत्। ६ देवीमनसो देवीं समनसां। मेधावि। ०जरिष्णुः। ८ ०मेधया मेधा०, ०मामद्यमेधाग्ने मेधाविनय ९ ०समना, मेधाव्यस्मगण, मेधाव्य सुमनः। ०मनाः सत्यमुपः सु०, ०मनास्यप्रमति सुवीरः। प्रविक्ता भूयासमस्ये, ०समर्ये, स्वधया प्रयोगे।

१।७-८ (वा० य० ३२।१३-१४) २ (वा० य० ३२।१५ सदृशः)

यस्येव धीराः पुनन्ति कवयो ब्रह्माणमेत व्यावृणत इन्धुम् ।
स्थावर जङ्गमं च द्यौराकाश तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ११ [२]

येन द्यौरुग्या पृथिवी चान्तरिक्ष येन पर्वताः प्रदिशो दिशश्च ।
येनेव सर्वं जगद्व्याप्तं प्रजानत् तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु १२

अव्यक्त चाप्रमेय च व्यक्ताव्यक्तपर शिवम् ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतर ज्ञेयं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु १३

कैलासशिखरे रम्ये शकरस्य गुहालयम् ।
देवतास्तत् प्रमोदन्ते तन्मे मनः शिवसकल्पमस्तु १४

आदित्यवर्णं तपसा ज्वलन्त यत् पश्यसि गुहासु जायमानः ।
शिवरूप शिवमुदितं शिवालय तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु १५

येनेव सर्वं जगतो बभूव यद्देवा अपि महतो जातवेदाः ।
यदेवाग्र्यं तपसो ज्योतिरेक तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु १६ [३]

गोभिर्जुष्टो धनेन ह्यायुषा च बलेन च ।
प्रजया पशुभिः पुष्कराक्षं तन्मे मनः शिवसकल्पमस्तु १७

योऽसौ सर्वेषु वेदेषु पठ्यतेऽनव ईश्वरः ।
अकार्यो निर्गुणो ह्यात्मा तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु १८

यो वेदादिषु गायत्री सर्वव्यापी महेश्वरः ।
तदुक्त च यदा ज्ञेय तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु १९

प्रयतप्राणं ओंकार प्रणवं च महेश्वरम् ।
यः सर्वं यस्य चित् सर्वं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु २०

यो वै वेद महादेव प्रणवं पुरुषोत्तमम् ।
आकार परमात्मान तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु २१ [४]

आकारं चतुर्भुज लोकनाथ नारायणम् ।
सर्वस्थित सर्वगत सर्वव्याप्त तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु २२

तत् परात् परतो ब्रह्मा तत् परात् परतो हरिः ।
परात् परतर ज्ञान तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु २३

य इद शिवसंकल्प सदाधीयन्ति ब्राह्मणाः ।
ते पर मोक्षमाप्स्यन्ति तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु २४

गोकामो अन्नकामः प्रजाकाम उत कश्यपः। ९

भूतं भविष्यत् प्रस्तौति सह ब्रह्मैकमक्षरं बहुर्ब्रह्मैकमक्षरम् १०

यदक्षरं भूतकृत विश्वेदेवा उपासते। महं ऋषिमस्य गोप्तारं जमदग्निरकुर्वतम् ११

जमदग्निराप्यायते छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः। राजा सोमस्य भक्षेण ब्रह्मणा वीर्यावता

शिवा नः प्रदिशो दिशः सत्या नः प्रदिशो दिशः। १२

अजो यत् तेजो ददृशे शुक्र ज्योतिः परो गुहा

यदृषिः कश्यपः स्तौति सत्य ब्रह्म चराचर ध्रुवं ब्रह्म चराचरम्। १३

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् अगस्त्यस्य त्र्यायुषम् १४

यद्देवानां त्र्यायुष तन्मे अस्तु त्र्यायुषं सर्वमस्तु शतायुष बलायुषम्।

तच्छंयोरा वृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये।

दैवी स्वस्तिरस्तु नः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः। १५

ऊर्ध्वं जिगातु भेषजं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे

॥ इति परिशिष्टानि ॥

१३-१४ (अथ० ५।२८।७; वा० य० ३।६२)
१५ (तै० स० १।६।१०।२)

[४] पञ्चसन्धि ।

पञ्चसन्धिलक्षणम् ।

अनुक्रमश्चोत्क्रमश्च व्युत्क्रमोऽभिक्रमस्तथा । सक्रमश्चेति पञ्चैते जटाया कथिताः क्रमा ॥

क्रमः= १ + २, २ + ३ । उत्क्रमः= २ + २ ३ + ३ । व्युत्क्रमः= २ + १ ३ + २ ।
अभिक्रमः= १+१, २ + २ । सक्रमः= १ + २, २ + ३ ।

(क्रम) १–२	(उत्क्रम) २–२	(व्युत्क्रम) २–१	(अभिक्रमः) १–१	(सक्रम) १–२
ओषधय॒ः स । १ २	स स । २ २	समोषधय । २ १	ओषधय॒ ओषधय. । १ १	ओषधय॒ स । १ २
सं वंदन्ते । २ ३	व॒वृन्ते व॒वृन्ते । ३ ३	व॒वृन्ते स । ३ २	स स । २ २	स वंदन्ते । २ ३
व॒वृन्ते सोमेन । ३ ४	सोमेन॒ सोमेन । ४ ४	सोमेन ववन्ते । ४ ३	व॒वृन्ते व॒वृन्ते । ३ ३	व॒वृन्ते सोमेन । ३ ४
सोमेन सह । ४ ५	सह सह । ५ ५	सह सोमेन । ५ ४	सोमेन॒ सोमेन । ४ ४	सोमेन सह । ४ ५
सह राज्ञा । ५ ६	राज्ञा राज्ञा । ६ ६	राज्ञा सह । ६ ५	सह सह । ५ ५	सह राज्ञा । ५ ६
राज्ञेति राज्ञा । ६ ६				

—॥०॥—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । ' (ऋ० अ० ३।४।१०, म० ३।६२।१०) इत्यस्य—

पञ्चसन्धिः ।

तत्स॑वितु ।	सवितुस्स॑वितु॑ ।	सवितुस्तत् ।	तत्तत् ।	तत्स॑वितु. ।
सवितुर्वरेण्य ।	वरेण्यं॑ वरेण्य ।	वरेण्य सवितु ।	सवितुस्स॑वितुः ।	सवितुर्वरेण्य ।
वरेण्य॒ भर्गं ।	भर्गो॑ भर्गः ।	भर्गो॑ वरेण्य ।	वरेण्य॒ वरेण्यं ।	वरेण्य॒ भर्ग॑ ।
भर्गो देवस्यं ।	देवस्य देवस्यं ।	देवस्य॒ भर्गः ।	भर्गो॑ भर्ग॑ ।	भर्गो देवस्यं ।
देवस्यं धीमहि ।	धीमहि॒ धीमहि ।	धीमहि॒ देवस्यं ।	देवस्यं देवस्यं ।	देवस्यं धीमहि ।
धीमहीति धीमहि ।		(एवमग्रेऽपि)		

[२] माला ।

मालाया द्वौ भेदौ पुष्पमाला-क्रममाला चेति । तत्र क्रममालाया लक्षणम्-

क्रम-मालालक्षणम् ।

भूपात्क्रमविपर्यासाद्यर्धं चेत्स्यादितोऽन्ततः । अन्त चादिं नयेद्च क्रममालेति गीयते ॥

(१ क्रम-माला)

ओषधयः स । राज्ञेति राज्ञा ॥ स वदन्ते । राज्ञा सह ॥ वदन्ते सोमेन । सह सोमेन ॥
१ २ ६ ६ २ ३ ६ ५ ३ ४ ५ ४

सोमेन सह । सोमेन वदन्ते ॥ सह राज्ञा । वदन्ते स ॥ राज्ञेति राज्ञा । समोषधयः ॥
४ ५ ४ ३ ५ ६ ३ २ ६ ६ २ १

यस्मै कृणोति । पारयामसीति पारयामसि ॥ कृणोति ब्राह्मणः । पारयामसि राजन् ॥
७ ८ १२ १२ ८ ९ १२ ११

ब्राह्मणस्तं । राजँस्त ॥ तं राजन् । तं ब्राह्मण ॥ राजन्पारयामसि । ब्राह्मण कृणोति ॥
९ १० ११ १० १० ११ १० ९ ११ १२ ९ ८

पारयामसीति पारयामसि ॥ कृणोति यस्मै ॥
१२ १२

+ क्रम-माला

ओषधयः स । १	२ राज्ञेति राज्ञा
स वदन्ते । ३	४ राज्ञा सह ।
वदन्ते सोमेन । ५	६ सह सोमेन ।
सोमेन सह । ७	८ सोमेन वदन्ते ।
सह राज्ञा । ९	१० वदन्ते स ।
राज्ञेति राज्ञा । ११	१२ समोषधय ।
यस्मै कृणोति । १३	१४ पारयामसीति पारयामसि ।
कृणोति ब्राह्मणः । १५	१६ पारयामसि राजन् ।
ब्राह्मणस्त । १७	१८ राजँस्त ।
त राजन् । १९	२० त ब्राह्मण ।
राजन् पारयामसि । २१	२२ ब्राह्मण कृणोति ।
पारयामसीति पारयामसि । २३	२४ कृणोति यस्मै ।

+ क्रममालाया पठनक्रमोऽङ्कैः प्रदर्शित ।

[३] शिखा ।

शिखा-लक्षणम् ।

पदोत्तरा जटामेव शिखामार्याः प्रचक्षते ।

ओषधयः स, समोषधय, ओषधयः स, — वदन्ते ।
१ २ २ १ १ २ ३

सं वदन्ते, वदन्ते सं, स वदन्ते, — सोमेन ।
२ ३ ३ २ २ ३ ४

वदन्ते सोमेन, सोमेन वदन्ते, वदन्ते सोमेन, — सह ।
३ ४ ४ ३ ३ ४ ५

सोमेन सह, सह सोमेन, सोमेन सह, — राज्ञा ।
४ ५ ५ ४ ४ ५ ६

सह राज्ञा, राज्ञा सह, सह राज्ञा ।
५ ६ ६ ५ ५ ६

राज्ञेति राज्ञा ।
६ ६

यस्मै कृणोति, कृणोति यस्मै, यस्मै कृणोति, — ब्राह्मण ।
७ ८ ८ ७ ७ ८ ९

कृणोति ब्राह्मणो ब्राह्मण कृणोति, कृणोति ब्राह्मणम् — तम ।
८ ९ ९ ८ ८ ९ १०

ब्राह्मणस्तं, तं ब्राह्मणो, ब्राह्मणस्त, — राजन् ।
९ १० १० ९ ९ १० ११

त राजन्, राजस्तं, त राजन्, — पारयामसि ।
१० ११ ११ १० १० ११ १२

राजन्पारयामसि, पारयामसि राजन्, राजन् पारयामसि ।
११ १२ १२ ११ ११ १२
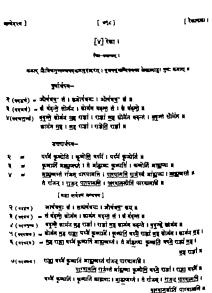
पारयामसीति पारयामसि ।
१२ १२

[५] ध्वज ।

ध्वज लक्षणम् ।

ब्रूयादादेः क्रम सम्यगन्तादुत्तारयेद्यदि । वर्गे च क्रान्ति वा यत्र पठन स ध्वज स्मृतः ॥

(आदे क्रमः)	(अन्तादुत्तारण)
१ ओषधयः स ।	२ पारयामसीति पारयामसि ।
३ स वदन्ते ।	४ राजन् पारयामसि ।
५ वदन्ते सोमेन ।	६ त राजन् ।
७ सोमेन सह ।	८ ब्राह्मणस्त ।
९ सह राज्ञा ।	१० कृणोति ब्राह्मणः ।
११ राज्ञेति राज्ञा ।	१२ यस्मै कृणोति ।
१३ यस्मै कृणोति ।	१४ राज्ञेति राज्ञा
१५ कृणोति ब्राह्मणः ।	१६ सह राज्ञा ।
१७ ब्राह्मणस्त ।	१८ सोमेन सह ।
१९ त राजन् ।	२० वदन्ते सोमेन ।
२१ राजन् पारयामसि ।	२२ स वदन्ते ।
२३ पारयामसीति पारयामसि ।	२४ ओषधयः स ।

अत्र विशेष ।

१ अत्र ध्वजस्य पठनक्रमोऽङ्कैः प्रदर्शितः ।

२ यथा मन्त्रस्यैकस्यैव ध्वजो भवति तथैव पञ्च-पद-सप्त-मन्त्रसङ्ख्याकस्य वर्गस्याप्येवमेव ध्वजो भवति । तत्र वर्गादिस्थितस्य पदद्वयस्य वर्गान्तस्थेन पदेन द्विरुक्तनेतिकारसहितेन च सम्बन्धो ज्ञातव्यः । यथा 'अग्निमीळे' आ गमदिति आ गमत् इति प्रथमस्य वर्गस्य ऋग्वेदस्य ध्वजो बोद्धव्यः ।

---

* वर्गे वा क्वापि वा यः स्यात्पठितः स ध्वजः स्मृतः । इति वा पाठः ।

[७] रथः ।

रथ-लक्षणम् ।

पादशोऽर्धशो वापि सहोक्त्या दण्डवद्रथः ।

रथस्त्रिविधः । द्विचक्रस्त्रिचक्रश्चतुश्चक्रश्चेति । तत्र द्विचक्रो रथोऽर्धशो भवति । त्रिचक्रस्तु रथः प्रतिपादे समानपद-संयुक्तस्य गायत्रीछन्दस्कस्यैव मन्त्रस्य भवति । चतुश्चक्रो रथस्तु पादश एव भवति ।

(१) द्विचक्रो रथः　(अर्धशः)

(पूर्वार्धः)　(उत्तरार्धः)

[१] (१) ओषधयः सं । यस्मै कृणोति ।　(प्रथम एकपात्क्रमः)

समोषधयः । कृणोति यस्मै ।　(व्युत्क्रमः)

[२] (१) ओषधयः सं । यस्मै कृणोति ।　(द्वितीयो द्विपात्क्रमः)

(२) स वदन्ते । कृणोति ब्राह्मणः ।　"

स्वदन्ते समोषधयः । ब्राह्मणः कृणोति यस्मै ।　(व्युत्क्रम)

[३] (१) ओषधयः स । यस्मै कृणोति ।　(तृतीयस्त्रिपात्क्रमः)

(२) स वदन्ते । कृणोति ब्राह्मणः ।　"

(३) वदन्ते सोमेन । ब्राह्मणस्त ।　"

सोमेन वदन्ते समोषधयः । त ब्राह्मणः कृणोति यस्मै ।　(व्युत्क्रम)

[४] (१) ओषधयः सं । यस्मै कृणोति ।　(चतुर्थश्चतुष्पात्क्रम)

(२) स वदन्ते । कृणोति ब्राह्मणः ।　"

(३) वदन्ते सोमेन । ब्राह्मणस्त ।　"

(४) सोमेन सह । त राजन् ।　"

सह सोमेन वदन्ते समोषधयः । राजस्त ब्राह्मणः कृणोति यस्मै ।　(व्युत्क्रम)

[५] (१) ओषधयः सं । यस्मै कृणोति ।　(पञ्चम पञ्चपात्क्रम)

(२) स वदन्ते । कृणोति ब्राह्मणः ।　"

(३) वदन्ते सोमेन । ब्राह्मणस्त ।　"

(४) सोमेन सह । त राजन् ।　"

(५) सह राज्ञा । राजन् पारयामसि ।　"

राज्ञेति राज्ञा । पारयामसीति पारयामसि ।　(समाप्तिः)

(३) द्विचक्रो रथः ।

पूर्वोक्तयोर्द्वयोर्मन्त्रयोः सहोक्त्या द्विचक्रो रथो भवति । तस्य द्वितीय प्रकारो यथा—

(ऋ० १।१।१) (ऋ० १।२०।१)

[१] (१) अग्निमीळे । अयं देवाय ॥
ईळेऽग्निं । देवायाय ॥

[२] (१) अग्निमीळे । अयं देवाय ॥
(२) ईळे पुरोहितं । देवाय जन्मने ॥
पुरोहितमीळेऽग्निं । जन्मने देवायाय ॥

[३] (१) अग्निमीळे । अयं देवाय ॥
(२) ईळे पुरोहितं । देवाय जन्मने ॥
(३) पुरोहितं यज्ञस्य । जन्मने स्तोमः ॥
यज्ञस्य पुरोहितमीळेऽग्निं ॥
स्तोमो जन्मने देवायाय ॥

[४] (१) अग्निमीळे । अयं देवाय ॥
(२) ईळे पुरोहितं । देवाय जन्मने ॥
(३) पुरोहितं यज्ञस्य । जन्मने स्तोमः ॥
'पुरोहितमिति पुरःऽहितं' ।
(४) यज्ञस्य देवं । स्तोमो विप्रेभिः ॥
देवं यज्ञस्य पुरोहितमीळेऽग्निं ॥
विप्रेभिः स्तोमो जन्मने देवायाय ॥

(ऋ० १।१।१) (ऋ० १।२०।१)

[५] (१) अग्निमीळे । अयं देवाय ॥
(२) ईळे पुरोहितं । देवाय जन्मने ॥
(३) पुरोहितं यज्ञस्य । जन्मने स्तोमः ॥
'पुरोहितमिति पुरःऽहितं' ।
(४) यज्ञस्य देवं । स्तोमो विप्रेभिः ॥
(५) देवमृत्विजं । विप्रेभिरासया ॥
ऋत्विजं देवं यज्ञस्य पुरोहितमीळेऽग्निं ।
आसया विप्रेभिः स्तोमो जन्मने देवायाय ।

[६] (१) अग्निमीळे । अयं देवाय ॥
(२) ईळे पुरोहितं । देवाय जन्मने ॥
(३) पुरोहितं यज्ञस्य । जन्मने स्तोमः ॥
'पुरोहितमिति पुरःऽहितं' ।
(४) यज्ञस्य देवं । स्तोमो विप्रेभिः ॥
(५) देवमृत्विजं । विप्रेभिरासया ॥
(६) ऋत्विजमित्यृत्विजं । आसयेत्यासया ॥

[७] (१) होतारं रत्नधातमं । अकारि रत्नधातमः ॥
रत्नधातमं होतारं । रत्नधातमोऽकारि ॥
होतारं रत्नधातमं । अकारि रत्नधातमः ॥
रत्नधातममिति रत्नऽधातमं ।
रत्नधातम इति रत्नऽधातमः ॥

[८] घनः ।

घनश्चतुर्विध । घनो घनवल्लभश्च । तौ च प्रत्येक द्विधा भवत ।

[१] प्रथम घन-लक्षणम् ।

अन्तात्क्रम पठेत्पूर्वमादिपर्यन्तमानयेत् । आद्विक्रम नयेदन्त घनमाहुर्मनीषिण ॥

(१) पूर्वार्धस्य (अन्तादादिपर्यन्तम्)

[१] राज्ञेति राज्ञा । सह राज्ञा । सोमेन सह । वदन्ते सोमेन । स वदन्ते । ओषधयः सं–

(आदितोऽन्तपर्यन्तम्)

स वदन्ते । वदन्ते सोमेन । सोमेन सह । सह राज्ञा । राज्ञेति राज्ञा ।

(२) उत्तरार्धस्य (अन्तादादिपर्यन्तम्)

[२] पारयामसीति पारयामसि । राजन् पारयामसि । त राजन् । ब्राह्मणस्त । कृणोति ब्राह्मणः । यस्मै कृणोति–

(आदितोऽन्तपर्यन्तम्)

कृणोति ब्राह्मण । ब्राह्मणस्तं । त राजन् । राजन् पारयामसि । पारयामसीति पारयामसि ।

[२] द्वितीय घनलक्षणम् ।

शिखामुक्त्वा विपर्यस्य तत्पदानि पुन पठेत् । अयं घन इति प्रोक्त [इत्यष्टौ विकृती पठेत्] ॥

[१]

←	शिखापाठ	→	← तस्य विपर्यास →	← तत्पदानां पुनःपाठ →
ओषधयः स	समोषधय	ओषधय स वदन्ते	वदन्ते समोषधय	ओषधयः स वदन्ते॥
स वदन्ते	वदन्ते स	स वदन्ते सोमेन	सोमेन वदन्ते स	स वदन्ते सोमेन ॥
वदन्ते सोमेन	सोमेन वदन्ते	वदन्ते सोमेन सह	सह सोमेन वदन्ते	वदन्ते सोमेन सह॥
सोमेन सह	सह सोमेन	सोमेन सह राज्ञा	राज्ञा सह सोमेन	सोमेन सह राज्ञा ॥
सह राज्ञा	राज्ञा सह	सह राज्ञा ॥	राज्ञेति राज्ञा ॥	

[२]

यस्मै कृणोति	कृणोति यस्मै	यस्मै कृणोति ब्राह्मणो	ब्राह्मणः कृणोति यस्मै	यस्मै कृणोति ब्राह्मणः॥
कृणोति ब्राह्मणो	ब्राह्मण कृणोति	कृणोति ब्राह्मणस्त	त ब्राह्मणः कृणोति	कृणोति ब्राह्मणस्तं ॥
ब्राह्मणस्त	त ब्राह्मणो	ब्राह्मणस्त राजन्	राजंस्तं ब्राह्मणो	ब्राह्मणस्त राजन् ॥
त राजन्	राजस्त	त राजन् पारयामसि	पारयामसि राजंस्त	त राजन् पारयामसि॥
राजन् पारयामसि		पारयामसि राजन् ।	राजन् पारयामसि ॥	पारयामसीति पारयामसि ।

पञ्चसन्धियुक्तो घनपाठः।

(घनवल्लभ)

पदद्वयस्य क्रमोत्क्रमव्युत्क्रमाभिक्रमसत्क्रमैः पञ्चसन्धिपाठो भवति। अनुलोमविलोमानुलोमैर्जटापाठो जायते। जटया सहोत्तरपदपाठेन शिखापाठो भवति। क्रममुक्त्वा, विपर्यस्य, पुनश्च क्रमपाठे कृते ध्वजो भवति। जटादण्डाभ्यां घनपाठः सिद्ध्यति। सर्वमेवंतत्पञ्चसन्धियुक्ते घनपाठे घनवल्लभे समुच्चयेन सङ्गच्छते। पञ्चसन्धियुक्तेन भल्लाद्यादि पदसमादेरन्त्यपर्यंतं च पाठेन द्वितीयो घनवल्लभ सिध्यति।

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु।
उरूच्छन्तीरुरुचक्षसम्॥ (ऋ० १।२५।१६)

[१] परा मे। मे मे। मे परा। परा परा। परा मे॥
परा मे, मे परा, परा मे, यति, यति मे परा, परा मे यति॥

[२] मे यंति। यति यंति। यंति मे। मे मे। मे यति॥
मे यंति, यंति मे, मे यति, धीतयो, धीतयो यति मे, मे यति धीतयः॥

[३] यति धीतयः। धीतयो धीतयः। धीतयो यति। यति याति। यति धीतयः॥
यति धीतयो, धीतयो यति, यति धीतयो, गावो, गावो धीतयो यंति, यति धीतयो गावः॥

[४] धीतयो गावः। गावो गावः। गावो धीतय। धीतयो धीतय। धीतयो गावः।
धीतयो गावो, गावो धीतयो, धीतयो गावो, न, न गावो धीतयो, धीतयो गावो न॥

[५] गावो न। न न। न गावः। गावो गावः। गावो न॥
गावो न, न गावो, गावो न, गव्यूती, गव्यूतीर्न गावो, गावो न गव्यूती॥

[६] न गव्यूतीः। गव्यूतीर्गव्यूतीः। गव्यूतीर्न। न न। न गव्यूती।
न गव्यूती, गव्यूतीर्न, न गव्यूतीर-ऽन्व, ऽनु गव्यूतीर्न, न गव्यूतीरनु॥

[७] गव्यूतीरनु। अन्वनु। अनु गव्यूतीः। गव्यूतीर्गव्यूतीः। गव्यूतीरनु।
गव्यूतीरन्व-ऽनुगव्यूती-गव्यूतीरनु॥ अन्वित्यनु॥

[८] उरूच्छतीरुरुचक्षसं। उरुचक्षसमुरुचक्षस। उरुचक्षसमिच्छंतीः। उरूच्छतीरिच्छंतीः।
उरूच्छतीरुरुचक्षसं॥

उरूच्छन्तीरुरुचक्षस-मुरुचक्षसमिच्छतीरि-रिच्छन्तीरुरुचक्षसम्॥
उरुचक्षसमित्युरुऽचक्षसं॥

ऋग्वेद-मन्त्राणां वर्णानुक्रमसूची ।

अग्निर्मूर्धाग्नि जनवत् ६, १६, ३४; साम ४; १३३६;
 वा य ३३, ९; तै स ४, ३, १३, १; तै मा ३,५,६,१
अग्निर्हि त्वं जरतः कर्कशम् १०, ८०, ३
अग्निर्हि वाम धायि १०, ११५, २
अग्निर्हि जानि पूर्व्यः ८, ७, ३६
अग्निर्हि वाजिनं विशे ५, ६, ३; साम १७३८; तै मा
 ३, ११, ६, ४
अग्निर्हि विद्मना निदः ६, १४, ५
अग्निर्होता कविक्रतुः १, १, ५
अग्निर्होता गृहपतिः ६ १५, १३; तै मा ३, ५, १२, १
अग्निर्होता दास्वत ५ ९ २
अग्निर्होता नो अध्वरे ४, १५ १; तै मा ३, ६, ४ १
अग्निर्होता न्यसीदत् ५, १, ६, तै मा १, ३, १४, १
अग्निर्होता पुरोहितो ३ ११, १
अग्निश्च यन्मरुतो ५, ६०, ७
अग्निश्रियो मरुतो ३, २६, ५; तै मा २, ७, १२, ३
अग्निष्वात्ताः पितरः १०, १५, ११; अथर्व १८, ३, ४४;
 वा य १९, ५९, तै स २, ६, १२, २
अग्निस्तिग्मेन शोचिषा ६, १६, २८; साम २२; वा य
 १७, १६; तै स ४, ६, १, ५
अग्निस्तुविश्रवस्तम ५, २५ ५
अग्निस्त्रीणि त्रिधातूनि ८ ३९ ९; तै स ३, २, ११, ३
अग्नीपर्जन्यावयत ६, ५२, १६
अग्नी रक्षांसि सेधति ७, १५, १०; अथर्व ८, ३, २६;
 तै मा २, ४, १, ६
अग्नीषोमा चेति तद् १, ९३, ४; तै मा २, ८, ७, १०
अग्नीषोमा पिपृत १, ९३, १२
अग्नीषोमा य आहुतिं १, ९३, ३; तै मा २, ८, ७, १०
अग्नीषोमा यो अद्य वां १ ९३, २; तै मा २, ८, ७, ९
अग्नीषोमावनेन वां १ ९३, १०
अग्नीषोमाविमं सु मे १ ९३, १; तै स २, ३, १४, २
अग्नीषोमाविमानि नो १, ९३, ११
अग्नीषोमा वृषणा वाजं १०, ६६ ७
अग्नीषोमा सवेदसा १, ९३, ९; तै स २, ३, १४, १;
 तै मा ३, ५, ७, २
अग्नीषोमा हविषः प्रस्थितस्य १, ९३, ७; तै स २, ३, १४, २
अग्ने अच्छा वदेह न १०, १४१, १; अथर्व ३, २०, २;
 वा य ९ २८; तै स १ ७, १०, २
अग्ने अर्वा समिध्यसे ३ २५, ५
अग्नेः पूर्वे भ्रातरो १०, ५१, ६
अग्ने इळा समिध्यसे ३, २४, २

अग्ने कदा त आनुषक् ४, ७, २
अग्ने कविर्वेधा असि ८, ६०, ३
अग्ने केतुर्विशामसि १०, १५६, ५; साम १५३१
अग्ने घृतस्य धीतिभिः ८, १०२, १६
अग्ने चिकिद्ध्यस्य न ५, २२, ४
अग्ने जरस्व स्वपत्य आयुनि ३, ३ ७
अग्ने जरितर्विश्पतिः ८, ६०, १९; साम ३९
अग्ने जुषस्व नो हविः ३, २८, १
अग्ने जुषस्व प्रति हर्य तद्वचः १, १४४, ७
अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः ४, १०, १; साम ४३४; १७७७;
 वा य १५, ४४; १७, ७७; तै स ४, ४, ४, ७
अग्ने तव त्यदुक्थ्यं १, १०५, १३
अग्ने तव त्ये अजर ८, २३, ११
अग्ने तव श्रवो वयः १०, १४०, १; साम १८१६; वा य
 १२, १०६; तै स ४, २, ७, २
अग्ने तृतीये सवने हि ३, २८, ५
अग्ने त्री ते वाजिना ३, २०, २; तै स ३, २, ११, १
अग्ने त्वं यशा अस्या ८, २३, ३०
अग्ने त्वचं यातुधानस्य १०, ८७, ५; अथर्व ८, ३, ४
अग्ने त्वं नो अन्तम ५ २४, १, साम ४४८; ११०७,
 वा य ३, २५; १५, ४८; २५, ४७; तै स
 १, ५, ६, २; ४, ४, ४, ८
अग्ने त्वमस्मद्युयोधि १, १८९, ३; तै मा २, ८, २, ४
अग्ने त्वं पारया नव्यः १, १८९, २; तै स १, १, १४, ४;
 तै मा २, ८, २, ५; तै आ १०, २, १
अग्ने दा दाशुषे रयिं ३, २४, ५; तै स २, २, १२, ६
अग्ने दिवः सूनुरसि ३, २५, १
अग्ने दिवो अर्णमच्छा ३, २२, ३; वा य १२, ४९;
 तै स ४, २, ४, २
अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञान १, १२, ३; साम ७९२;
 अथर्व २०, १०१, ३; तै मा ३, ११, ६, २
अग्ने देवाँ इहा वह सादया १, १५, ४
अग्ने द्युम्नेन जागृवे ३, २४, ३
अग्ने धृतव्रताय ते ८, ४४, २५
अग्ने नक्षत्रमजर १०, १५६, ४; साम १५३०
अग्ने नय सुपथा राये १, १८९, १; वा य ५, ३६; ७, ४३
 ४०, १६, तै स १, १, १४, ३; ४, ४३, १;
 तै मा २, ८, २, ३; तै आ १, ८, ८; शत ब्रा
 १४, ८, ३, १
अग्ने नि पाहि नस्त्वं ८, ४४, ११
अग्ने नेमिररॉं इव ५, १३, ६; तै स २, ५, ९, २

अस्माकमग्ने मघवत्सु दीदिह्यध १, १४०, १०
अस्माकमग्ने मघवत्सु धारया ६, ८, ६; तै स. १, ५, ११, २
अस्माकमत्र पितर ४, ४२, ८
अस्माकमत्र पितरो मनुष्या ४, १, १३
अस्माकमद्य वामय ८, ५, १८
अस्माकमद्यान्तम ८, ३३, १५
अस्माकमायुर्वर्धय ३, ६२, १५
अस्माकमित्सु शृणुहि ४, २२, १०
अस्माकमिन्द्रः समृतेषु १०, १०३, ११; साम १८५९; अथर्व १९, १३, ११, वा य १७, ४३; तै स ४, ६, ४, ३
अस्माकमिन्द्र दुष्टर ५, ३५, ७
अस्माकमिन्द्र भूतु ते ६, ४५, ३०
अस्माकमिन्द्रावरुणा भरे ७, ८२, ९
अस्माकमिन्द्रेहि नो ५, ३५, ८
अस्माकमुत्तम कृधि ४, ३१, १५
अस्माकमूर्जा रथ १०, २६, ९
अस्माक मित्रावरुणावतम् २, ३१, १
अस्माकेभि सत्वभिः २, ३०, १०
अस्मादहं तविषादीषमाण १, १७१, ४
अस्माँ अवन्तु ते धियः ४ ३१, १०
अस्माँ अविड्ढि विश्वहेन्द्र ४, ३१, १०
अस्माँ इहा वृणीष्व ४, ३१, ११
अस्मान्त्समर्ये पवमान ९, ८५, २
अस्मान्त्सु तत्र चोदय १, ९ ६; अथर्व २०, ७१, १२
अस्मिन्न इन्द्र पृत्सुतौ १०, ३८, १
अस्मिन्पदे परमे २, ३५, १४
अस्मिन्यज्ञे अदाभ्या ५, ७५, ८
अस्मिन्त्समुद्रे अध्युत्तर १०, ९८, ६
अस्मिन्नस्वेऽश्वच्छकपूत १०, १३२, ५
अस्मे आ वहत रयि ८, ५ १५
अस्मे इन्द्र सचा सुते ८, ९७, ८
अस्मे इन्द्राबृहस्पती ४, ४९, ४; तै स १, ३, ११, १
अस्मे इन्द्रावरुणा विश्ववार ७, ८४, ४
अस्मे इन्द्रो वरुणो ७, ८२, १०; ८३, १०—
अस्मे ऊ षु वृषणा १, १८४, २
अस्मे तदिन्द्रावरुणा ३, ६२, ३
अस्मे ता त इन्द्र सन्तु १०, २२, १३
अस्मे धेहि द्युमतीं १०, ९८, ३
अस्मे धेहि द्युमद्यशो ९, ३२, ६
अस्मे धेहि श्रवो बृहत् १ ९, ८; अथर्व २०, ७१, १४

अस्मे प्र यन्धि मघवन् ३, ३६, १०, नि ६, ७
अस्मे रयिं न स्वर्थं १, १४१, ११
अस्मे रायो दिवेदिवे ४, ८, ७
अस्मे रुद्रा मेहना ८, ६३, १२; वा य ३३, ५०
अस्मे वत्स परि षन्त १, ७२, २
अस्मे वर्षिष्ठा कृणुहि ४, २२, ९
अस्मे वसूनि धारय ९, ६३, ३०
अस्मे वीरो मरुतः ७, ५६, २४
अस्मे श्रेष्ठेभिर्भानुभिः ७, ७७, ५
अस्मे सा वां माध्वी रातिः १, १८४, ४
अस्मे सोम श्रियमधि १, ४३, ७
अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय २, ३५, ५
अस्मै ते प्रतिहर्यते ८ ४३, २
अस्मै बहूनामवमाय २, ३५, १२
अस्मै भीमाय नमसा १, ५७, ३; अथर्व २०, १५, ३
अस्मै वय यद्वावान ६, २३, ५
अस्य क्रत्वा विचेतसो ५, १७, ४
अस्य घा वीर ईवतो ४, १५, ५
अस्य ते सख्ये वय ९, ६१, २९; साम ७७९
अस्य ते सख्ये वयमियक्षन्तः ९ ६६, १४
अस्य त्रितः क्रतुना १०, ८, ७
अस्य त्वेषा अजरा अस्य १, १४३, ३
अस्य देवस्य मीळ्हुषः ७, ४०, ५
अस्य देवस्य संसदि ७, ४, ३
अस्य पिब क्षुमत १०, ११६ २
अस्य पिब यस्य जज्ञान ६, ४०, २
अस्य पीत्वा मदानां देवो ८, ९२ ६
अस्य पीत्वा मदानामिन्द्रो ९, २३, ७
अस्य पीत्वा शतक्रतो १, ४, ८; अथर्व २०, ६८, ८
अस्य प्र जातवेदसो १०, १८८, २
अस्य प्रजावती गृहे ८, ३१, ४
अस्य प्रत्नामनु द्युत ९, ५४, १; साम ७५५; वा य ३, १६; तै स १ ५, ५, १
अस्य प्रेषा हेमना ९, ९७, १; साम ५२६; १३९९
अस्य मदे पुरु वर्पांसि ६, ४४, १४
अस्य मदे स्वर्यं दा ऋताय १, १२१, ४
अस्य मदासो मध्वो २, १९, २
अस्य मे द्यावापृथिवी २, ३२, १
अस्य यामासो बृहतो १०, ३, ४
अस्य रण्वा स्वस्येव पुष्टिः २, ४, ४

आशुः शिशानो वृषभो १०, १०३, १; साम १८४९; अथर्व १९, १३, १; वा य १७, ३३; तै स ४, ६, ४, १; नि १, १५
आशु दधिक्रां तमु नु ष्टु ४, ३९, १
आशु दूत विवस्वतो ४, ७, ४
आशुमिश्रियाग्नि १, ३८, ३
आ शुभ्रा यातमश्विना ७, ६८, १
आशुरर्षे बृहन्मते ९, ३९, १; साम ८९८
आ श्मन्ते मद्यपिता ४, ३, ३
आ श्येनस्य जवसा १, ११८, ११; नि ६, ७
आशुक्रन शुची इव १, १०, ९; नि ७, ३
आश्विनावश्वावत्येषा १, ३०, १७
आ श्वैत्रेयस्य जन्तवो ५, १९, ३
आ स एतु य ईवदा ८, ४६, २१
आ सप्तर्षिमिव न ६, २२, १०; अथर्व २०, ३६, १०
आ सखायः सबर्दुघां ६, ४८, ११
आ सत्यो यातु मघवाँ ४, १६, १; अथर्व २०, ७७, १
आ सव सवितुर्यथा ८, १०२, ६; तै स ३, १, ११, ८
आसस्राणास शवसान ६, ३७, ३, नि १०, ३
आ सहस्र पथिभिरिन्द्र ६, १८, ११
आसां पूर्वासामहसु १, १२४, ९
आसीनासो अरुणीनां १०, १५, ७; अथर्व १८, ३, ४३; वा य १९, ६३
आ सीमरोहत्सुयमा ३, ७, ३
आ सुग्म्याय सुग्म्य ८, २२, १५
आ सुते सिञ्चत श्रिय ८, ७२, १३; साम १४८०; वा य ३३, २१
आ सुष्टुती नमसा वर्तयध्यै ५, ४३, २
आशु ष्मा णो मघवन् ६, ४४, १८
आ सुष्वयन्ती यजते १०, ११०, ६; अथर्व ५, १२, ६; वा य २९, ३१; तै मा ३, ६, ३, ३; नि ८, ११
आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवास १, ५९, ३
आ सूर्यो अरुहच्छुक्र ५, ४५, १०
आ सूर्यो न भानुमद्भिः ६, ४, ६
आ सूर्यो यातु सप्ताश्वः ५, ४५, ९
आ सोता परि षिञ्चता ९, १०८, ७, साम ५८०; १३९४
आ सोम सुवानो अद्रिभिः ९, १०७, १०; साम ५१३, १६८९
आ स्तुतासो मरुतो ७, ५७, ७
आस्थापयन्त युवतिं युवान १, १६७, ६
आस्त्रो वृकस्य वर्तिका १, ११६, १४

आ स्मा रथं वृषपाणेषु १, ५१, १२
आस्मिन्पिशङ्गमिन्दवो ९, २१, ५
आ स्वमद्म युवमानो अजरः १, ५८, २
आह सरस्वतीवतो ८, ३८, १०
आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ १०, १५, ३; अथर्व १८, १, ४५; वा य १९, ५६, तै स २, ६, १२, ३
आ हरय ससृज्रिरे ८, ६९, ५; साम १४९०; अथर्व २०, २२, ५; ९२, २
आ हर्यताय धृष्णवे ९, ९९, १; साम ५५२
आ हर्यतो अर्जुने अत्के ९, १०७, १३; साम ७६८
आहार्षं त्वाविदं त्वा १०, १६१, ५; अथर्व ८, १, २०; २०, ९६, १०
आ हि द्यावापृथिवी अग्न १०, १, ७
आ हि रुहतमश्विना ८, २२, ९
आ हि ष्मा याति नर्यः ४, २९, २
आ हि ष्मा सूनवे पिता १, २६, ३
आ होता मन्द्रो विदथानि ३, १४, १

इच्छन्त रेतो मिथस्तनूषु १, ६८, ८
इच्छन्ति त्वा सोम्यास सखा ३, ३०, १; वा य ३४, १८
इच्छन्ति देवाः सुन्वन्त ८, २, १८; साम ७२१ अथर्व २०, १८, ३
इच्छन्नश्वस्य यच्छिर १, ८४, १४, साम ९१४, अथर्व २०, ४१, २; तै मा १, ५, ८, १
इळामग्ने पुरुदंस ३, १, २३; ५, ११; ६, ११, ७, २३; १५, ७; २२, ५; २३, ५; साम ७६ वा य १२, ५१; तै स ४, २, ४, ३
इळायास्त्वा पदे वय ३, २९, ४; वा य ३४, १५ तै स ३, ५, ११, १
इळा सरस्वती मही १, १३, ९; ५, ५, ८
इत ऊती वो अजर ८, ९९, ७; साम २८३; अथर्व २०, १०५, ३
इति चिद्धि त्वा धना १०, १२०, ४; अथर्व ५, २, ४
इति चिन्नु प्रजायै ५, ४१, १७
इति चिन्मन्युमध्रिज ५, ७, १०
इति त्वाग्ने वृष्टिहव्यस्य १०, ११५, ९
इति त्वा देवा इम १०, ९५, १८
इति वा इति मे मनो १०, ११९, १
इति स्तुतासो असथा ८, ३०, २
इतो वा सातिं १, ६, १०, अथर्व २०, ७०, ६
इत्था धीवन्तमद्रिव ८, २, ४०; नि ३, १६

इन्द्र ओषधीरसनो ३, ३४, १०; अथर्व २०, ११, १०
इन्द्र वय महाधन १, ७, ५; साम १३०; अथर्व २०, ७०, ११; तै ब्रा १, ७, १३, १
इन्द्र वर्धन्तु नो गिर ८, १३, १६
इन्द्र वर्धता अप्तुर ९, ६३, ५
इन्द्र वाणीरनुत्तमन्युमेव ७, ३१, १२; साम १७९५
इन्द्र विश्वा अवीवृधन् १, ११, १; साम ३४३, ८२७; वा य १२, ५६; १५, ६१; १७, ६१; तै स ४, ६, ३, ४; तै ब्रा २, ७, १५, ५
इन्द्र वृत्राय हन्तवे देवासो ८, १२, २२
इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूत ३, ३७, ५; अथर्व २०, १९, ५
इन्द्रं वो नरः सख्याय ६, २९, १
इन्द्रं वो विश्वतः परि १, ७, १०; साम १६२०; अथर्व २०, ३९, १; ७०, १६; तै स १, ६, १२, १
इन्द्र सोमस्य पीतये ३, ४२, ४; अथर्व २०, २४, ४
इन्द्र सखा सुतम १०, ८९, १
इन्द्रः किल श्रुत्या अस्य १०, १११, ३
इन्द्रः पर्भिदातिरद् ३, ३४, १, अथर्व २०, ११, १; नि ४, १७
इन्द्रः स दामने कृत ८, ९३, ८; साम १२२१, अथर्व २०, ४७, २, १३७, १३, तै ब्रा १, ५, ८, ३
इन्द्रः समत्सु यजमान १, १३०, ८
इन्द्रः सहस्रदाव्नां १, १७, ५
इन्द्रः सीतां नि ४, ५७, ७; अथर्व ३, १७, ४
इन्द्रः सुतेषु सोमेषु ८, १३, १; साम ३८१; ७४६
इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ ६, ४७, १२; १०, १३१, ६; अथर्व ७, ९१, १; २०, १२५, ६; वा य २०, ५१; तै स १, ७, १३, ४
इन्द्र सु पूषा वृषणा ३, ५७, २
इन्द्रः सुशिप्रो मघवा ३, ३०, ३
इन्द्रः सूर्यस्य रश्मिभिः ८, १२, ९
इन्द्रः स्वर्षा जनयन् ३, ३४, ४; अथर्व २०, ११, ४; तै ब्रा २, ४, ३, ६
इन्द्रः स्वाहा पिबतु ३, ५०, १
इन्द्र क्रतुं न आ भर ७, ३२, २६; साम २५९, १४५६; अथर्व १८, ३, ६७; २०, ७९, १; तै सं ७, ५, ७, ४
इन्द्र क्रतुविदं सुतं ३, ४०, २; अथर्व २०, ६, २; ७, ४
इन्द्र क्षत्रमभि वाम १०, १८०, ३, अथर्व ७, ८४, २; तै स १, ६, १२, ४
इन्द्र क्षत्रासमातिषु १०, ६०, ५
इन्द्र गृणीष उ स्तुषे ८, ६५, ५
इन्द्रं कामा वसूयन्तो ४, १६, १५
इन्द्र कुत्सो वृत्रहणं १, १०६, ६
इन्द्र जहि पुमांसं ७, १०४, २४; अथर्व ८, ४, २४
इन्द्र जामय उत ये ६, २५, ३
इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरँ ६, ४६, ५; अथर्व २०, ८०, १
इन्द्रज्येष्ठान्बृहद्भ्यः ४, ५४, ५
इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणा १, २३, ८; २, ४१, १५
इन्द्रतमा हि धिष्ण्या १, १८२, २
इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवो १, ८०, ७; साम ४१०
इन्द्र तुभ्यमिन्मघवन् ६, ४४, १०
इन्द्र त्रिधातु शरणं ६, ४६, ९; साम २६६; अथर्व २०, ८३, १
इन्द्र त्वमवितेदसी ८, १३, २६
इन्द्र त्वा वृषभं वयं ३, ४०, १; अथर्व २०, १, १; ६, १
इन्द्र त्वोतास आ वयं १, ८, ३; अथर्व २०, ७०, १९
इन्द्र दृह्य मघवन् १०, १००, १
इन्द्र दृह्य यामकोशा ३, ३०, १५
इन्द्र द्युक्षस्य पूरसि ८, ८०, ७
इन्द्र नेदीय एदिहि ८, ५३, ५; साम २८१
इन्द्र नु श्रुम ८, ७०, २; साम ९३४; अथर्व २०, ९२, १७; १०५, ५
इन्द्र नरो नेमधिता ७, २७, १; साम ३१८; तै स १, ३, १०, १
इन्द्र नो अग्ने वसुभिः ७, १०, ४
इन्द्र पिब तुभ्यं सुतो ६, ४०, १
इन्द्र पिब प्रतिकाम १०, ११२, १
इन्द्र पिब वृषधूतस्य ३, ४३, ७
इन्द्र पिब स्वधया चित्सुतस्य ३, ३५, १०
इन्द्र प्र णः पुरएतेव ६, ४७, ७
इन्द्र प्र णो धितावानं ३, ४०, ३; अथर्व २०, ६, ३
इन्द्र प्र णो रथमव ८, ८०, ४
इन्द्रप्रसूता वरुणप्रशिष्टा १०, ६६, २
इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं ८, १७, ९; अथर्व २०, ५, ३
इन्द्र ब्रह्म क्रियमाणा जुषस्व ५, २९, १५
इन्द्रमर्कि कविच्छदा ३, १२, ३; साम ३७१
इन्द्रमच्छ सुता इमे ९, १०६, १ साम ५६३ ३९४
इन्द्र मरुत्व इह पाहि ३, ५१, ७; वा य ७ ३५; तै स १, ४, १८, १
इन्द्रमित्केशिना हरी ८, १४, १२, अथर्व २०, २९, २
इन्द्रमित्था गिरो ३, ४२, ३; अथर्व २०, २४, ३
इन्द्रमिद्गाथिनो बृहद् १, ७, १; साम १९८ ७९६; अथर्व २०, ३८, ४; ४७, ४; ७०, ७; तै स १, ६, १२, २; तै ब्रा १, ५, ८, १; नि ७, २

दीदिवांसमपूर्व्यं ३, १३, ५
दीर्घं ह्यङ्कुशं १०, १३४, ६; साम १०९१
दीर्घतन्तुर्बृहदुक्षायमग्निः १०, ६९, ७
दीर्घतमा मामतेयो १, १५८, ६
दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो ८, १७, १०; अथर्व २०, ५, ४
दुराध्यो अदितिं स्रेवयन्तो ७, १८, ८
दुरो अश्वस्य १, ५३, २; अथर्व २०, २१, २
दुरोकशोचिः क्रतुर्न १, ६६, ५
दुर्गे चिन्नः सुगं कृधि ८, ९३, १०
दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम १०, १२, ६; अथर्व १८, १, ३४
दुहन्ति सप्तैकामुप ८, ७२, ७
दुहान ऊधर्दिव्यं ९, १०७, ५; साम ६७३
दुहानः प्रत्नमित्पयः ९, ४२, ४; साम ७६०
दुरीपश्मिमत्रक्रिये पुबाकु १, १२०, ९
दूणाशं सख्यं तव ६, ४५, २६
दूतं वो विश्ववेदसं ४, ८, १; साम १२
दूरं किल प्रथमा १०, १११, ८
दूरमित पणयो वरीय १०, १०८, ११
दूराच्चिदा वसतो ६, ३८, २
दूरादिन्द्रमनयन्ना ७, ३३, २
दूरादिहेव यत्सती ८, ५, १; साम २१९
दूरे तन्नाम गुह्यं पराचैः १०, ५५, १
दृळ्हा चिदस्मा अनु दुः १, १२७, ४
दृळ्हा चिद्या वनस्पतीन् ५, ८४, ३
दृतेरिव तेऽवृकमस्तु ६, ४८, १८
दृशानो रुक्म उर्व्या १०, ४५, ८; वा य १२, १, २५;
तै स १, ३, १४, ५; ४, १, १०, ४; ४, २, २, ४
दृशेन्यो यो महिना १०, ८८, ७
देवं वो अद्य सवितारमेषे ५, ४९, १
देवं वो देवयज्यया ५, २१, ४
देव त्वष्टर्यद्ध १०, ७०, ९
देवंदेवं राधसे चोदयन्त्य ७, ७९, ५
देवंदेवं वोऽवस इन्द्रमिन्द्रं ८, १२, १९
देवंदेवं वोऽवसे देवंदेवं ८, २७, १३; वा य ३३, ९१
देवं नरः सवितारं ३, ६२, १२
देव बर्हिर्वर्धमान २, ३, ४
देवयन्तो यथा मतिं १, ६, ६; अथर्व २०, ७०, २
देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ३, ५५, १९; नि १०, ३४
देवस्य वयं सवितुः सवीमनि ६, ७१, २; नि ६, ७
देवस्य सवितुर्वयं ३, ६२, ११
देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ७, १०३, ९

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे १०, १०९, ४; अथर्व ५, १७, ६
देवाः कपोत इषितो १०, १६५, १; अथर्व ६, २७, १;
नि [illegible]
देवानां युगे प्रथमे १०, ७२, २
देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती ७, ७७, ३
देवानां दूतः पुरुध ३, ५४, १९
देवानां नु वयं जाना १०, ७२, १
देवानामिदवो महत् ८, ८३, १; साम १३८
देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु ५, ४६, ७; अथर्व ७, ४९, १;
तै ब्रा ३, ५, १२, १; नि १२, ४५
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां १, ८९, २; वा य २५, १५;
नि १२, ३९
देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् १०, २७, २३; नि २, २२
देवान्वसिष्ठो अमृतान् १०, ६५, १५; ६६, १५
देवान्वा यच्चकृमा १, १८५, ८
देवान्हुवे बृहच्छ्रवसः १०, ६६, १
देवाव्यो नः परिषिच्यमानाः ९, ९७, २६
देवाश्चित्ते अमृता जातवेदः १०, ६९, ९
देवाश्चित्ते असुर्य २, २३, २
देवाश्चित्ते असुर्याय पूर्वे ७, २१, ७
देवास आयन् परशूँरबिभ्रन् १०, २८, ८
देवासस्त्वा वरुणो मित्रो १, ३६, ४
देवासो हि ष्मा मनवे ८, २७, १४; वा य ३३, ९४
देवीं वाचमजनयन्त देवाः ८, १००, ११; तै ब्रा २, ४, ६, १०;
नि ११, २९
देवीः षळुर्वीरुरु नः कृणोत १०, १२८, ५; अथर्व ५, ३, ६;
तै स ४, ७, १४, २
देवी दिवो दुहितरा सुशिल्पे १०, ७०, ६
देवी देवस्य रोदसी जनित्री ७, ९७, ८
देवी देवेभिर्यजते यजत्रै ४, ५६, २
देवी यदि तविषी १, ५६, ४
देवीर्द्वारो वि श्रयध्वम् ५, ५, ५
देवेन नो मनसा देव १, ९१, २३; वा य ३४, २३
देवेभिर्देव्यदिते ८, १८, ४
देवेभिर्न्विषितो यज्ञियेभिः १०, ८८, ३
देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं १०, १३, ४; अथर्व १८, ३, ४१
देवेभ्यस्त्वा मदाय कं ९, ८, ५; साम ११८९
देवेभ्यस्त्वा वृथा पाजसे ९, १०९, १२
देवेभ्यो हि प्रथमं ४, ५४, २; वा य ३३, ५४
देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु (० त्रात) १, १०६, ७
देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु (० मदि) ४, ५५, ७

परे कोई आध्यात्मिक जीवन भी है। अतएव तात्विक दृष्टि से मानव जीवन के लिए नैतिकता अनिवार्य है।

नैतिकता की अनिवार्यता आधुनिक मनोविज्ञान की गम्भीरतम खोजों से भी प्रमाणित होती है। कार्ल्स युंग ने यह बताने की चेष्टा की है कि नैतिकता मनुष्य में बाहर से नहीं आई। यह सामाजिक संस्कारों का परिणाम नहीं वरन् मनुष्य नैतिकता को वंश-परंपरागत नियम से उसी प्रकार प्राप्त करता है जिस प्रकार वह अपनी मूल प्रवृत्तियों तथा अन्य योग्यताओं को प्राप्त करता है, और जिस प्रकार मूल प्रवृत्तियों के अविचार-पूर्ण दमन से मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार जन्म-जात नैतिक संस्कारों के प्रतिकूल आचरण करने से भी मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। नैतिकता की अवहेलना करके कोई भी मनुष्य आन्तरिक मन से सुखी नहीं रह पाता। विलियम स्टेकिल ने भी अपनी प्रेक्टिस आफ साइकोथेरेपी नामक पुस्तक के "डिस्ट्रीसेस आफ कांशेंस" नामक प्रकरण मे अनेक उदाहरणों से यह सिद्ध किया है कि मनुष्य को बड़े-बड़े मानसिक और शारीरिक रोग अन्तरात्मा की आवाज के प्रतिकूल आचरण करने से उत्पन्न होते हैं। जो लोग अन्तरात्मा के प्रतिकूल व्यभिचार चोरी अथवा हिंसा करते हैं उन्हें अन्तरात्मा अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग देकर पीड़ित करती है।

जहाँ मानव जीवन के विकास मे सच्ची नैतिकता की इतनी अधिक आवश्यकता है वहाँ यह भी सही है कि दिखाऊ नैतिकता मनुष्य के लिए बड़ी हानि-प्रद होती है। दिखाऊ नैतिकता एकांगी होती है और यह मनुष्य के अभिमान को बढ़ाती है। इससे मनुष्य को समाज का सम्मान तो प्राप्त होता है परन्तु इससे अन्तरात्मा की शान्ति नहीं प्राप्त होती। अन्तरात्मा की शान्ति की दृष्टि से किया गया नैतिक आचरण ही निःश्रेय की प्राप्ति में मनुष्य का सहायक होता है। इसी के लिए हमें इसकी खोज करनी पड़ती है कि सच्ची नैतिकता क्या है और इसे व्यवहार में कैसे उतारा जाए।